

द्रव्य व्यापार और विनियोग

लेखके

जी. डी. एच. कोल

अनुवादक

शंकर सहाय सक्सेना
प्रेम नारायण माथुर

•

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार की
मानक ग्रंथ योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

© भारत सरकार

प्रथम संस्करण : 1000

वर्ष : 1966

प्रस्तुत पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की
मानक ग्रंथ योजना के अन्तर्गत, शिक्षा मंत्रालय,
भारत सरकार के शतप्रतिशत अनुदान से
प्रकाशित हुई है ।

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक संख्या में तैयार किए जाएँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारंभ किया गया है, कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नए साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

“द्रव्य, व्यापार और विनियोग” नामक पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक श्री जी. डी. एच. कोल और अनुवादक श्री शंकर सहाय सक्सेना एवं श्री प्रेम नारायण माथुर हैं। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

निहाल चक्रे

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

आमुख

भारतीय संविधान के द्वारा जब से हिन्दी को राज-भाषा के रूप में स्वीकार किया गया तभी से केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय का यह प्रयत्न रहा है कि अंग्रेजी के मानक-ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद एवं प्रकाशन एक व्यापक आधार पर किया जाए तथा इस कार्य में देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं साहित्यिक संस्थाओं का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त किया जाए। राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी-प्रकाशन-विभाग की स्थापना भी केन्द्रीय निदेशालय की मानक-ग्रन्थों के अनुवाद की इसी योजना के अन्तर्गत की गई।

हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में कला एवं समाज विज्ञान संबंधी विषयों के स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं के अधिकांश विद्यार्थी आज हिन्दी के द्वारा ही परीक्षा प्रश्नों के उत्तर देते हैं। पर उनके सामने एक गम्भीर समस्या यह रहती है कि उनके विषयों के अधिकांश मानक-ग्रन्थ अंग्रेजी में ही उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में ऐसे मौलिक ग्रन्थों की रचना, जो एक अच्छे शैक्षणिक स्तर का स्पर्श कर सकें, अभी तक बहुत सीमित संख्या में ही हो पाई है। व्यक्तिगत व्यवसाय के क्षेत्र में जो अनुवाद प्रकाशित हुए हैं उनमें से अधिकांश अधिक संतोषजनक नहीं माने जा सकते। ऐसी स्थिति में सरकार एवं विश्वविद्यालयों पर यह दायित्व आ जाता है कि वे इन कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उच्च स्तरों के मौलिक तथा अनूदित ग्रन्थों का प्रकाशन करें। भारत-सरकार की इस महत्वपूर्ण योजना में अपना संपूर्ण सहयोग देकर राजस्थान विश्वविद्यालय विशेष गौरव का अनुभव करता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रकाशन विभाग का यह पहिला प्रकाशन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। विश्वविद्यालय के पास अपना प्रेस होने के कारण एक बड़ी सुविधा थी। प्रेस के मैनेजर, श्री पी० सी० भार्गव ने इसके प्रकाशन में अथक परिश्रम किया है, और इसके लिए हम उनके आभारी हैं। पर, यूनीवर्सिटी प्रेस के सामने, हिन्दी में उसका यह पहिला बड़ा प्रकाशन होने के कारण, अनेकों कठिनाइयाँ आईं, जिन पर विजय प्राप्त करना उनके लिए सदा ही सम्भव नहीं हो सका। उनके और हमारे सबके प्रयत्नों के बावजूद इस प्रकाशन में अनेकों कमियाँ रह गई हैं, जिन्हें, एक नवीन दिशा में विश्वविद्यालय का पहिला प्रयास होने के कारण, स्वाभाविक, और एक प्रकार से अनिवार्य, तो माना जा सकता है, परन्तु क्षम्य कदापि नहीं। अपने अगले प्रकाशनों में इन कमियों का निराकरण करने का हम भरसक प्रयत्न करेंगे।

शिक्षा-मंत्रालय, केन्द्रीय हिंदी-निदेशालय एवं आयोग के अधिकारि-वर्ग के प्रति हम आभारी हैं जिन्होंने कठिनाई के प्रत्येक अवसर पर हमें मूल्यवान सलाह तथा हर सम्भव सहायता प्रदान की। विश्वविद्यालय में इस प्रयत्न का प्रारंभ भूतपूर्व उप कुलपति डा० मोहन सिंह मेहता की प्रेरणा से हुआ था, और हमें यह देख कर प्रसन्नता है कि इस महत्वपूर्ण योजना में वर्तमान उपकुलपति प्रो० एम० बी० माथुर भी उतनी ही रुचि ले रहे हैं, और प्रत्येक दृष्टि से उसमें सहायता दे रहे हैं। हमें विश्वास है कि, सहयोग और सहायता के इस वातावरण में, हिन्दी प्रकाशन विभाग अपनी भावी योजनाओं को सफलता के साथ क्रियान्वित कर सकेगा।

शान्ति प्रसाद वर्मा

निदेशक, हिन्दी-प्रकाशन-विभाग तथा
डीन, फैकल्टी ऑफ आर्ट्स, राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर

२८ मई, १९६६

अनुवादकों का निवेदन

विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के माध्यम का स्थान राष्ट्रभाषा हिंदी तभी सफलतापूर्वक ग्रहण कर सकती है जब सभी विषयों में उसमें प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध हों। हिंदी में जहाँ मौलिक प्रामाणिक ग्रंथों की रचना की अत्यन्त आवश्यकता है वहाँ यह भी उतना ही आवश्यक है कि उसमें अन्य भाषाओं के विश्व प्रसिद्ध ग्रंथों के अनुवाद उपलब्ध करा कर उसे अधिक समृद्ध बनाया जाए। इस दृष्टि से केंद्रीय सरकार का यह प्रयत्न, कि विभिन्न विषयों के संसार प्रसिद्ध ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद प्रकाशित कराया जाय, अत्यन्त सराहनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री जी० डी० एच० कोल की पुस्तक Money, Trade and Investment का अनुवाद है। लेखक की लेखन शैली बहुत क्लिष्ट है। विषय की दुरुहता के कारण भाषा का भी क्लिष्ट हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु अनुवादकों ने इस बात की भरसक चेष्टा की है कि लेखक जो कुछ विषय सामग्री देना चाहता है वह स्पष्ट और बोधगम्य तो हो ही, भाषा भी स्पष्ट और जहाँ तक संभव हो, सरल और प्रवाहपूर्ण हो। इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे कि अनुवादक अपने इस प्रयत्न में कहां तक सफल हुए हैं। तथापि यदि पाठकों को इस कठिन पुस्तक का यह हिंदी अनुवाद पसंद आया तो वे अपने श्रम को सार्थक समझेंगे।

शंकर सहाय सक्सेना
प्रेम नारायण माथुर



लेखक की प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक “द्रव्य,—उसका वर्तमान और भूत” (Money, its Present and Past) नामक पुस्तक पर आधारित है जिसे मैंने 1944 में प्रकाशित किया था तथा जिसका संशोधित संस्करण 1945 व 1947 में निकला। इस अवधि में द्रव्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधी नीति के क्षेत्र में अनेक घटनाएँ घटित हो रही थीं, अतः पुस्तक के दोनों संशोधित संस्करणों का अत्यधिक विस्तृत होजाना स्वाभाविक था, और जब तक तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ, पुस्तक की अधिकांश विषय सामग्री परिवर्तित हो चुकी थी। इस दृष्टि से कि वे निष्कर्ष, जो मेरे समकालीन विद्वानों के निष्कर्षों से बहुत अधिक भिन्न थे, किस सीमा तक घटना प्रवाह के संदर्भ में कसौटी पर सत्य अथवा असत्य सिद्ध होते हैं, की मैंने प्रतीक्षा करना ही अधिक उचित समझा और इसीलिए तृतीय संस्करण के समाप्त हो जाने पर भी चतुर्थ संस्करण नहीं निकाला। सामान्यतः मैंने अपने निष्कर्षों को सही पाया और उनमें परिवर्तन करने का कोई औचित्य मुझे दिखलाई नहीं पड़ा। तथापि पुस्तक को पुनः एक बार नये सिरे से लिखना मैंने इसलिये आवश्यक समझा जिससे कि वाद में घटित घटनाओं को उसमें समाविष्ट कर सकूँ।

पुस्तक के विस्तार को अधिक बढ़ा देना इस कारण आवश्यक हो गया कि मैंने चाहा कि युद्धोत्तर काल में भुगतान शेष के संकटों, मार्शल सहायता तथा अन्य प्रकार की अमेरिकी सहायता, और उन अनेक घटनाओं का विवरण भी मैं दे सकूँ जिनके परिणाम स्वरूप योरोपीय भुगतान-संघ (European Payments Union) तथा व्यापार और प्रशुल्कों से संबंधित उस व्यापक समझौते का, जिसे जी०ए० टी०टी० (General Agreement on Trade and Tariffs) का नाम दिया गया है, स्थापना हुई।

इसका परिणाम यह हुआ कि वास्तव में यह एक नई पुस्तक बन गई, यद्यपि उसमें पुरानी पुस्तक का पहला भाग गौण परिवर्तनों के साथ पहले जैसा ही है। मैंने पुस्तक का नाम इसलिए बदल दिया, कि पुस्तक की विषय सामग्री का सही दिग्दर्शन कराया जा सके, क्योंकि उसमें जितनी द्रव्य की व्याख्या की गई है लगभग उतनी ही व्यापार और विनियोग की भी व्याख्या की गई है, यद्यपि पुस्तक में उनमें से किसी एक के संबंध में कोई साधारण सिद्धान्त प्रतिपादित करने

का प्रयत्न नहीं किया गया है। पुस्तक के नाम में “द्रव्य” पहले है क्योंकि मैंने द्रव्य से ही आरम्भ किया है और व्यापार और विनियोग की व्याख्या केवल वहाँ तक ही की है जहाँ तक कि उनका द्रव्य संबंधी समस्याओं से अटूट संबंध है।

यद्यपि मैंने पुराने संस्करण की उस विषय सामग्री को निकाल दिया है, जो गत-काल अर्थात् पुरानी हो गई है फिर भी मैंने ब्रिटिश तथा अमेरिकन प्रति-स्पर्धी योजनाओं—जिनके परिणामस्वरूप “ब्रैटेन-बुड्स” में सम्मिलित योजना तैयार हुई—को देना उपयोगी समझा। कारण यह था कि इन योजनाओं की चर्चा में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण विचार-विंदु निकले जिनको ब्रैटेन-बुड्स में तय नहीं किया गया, और जिनका आज तक भी समाधान नहीं निकाला जा सका है।

संशोधित रूप में पुस्तक उसके कुछ आलोचकों को उससे अधिक प्रसन्न नहीं करेगी जितने कि वे पहली बार पुस्तक प्रकाशित होने पर हुए थे। आजकल सम्पूर्ण “द्रव्य के मात्रा सिद्धान्त” को द्रव्य सम्बन्धी नीति के वास्तविक विचार विन्दुओं को दृष्टि से अर्थहीन कहकर छोड़ देने का एक चलन सा हो गया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि “द्रव्य के मात्रा सिद्धान्त” को प्रतिपादित करने का पुराना तरीका घोर आपत्ति-जनक था। परन्तु यह स्वीकार करना एक बात है कि “द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त” किसी भी परिस्थिति में ठीक तरह से लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि कितना द्रव्य चलन में है उसको ठीक-ठीक मालूम करने का कोई तरीका नहीं है, और जितने द्रव्य की आवश्यकता है उस पर विचार करने का तनिक भी महत्व नहीं है, यह कहना दूसरी बात है। यद्यपि हम निश्चित रूप से यह कभी नहीं बतला सकते कि द्रव्य कितना है परन्तु हम इस बात को अच्छी तरह से जान सकते हैं कि द्रव्य की प्राप्ति कठिन अथवा सरल की जा रही है और यह सही और महत्वपूर्ण दोनों ही हैं कि द्रव्य की अत्यधिक सरल पूर्ति का परिणाम खतरनाक मुद्रास्फीति होगी और अत्यधिक कठिनाई का परिणाम उससे कम खतरनाक “संकुचन” नहीं होगा। इस अर्थ में “द्रव्य के मात्रा सिद्धान्त” में “द्रव्य” के अध्ययन को इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने के अपने तरीके को उन नये तरीकों से अधिक पसन्द करता हूँ जो योजनावद्ध सेवा-योजना तथा कीमतों के नियंत्रण पर ही सारा जोर देते हैं, तथा द्रव्य सम्बन्धी कारणों पर तनिक भी जोर नहीं देते।

इस पुस्तक के पहले संस्करणों में दो बड़े परिशिष्ट थे, दोनों का उद्देश्य कतिपय प्रचलित भ्रांतियों को स्पष्ट करने में सहायता देना था। पहले परिशिष्ट में इस विचार का, जो कि द्रव्य सम्बन्धी उद्धर्मियों में बहुमान्य था, विस्तारपूर्वक निराकरण किया गया था, कि वर्तमान द्रव्य या मुद्रा-प्रणाली में केवल अवसाद के काल में ही नहीं वरन् जबकि प्रणाली अपेक्षाकृत ठीक तरह से कार्य कर रही हो तब भी

ऋय-शक्ति की निरन्तर कमी की प्रवृत्ति बनी रहती है। मैंने उस परिशिष्ट को निकाल दिया है—इसलिए नहीं कि उसमें जो कुछ मैंने कहा था मैं उसमें से कुछ वापस लेना चाहता हूँ वरन् केवल इसलिए कि यह मौद्रिक भ्रान्ति-विशेष जितनी युद्धकाल में विस्तृत रूप से प्रचलित थी आज नहीं है। आज की परिस्थितियों में मैंने जो कुछ अध्याय पाँच में लिखा है वह पर्याप्त होना चाहिए। यदि वह पर्याप्त न हो तो पाठकगण पुस्तकालयों में से पुराने संस्करणों की प्रतियाँ प्राप्त कर सकते हैं जिनमें इस विषय का पूरी तरह विवेचन किया गया है।

दूसरा परिशिष्ट, जिसे मैंने निकाल दिया है, वह भी इसी विवाद के सम्बन्ध में था। उसमें अन्तःयुद्धकाल के कुछ द्रव्य सम्बन्धी सुधारकों—विशेषकर मेजर डगलस के सिद्धान्तों में अर्थ को अर्थहीन से पृथक् करने का प्रयास किया गया था। इस संबंध में भी मैंने जो कुछ लिखा था उसमें से कुछ वापस लेने की मेरी इच्छा नहीं है परन्तु अधिक आधुनिक विवादों के वर्णन को देने के कारण वह परिशिष्ट इस पुस्तक में सम्मिलित नहीं किया जा सका है अतः यदि पाठक चाहें तो पुस्तक के पूर्व संस्करणों अथवा एक पृथक् पैम्पलेट के रूप में, जिसका शीर्षक है “द्रव्य तथा उत्पादन के बारे में पचास प्रास्थापनाएँ” (Fifty Propositions about Money & Production) में उसे देख सकते हैं।

प्रस्तुत पुनर्लेखन में मेरे पुत्र एच०जे०डी० कोल ने मुझे बहुत उपयोगी सहायता दी है। मैंने उसकी सभी आलोचनाओं को यद्यपि स्वीकार नहीं किया है तथापि मैंने उसकी आलोचना के प्रकाश में कुछ वक्तव्यों में परिवर्तन कर दिया है और कुछ एक बातों में मैंने विषय के प्रतिपादन का अपना तरीका बदल दिया है। एक बार मैं पुनः अपनी सचिव रोजामण्ड ब्रैडले के प्रति, एक कठिन पाण्डुलिपि पर श्रम करने के लिए, अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ। अनुक्रमणिका तैयार करने में सहयोग देने के लिए मैं अपनी पत्नी का बहुत ऋणी हूँ।

ऑक्सफोर्ड
जून, 1954

जी०डी०एच० कोल



विषय-सूची

भूमिका	पृष्ठ संख्या
	क-द
१. द्रव्य क्या है ? 	१
२. कितने द्रव्य की हमें आवश्यकता है ? 	३१
३. साख परिस्थितियाँ और स्वर्णमान 	५०
४. मूल्य नियंत्रण—व्यापार चक्र-परिकल्पना 	७५
५. द्रव्य की पूर्ति—क्या क्रय शक्ति में कमी आने की प्रवृत्ति है ?	९८
६. वचत, विनियोग और उपभोग 	११६
७. आय के पुनः वितरण के तरीके 	१४५
८. पूँजी की मांग—सार्वजनिक निर्माण और विनियोग का नियंत्रण	१६४
९. वित्तीय पद्धति और उसका प्रबंध 	१९२
१०. बैंकों का सार्वजनिक नियंत्रण 	२२७
११. दीर्घ कालीन पूँजी विनियोग 	२५१
१२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और स्वर्णमान 	२७४
१३. विनिमय नियन्त्रण 	२९८
१४. विदेशी विनियोजन और पिछड़े देशों का विकास ...	३२३
१५. कीन्स और व्हाइट मुद्रा योजनाएँ 	३४७
१६. अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग और जीवन स्तर 	३६२
१७. ब्रैटेन-वुड्स 	३६९
१८. युद्ध के पश्चात् 	३८६
१९. निष्कर्ष 	४२७



द्रव्य

व्यापार और विनियोग

भूमिका

आधुनिक युद्ध, किसी भी पैमाने के वे क्यों न हों, अपने पीछे द्रव्य-सम्बन्धी समस्याओं की विरासत छोड़ जाते हैं। (नेपोलियन के युद्धों के बाद ऐसा हुआ, और, छोटे पैमाने पर, ऐसा ही फ्रांस-प्रशिया के युद्ध के बाद हुआ। और भी बड़े पैमाने पर 1914-18 के विश्व-युद्ध के पश्चात् ऐसा हुआ; और आज फिर यही हाल है।) इसमें से कुछ कठिनाइयाँ (समस्याएँ) आन्तरिक और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय होती हैं। प्रत्येक देश को, युद्धकाल में उसके द्वारा अपनाये गये उपायों के बाद, अपनी आन्तरिक द्रव्य संवन्धी समस्याओं को ठीक करना होता है; और यह भी निश्चय करना होता है, चाहे यह निश्चय आर्थिक शक्तियों के व्यवहार के अनुसार हो और चाहे वह किसी प्रकार के नियंत्रण तथा समझौते के आधार पर किया जाये, कि प्रत्येक देश के चलार्थ (करेंसी) का किन दरों पर दूसरे चलार्थों में विनिमय किया जाये। 1945 और 1946 में ब्रेटन वुड्स में और ग्रेट ब्रिटेन को दिये जाने वाले अमरीकी ऋण के सिलसिले में द्रव्य सम्बन्धी नीति के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण निश्चय किये गए थे; और कम से कम ग्रेट ब्रिटेन में स्पष्ट तौर पर यह घोषणा कर दी गई थी कि आन्तरिक नीति का आधार पूर्ण रोजगार के साधन के रूप में सस्ते द्रव्य पर रहेगा। हमें यह छान-बीन करनी होगी कि कहां तक ये निश्चय एक दूसरे के साथ मेल खाते थे। निश्चित है कि मुद्रा सम्बन्धी सही और ठोस व्यवहार के पुराने विचारों के अनुसार उनका एक दूसरे से मेल नहीं बैठता था; क्योंकि उसके अनुसार यह निर्विवाद सत्य माना जाता था कि असंतुलित विनिमय स्थिति को वापिस संतुलन में लाने का सही उपाय मुद्रा-संकुचन है जिसमें महंगा द्रव्य और, कुछ समय के लिये, बेकारी शामिल है।

द्रव्य संवन्धी नीति विषयक, आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय, दोनों प्रकार के निश्चय हमारे और सारे संसार—दोनों ही की भावी समृद्धि के लिये बड़े महत्व के होने वाले थे। महायुद्धों के बीच के समय के अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया था कि प्रथम महायुद्ध में से जो द्रव्य-सम्बन्धी अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हुई थीं उनमें, 1939 में भी, संसार कोई वास्तविक सुधार नहीं कर पाया। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि संसार की 1918 और 1939 के बीच की आर्थिक कठिनाइयाँ प्रधानतया द्रव्य सम्बन्धी विक्षोभों या द्रव्य सम्बन्धी बुरी नीतियों के ही कारण थीं। मैं नहीं मानता कि उनके ये कारण थे, पर यह निर्विवाद है कि द्रव्य सम्बन्धी अस्थिरता

और द्रव्य सम्बन्धी कारकों की अव्यवस्था ने (युद्धों के बीच के समय के) आर्थिक संकटों को उससे अधिक विनाशक बना दिया जितना कि वे होते यदि दुनिया के द्रव्य सम्बन्धी मामलों की अधिक अच्छी व्यवस्था कर दी जाती। द्रव्य (मुद्रा) स्वयं कुछ उत्पन्न नहीं करता। वह वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन और वितरण की वास्तविक आर्थिक प्रक्रियाओं को स्निग्धता प्रदान कर सुगम बनाता है, वह मूल्य का मान या आधार है और क्रय शक्ति के अधिकार को संचित रखने का साधन है। वह स्वयं उत्पादक नहीं है, पर जब उसके सम्बन्ध में कोई अव्यवस्था हो जाती है तो उसका परिणाम उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन को रोकना, और किसी भी मात्रा में आर्थिक हानि और मानवीय कष्ट उत्पन्न करना हो सकता है। हमारी द्रव्य सम्बन्धी व्यवस्थाओं को ठीक और अच्छी स्थिति में रखने मात्र से ही हम अपने उत्पादक प्रयत्न के संगठन और जो कुछ उससे उत्पन्न होता है उसके वितरण में पैदा होने वाली अनेकों तथा कठिन समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते। लेकिन जब तक हमारी द्रव्य सम्बन्धी व्यवस्थाएं ठीक नहीं हो जातीं, अधिकतर संभावना यही है कि हर दूसरी चीज गलत रास्ते पर जायेगी।

इस पुस्तक के दो प्रयोजन हैं :—द्रव्य और विभिन्न द्रव्य सम्बन्धी प्रणालियों के कार्य संचालन का सामान्य विवरण प्रस्तुत करना, और रोजगार बनाये रखने के लिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के हित में, द्रव्य सम्बन्धी आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय नीति के विषय में क्या किया जाना चाहिए उस पर विचार करना। मेरा प्रयोजन, यथासंभव ऐसी सरल भाषा में कि जिससे भाषा सम्बन्धी अस्पष्टता के कारण कोई भी साधारण बुद्धिवाला पुरुष या स्त्री, सम्बन्धित समस्याओं को समझने में असमर्थ न हो, इसी मन्तव्य को पूरा करना है। विषय के जो अपने आप में कठिन अंश हैं उनको वेशक मैं सरल नहीं बना सकता। पर यह आशा मैं अवश्य कर सकता हूँ कि जो विषय वास्तव में कठिन नहीं हैं, परन्तु जिनको विषम अर्थशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली का या द्रव्य-वाजारों, स्कन्ध-वाजारों (स्टाक एक्सचेंजेज) और जिसे 'दी सिटी' कहा जाता है, उसकी दूसरी संस्थाओं की उतनी ही अधिक अस्पष्ट शब्दावली का प्रयोग कर के कठिन बना दिया जाता है, उनकी अस्पष्टता को दूर कर दूँ। मैं प्रधानतया न तो पेशेवर अर्थ शास्त्रियों के और न पेशेवर वित्त व्यवस्थापकों के लिए लिख रहा हूँ, बल्कि मैं तो साधारण लोगों के लिए लिख रहा हूँ—जिनमें राजनीतिज्ञ भी शामिल हैं जिनकी कि द्रव्य सम्बन्धी मामलों की जानकारी वास्तव में बहुत सामान्य हुआ करती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जो समझौता हुआ उसने और भी अच्छी तरह से यह साफ कर दिया कि राजनैतिक नेताओं और साधारण स्त्री पुरुषों में इन प्रश्नों सम्बन्धी अधिक अच्छी जानकारी की बड़ी जरूरत है।

यह मैं इसलिये लिख रहा हूँ कि आज इन सामान्य लोगों का सुख और कल्याण संकट में है। (भविष्य में सरकारों को आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार की द्रव्य नीति के बारे में उसी हद तक निश्चय करने होंगे जैसे वे तटीय कर, मकान निर्माण या आर्थिक नीति के किसी दूसरे ऐसे पक्ष के बारे में जो सार्वजनिक कल्याण को एक बड़ी हद तक प्रभावित करता है, निश्चय करेंगे। यह निश्चय सरकारों को करने होंगे, और उनका जो कुछ भी सार हो वे जनता के हित में जनता के प्रतिनिधियों की सम्मति से जनतंत्रीय तरीके से किये गए निर्णय माने जाएंगे। किन्तु इस मामले में एक खास तौर से बड़ा खतरा यह है कि निश्चयों का यह जनतांत्रिक लक्षण केवल दिखावा मात्र ही है। क्योंकि वे प्रतिनिधि जो निश्चय करते हैं या उससे अपनी सम्मति प्रकट करते हैं और वे लोग जो समझदार जनता का एक बड़ा हिस्सा हैं जिस विषय को कम से कम समझते नहीं हैं उसके बारे में कोई जनतांत्रिक निर्णय भला कैसे किया जा सकता है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि द्रव्य सम्बन्धी नीति के तंत्रों के बारे में या इन तंत्रों के द्वारा आगे बढ़ाई जाने वाली नीतियों के बारे में विवेकपूर्ण निर्णय करने के लिए हर मत दाता अपने आपको योग्य बना सकेगा। न केवल द्रव्य के विषय में बल्कि उन दूसरी अनेक बातों के विषय में भी जिनका जितना संभव हो उतनी हद तक जनतंत्रीय ढंग से निश्चय किया जाना चाहिए, इस प्रकार की आशा करना बहुत ज्यादा होगा। मैं जिस विचार का विरोध कर रहा हूँ और जो जनता के सबसे अधिक समझदार भाग में भी काफी प्रचलित है, वह यह है कि द्रव्य के बारे में कोई ऐसी खास तौर से गूढ़ बात है जिसकी वजह से साधारण स्त्री-पुरुषों के उसको समझने में बाधा पहुँचती है। इस विचार के विपरीत मेरा यह मानना है कि अधिकांशतः द्रव्य कोई खास तौर से मुश्किल विषय नहीं है, और वह सामान्य समझदार लोगों की पहुँच के अन्दर ही है। निश्चय ही उसकी तमाम तकनीकी व्यवस्थाओं की वारीकियों को समझने की ज़रूरत उनको नहीं है और उसके लिये उनका प्रयत्न करना भी आवश्यक नहीं है। लेकिन ज़रूरत इस बात की है कि वे तकनीकी भाषा से मुक्त स्पष्ट तौर से प्रस्तुत सामग्री के आधार पर उचित, द्रव्य नीति की सामान्य दिशाओं के विषय में ठीक ठीक राय बनायें, और ऐसी राय बनाने के बाद जनमत के द्वारा यह दबाव डालें कि ठीक दिशाओं का अनुसरण हो, और गलत दिशाओं से बचा जाए।

साधारण बुद्धिवाले लोग द्रव्य सम्बन्धी समस्याओं से प्रायः डर जाते हैं, क्योंकि पहली दृष्टि में हर चीज़ उलट पुलट दिखाई देती है। द्रव्य दूसरी वस्तुओं को खरीदने का साधन है, और उन वस्तुओं के लिये जितना अधिक द्रव्य देना पड़ता है उतनी ही वे वस्तुएं महंगी होती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब द्रव्य में वस्तुएं महंगी होती हैं तो वस्तुओं में द्रव्य सस्ता होता है। द्रव्य की कोई रकम वस्तुओं की जितनी कम इकाइयां खरीदेगी उतनी ही द्रव्य की अधिक इकाइयां वस्तुओं की एक इकाई

के लिये देनी होंगी। द्रव्य और वस्तुएं दोनों, एक दूसरे में, एक साथ सस्ती नहीं हो सकतीं। लेकिन एक सर्वथा भिन्न अर्थ में द्रव्य और वस्तुएं दोनों ही साथ साथ सस्ती हो सकती हैं। इसका कारण यह है कि जब हम वस्तुओं का मूल्य कहते हैं तो हमारा आशय वस्तुओं को खरीदने के लिये जो द्रव्य चाहिये उससे होता है, और जब हम द्रव्य का मूल्य कहते हैं तो साधारणतया हमारा आशय व्याज की दर से होता है जो कि किसी समय के वास्ते उधार लिये गए द्रव्य पर देनी पड़ती है। अब यह हो सकता है कि जब वस्तुएं सस्ती हों तब व्याज की दर भी नीची हो। और इस विशेष अर्थ में द्रव्य और वस्तुएं दोनों ही साथ साथ सस्ती हो सकती हैं, हालांकि वे एक दूसरे में एक साथ सस्ती नहीं हो सकतीं। इस उलझन पैदा करने वाले दुहरे अर्थ का आधार यह है कि हमारी आदत द्रव्य शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयोग करने की है। जो द्रव्य हमारी जेब में या हमारे बैंक के चालू खाते में होता है और जिससे हम अपनी आवश्यकता या इच्छा की वस्तुएं खरीदते हैं वह ठीक वही चीज नहीं है जो कि वह द्रव्य है जो कि द्रव्य बाजार में उनके लिए उपलब्ध रहता है जो उसे उधार लेना चाहते हैं। जैसे ही वह उधार पर ले लिया जाता है, द्रव्य जावारी का यह द्रव्य केवल क्रय शक्ति हो जाता है, ठीक उस दूसरे द्रव्य की तरह जिसे कि हम अपनी चालू खरीददारियों के वास्ते उपयोग में लेते हैं। पर जब तक वह उधार नहीं लिया जाता है तब तक वह कुछ भिन्न वस्तु होती है—क्रय शक्ति का एक संभाव्य स्रोत जिसके लिए उसका स्वामी उधार लेने वाले से व्याज के रूप में कुछ वसूल कर सकता है। जो नकद रोकड़ हमारी जेब में होती है, या हमारे घर पर ताले में बंद रखी जाती है या बैंकों के हमारे चालू खाते में होती है वह मामूली तौर से हमारे लिए कोई व्याज नहीं कमाती। वह क्रय शक्ति की केवल संग्रहित राशि है जो जब तक कि करों, वस्तुओं, या सेवाओं, के चुकारे के लिए या इनाम के तौर पर किसी दूसरे को हस्तांतरित करके उसका उपभोग करने की हमें आवश्यकता नहीं होती, हम अपने हाथ में रखते हैं। पर द्रव्य बाजार में जो द्रव्य होता है वह विभिन्न प्रकार के उन ऋण लेने वालों को व्याज पर उधार देने के लिये होता है जिनको उनके पास तत्काल हस्तांतरित करने योग्य या तरल रूप में जितनी क्रय शक्ति मौजूद है उससे अधिक क्रय शक्ति पर अधिकार चाहिए। ऐसे द्रव्य के ऋण का मूल्य होता है, यह मूल्य वह व्याज की दर है जो कि इस द्रव्य को मिल सकती है, और द्रव्य बाजार में पाई जाने वाली परिस्थितियों के अनुसार यह मूल्य ज्यादा या कम हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि जब वस्तुएं महंगी हों वह (व्याज की दर) सस्ती हो और जब वस्तुएं सस्ती हों तब वह महंगी हो।

पर इसमें कोई बहुत डरने की बात नहीं है कि द्रव्य शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में होता है, क्योंकि ऐसे ही दूसरे शब्द भी हैं जिनसे अधिकांश लोग जरा भी भय नहीं खाते। हमारे प्रयोग में आने वाले अधिकांश शब्दों के भिन्न भिन्न

संदर्भों में प्रयोग करने पर भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं, और बहुत से शब्दों को लेकर कठिनाइयां पैदा होती हैं क्योंकि उनके विभिन्न अर्थों को एक दूसरे से अलग रखना आसान नहीं होता। यह केवल इसीलिये नहीं होता कि शब्दों की हमारे पास कमी है और हमें हमारे बहुत से शब्दों को दो दो तीन तीन और चार चार अर्थों में काम में लाना होता है, बल्कि ऐसा इसलिये भी होता है कि शब्द, जैसा कि मिल्टन ने पुस्तकों के विषय में कहा था, सर्वथा मृत वस्तुएं नहीं होती। (उनमें जिस आत्मा के वे वंशज हैं उसके समान सक्रिय होने की जीवन शक्ति होती है। इतना ही नहीं वे जिस जीवित बुद्धि ने उन्हें उत्पन्न किया है उसकी विशुद्ध कार्यक्षमता और सत को, जैसे कि किसी शीशी में हो, उसी तरह से अपने में सुरक्षित भी रखते हैं।) सार यह है कि शब्दों के साथ, जैसे जैसे हम उन्हें अपनी दैनिक बोली में प्रयोग करते हैं, नाना प्रकार के सम्बन्ध जुड़ जाते हैं। ये सम्बन्ध चाहे किसी प्रयोजन विशेष के लिये मतलब के हों या न हों पर, हमारे अतीत के अनुभव के आधार पर, शब्दों के अर्थ का अधिकांश भाग इन सम्बन्धों में ही निहित होता है और शब्दों को हम उनके इस सम्बन्ध-निहित अर्थ से मुक्त नहीं कर सकते और न, उनके पूर्ण अर्थ को कुंद किये बिना, हमारी इच्छानुसार इस या उस अर्थ के साथ उन्हें बांध ही सकते हैं। वैज्ञानिक को, या किसी को भी जो विचार विमर्श में अर्थ-निश्चितता लाना चाहता है, कुछ शब्दों को, अपने विवेचन के विशेष संदर्भ में, निश्चित अर्थ में बांध देना पड़ता है जिससे कि अपनी तत्काल की आवश्यकता के अनुसार उनसे जो अर्थ वह निकालना चाहता है वही अर्थ उनका निकले। विभिन्न विज्ञानों में जो विशेष पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग किया जाता है उसका यही औचित्य है। ये विज्ञान प्रायः अत्यन्त विचित्र शब्दों का निश्चित अर्थ में प्रयोग करते हैं क्योंकि उन्हें ऐसे शब्दों की आवश्यकता होती है जो यथासंभव संबंध निहित अर्थ से मुक्त होते हैं। इस मामले में उन लेखकों को प्रायः विशेष कठिनाई होती है जिनका काम दैनिक जीवन से संबंधित विषयों से पड़ता है। वे अपनी रचना शैली को दूषित किये बिना निहित महत्व से भरे उन दैनिक प्रयोग के शब्दों का त्याग नहीं कर सकते जो बहुत से अवसरों पर विभिन्न संबंधों में विभिन्न अर्थों में काम में लिये जाते हैं। फिर भी उन्हें इन शब्दों को सामान्य बोलचाल में जो उनका अर्थ होता है उससे अधिक स्थिर और निश्चित अर्थ देना पड़ता है। और जब वे ऐसा करते हैं तो साधारण लोगों को ऐसा लगता है जैसे वे कोई अर्थहीन बात कह रहे हैं और साधारण शब्दों के जो प्रचलित अर्थ हैं उनके साथ ज्यादाती कर रहे हैं। इस तरह की गलतफहमी अर्थ-शास्त्रियों के बारे में होना अधिक संभव है क्योंकि वे उन बातों के बारे में निश्चितता से लिखने का प्रयत्न करते हैं जिनके बारे में अनिश्चितता के साथ और अत्यन्त भ्रामक शब्दों में बराबर चर्चा होती रहती है। जब द्रव्य के विषय में लिखना होता है तो यह कठिनाई विशेष रूप से आती है,

क्योंकि साधारण लोगों की सामान्य भाषा के अलावा, बाजार, स्कंध बाजार (स्टाक एक्सचेंज), दी सिटी, और वित्तीय समाचार पत्रों की अपनी विशेष शब्दावली है जिसके कारण द्रव्य सहित बहुत से शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं और उन्हें किसी एक अर्थ से बांधने के प्रयत्न का वे दुराग्रहपूर्वक प्रतिकार करते हैं* । मैं स्वयं सोचता हूँ कि इसलिये पैदा होने वाली गलत-फहमियों में से बहुत सी, अर्थ शास्त्रियों की अपनी ही पैदा की हुई होती हैं; क्योंकि अपने संकल्पों के वावजूद अमुक शब्द का प्रयोग जिस एक निश्चित अर्थ में करने का वे निर्णय कर लेते हैं उसी अर्थ में बराबर उसका प्रयोग करने में वे असफल रहते हैं । पर वे बिना असफल हुए रह भी कैसे सकते हैं जब तक कि वे अपनी मातृ भाषा का प्रयोग करना ही बंद न कर दें या उन शब्दों की एवज में, जिनको उन्होंने एक विशिष्ट वैज्ञानिक अर्थ दिया है, नये शब्दों का ही वे आविष्कार न करें । यह अच्छा हो कि साधारण लोग जिन शब्दों को काम में लेते हैं उनका उपयोग करने तथा उनको काम में लेने की बजाय वे अपने विशेष अर्थ में नये शब्दों का आविष्कार करें । पर यदि वे ऐसा करें तब भी उन्हें अनुवाद करने वालों की आवश्यकता होगी जो कि अर्थनिश्चितता (एक्यूरेसी) का त्याग करके भी उनकी लिखी चीजों को फिर से उसी भाषा में रख देंगे जिसे कि सामान्य तथा अविशेषज्ञ पाठक समझ सकते हैं । विशेषज्ञ के अपने स्वयं के विचार के लिये और दूसरे विशेषज्ञों से विचारों का आदान-प्रदान करने के लिये ऐसे शब्दों का होना अत्यन्त सुविधाजनक, बल्कि आवश्यक भी है, जिनका पूर्णतया निश्चित और बिना किसी शंका के केवल एक ही अर्थ हो । आर्थिक और वित्तीय विवेचन के विश्लेषणात्मक या काट-छांट के काम के लिये तो वे शब्द अमूल्य हैं; पर इस प्रकार व्यक्त विचारों का, यदि वे मनुष्य के दैनिक जीवन संबंधित हैं, अपारिभाषिक भाषा में बिना अपना सार तत्व खोये अनुवाद हो सकना चाहिए । इस पुस्तक में पुस्तकीय अध्ययन और बाजार दोनों में ही प्रयोग में आने वाली तमाम पारिभाषिक भाषा के प्रयोग को, जहां तक मेरे लिये संभव हुआ है, मैंने बचाया है । और यह पुस्तक ऐसे अनुवाद या पुनः अनुवाद का एक प्रयत्न है जो इस विश्वास से किया गया है कि समस्त जनता के कल्याण की दृष्टि से द्रव्य सम्बन्धी नीति का इतना अधिक महत्व है कि उसे साधारण मनुष्य की सहज बुद्धि पर आधारित निर्णय का सहारा लिये बिना विशेषज्ञों के निर्णय पर ही नहीं छोड़ा जा सकता ।

द्रव्य सम्बन्धी नीति साधारण मनुष्य के हितों पर सबसे पहली जगह जहां स्पष्टतया असर डालती है वह 'रोज़गार' है । अधिकांश अर्थ-शास्त्री अब इस बात पर सहमत होने को तैयार हैं कि जो देश पूर्ण रोज़गार की स्थिति कायम रखना चाहता

*हम उस अतिरिक्त कठिनाई की तो बात नहीं कर रहे हैं जो द्रव्य संबंधी अमरीकी और ब्रिटिश शब्दावली में बहुत अंतर होने से उत्पन्न होती है ।

है वह अपना लक्ष्य तभी प्राप्त कर सकता है जबकि उसकी द्रव्य सम्बन्धी नीति का वांछित स्तर पर मांग बनाये रखने की दृष्टि से ठीक मेल बैठाया गया हो। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादकों और वितरण करने वालों को काम में लगाये रखने के लिए (और हानि हो जाने के डर से व्यापार की मात्रा कम करने के लिए व्यवसायों को प्रोत्साहित न करने के लिए क्रय शक्ति पर्याप्त मात्रा में सक्रिय परिचलन में होना चाहिये।) हम इन बातों पर वाद में विचार करेंगे कि व्यवहार में इसका क्या मतलब होता है, और पूर्ण रोजगार को कायम रखने के लिये जितनी क्रय शक्ति की मात्रा आवश्यक होती है उससे अधिक यदि उसकी पूर्ति बढ़ा दी जाती है तो उसका क्या परिणाम होता है। फिलहाल सिर्फ इतना ही कहना काफी है कि यद्यपि वस्तुओं और सेवाओं की किसी भी मात्रा के वितरण को निष्पन्न करने के लिए द्रव्य की कोई भी राशि सिद्धांततः पर्याप्त हो सकती है वशतः कि मूल्यों का समायोजन बिना बाधा के किया जा सके; लेकिन ऐसा समायोजन व्यवहार में कभी भी नहीं हो सकता। द्रव्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तन सब मूल्यों पर एकसी और न्यायपूर्ण प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करते। वे मूल्य सम्बन्धों को विगाड़ देते हैं और इन सम्बन्धों को विगाड़ने के सिलसिले में नाना प्रकार की गौण प्रतिक्रियाओं को जन्म देते हैं। इन प्रतिक्रियाओं में से कुछ का परिणाम अच्छा हो सकता है पर, अल्प काल में, अधिकांश प्रतिक्रियाएं असुविधाजनक और अन्यायपूर्ण होती हैं। यदि हम यह सोचते हों कि इन असुविधाओं और अन्यायों की तुलना में अच्छे परिणामों की मात्रा अधिक है तो, पर्याप्त कारणों से, उन असुविधाओं और अन्यायों को वर्दाश्त करना भी आवश्यक हो सकता है, और हम इस परिणाम पर भी पहुंच सकते हैं कि जो अर्थ शास्त्री इन असुविधाओं और अन्यायों से बचने के लिए, यदि उनकी चले तो, हमेशा के वास्ते द्रव्य की मात्रा स्थिर करने का प्रस्ताव रखते हैं वे हमें अधिक अन्यायों और असुविधाओं की ओर ले जाने वाले होंगे। पर यह स्पष्ट सत्य है कि जहां तक संभव हो बिना अधिक हानि पहुंचाये द्रव्य की मात्रा के अनावश्यक परिवर्तनों के प्रभावों से हमें अपनी अर्थव्यवस्था को मुक्त रखना चाहिये, और जो मात्रा के परिवर्तन चुकारे के साधनों सम्बन्धी आवश्यकता में होने वाले किसी वास्तविक परिवर्तन के जवाब में नहीं हैं उन के परिणामों को निष्प्रभावित कर दिया जाना चाहिए। द्रव्य की स्थिरता अपने आप में अच्छी और अनुसरण करने योग्य वस्तु है। केवल शर्त यह है कि हम उसी को एक मात्र अच्छी चीज मान कर उसका अनुसरण करने की भूल न करें और न उसकी मात्रा को इतनी अपरिवर्तनीय मानने की भूल करें कि वह वास्तव में आर्थिक क्रिया में उचित स्तर पर स्थिरता न ला सके बल्कि स्थायी तौर पर मंदी उत्पन्न कर दे।

मैं बिना किसी भय के यह कहने से शुरू कर सकता हूं कि समय विशेष के आर्थिक ढांचे और समय विशेष की परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए, सब प्रकार के

द्रव्य की इतनी मात्रा हमेशा उपलब्ध रहनी चाहिये कि जिससे पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहे। यह कह कर मैं किसी भी अर्थ में रोजगार को एक ध्येय के रूप में प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ। रोजगार जिसमें सेवायोजकों, स्वतंत्र रूप में काम करने वालों और संकीर्ण अर्थ में काम में लगे लोगों सभी का काम आ जाता है, ध्येय नहीं साधन है। वस्तुओं के उत्पादन करने और वितरण करने तथा सेवाओं के करने का यह साधन है। और यह उसी हद तक, केवल उसी हद तक, वांछनीय है जहां पहुंच कर समाज वजाय मानव प्रयत्न से अधिक वस्तुएं और सेवाएं उत्पन्न करने के अधिक अवकाश पसंद करता है। पूर्ण रोजगार का यह मतलब नहीं है कि हर व्यक्ति को अपनी क्षमता की अन्तिम सीमा तक काम ही करना चाहिए बल्कि अनुकूलतम सीमा के जितने नज़दीक तक संभव हो सके उतने नज़दीक तक के उस रोजगार से है जिसके आगे अधिक वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा अवकाश पसंद किया जाता है : सीमाओं और अर्थ को स्पष्ट कर देने के बाद, रोजगार की यही वह मात्रा है जिसे हम वांछनीय कह सकते हैं। और रोजगार की यही वह मात्रा है जिसे कायम रखने के लिए हमेशा पर्याप्त द्रव्य उपलब्ध होना चाहिए।

मैं जानता हूँ कि अब भी ऐसे लोग हैं जो इस ध्येय के प्रति निराधार आपत्ति उठाते हैं और ऐसा मानते हैं कि आर्थिक व्यवस्था तब तक ठीक काम नहीं कर सकती जब तक कि, कम से कम कुछ समय के लिए, काम की जगहें जितनी चाहिए, उनसे कुछ कम हों। लोगों के काम बदलने के कारण या काम की उपलब्ध जगहों में लोगों को जमाने के सिलसिले में उत्पन्न घर्षण से जो न्यूनतम बेकारी होती है उससे कुछ अधिक बेकारी इन आपत्ति करने वालों को आवश्यक मालूम पड़ती है। क्योंकि उनका कहना है कि इसके बिना बहुत से काम करने वालों में शिथिलता आ जायगी और अनुशासन समाप्त हो जाएगा। जिनका ऐसा मत है वे आजकल उसे खुले आम प्रकट करने में प्रायः हिम्मत करते हैं। क्योंकि उन्हें यह मालूम है कि उस मत का स्वागत नहीं होगा। पर इसमें संदेह नहीं कि बहुत से व्यापारी, व्यवस्थापक, और पर्यवेक्षक तथा कुछ अर्थ-शास्त्री भी अपने मन में ऐसा मत रखते हैं। इस मत के अनुसार मजदूरों को या उनमें से अधिकांश को अपना काम खो देने के डर के द्वारा बराबर सचेत रखना आवश्यक है। और जिनका ऐसा मत है वे अति-पूर्ण रोजगार का आजकल यह लक्षण मानते हैं कि लगभग हर व्यक्ति को, यदि वह किसी काम के योग्य है तो, बेकार होने पर आसानी से काम मिल सकता है। जो कल्याणकारी राज्य के पक्ष में हैं उनका इस मत के विरुद्ध यह कहना है कि 1945 के बाद जिन देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति रही है उनमें उत्पादन, कम होने का तो प्रश्न ही नहीं, तेजी से बढ़ा है। इसके अलावा वे यह दलील भी देते हैं कि किसी भी जनतंत्रीय समाज को अपने सदस्यों को दिन भर का वाजिव काम करने का प्रोत्साहन देने के लिए, उनके परिवारों के पास जीवन निर्वाह के साधन न रहने का भय

उत्पन्न करने की अपेक्षा किन्हीं ज्यादा अच्छे साधनों का पता लगाना चाहिए। कम से कम ग्रेट ब्रिटेन में तो वास्तव में यह स्वीकार कर लिया गया है कि पूर्ण रोजगार के आसपास पहुँचना कल्याणकारी राज्य की नीति का एक आवश्यक अंग है और इसका अर्थ यह है कि द्रव्य सम्बन्धी सही राष्ट्रीय नीति वही है जो कि जहाँ तक राष्ट्रीय उपायों के द्वारा संभव है वहाँ तक पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रखती है।

राष्ट्र संघ की एक विशेष संस्था के रूप में सोचे गए पर स्थापित न हो सकने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के अधिकार पत्र (चार्टर) के मसविदे में भी पूर्ण रोजगार को बनाये रखना एक अन्तर्राष्ट्रीय ध्येय माना गया था। पर जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ पूर्णतया कार्य प्रविष्ट होने के पूर्व ही टूट गया क्योंकि अमरीकनों ने अपना समर्थन वापिस ले लिया। पूर्ण रोजगार के लिये आवश्यक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय उपायों पर राष्ट्र संघ के विशेषज्ञों की 1949 में प्रकाशित रिपोर्ट में भी पूर्ण रोजगार को एक अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी स्वीकार कराने के लिये एक और प्रयत्न किया गया था। और इस नीति को प्रभावयुक्त बनाने के लिये विभिन्न सरकारों को क्या क्या उपाय काम में लेने होंगे, उनको स्पष्ट करने का इस रिपोर्ट में प्रयत्न किया गया था। पर इस योजना को भी पर्याप्त समर्थन न मिल सका, खासतौर से अमरीकनों की ओर से, जिनपर कि जिम्मेदारी का एक बड़ा हिस्सा अवश्य ही आता।

फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय उपायों के द्वारा पूर्ण रोजगार के लक्ष्य का अनुसरण करना स्पष्टरूप से आवश्यक है। यह प्रत्येक देश के सामने वतौर एक ध्येय के है। और इसलिए सभी देशों के सामने यह ध्येय है। और किसी भी द्रव्य सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में, जो चाहे विश्व व्यापी आधार पर हो और चाहे किन्हीं विशेष राष्ट्रों या राष्ट्र समूहों के बीच में हो, इसको मान्यता मिलनी चाहिये। ये तमाम व्यवस्थाएं ऐसी होनी चाहियें कि वे सम्बन्धित देशों में और सारे संसार में पूर्ण रोजगार बनाये रखने में सहायक हों। यह भी एक और स्पष्ट सत्य है कि किसी एक देश में पूर्ण रोजगार कायम रखने में जो सफलता मिलती है वह उसे दूसरे देशों में कायम रखने में सहायक होती है जब तक कि यह सफलता एकांगी ढंग की या स्वार्थपूर्ण आत्म निर्भरता (ओटारकिक) के उपायों से ही प्राप्त न की गई हो। किसी भी देश के लिये पूर्ण रोजगार का मतलब यह है कि उपभोग और उत्पादन दोनों का ही स्तर ऊँचा हो। और जब तक देश बहुत ज्यादा स्वयं-संपूर्ण न हो इसका अपने आप से यह अर्थ होता है कि यह देश अपने उद्योगों के लिए आवश्यक पदार्थों और संभवतः नाना प्रकार के उपभोक्ता वस्तुओं के वास्ते दूसरे देशों का अच्छा ग्राहक होगा। इसलिए अविकांक्ष मामलों में ऐसा होगा कि किसी

एक देश में पूर्ण रोजगार की नीति का सफलतापूर्वक पालन होने से दूसरे देशों के लिये समान नीतियों का पालन करना सरल हो जाता है। और अन्तर्राष्ट्रीय नीति का स्पष्टतया एक प्रमुख उद्देश्य यह होना चाहिए कि पूर्ण रोजगार का सामान रूप से अनुसरण करने के लिए विभिन्न देशों को आपस में एक दूसरे से ऐसी बातों पर बांध कर रखे कि जिससे वे एक दूसरे के प्रयत्न में बाधक होने की जगह सहायक बनें।

निःसंदेह कुछ देशों के लिये यह बिल्कुल संभव है कि चाहे तो अपने आपको दूसरे देशों से बिल्कुल अलग करके और चाहे दूसरे देशों को नुकसान पहुंचा कर अपने यहां रोजगार आकर्षित करके वे अपने देश में पूर्ण रोजगार स्थापित करने का प्रयत्न करें। जब तक बड़ी हद तक कोई देश, अपने आयात और निर्यात दोनों को संतुलन के न्यूनतम स्तर तक लाकर, अपने आपको औरों से अलग कर लेता है (निश्चय ही कोई विकसित देश पूर्णतया ऐसा नहीं कर सकता) तो उसका असर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कुल मात्रा को कम करने का और दुनिया के उपभोक्ताओं को अन्तर्राष्ट्रीय विशेषीकरण के कुल लाभों से, कम से कम संभाव्यतः, वंचित करने का आजाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि किसी भी एक देश में अपनायी गयी ऐसी नीति के प्रतिकूल प्रभाव बाकी की दुनिया के लिए गंभीर हों, जब तक कि अपने आपको अलग करने वाले देश के एक मात्र अविकार में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण वस्तुएं ही न हों जिनकी कि दूसरे देशों को नितांत आवश्यकता है। शेष दुनिया आपसी व्यापार की एक ऐसी व्यवस्था से अपना समायोजन बिठा सकती है जो कि तब की जा सकती है जब कि अपने आपको अलग रखने वाले देश को दुनिया के मान चित्र से बिल्कुल हटा दिया जाए। संक्रमणकाल की कठिनाइयां तो होंगी, और वे गंभीर तथा लम्बे समय तक चलने वाली भी हो सकती हैं अगर जिस देश का प्रश्न है उसका दुनिया के व्यापार में महत्वपूर्ण योग रहा है, लेकिन पुनः समायोजन हो जाने पर शेष संसार को कोई बड़ी हानि उठानी ही पड़े—ऐसी बात नहीं है।

तथापि अतीत में एकांगी ढंग की या स्वार्थपूर्ण राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता (ओटारकी) की नीतियों का निर्माण करने का प्रयत्न जिस रूप में किया गया वह यह नहीं है। एकांगी या स्वार्थपूर्ण आत्मनिर्भरता (ओटारकी) का यह अर्थ नहीं लगाया गया है कि यथासंभव आयात और निर्यात दोनों के बिना ही काम चला लिया जाये। इसका यह अर्थ लगाया गया है कि (1) जो देश इस नीति (एकांगी या स्वार्थपूर्ण आत्म-निर्भरता) का पालन करता है वह यथासंभव उन बाहरी वस्तुओं के मामले में स्वतंत्र होने की कोशिश करता रहता है जो कि युद्धकालीन आत्म निर्भरता के लिये आवश्यक हैं और (2) तमाम संभव उपायों से निर्यात को बढ़ाने की कोशिश करता रहता है और साथ ही तमाम प्रकार के उन आयातों को

जो युद्धकालीन आत्म निर्भरता को प्राप्त करने में सहायक नहीं होते हैं कम करता है—यानी आवश्यक उद्योगों के लिये जो मशीनरी चाहिये, उसका और दुर्लभ पदार्थों के स्टॉक का आयात किया जाये पर दूसरी वस्तुओं के आयात को निरुत्साहित किया जाये या रोका जाये। मक्खन की जगह वन्दूकों की नीति घरेलू उत्पादन की अपेक्षा विदेशी व्यापार पर कहीं अधिक कड़ाई के साथ लागू की जाती है : एकांगी या स्वार्थपूर्ण आत्म-निर्भरता (आटार्की) चाहने वाला देश मक्खन का निर्यात करने का प्रयत्न करता है ताकि वह वन्दूकों का आयात कर सके—वन्दूकों से मतलब उसके लिये किसी भी ऐसी वस्तु से होता है जो कि युद्ध के समय की नाके बन्दी की परिस्थिति में उसकी आत्म-निर्भरता को मजबूत कर सके।

केवल अलग रहने की नीति की अपेक्षा इस तरह की नीति बाकी की दुनियां पर कहीं अधिक बुरा असर डालती है। उस हालत में इसके परिणाम खास तौर से बुरे होते हैं जब कि पूर्ण आत्म-निर्भरता की अव्यावहारिक अवस्था में इसका उपयोग साम्राज्यवादी विस्तार के एक एजेंट के रूप में इस उद्देश्य से किया जाता है कि कमजोर पड़ोसी देशों को एकांगी ढंग के या स्वार्थपूर्ण आत्म निर्भर राज्य के आर्थिक पिछलग्गू बनने के लिए लालायित किया जाये। सन् 1933 से 1939 तक जर्मनी की यही नीति थी—इसका दृढ़ प्रयत्न किया गया कि उन देशों को, जिन्हें, युद्ध होने की हालत में, नाज़ी लोग आक्रान्त करने और उनकी युद्ध सीमाओं के अन्तर्गत लाने की आशा रख सकते थे, ऐसे आर्थिक पिछलग्गुओं की स्थिति में ले आया जाये जो उन वस्तुओं को जो जर्मनी में उत्पन्न नहीं की जा सकें, इस हद तक उत्पन्न करें जिस हद तक कि युद्ध काल में आत्मनिर्भरता सुरक्षित रखने के लिए करना आवश्यक हो। जिस सीमा तक यह नीति सफल हुई उस सीमा तक इसने योरोप के उत्पादन के ढाँचे के ठीक रूप को ही बदल दिया। यह नीति एक बड़ी हद तक सफल इसलिए हुई कि इसका प्रारंभ उस समय किया गया था जब, आपस में स्वीकृत पूर्ण रोज़गार की नीति को अपनाता तो दूर रहा, सारी दुनियां में मन्दी व्याप्त थी और आपसी सहायता से बनी विकास की सर्वमान्य नीति का अभाव था। जिन देशों पर नाज़ी लोग अपना प्रभुत्व स्थापित करने में एक बड़ी हद तक सफल हुए, जर्मन साम्राज्यवाद का शिकार हो गये क्योंकि उनमें बेकारी और अभाव फैला हुआ था और अपने घरेलू बाज़ार की आयात सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन वस्तुओं को विदेशों में बेचना आवश्यक था उनके लिए जर्मनी के अलावा और कहीं भी उनका बाज़ार उपलब्ध नहीं था। विल्कुल ही न बेच सकने से तो यह बेहतर था कि कितनी भी प्रतिकूल परिस्थितियां क्यों न हों, जो जर्मन चाहते थे वह उनको बेचा जाये। और इसी कारण नाज़ियों के लिए इन जरूरतमंद बेचने वालों पर इस बारे में अत्यन्त कड़ी शर्तें लगाना संभव हो गया कि उन्हें क्या उत्पादन करना चाहिये और उसके एवज़ में उनको क्या मिलेगा। यद्यपि वे न तो उन वस्तुओं का उत्पादन कर सके जिनका

उत्पादन करने के लिए वे सबसे अधिक योग्य थे और न बदले में उन वस्तुओं को प्राप्त कर सके जिनको खरीदने की उनको सबसे अधिक आवश्यकता थी, पर फिर भी कुछ न मिलने से कुछ मिल जाना अच्छा ही था—और वाकी की दुनियां प्रायः ऐसी कोई भी वस्तु बेचने को तैयार नहीं थी जिसका मूल्य चुकाने के लिए जरूरतमंद देश साधन प्राप्त कर सकें ।

नाजियों द्वारा होशियारीपूर्वक सोची गयी इस आर्थिक साम्राज्यवादी प्रवेश की नीति को लागू करने के लिए जो विपम ढंग उन्होंने निकाले उनका वर्णन करने का प्रयत्न करने के लिए मुझे बहुत दूर तक जाना होगा । इस पुस्तक में विचार किये गये प्रश्नों से इसका यही सम्बन्ध है कि इसमें द्रव्य सम्बन्धी कुशल प्रबन्धक का अत्यन्त प्रभावशाली हाथ था । इस जर्मन प्रणाली का सार द्वि-पक्षीय व्यापार और द्रव्य आधारित विनिमय दोनों की पंक्ति-बद्ध (क्रमवार) व्यवस्थाओं का निर्माण करना था । नाजियों ने जो कुछ खरीदा उसका मूल्य ऐसी स्वतन्त्र मुद्रा में नहीं दिया जिसे बेचने वाले अपनी इच्छानुसार जैसे और जहां चाहें खर्च कर सकें, बल्कि किसी न किसी प्रकार के प्रतिबंधित (क्लाकड) और प्रयोजन विशिष्ट के लिए सुरक्षित ऐसे जर्मन द्रव्य में दिया जो जर्मनी में ही और कभी कभी तो किन्हीं निश्चित जर्मन वस्तुओं पर ही खर्च किया जा सकता था । अधिक पसंद की जाने वाली पद्धति समा-शोध्य लेखा अर्थात् क्लियरिंग अकाउन्ट की थी । सरल से सरल रूप में इसका अर्थ यह था कि जर्मन आयात करने वाला जो कुछ उसने आयात किया उसका बेचने वाले को चुकारा उस (बेचने वाले) के द्रव्य में नहीं करता था बल्कि जर्मन मार्कों में करता था जो कि जर्मन केन्द्रीय बैंक में रखे जाने वाले एक खाते में जमा किये जाते थे । इसी प्रकार जर्मनी से माल खरीदने वाले भी जर्मन बेचने वालों को मूल्य न देकर अपने केन्द्रीय बैंक के खाते में मूल्य जमा करते थे । फिर जर्मन बैंक में जो द्रव्य जमा होता उसमें से जर्मन बैंक जर्मन निर्यात करने वालों को चुका देता और जो जर्मनी को माल निर्यात करता उसको उसके देश के बैंक के खाते में से चुकारा कर दिया जाता । अगर दोनों खाते बराबर होते तो हर एक का चुकारा हो जाता । अगर ऐसा नहीं होता, यानी, अगर एक देश ने जितना उसने बेचा उससे अधिक खरीद लिया और दूसरे ने जितना खरीदा उससे अधिक बेच दिया, तो जिस देश ने ज्यादा बेचा उसके कुछ बेचने वालों को अपने द्रव्य के लिए इन्तजार करना पड़ता था और दूसरे देश के खाते में उसके तमाम विक्रेताओं को चुका देने के बाद कुछ द्रव्य, जो काम में नहीं आता, पड़ा रहता था ।

अपने लाभ के लिए द्विपक्षीय चुकारे की इस अवस्था को काम में लेने में नाजी लोग काफ़ी कुशल साबित हुए । जिन देशों से उनका व्यापार था उनके चलाय (करेंसीज़) और राइश मार्क के बीच के विनिमय दरों का उन्होंने कुशलता से संचालन

किया। समय समय की अपनी सुविधा के अनुसार खास खास समा-शोध्य लेखों (क्वियरिंग अकाउन्ट्स) की वचतों और कमियों का उन्होंने कुशल प्रवन्ध किया। जिन वस्तुओं की उन्हें दूसरे देशों से जरूरत थी वे वस्तुएं उन्होंने उनसे ले लीं, और जिन चीजों को बेचना उनके लिए सबसे अधिक सुविधाजनक था ठीक उन्हीं चीजों को खरीदने के लिये दूसरे देशों को उन्होंने विवश किया। ऐसा नहीं हो सकता था, यदि जो देश इस प्रकार प्रभावित थे उनके सामने वैकल्पिक बाजार होते जो कि तभी हो सकता था जब कि कुल मिला कर दुनियां सम्पन्न और अच्छी तरह से रोजगार में लगी होती। दुनियां में व्यापक-वेकारी और न्यून-उपभोग की फैली हुई स्थितियों से नाजी लोग लाभ उठा सके और ऐसा करके उस युद्ध के लिए जिसके वास्ते कि वे प्रारम्भ से ही तैयार हो रहे थे उन्होंने अपने आपको मजबूत और दूसरों को क्रमजोर बनाया। पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों नीतियों का तत्परता के साथ अनुसरण करने वाली दुनियां में अगर नाजी नीति वास्तव में कभी प्रारम्भ भी हो जाती तो भी वह असफल ही रहती।

यह ध्यान देने और खैर मनाने की बात है कि (स्वार्थ परिचालित) स्वयं संपूर्णता (आटर्की) की नाजी नीति का मतलब न तो जर्मनी के विदेशी व्यापार की मात्रा को कम करने का था और न जर्मन लोगों का यह दृढ़ निश्चय था कि दीर्घकाल में जिसे अनुकूल व्यापार संतुलन—यानी आयात से अधिक निर्यात करना—कहते हैं उसे प्राप्त किया जाए। नाजियों का लक्ष्य विदेशी व्यापार को कम करना न था बल्कि अपने साम्राज्यवादी और युद्ध-मय व्ययों को पूरा करने में उसका उपयोग करना था। जैसे कि कुछ दूसरे देश कभी कभी चाहते हुए मालूम पड़ते थे वैसे नाजी लोग, सिवाय अस्थायी तौर पर, भावी आयातों के लिए अपने अधिकारों का निर्माण करने की दृष्टि से, यह नहीं चाहते थे कि जर्मन माल, बिना उसके एवज में आयात के रूप में चुकारा हुए, विदेशों में पाटा जाये। जो वस्तुएं उनको युद्ध के लिये मजबूत होने में सहायता पहुँचा सकती थीं उनको अधिक से अधिक मात्रा में आयात करने की योग्यता वे अपने में उत्पन्न करना चाहते थे और इन चीजों को खरीद सकने में सक्षम बनने के लिये ज्यादा से ज्यादा जितना वे बचा सकते थे उतना वे निर्यात करना चाहते थे। और जो कुछ उन्हें आयात करने की जरूरत होती उसके एवज में कम से कम जर्मन माल देकर व्यापार की शर्तों को वे अपने अनुकूल बना लेना चाहते थे। नाजियों के विरुद्ध सबसे बड़ी शिकायत न तो यह है कि उन्होंने संसार के व्यापार को कम करने के प्रयत्न किये और न यह है कि उन्होंने जर्मन माल को बाकी की दुनिया पर लादने की दिशा में कदम उठाये : शिकायत तो यह है कि उनकी स्वार्थ परिचालित स्वयं संपूर्णता (आटर्की) की नीति ने जानबूझ कर जर्मनी के एक तरफा लाभ के लिये—या जिसे नाजी लोग अपना लाभ समझते थे उसके लिये—दुनिया के व्यापार के स्वरूप और उसकी दिशाओं को विरूपित कर दिया।

न यह सही है कि जापानियों ने, जो कि कुछ मामलों में ऐसी ही नीति का अनुसरण कर रहे थे, जितना खरीदा उससे अधिक बेचना चाहा, क्योंकि अपनी युद्ध क्षमता बढ़ाने के लिये जापानियों को प्रचुर मात्रा में आयातों की आवश्यकता थी, और जापानी निर्यातों को सक्रिय प्रोत्साहन देना अनुकूल व्यापार संतुलन स्थापित करने के लिये नहीं बल्कि आयात की वस्तुओं को खरीदने के लिये एक साधन था। द्विपक्षीय सौदा करने की क्षमता को उस हद तक ले जाने के लिये जिस हद तक जर्मनी ले गया था या द्रव्य संबंधी प्रबंध के उन्हीं उपायों को काम में लेने के लिये जो कि जर्मनी ने लिये, जापान पर्याप्त मजबूती की स्थिति में नहीं था। जापानियों को अपने पास के हर उपाय द्वारा अपना व्यापार मुख्यतया निर्यात बढ़ाने पर केन्द्रित करना पड़ा, पर अपनी खरीदने की क्षमता बढ़ाने के लिये उन्होंने अपनी विक्री को प्रोत्साहन दिया। वे दूसरे देशों के लिये अच्छे ग्राहक थे और प्रतिस्पर्द्धी भी। उनके साम्राज्यवादी उद्देश्य को यदि छोड़ दिया जाय तो केवल व्यापारिक दृष्टि से दुनिया को उनसे शिकायत होने का कोई कारण नहीं था, चाहे फिर उनकी प्रतिस्पर्द्धा का ग्रेट ब्रिटेन सहित कुछ देशों के पुराने-स्थापित उद्योगों पर कितना ही प्रतिकूल असर क्यों न पड़ा हो।

दरअसल यह सम्भव है कि तीसरी दशाब्दी की जर्मनी और जापान की साम्राज्यवादी आर्थिक नीतियों ने संसार के कुल व्यापार को, घटाने की तो बात ही क्या, निश्चित रूप से बढ़ाया हो। अगर अपनी आक्रामक शक्ति को बढ़ाने के लिये वे जो खरीद सकते थे वह सब कुछ न खरीदते तो बाजार में दूसरा खरीददार कौन होता ? इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि दूसरे किसी सार्वजनिक विनियोग की तरह से पुनः शस्त्रीकरण उस देश के रोजगार के लिये जहां वह अपनाया जाता है, अच्छा है। इसलिये हमें यह इन्कार करने का प्रयत्न क्यों करना चाहिए कि तीसरी दशाब्दी में, जब अधिक शान्ति-प्रिय देश घर और बाहर दोनों जगह विस्तृत बेकारी और उससे संबंधित गिरी हुई क्रय-शक्ति के सामने विवशतापूर्वक चीख रहे थे, वे देश जो विश्व-युद्ध के लिये तत्परता के साथ शस्त्रीकरण में लगे थे, दुनिया के आर्थिक कारोबार के और दुनिया के व्यापार के स्तर को ऊंचा उठाने में सहायक हुए।

यह सच है कि जापान में तो नहीं पर जर्मनी में युद्ध के पूर्व के पांच वर्षों में कुल मिला कर निर्यात का आविर्भाव रहा। उन पांच वर्षों में जर्मन-निर्यात का औसत था 487.1 करोड़ राइश मार्क और जर्मन-आयात का 474.5 करोड़। पर 1938 में ही पिछले वर्षों की स्थिति पलट चुकी थी। निर्यात 524.9 करोड़ और आयात 544.3 करोड़ का हो गया था। युद्ध के लिये तैयारी की दृष्टि से अति आयात का समय प्रारम्भ हो चुका था।

उन्नीस सौ तीस में नाजी जर्मनी ने, कुशल डा० शावट के बहुत कुछ प्रभाव में, जो भेदात्मक व्यापार और द्रव्य-संबंधी नीतियाँ अपनाईं वे संयुक्त राज्य सहित दूसरे विकसित देशों में अत्यन्त अप्रिय थीं। वास्तव में 1945 के बाद से भेदात्मक नीति नहीं, पर जो आवेशपूर्ण आग्रह रहा है वह बहुत कुछ शावटी (शाव्टियन) नीतियों के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया और उस मतिभ्रम के कारण रहा है जो मतिभ्रम (कनफ्यूजन) निरंकुश तथा आर्थिक साम्राज्यवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधी आर्थिक नियोजन के बीच में रहा। इस प्रतिक्रिया के बावजूद, संयुक्तराज्य से कम मजबूत स्थिति वाले देशों को, केवल आत्म-रक्षा की दृष्टि से, अपने चुकारों के संतुलनों की रक्षा के लिये आयात के सम्बन्ध में भेदात्मक उपायों को अपनाने के लिये विवश होना पड़ा है, और न चाहते हुए भी एक हद तक संयुक्त राज्य अमेरिका को इसमें अपनी सहमति देनी पड़ी है। पर यह तर्क देने की एक दृढ़ प्रवृत्ति रही है कि आयातों के सम्बन्ध में सब तरह की भेद नीति सिद्धान्तः गलत है और उसको सामान्य सिद्धान्त के एक अस्थायी अपवाद के रूप में ही वर्दाश्त किया जाना चाहिए। जैसा कि मैं बाद में बताने का प्रयत्न करूँगा, ऐसे रख का असर उन तरीकों पर प्रतिबंध लगाने का हुआ है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ा सकती थीं और उन दूसरे तरीकों पर भी प्रतिबंध लगाने का हुआ जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सीमित कर सकती थीं।*

हममें से अधिकतर अब इस विषय में सहमत हैं कि हमें प्रत्येक देश में पूर्ण रोजगार तथा विभिन्न देशों के बीच में बढ़े हुए स्तर का व्यापार, दोनों ही चाहियें। किसी भी देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिये आर्थिक नियोजन की एक व्यवस्था चाहिये जो कम से कम इस हद तक तो होनी ही चाहिये कि राज्य से यह जिम्मेदारी लेने के लिये कहा जा सके कि वह आर्थिक विकास के ऊँचे स्तर को बनाए रखने और उन प्रतिबंधात्मक व्यवहारों को समाप्त करे जो उत्पादन कम करके भी कीमतों को कायम रखना चाहते हैं। इस तरह का नियोजन, कम से कम कुछ देशों में, स्पष्टतया एक ऐसी दृढ़ राष्ट्रवादी दिशा ले सकता है जिसका ध्येय आत्म निर्भरता की अधिकतम व्यावहारिक सीमा हो, मुख्यतया युद्ध की तैयारी के साधन के तौर पर नहीं, पर किसी कदर इस आशा में कि राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था को बाकी की दुनियाँ की मंदी और अव्यवस्था के प्रभावों से अलग कर लिया जाए। किसी हद तक इस दिशा का अनुसरण करना अनिवार्य हो जाता है यदि केवल कोई एक देश या अधिक से अधिक कुछ देश ही पूर्ण रोजगार की नीति का अनुसरण करते हों और अधिकांश या सब से अधिक शक्तिशाली देश ऐसी परिस्थितियों में काम करते रहें जिनमें एक चक्र के रूप में आने वाले उतार चढ़ाव और प्रतिबंधात्मक एकाधिकारों को अपने विनाशकारी प्रभाव डालने की आजादी हो। साफ है कि

आवश्यकता यह नहीं है कि सर्वथा स्वतंत्र राष्ट्रीय नीतियों की एक शृंखला पार्थक्य की भावना में, अपनायी जाए बल्कि यह है कि एक ऐसी नियोजित अन्तर्राष्ट्रीय नीति अपनायी जाए जो जितने संभव हों उतने देशों से सम्बंधित रहे और उसकी राष्ट्रीय नीतियों में ऐसा सामंजस्य लाने के लिये बनाई जाए जिससे ऊंचे स्तर के आपसी विनिमय और अधिक पिछड़े देशों के आर्थिक विकास के लिये किये जाने वाले पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन मिले ।

वेशक, अलग अलग देशों में किये जाने वाले राष्ट्रीय नियोजन में अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन आजाता है जब तक कि राष्ट्रीय नियोजन को पृथक्वाद का विकृत रूप ही नहीं दे दिया जाये । अहस्तक्षेप की आन्तरिक नीतियों के स्वाभाविक रूप में साथ चलने वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त में लागू होने वाली अहस्तक्षेप की नीति थी । जैसे ही देश उनके आन्तरिक आर्थिक मामलों को, न्यूनतम राज्य के हस्तक्षेप के साथ, अपनी स्वयं व्यवस्था कर लेने देने की नीति को छोड़ देते हैं और उसके वजाय पूर्ण रोजगार के लिये राष्ट्रीय नियोजन को अपना लेते हैं वैसे ही यह अनिवार्य हो जाता है कि नियोजन का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक विस्तार किया जाए और राष्ट्रीय योजनाओं का समीकरण करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय ढांचा खड़ा किया जाए । वह पुरानी व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय ढांचा मुख्यतया एक ऐसी द्रव्य व्यवस्था के रूप में था जिसके द्वारा राष्ट्रीय चलार्थों का सापेक्षिक मूल्य सवके समान रूप से स्वर्ण मान का अनुसरण करने से निश्चित होता था, अब आगे काम नहीं देगी । क्योंकि उस व्यवस्था की मान्यता यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बंधों की प्रभावक इकाइयां राज्य नहीं थे बल्कि निजी व्यापारी थे जो संयोग से विभिन्न देशों में रहते थे और जिन्हें, बिना अपनी सरकारों को बीच में लाए हुए, माल और द्रव्य के विनिमय के लिये साधनों की आवश्यकता थी । राष्ट्रीय आधार पर नियोजित अर्थ व्यवस्था व्यक्तिगत व्यापारियों का राष्ट्रीय सीमाओं के आर पार इस प्रकार से व्यवहार करना असंभव कर देती है कि जिससे अपने अपने राज्यों की राष्ट्रीय योजनाएं अस्त व्यस्त हो जाएं । इसमें व्यापारिक और द्रव्य के दोनों ही स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बंधों का नियंत्रण आजाता है ।

यह पुस्तक मुख्यतया विश्लेषण है पूर्ण रोजगार के लिये किये जाने वाले राष्ट्रीय नियोजन के उन अनिवार्य फलितार्थों का जो कि द्रव्य के क्षेत्र में दिखाई देते हैं । इसका आरंभ द्रव्य सम्बंधी मुख्य संकल्पनाओं (कनसेप्ट्स) और समस्याओं की प्रारंभिक व्याख्या से करना होता है, क्योंकि सामान्यतया इनके विषय में बहुत थोड़ी जानकारी होती है । परन्तु यह केवल उसी हद तक एक पाठ्य-पुस्तक है जिस हद तक कि उसे पाठकों को प्रारंभिक द्रव्य संबंधी तथ्यों की आवश्यक जानकारी कराने के लिये एक पाठ्य पुस्तक होना चाहिये । इस जानकारी के बिना उनके

लिये उन प्रश्नों के संबंध में बुद्धिमानों का निर्णय करना संभव नहीं होता जो कि उनको और संसद तथा द्रव्य और व्यापार संबंधी नीतियों के विषय में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय समझौता वार्ताओं में उनके प्रतिनिधियों को तय करने होते हैं ।

इस पुस्तक में जिस बात पर मैं खास तौर से जोर देना चाहता हूँ वह यह है कि कोई भी देश अपने श्रम और उत्पादन साधनों को पूरी तौर पर काम में निश्चित रूप से ले सके इस दृष्टि से बनायी गयी नीति का तब तक सफलता के साथ पालन नहीं कर सकता जब तक कि वह अपनी आन्तरिक द्रव्य पूर्ति की परिस्थितियों का नियंत्रण करने की स्थिति में नहीं होता । यह नियंत्रण अनिवार्य है क्योंकि लागत और मूल्यों का आंतरिक ढांचा पूर्णतया लोचदार नहीं होता । इससे चुकारे के साधनों का ऊपर से लादा गया विस्तार या संकुचन अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अंगों में पाये जाने वाले लागत और प्राप्तियों के सम्बन्धों को अवश्य ही विकृत कर देता है और विभिन्न वर्गों और समूहों की सापेक्षिक आमदनियों को उलट पुलट कर देता है । जो देश पूर्ण रोजगार की नीतियों का पालन कर रहे हैं उनके लिये यह संभव नहीं है कि उन शक्तियों की इच्छा पर जो उनकी आन्तरिक आर्थिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं से परे है वे इन विकृतियों को स्वीकार करें । उनको अपनी इस स्वतंत्रता को कि वे अपनी द्रव्य सम्बन्धी नीतियों को अपनी आवश्यकता के अनुसार संशोधित कर सकें सुरक्षित रखना चाहिये, इस बात का लिहाज नहीं रखते हुए कि जो कुछ वे करते हैं उसकी दूसरे देशों पर क्या प्रतिक्रिया होती है, पर इस दृष्टि से कि उनके अपने व्यवहार उन शक्तियों द्वारा उनके लिये निर्धारित न होने दिया जाए जिन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है । ठीक समझौता यही हो सकता है कि एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय चलार्थ इकाई स्थापित की जाए कि जिसमें तमाम राष्ट्रीय चलार्थों के मूल्यों को नापा जा सके, बिना इन मूल्यों को इस प्रकार निश्चित किये कि उनमें कोई परिवर्तन ही न किया जा सके । इस प्रकार की व्यवस्था हर देश में अपने द्रव्य सम्बन्धी मामलों के प्रबंध में एक नयी जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न कर सकती है बिना उसे किसी ऐसे अपरिवर्तनीय अन्तर्राष्ट्रीय मान से बांधे जो उसकी आन्तरिक आर्थिक नीति की आवश्यकताओं से मेल बैठाने में भीषण रूप से असफल रहे ।

मुझे ध्यान है कि मेरे बहुत से पाठकों को ये बातें अस्पष्ट मालूम पड़ सकती हैं । पर इस पुस्तक के प्रारम्भ में मैं उन पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकता । मुझे आशा है कि इस पुस्तक के समाप्त होने के पहले उनका अर्थ और उनकी प्रांगिकता साफ तौर से प्रकट हो जाएगी । द्रव्य देशों के अंदर और देशों के बीच में विनिमय का साधन है और हमारी समस्या यह है कि ऐसे तरीकों और उपायों का पता लगाया जाये जो दुनिया के लोगों के संतोष के लायक इन दोनों प्रयोजनों को सिद्ध

कर सकें। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व होते हुए भी हमको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि देशों के बीच में होने वाले लेन देन से कहीं अधिक लेन देन देशों के अंदर होते हैं और इसलिए किसी भी संतोषजनक द्रव्य व्यवस्था की पहली ज़रूरत यह है कि वह आन्तरिक सौदों के माध्यम का काम ठीक ठीक और पर्याप्त रूप में करे। किसी ऐसी व्यवस्था को अपनाना मूर्खता होगी जो आन्तरिक विनियमों को अधिक कठिन और अन्यायपूर्ण बना कर ही अन्तर्राष्ट्रीय विनियमों को सरल कर सकती है। द्रव्य नीति के प्रश्नों को सुलझाने का हमारा उद्देश्य घरेलू बाजार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विनियोग दोनों की आवश्यकताओं में उचित संतुलन बैठाना और जहां तक संभव हो वहां तक दोनों की मांग पूरी करना होना चाहिए। एक स्थिर अन्तर्राष्ट्रीय विनियम का माध्यम और साथ-साथ परामर्श की शर्त पर, उससे राष्ट्रीय चलार्थ मूल्यों का मेल बैठाने की आजादी, लोगों के लिए वह तरीका साबित हो सकता है जो दोनों दुनियाओं (राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय) को अधिकतम लाभ दे।

अध्याय १

द्रव्य क्या है ?

द्रव्य क्या है ? पूर्व इसके कि मैं कोई परिभाषा देने का प्रयत्न करूँ, यह ज्यादा अच्छा हो कि मैं द्रव्य के कुछ ऐसे प्रकारों का उल्लेख करूँ जिनका कि विचार किसी भी भाषा को करना होगा। सर्व प्रथम और सर्वथा स्पष्ट एक तो वह द्रव्य है जिसे हम अपनी जेबों में लिए फिरने के अभ्यस्त हैं और जिसका अपने दैनिक खर्च को चलाने के लिए हम उपयोग करते हैं। यही वह द्रव्य है जिसमें मजदूरी—ऊँचे वेतन प्रायः नहीं—चुकाई जाती है। इस प्रकार मजदूर जिस रूप में द्रव्य-खर्च करते हैं उसी रूप में प्राप्त करने के आदी हैं, जबकि अन्य आय प्राप्त करने वाले अधिकांश में अपनी आय एक रूप में प्राप्त करते हैं और कम से कम उसका एक अंश दूसरे रूप में खर्च करते हैं।

इस पहले प्रकार के द्रव्य को नक़द कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है : सिक्का और नोट। सिक्के राज्य द्वारा, राज्य की टकसाल से जारी किये जाते हैं और सिक्के ढालने का राज्य को एकाधिकार होता है। एक लम्बे समय से अधिकांश देशों में सिक्का ढालना सरकार का एकाधिकार रहा है। इसके मुकाबले में अधिकांश देशों में नोट सीधे राज्य द्वारा जारी न किये जाकर राज्य की तरफ़ से किसी न किसी प्रकार के केन्द्रीय बैंक के द्वारा जारी किये जाते हैं। अधिकांश देशों में केन्द्रीय बैंक पर राज्य का स्वामित्व होता है, और उसकी संचालन समिति सरकार द्वारा नियुक्त की जाती है। पर प्रत्येक देश में ऐसा नहीं है, और जहाँ ऐसा है वहाँ भी केन्द्रीय बैंक की संचालन समिति को अपनी नीति का निर्माण करने की पर्याप्त स्वतंत्रता दी जाती है। सन् 1946 तक ग्रेट-ब्रिटेन में केन्द्रीय बैंक—“बैंक ऑव इंग्लैंड”—व्यक्ति-स्वामित्व वाला निगम था। उसके संचालक और उसका शक्तिशाली गवर्नर (प्रशासक) उसके हिस्सेदारों द्वारा नियुक्त किये जाते थे। ये हिस्सेदार अधिकतर किसी न किसी प्रकार के बैंकर होते थे। युद्धकाल को छोड़कर, यह बैंक काफ़ी हद तक अपनी स्वयं की नीति के अनुसार चलने की स्थिति में रहता था। व्यवहार में “बैंक ऑव इंग्लैंड” और सरकार (ट्रेजरी) में निकट का संपर्क रहता था, और सरकार के नियंत्रण में विनिमय समकारि-निधि (एक्सचेंज इक्विटी इजेशन फंड) की स्थापना हो जाने से “बैंक” पर सरकार का नियंत्रण बढ़ गया था। परन्तु फिर भी बैंक एक स्वतंत्र संगठन था जो सरकार को प्रभावित

करने की स्थिति में रहता था और सरकार से केवल आदेश लेने वाला नहीं था। पहले तो "बैंक ऑफ फ्रांस" की स्थिति भी बैंक ऑफ इंग्लैंड जैसी ही थी पर उन्नीसवीं सदी (1930 से प्रारंभ होने वाली दशक) में उसने अपनी कुछ स्वतंत्रता खो दी। जर्मन राइश बैंक ज्यादा अच्छी तरह से राज्य-नियंत्रित था। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक केन्द्रीय बैंक के स्थान पर वारह थे। जिनका एक संघीय संचित मंडल (फ़ेडरल रिज़र्व बोर्ड) द्वारा आपस में सम्बन्ध था। संघीय संचित (फ़ेडरल रिज़र्व बोर्ड) के संचालक सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते थे। देश-देश की स्थिति भिन्न थी, पर लगभग सभी जगह नोट जारी करने का काम केन्द्रीय बैंक के हाथ में था और बैंक के नोट जारी करने संबंधी अधिकारों का नियंत्रण कानून से होता था। ये कानून नोट जारी करने के अधिकार को मर्यादित और निश्चित करते थे, लेकिन उसके संबंध में केन्द्रीय बैंक की स्वतंत्रता को सर्वथा समाप्त नहीं करते थे। किन्हीं देशों में केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त दूसरे बैंकों को भी नोट जारी करने के सीमित अधिकार होते हैं। जैसे ग्रेट ब्रिटेन में स्कॉटिश बैंक थोड़े से अपने नोट भी जारी करते हैं और एक समय ऐसा भी था जब इंग्लैंड में बहुत से बैंक अपने नोट जारी करते थे। लेकिन अब स्कॉटलैंड के अलावा ग्रेट ब्रिटेन में नोट जारी करने का काम बैंक ऑफ इंग्लैंड के पास ही केन्द्रित कर दिया गया है। और स्कॉटिश नोटों की संख्या इतनी कम होती है कि उनका कोई महत्व नहीं है।

प्रथम महायुद्ध में स्वयं सरकार ने नोट जारी किए जिन्हें सरकारी नोट ('ट्रेजरी नोट') कहते थे। और ये नोट युद्ध समाप्त होने के बाद भी कुछ समय तक परिचलन में रहे। ये सरकारी नोट (ट्रेजरी नोट) केवल 1 पाँ० या 10 शि० के नोट थे, और इनसे बड़ी रकम के सभी नोट बैंक ऑफ इंग्लैंड ही जारी करता रहा। छोटे नोट इसलिये जारी करने पड़े थे कि या तो वे सोने के सिक्कों की, जो युद्ध आरंभ होने पर परिचालन से हटा लिये गए थे, जगह ले लें या युद्धकाल में जो आय और मूल्य वृद्धि होने से रोकड़ की मांग बढ़ती जा रही थी उसकी पूर्ति करें। यह स्वाभाविक जान पड़ा कि उनको बैंक ऑफ इंग्लैंड, अब सार्वजनिक संपत्ति ! लेकिन तब एक निजी (प्राइवेट) निगम के रूप में नहीं बल्कि सरकार (ट्रेजरी) जारी करे क्योंकि सबसे पहले इनकी जरूरत मुख्यता सोवरिन और अर्द्ध-सोवरिन का जो पहले टकसाल से जारी होते थे, स्थान लेने के लिए पड़ी। यह नीति संबंधी एक महत्वपूर्ण निर्णय था, जब 1928 में, फैसला किया गया कि नोट जारी करने का सारा काम बैंक को सुपुर्द किया जाय, और टकसाल के पास रोज-मर्रा रेज़गारी के रूप में काम में आने वाले मिश्रित-चांदी (सिलवर-एलॉय) और तांबे के सिक्के ढालने का काम ही रहे। दरअसल उद्देश्य यह था कि रोकड़ की समस्त पूर्ति के लिए एक ही संस्था जिम्मेदार रहे, क्योंकि चांदी और तांबे के सिक्कों की मांग का कोई स्वतंत्र महत्व नहीं था। वास्तव में ये सिक्के भी परिचलन में बैंक

आव इंग्लैंड के द्वारा ही लाए जाते हैं क्योंकि बैंक आव इंग्लैंड ही जनता की रेज़गारी की आवश्यकता के अनुसार ये सिक्के टकसाल से प्राप्त करता है और उन्हें व्यापारिक बैंकों को देता है ।

सिक्के धातुओं के बनाए जाते हैं—आजकल प्रायः चांदी और ताँबे के जिनमें और धातु भी मिलाई जाती है । सन् 1914 से पहले सिक्के सोने के भी बनाए जाते थे, और सोने के सोवरिन में वास्तव में 20 शि० के मूल्य का सोना होता था । बैंक आव इंग्लैंड हमेशा समान वज़न और शुद्धता के सोवरिन के एवज़ में सोना खरीदने को तैयार रहता था । सोने के सिक्कों का जिन दूसरे देशों में चलन था उनमें से अधिकांश में यह स्थिति नहीं थी । अधिकांश राज्य सिक्का डालने का खर्च वसूल करते थे जिसे टंकन लागत (सिन्डियोरेंज) कहते हैं, और कुछ तो लाभ कमाने की दृष्टि से खर्च से भी ज्यादा वसूल करते थे, और इसलिए जो सोने के सिक्के वे जारी करते थे वे वास्तव में उस मूल्य के नहीं होते थे जिसके वे माने जाते थे । ब्रिटिश सोवरिन दुनिया के लगभग हर भाग में इसीलिए स्वीकार किया जाता था कि ब्रिटेन में ऐसा कोई खर्च वसूल नहीं होता था ।

आजकल सोने के सिक्के हर एक जगह से परिचलन के बाहर हो गए हैं, और केवल चांदी तथा निम्न धातुओं के सिक्के रह गए हैं । आजकल जो सिक्के परिचलन में हैं उनका जो मूल्य माना जाता है उसके बराबर या उसके आसपास भी उनका वास्तविक मूल्य नहीं होता । वे ठोस द्रव्य नहीं होते, जिनका मूल्य उनके माने हुए मूल्य के बराबर हो, बल्कि सांकेतिक द्रव्य होते हैं जिनका द्रव्य के रूप में मूल्य जो सरकार उन्हें जारी करती है उसके आदेश के आधार पर होता है । कुछ देशों में ऐसे चांदी के सिक्के भी होते थे जिनका धातु के तौर पर उतना ही या लगभग उतना ही मूल्य होता था जो उन पर अंकित रहता था । लेकिन अब इस प्रकार के सिक्के भी परिचलन में नहीं रहे हैं, और हमारे अपने “चांदी” के सिक्के अब वास्तव में चांदी के नहीं बनाए जाते बल्कि ताँबे-निकल के बने होते हैं । यह संसार व्यापी प्रवृत्ति हो गई है कि द्रव्य के तौर पर काम में आने वाले सिक्कों के वास्तविक मूल्य को कम किया जाए । साधारणतया अब यह मान लिया गया है कि अगर किसी द्रव्य के तौर पर काम में आने वाले सिक्के का धातु के रूप में जो उसका सिक्के के रूप में मूल्य है उसके बराबर मूल्य नहीं है, तो फिर इस बात का कोई महत्व नहीं है कि उसका वास्तविक मूल्य कितना कम है । जो महत्व की बात है वह यह है कि जाली सिक्का बनाना यथासंभव कठिन हो । क्योंकि द्रव्य के वास्तविक और द्राव्यिक मूल्य में जितना अधिक अंतर होगा उतना ही जाली द्रव्य बनाने का प्रलोभन भी अधिक होगा ।

नोट, धातु के नहीं, कागज के बनते हैं। उनका कोई वास्तविक मूल्य होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में वे प्रायः बढ़िया किस्म के ऐसे कागज के, जिसमें बनाते समय सावधानी पूर्वक निशान कर दिये जाते हैं (वाटर मार्कड पेपर), बनाए जाते हैं। और उनको छापने में भी, जो कि अत्यंत खास तरह का काम है, बहुत सावधानी वर्ती जाती है, ये सब सावधानी एक तो इसलिये आवश्यक है कि कागज का द्रव्य आसानी से नष्ट होने वाला न हो और दूसरे इसलिए कि जाली द्रव्य न बन सके, क्योंकि जहां जाली द्रव्य सफलतापूर्वक बन सकता हो वहां अत्यधिक लाभ की गुंजाइश रहती है। जाली नोटों का पता लगाने की कला को बैंकरों ने काफ़ी पूर्णता तक पहुँचा दिया है, और इस देश में जाली नोट प्रायः नहीं बनते हालांकि उनका बनना सर्वथा बंद नहीं हो गया है। ग्रेट ब्रिटेन में तमाम नोट संख्यावार गाड्डियों (नम्बर्ड सिरीज़) में होते हैं और 10 शि० से कम का नोट जारी नहीं किया जाता। कुछ दूसरे देशों में बहुत अधिक छोटी रक़म के नोट परिचलन में हैं और इसलिये धातु के सांकेतिक द्रव्य की मात्रा उसी हिसाब से कम कर दी जाती है। द्रव्य के सिद्धान्त की दृष्टि से धातु के सांकेतिक द्रव्य और कागज के सांकेतिक द्रव्य में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। वे एक ही प्रयोजन पूरा करते हैं, और दोनों का ही द्राव्यिक मूल्य जो राज्य उन्हें स्वयं जारी करता है या किसी एक या अधिक बैंकों को उन्हें जारी करने का अधिकार देता है, उसके आदेश पर निर्भर करता है। कुछ बातों में राज्य द्वारा जारी किए गए और बैंक द्वारा जारी किये गए नोटों में महत्वपूर्ण अंतर होता है, और इस बारे में हमें फिर विचार करना हो सकता है। पर वर्तमान दृष्टि से तो हम सांकेतिक सिक्कों और सांकेतिक नोटों को एक ही श्रेणी के उस द्रव्य के प्रकार मान सकते हैं जो साधारण स्त्री पुरुष को मजदूरी के रूप में मिलता है और जिसका उपयोग हर व्यक्ति अपने रोज़मर्रा के खर्च के लिए करता है।

धनी लोग और कुछ ऐसे लोग भी जो मजदूरों से ज्यादा धनी नहीं हैं, अपनी आय नकद में नहीं, बैंक में प्राप्त करते हैं। अगर उनके अपने बैंक में खाते होते हैं तो जैसे ही उन्हें ये बैंक मिलते हैं, वे आमतौर पर उन्हें बैंक में जमा करा देते हैं और जो उनका खर्च होता है वह किसी हद तक तो वे अपने नाम के बैंक देकर बैंक से जो नकद निकाल लेते हैं उससे करते हैं और किसी हद तक अपने लेनेदार को बैंक देकर करते हैं। अगर उनका बैंक में हिसाब नहीं होता तो वे किसी दूसरे आदमी, अकसर किसी व्यापारी, के द्वारा अपने बैंक नक़द में बदल लेते हैं और फिर नकद से अपना खर्च चलाते हैं। आजकल अधिकांश बड़े बड़े चुकारे बैंक से ही

होते हैं : कम से कम ग्रेट ब्रिटेन में तो ऐसा है, जबकि बहुत से दूसरे देशों में जहां चैक का प्रयोग इतना नहीं चल पड़ा है या कम है, नोटों और विलों का, जिनके विषय में हम अभी विचार करेंगे, अधिक प्रयोग किया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में अधिकांश मध्यम श्रेणी परिवार अपने बड़े व्यापारियों का हिसाब चैक से करते हैं, अपने किराये, बीमा के प्रीमियम, कर, और दूसरे बड़े खर्चों का चुकारा चैक से करते हैं और दरअसल अपने व्यक्तिगत हिसाबों का अधिकांश भाग अपने बैंक से रखवाते हैं। इसी तरह अधिकांश व्यापारिक लेन देन भी चैक से होता है। फुटकर व्यापारी, जिन्हें अपनी दुकान पर नक़द द्रव्य प्राप्त होता है, उसका अधिकांश भाग बैंक में जमा करा देते हैं और केवल खर्च जितना नक़द (टिलमनी) अपने पास रख लेते हैं तथा थोक व्यापारियों से जो उनका लेन-देन होता है उसका हिसाब अधिकतर चैक से ही करते हैं। इसलिए सप्ताह के अन्त में जब अधिकांश मजदूरी चुकाई जाती है, नियमित रूप से नक़द बैंक से बाहर जाता है और ये नक़द फिर सप्ताह भर जैसे जैसे व्यापारी जमा कराते हैं, वापिस बैंक में आता रहता है। सम्पन्न इलाकों की अपेक्षा जहां अधिकतर चालू खर्च चैक से होता है, मजदूरों के इलाकों में यह नियमित रूप से काम आने वाला नक़द कुल खर्च का ज्यादा बड़ा भाग होता है।

सिक्के और नोट 'द्रव्य' (मनी) हैं, लेकिन चैक द्रव्य नहीं है। द्रव्य का लक्षण यह है कि प्रचलन की एक के बाद दूसरी क्रिया में वह एक से दूसरे को लिया दिया जा सकता है। इसके विपरीत चैक साधारणतया केवल एक बार ही चलता है। आम तौर से यह किसी निश्चित व्यक्ति के नाम पर काटा जाता है जिसे द्रव्य की रसीद के तौर पर अपना नाम उसके पुस्त पर लिखना होता है। जिस व्यक्ति के नाम पर चैक काटा जाता है वह जब उस पर रसीद (एन्डोर्स) करता है और उसे पेश करता है तब उसे चुकारा किया जाता है, और तब वह चैक रद्द कर दिया जाता है और अन्ततोगत्वा जिस व्यक्ति ने वह चैक काटा था उसे बैंक द्वारा वह लौटा दिया जाता है। वेशक चैक एक से अधिक बार भी चल सकता है। मेरे नाम पर जो चैक दिया गया है उसकी पुस्त पर जब मैं हस्ताक्षर कर दूँ तब उसके एवज़ में मुझे द्रव्य देने के लिए मैं किसी व्यक्ति को तैयार कर सकता हूँ, और यह व्यक्ति इस चैक को किसी दूसरे व्यक्ति को दे सकता है पूर्व इसके कि वह बैंक में दिया जाए। पर इस तरह का परिचलन (सरकूलेशन) अक्सर नहीं होता। अधिकांश चैक जिस व्यक्ति के नाम पर वे काटे जाते हैं वही सीधा बैंक में दे देता है। बीच के किसी व्यक्ति के लिए किसी चैक का स्वीकार करना उसकी इच्छा (ग्रेंस) की बात है, किसी अधिकार की नहीं। चैक का मूल्य इस पर निर्भर करता है कि जिस

व्यक्ति ने चैक काटा है उसके बैंक के खाते में बैंक चैक को सिकरा सके उतना द्रव्य है। बैंक-नोट की तरह चैक को चुकाने का बैंक का कोई ज़िम्मा नहीं रहता। यदि जिस व्यक्ति ने चैक काटा है उसका अपने बैंक में पर्याप्त द्रव्य नहीं है तो बैंक चैक सिकारने से मना कर देगा और उस पर आर० डी० (रेफर टू ड्राअर, काटने वाले के पास जाओ) लिख देगा या, कभी खाता नहीं (नो अकाउन्ट)। चैक केवल किसी व्यक्ति का चुकारा करने का व्यक्तिगत वायदा है : उसका मूल्य चैक काटने वाले की अपना वायदा निभाने की योग्यता पर निर्भर करता है।

वास्तव में दो प्रकार के चैक होते हैं—आदिष्ट चैक या धनादेश (आर्डर चैक) और वाहक चैक या धनादेश (वियरर चैक)। आदिष्ट-धनादेश किसी व्यक्ति द्वारा अपने बैंक को दिया गया एक आदेश है कि अमुक रकम अमुक व्यक्ति को दे दी जाए। वाहक-धनादेश भी इसी प्रकार का आदेश है कि अमुक व्यक्ति को या 'वाहक' को यानी किसी भी व्यक्ति को जो चैक बैंक में पेश करता है अमुक रकम दे दी जाए। दैनिक लेन-देन में आदिष्ट-धनादेशों का ज्यादा व्यवहार होता है क्योंकि वे अधिक सुरक्षित होते हैं। अगर कोई वाहक-धनादेश गुम जाए तो कोई भी उसे बैंक में पेश कर सकता है और उसके एवज में नकद प्राप्त कर सकता है जब तक कि चैक काटने वाले ने ही अपने नुकसान का ध्यान करके बैंक को चुकारा करने से मना न कर दिया हो, जबकि आदिष्ट-धनादेश का, अमुक व्यक्ति को ही नकद देने का आदेश होने से तबतक चुकारा नहीं किया जा सकता जब तक कि उस व्यक्ति के चैक की पुस्त पर हस्ताक्षर नहीं हो जाते।

अधिकांश चैक किसी खास व्यक्ति के आदेश पर सिकराए जाने वाले भी होते हैं और रेखित (क्रोस्ड) भी होते हैं। रेखित-धनादेश पर दो विकर्ण-रेखाएं (डाइगोनल लाइन्स) खींची जाती हैं और इन रेखाओं का मतलब यह है कि यह धनादेश जिस बैंक पर वह काटा गया है वहां ले जाकर नहीं सिकराया जा सकता बल्कि उसकी रकम किसी ऐसे व्यक्ति के खाते में ही जमा होनी चाहिये जिसका या तो उसी बैंक में या किसी भी दूसरे बैंक में खाता हो। 'रेखण' (क्रॉसिंग) या तो सामान्य हो सकता है या विशिष्ट। जो व्यक्ति चैक काटता है वह विकर्ण रेखाओं के बीच में किसी बैंक का नाम या किसी खास खाते का नाम जिसमें कि चैक जमा होना चाहिए लिख सकता है। इस प्रकार जो चैक आयकर चुकाने के लिए काटे जाते हैं उन पर खींची गयी विकर्ण रेखाओं के बीच में अमूमन 'देशाम्यन्तर आगम खाते के आयुक्ता' ('कमिश्नर्स ऑव इंग्लैंड रेवेन्यू अकाउंट') यह लिखा रहता है। रेखण इस बात का कि चैक की रकम गलत हाथों में न आ जाए एक अतिरिक्त अभिरक्षण (सेफ़गार्ड) है और विशिष्ट रेखण एक और अभिरक्षण (सेफ़गार्ड) है।

तालिका १

सोने का संसार भर का उत्पादन, 1913-1953

किलोग्राम, हजारों में

	कुल	दक्षिण अफ्रिका	कनाडा	संयुक्त राज्य अमेरिका	ऑस्ट्रेलिया	रूस (अनुमानित)
1913	728	274	25	134	69	40
1920	505	259	24	77	30	2
1921	494	253	29	75	24	1
1922	472	218	39	71	23	5
1923	541	285	38	75	22	8
1924	545	298	47	76	21	20
1925	540	299	54	72	17	25
1926	544	310	55	69	16	25
1927	547	315	58	66	16	22
1928	552	322	59	67	14	25
1929	550	324	60	64	13	29
1930	565	333	65	67	15	38
1931	599	338	84	69	19	42
1932	690	360	95	69	22	(54)
1933	699	343	92	71	26	(77)
1934	718	326	93	85	28	—
1935	766	335	102	98	28	(138)
1936	849	353	117	117	37	(165)
1937	919	365	128	128	43	(160)
1938	993	378	147	132	50	—
1939	1,057	399	159	144	51	—
1940	1,123	437	166	151	51	—
1941	1,108	448	167	150	47	—
1942	973	439	151	111	36	—
1943	769	398	114	43	23	—
1944	685	382	91	32	20	—
1945	654	380	84	28	20	—
1946	668	371	89	45	26	—
1947	681	348	96	67	29	—
1948	697	360	110	63	28	—
1949	726	364	128	60	28	—
1950	750	363	138	71	27	—
1951	733	358	136	59	27	—
1952	826	367	139	60	30	—
1953	824	371	131	62	33	—

(अस्थायी)

नोट—चीन और 1932 से रूस को छोड़कर

तो, बैंक या वनादेश द्रव्य नहीं हैं, बल्कि बैंक को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को द्रव्य पर अधिकार हस्तांतरण करने के आदेश मात्र हैं। उनका परिचलन अनिश्चितकाल तक नहीं होता रहता, बल्कि अधिकतर वे अपना काम एक बार के परिचलन के बाद ही समाप्त कर देते हैं, चूंकि अधिकांश बैंकों को सीधा नहीं भुनाया जाता, बल्कि वे किसी बैंक खाते में जमा कर दिये जाते हैं, इसलिए बैंकों का सामान्यता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को बैंक जमा पर अधिकार हस्तांतरण करने में उपयोग होता है।

यदि हम बैंक को द्रव्य नहीं मानते, तो बैंक जमा को, जिनका हस्तांतरण करने के लिये बैंकों का उपयोग किया जाता है, क्या कहेंगे ? जिस व्यक्ति का बैंक में खाता होता है वह नकद के रूप में, क्रय शक्ति की थोड़ी सी मात्रा अपने आस पास या घर में रखता है। पर इस रूप में जो रकम रखी जाती है वह थोड़ी होती है। उसको जो क्रय शक्ति प्राप्त होती है उसका अधिकांश भाग, जब तक वह उसे खर्च करने का फैसला नहीं कर लेता, वह शायद बैंक में जमा के रूप में रखता है। जब भी उसकी इच्छा हो बैंक में जो भी द्रव्य उसके नाम जमा है उसके खिलाफ वह चेक काट सकता है। अधिकांश कामों के लिए इस प्रकार की जमा (क्रेडिट) पूर्णतया नकद जैसी ही होती है, वशतः कि वह बैंक की चुकारा करने की क्षमता पर विश्वास कर सके, और यह कहीं अधिक सुविधानक है कि बड़ी रकम बैंक में जमा के रूप में रखी जाए वजाय इसके कि वह सिक्के और नोटों में रखी जाए। जब बैंकों की चुकारा या शोधक्षमता (सोल्वेंसी) के बारे में आशंका उत्पन्न हो जाती है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में 1932-33 के संकट का समय हो गया था, तो बहुत से लोग बैंकों से द्रव्य नकद में निकलवा लेते हैं, और या तो उसे अपने आसपास या सुरक्षित जमा में रखते हैं। पर आधुनिक दुनिया में साधारणतया बैंक क्रय शक्ति के लिए सुरक्षित जमा के स्थान माने जाते हैं, और द्रव्य को बैंक जमा के रूप में रखने में सुविधा होने से बैंकों में हिसाब रखने वाले अधिकांश लोग अपने पास के तैयार द्रव्य का अधिकांश भाग इसी रूप में रखते हैं।

बैंक जमा दो प्रकार के होते हैं, चालू खाता और जमाखाता। चालू खाते उस रकम के होते हैं जो बिना पूर्व सूचना के किसी भी समय निकाली जा सकती है। बैंक ये रकम उनके मालिकों की तरफ से अपने पास रखते हैं, लेकिन, किन्हीं अत्यन्त विशेष अवस्थाओं के अलावा उन पर कोई व्याज नहीं देते। सीमित अर्थ में जमा खाते, जिन्हें कभी कभी 'सावधि'-जमा भी कहते हैं, ऐसी रकमों के होते हैं जो इस शर्त पर जमा की जाती है कि बिना कुछ दिनों की पूर्व सूचना के वे वापिस नहीं

ली जाएंगी। ऐसे खातों पर बैंक प्रायः कम दर पर सूद देते हैं। व्यवहार में जमा खातों से नकद बिना सूचना के निकाली जा सकती है क्योंकि बैंक उस व्यक्ति को जिसकी रकम सावधि-जमा के रूप में है तत्काल हवालगरी रकम देने के लिए प्रायः हमेशा ही तैयार रहता है। आमतौर से चालू खातों में जो रकमें होती हैं वे ऐसी रकमें होती हैं जिनके बारे में उनके मालिकों का यह ख्याल होता है कि उन रकमों की उन्हें आवश्यकता फौरन या किसी क्षण पड़ सकती है, जबकि सावधि-जमा वे रकमें होती हैं जिनको उनके मालिक पर्याप्त समय के लिए बैंक में रहने देने की अपेक्षा रखते हैं। पर यह कोई बहुत पक्का अन्तर हो, ऐसी बात नहीं है, और कुछ बड़ी फर्मों, जिनकी बैंक में काफी, पर कम ज्यादा होती रहने वाली, जमा होती हैं, बैंक से अपने चालू खातों पर, बिना उनको वाक़ायदा सावधि-जमा में बदले, सूद प्राप्त करने की व्यवस्था बैठ लेती हैं।

बैंक जमा द्रव्य है हालांकि बैंक नहीं है। बैंक जमा के ठीक वे ही गुण हैं जो सिक्कों या नोटों के हैं क्योंकि उनका वस्तुओं या सेवाओं का मूल्य चुकाने या किसी भी प्रकार के ऋण या दायित्व का तसफ़िया करने के लिए एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को निरंतर हस्तांतरण होता रह सकता है। बैंक नोट चुकारा करने का बैंक का वायदा है जो कि हस्तांतरण हो सकने वाले एक कागज़ के टुकड़े पर किया गया है, बैंक जमा भी चुकारा करने का ऐसा ही वायदा है जो बैंक की किताबों में दर्ज है और जिसके खिलाफ आवश्यकतानुसार बैंक काटा जा सकता है।

आज की दुनिया में द्रव्य की पूर्ति का सबसे महत्वपूर्ण अंश बैंक जमा ही हैं। वे और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाएंगे, यदि, जैसा कि कभी प्रस्तावित किया जाता है मजदूरी सिक्कों या नोटों की बजाए बैंक में दी जाने लगे। ऐसा किया इसलिए नहीं जाता है कि इसमें अत्यधिक कठिनाई होगी। या तो मजदूर अपने बैंक बैंक से नक़द में भुना लेंगे—इस स्थिति में कारखानों में नक़द की बजाए बैंक से चुकारा करने का कोई लाभ नहीं होगा—या वे अपने विलों का चुकारा अधिकतर बैंकों से करेंगे। चूंकि उनकी लेन-देन की रकमों अधिकांश में छोटी होती हैं, इन बैंकों के लेन देन में बैंकों को बहुत सा हिसाब रखना पड़ेगा और इसमें होने वाले खर्च के लिए उनको कुछ बसूल करना पड़ेगा। इस प्रकार मजदूरों की आय में कुछ कटौती हो जाएगी जो नक़द में अपनी आय प्राप्त करने से और अपने हिसाब लेखक स्वयं हो जाने से बचाई जा सकती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई भी मजदूर बैंक में अपना खाता नहीं रखते, पर इससे यह स्पष्ट होता है कि क्यों मजदूर-वर्ग का बहुत सा खर्च बैंक नहीं, बल्कि नक़द चुकारे से किया जाता है।

जिन बैंकों की मैं चर्चा कर रहा हूँ वे साधारण जमा बैंक हैं, जिन्हें कभी कभी “व्यापारिक बैंक” भी कहा जाता है, जैसे मिडलैंड, वेस्टमिन्स्टर, प्रोविन्शियल,

लॉयडज और वार्कलेज—ग्रेट ब्रिटेन में जो 'पांच बड़े' कहे जाते हैं उनका नाम लेना है तो। इसी प्रकार के छोटे व्यापारिक बैंक भी हैं जैसे मार्टिन्स विलियम्स, डीकन्सज, और कुछ ज्यादा विशेषित वित्तीय संस्थान जो कुछ साधारण जमा के लेन-देन का काम भी करते हैं। इनके अलावा सेविंग्स बैंक—जिनमें दोनों शामिल हैं, कानून से खास तौर से मान्य 'न्यासी वचत बैंक' (ट्रस्टी सेविंग्स बैंक) और स्वयं राज्य द्वारा संचालित डाकखाना वचत बैंक (पोस्ट ऑफिस सेविंग्स बैंक)। बर्मिंघम में एक 'म्यूनिसिपल बैंक' भी है, पर अन्य म्यूनिसिपलियाँ, जो अपने स्वयं के बैंक स्थापित करना चाहती थीं, संसद से आवश्यक अधिकार प्राप्त करने में असफल रहीं।

वचत बैंक व्यापारिक बैंकों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे मुख्यतया छोटी जमा में और उस द्रव्य में जो बचाने के लिये है, न कि सामान्य चालू खर्च के लिए जल्दी जल्दी वापिस निकलवाने के लिये है, लेन देन करते हैं। वेशक, वचत बैंक जमा प्रायः उन खर्चों के लिए जिनके वास्ते थोड़ी आय वाले व्यक्ति हफ्तों या महीनों में वचत करते हैं वापिस निकाल ली जाती है, पर नियमित साप्ताहिक चुकारों के लिए साधारणतया उनका उपयोग नहीं किया जाता है। आम तौर से ऐसे खातों पर चैक नहीं काटे जाते हैं, बल्कि एक बैंक-पुस्तक पेश की जाती है जिसमें चुकारा बताया जाता है और नकद में दे दिया जाता है। इसलिये वचत बैंक जमा का व्यापारिक बैंक जमा की तरह बतौर नियम के एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरण नहीं होता और उनको उस अर्थ में द्रव्य नहीं माना जा सकता जिस अर्थ में व्यापारिक बैंक जमा को माना जा सकता है।

अब तक मैं यह मान कर चला हूँ कि बैंक जमा सारी की सारी उन रकमों से बनी होती है जो कि बैंक में उनके मालिक जमा कराते हैं। वचत बैंकों में जो जमा होती है उनके बारे में तो यह बात सही है पर व्यापारिक बैंकों की जमा के बारे में ऐसा नहीं है। व्यापारिक बैंकों के खाते में जमा के तौर पर जो कुल रकम लिखी होती है उसका एक बड़ा हिस्सा उन रकमों का नहीं होता जो मालिकों ने जमा किया है, बल्कि उन हवालगियों का होता है जो कि बैंकों ने अपने ग्राहकों को स्वीकार की हैं। ये हवालगियाँ दो प्रकार की होती हैं—ऋण अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट)। जब बैंक ऋण स्वीकार करता है तो स्वीकृत रकम सीधी ऋण लेने वाले के खाते में लिख दी जाती है और उसके नाम में जमा हो जाती है, और उसके मुकाबले में बैंक का ऋण हो जाता है। जब बैंक अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) की सुविधाएं देता है तो स्वीकृत रकम फौरन उधार लेने वाले के खाते में जमा नहीं होती, बल्कि जब उसके खिलाफ वह चैक काटता है तभी उसकी जमा में एक तरफ वह रकम जुड़ जाती है और फौरन ही दूसरी ओर कम कर दी जाती है। वेशक ऋण और अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) दोनों ही पर

बैंक प्रचलित दर से व्याज लगाता है । साधारणतया औद्योगिक, व्यापारिक या व्यक्तिगत हवालगियों छः महीने के लिये दी जाती हैं, पर अकसर वे और अधिक समय के लिए बढ़वाई जा सकती हैं ।

बैंक हवालगियां व्यक्तियों को उनके निजी खर्च के लिए दी जा सकती हैं, पर उनमें से अधिकांश व्यवसायों को, बड़े हों या छोटे, दी जाती हैं ताकि खर्च करने और बेचे गए माल और सेवाओं के चुकारे की प्राप्ति के समय में जो अंतर रहता है उसमें उत्पादन लागत और व्यापार के लिए वित्तव्यवस्था हो सके । कुछ व्यवसाय तो, बिना बैंकों से ऋण या अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) लिए, अपनी स्वयं की पूंजी में से ही अपने कारोबार की वित्त-व्यवस्था कर सकते हैं । पर बहुत से व्यवसाय खासतौर से व्यापारिक काम करने वाले, व्यापार की तेजी या मन्दी के अनुसार बदलती हुई मात्रा में प्रायः अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्टस्) लेते हैं । बैंक विशेष शर्तों पर धियों को सिकराने के लिए या स्कंध-वाजार (स्टोक मार्केट) के लेन देन के लिए वित्तीय विशेषज्ञों को भी द्रव्य हवालगी देते हैं, पर फ़िलहाल मैं इन विशेष प्रकारों के ऋण का विचार नहीं करना चाहता, और बाद में उनका विचार करूंगा ।

जब बैंक ऋण या अधि-विकर्ष (ओवर ड्राफ्टस्) स्वीकार करता है तो ऋण लेने वाला उस पर बैंक काटता है और इस प्रकार जो रकम हवालगी दी जाती है वह दूसरों के हाथों में चली जाती है जो अधिकतर उसे अपने बैंक के खातों में जमा करा देते हैं । इस प्रकार जो ऋण एक बैंक द्वारा स्वीकार किया जाता है वह उस रकम के रूप में जो प्राप्त करने वाला जमा कराता है फिर उसी बैंक में या दूसरे किसी बैंक में लौट आता है । जब किसी बैंक को जमा मिलता है तो यह जानने का कोई साधन नहीं है कि वह जमा जिस व्यक्ति ने बैंक काटा उसी के अपने द्रव्य में से पैदा हुआ है या उस हवालगी में से उत्पन्न हुआ है जो उसके बैंक ने दी है ।

यह बात महत्पूर्ण है क्योंकि इससे एक ऐसे प्रश्न का उत्तर मिलता है जिसके विषय में काफ़ी मूर्खतापूर्ण और निरर्थक बहस होती रही है । बैंकर (अधिकोप-पति) कभी कभी नाराज होकर इस बात से इनकार करते हैं कि वे द्रव्य का निर्माण करते हैं और कहते हैं कि वे इसके सिवाए और कुछ नहीं करते कि जो द्रव्य कुछ लोग उनके पास बेकार छोड़ देते हैं उसे वे किन्हीं दूसरे लोगों को कर्ज में देते हैं । यह बात सच नहीं है । जब भी कोई बैंक ऋण या अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) स्वीकार करता है वह क्रयशक्ति यानी द्रव्य का निर्माण करता है जो अन्यथा नहीं होता और जब बैंकर (अधिकोप-पति) ऐसा करता है तो उसके पास यह बताने

का कोई साधन नहीं है कि जो कुछ वह ऋण के रूप में दे रहा है वह उस जमा के आधार पर दे रहा है जो किसी ने अपने द्रव्य में से किया था या जो किसी ऐसे ऋण और अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) पर आधारित है जो किसी दूसरे बैंक ने या उसने स्वयं ने किसी दूसरे ऋण लेने वालों को स्वीकार किया था ।

यह बात लेकिन सही है कि व्यापारिक बैंकों की द्रव्य निर्माण करने की क्षमता कोई अमर्यादित नहीं है । जैसा कि हम बाद में देखेंगे, उन देशों में जिनमें विकसित केन्द्रीय बैंकिंग व्यवस्था है, यह क्षमता केन्द्रीय बैंक की नीति से पूर्णतया मर्यादित रहती है । ऐसे देशों में, यह मर्यादा प्रधानतया उस मर्यादा की जगह ले लेती है जो, एक प्रभावशाली केन्द्रीय बैंक के अभाव में, व्यापारिक बैंकों द्वारा ऋण दिये जाने पर विवेक के आधार पर लगायी जाती है । जहां केन्द्रीय बैंक नहीं होता है, वहां व्यापारिक बैंकों की हवालगी स्वीकार करके जमा उत्पन्न करने की क्षमता पर दो प्रकार से रोक लगती है । एक तो यह कि अगर एक बैंक हवालगी स्वीकार करने में दूसरे बैंकों से आगे बढ़ जाता है, तो वह देखेगा कि दूसरे बैंक उससे मांग करेंगे जो उसे नक़द या सोने-चांदी में पूरी करनी होगी । ऐसा इसलिये होगा कि इसके द्वारा जिनको हवालगियां स्वीकार की गयीं हैं वे दूसरे व्यक्तियों के पक्ष में बैंक काटेंगे जो अधिकांश दूसरे बैंकों में दिये जाएंगे और दूसरे बैंक हवालगियां स्वीकार करने वाले बैंक से मांग करेंगे । इसका मतलब यह है कि काफ़ी बड़ी हद तक हवालगियां स्वीकार करने के मामले में विभिन्न व्यापारिक बैंकों को एक समान नीति का पालन करना होता है जिससे एक की दूसरे से की जाने वाली मांगें आपस में रद्द हो जाएं । दूसरी बात यह है कि बैंक जो भी हवालगियां स्वीकार करते हैं वे पूरी की पूरी तो नहीं, पर उनका एक अंश नक़द में मांगा जाएगा न कि केवल बैंक-जमा के हस्तांतरण के रूप में । इसलिये बैंकों को अपने पर नक़द चुकाने का दायित्व जितना वे ले सकते हैं उससे अधिक लेने से बचना चाहिये । यह दूसरी मर्यादा उन देशों में अधिक महत्व रखती है जिनमें बैंकिंग व्यवस्था अपेक्षाकृत अविकसित है । जिन देशों में विकसित बैंकिंग प्रणालियां काम करती हैं उनमें इसका अधिक महत्व नहीं है, क्योंकि ऐसे देशों में उपलब्ध नोटों और सिक्कों की मात्रा प्रायः इस प्रकार नियंत्रित रहती है कि जितने बैंक-द्रव्य का निर्माण करने दिया जाता है उससे जो भी मांग उत्पन्न हो वह पूरी की जा सके, और जिस चीज़ पर नियंत्रण रखा जाता है वह नक़द नहीं बल्कि बैंक जमा की मात्रा है । पहली मर्यादा विकसित बैंकिंग व्यवस्थाओं पर भी लागू होती है जितनी कि ज्यादा पिछड़ी हुई बैंकिंग व्यवस्थाओं पर, क्योंकि जहां शक्तिशाली केन्द्रीय बैंक होता है वहां भी यह आवश्यक है कि विभिन्न व्यापारिक बैंकों में आपस में तालमेल रहे ताकि नक़द या उसके (सम+अर्हा=समार्ह) वस्तु (इक्विवैलेंट) के हस्तांतरण की मांग से बचा जा सके । विकसित देशों में प्रायः हमेशा ही बैंक

वालों का समशोधन गृह (वैंकर्स विलयरिंग हाउस) होता है जिससे अधिकांश महत्वपूर्ण वैंकों का सम्बन्ध होता है, और किसी एक वैंक पर काटे गए और दूसरे वैंक में किसी के खाते में जमा होने वाले चैक ऐसे ही किन्हीं दूसरे विपरीत गामी चैकों के मुकाबले में रद्द कर दिए जाते हैं जिससे कि जब कि सब वैंक एक समान नीति का पालन करते हैं उनके बीच में देने-लेने के लिये बहुत कम शेष बच जाता है ।

इस प्रकार द्रव्य माने जाने वाले वैंक-जमा में वैंक स्वयं जो ऋण और अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) स्वीकार करते हैं, वे और जमा करने वालों की वास्तव में अपनी रकम में दोनों ही आ जाती हैं, और दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो रकम में बतौर हवालगी दी जाती हैं वे दूसरों को चुकाई जाती हैं जो उन्हें अपने वैंकों में अपनी संपत्ति के तौर पर जमा करा देते हैं ।

हमारे अब तक के विचार का परिणाम यह है कि जिस द्रव्य के विषय में हम चर्चा करते आ रहे हैं वह सिक्कों, नोटों और वैंक-जमा के रूप में होता है । पर सिक्कों और नोटों में से कुछ का जनता में परिचालन नहीं होता बल्कि वे वैंकों के पास सत्यांकार राशि या साई (टिल मनी) या उनके जमा कराने वालों की ओर से आने वाली रोकड़ की मांग को पूरी करने के लिए संचित (रिजर्व) के तौर पर रहते हैं । इस काम के लिये वैंक उससे अधिक द्रव्य नहीं रखते जितना कि वे समझते हैं कि संभावित मांग* पूरी करने के लिए रखना जरूरी है, क्योंकि इस प्रकार से रखा गया द्रव्य कोई सूद तो कमाता नहीं । लेकिन किसी भी समय वैंकों में जो कुछ नक़द होता है, और जो इसलिये क्रियात्मक परिचलन

*या, बल्कि, वे उससे अधिक द्रव्य नहीं रखते जितना कि उन्हें कुल मिलाकर सत्यांकार राशि या साई (टिल-मनी) और केन्द्रीय वैंक के जमा इन दोनों प्रकारों की संचिति (रिजर्वस्) के रूप में आवश्यक होता है । वास्तव में, कम से कम प्रारंभिक तीसियों तक, व्यापारिक वैंकों की प्रवृत्ति नोटों में अनावश्यक बड़ी संचिति रखने की थी, जबकि वे कम नोटों से ही काम चला सकते थे और बैंक आव इंगलैंड की किताबों में अधिक बड़ा शेष रख सकते थे । इस प्रवृत्ति की ओर मेकमिलन कमेटी ने ध्यान आकर्षित किया था और यह कहा था कि चूंकि किसी भी प्रकार का द्रव्य सूद नहीं कमाता है, व्यापारिक वैंक इस मामले में तटस्थ होने चाहिये कि किस रूप में द्रव्य उनके पास है, वशर्ते कि उनके पास नक़द की मात्रा वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त है । इसलिये कमेटी ने व्यापारिक वैंकों को राय दी कि नोटों की मात्रा कम करें जिससे कि वास्तविक और प्रकट नोटों के परिचलन में जो अंतर है वह कम हो सके

में नहीं होता, वह काफ़ी मात्रा में होता ही है। दरअसल जितना यह होता है उससे भी अधिक मात्रा में यह नक़द होता अगर ग्रेट ब्रिटेन में जो बैंकिंग व्यवस्था विकसित हुई—और जिसका अनुसरण काफ़ी हद तक अन्यत्र किया गया है—उसके अन्तर्गत यह बात न होती कि केन्द्रीय बैंक, यानी बैंक ऑफ इंग्लैंड नक़द के लिए आरक्षित निक्षेपागार (रज़र्व रिपोज़िटरी) का काम करता है। व्यापारिक बैंक बैंक ऑफ इंग्लैंड से किसी समय सत्यांकार राशि या साई (टिल-मनी) उतनी ही मात्रा में प्राप्त कर सकते हैं जितने की उन्हें आवश्यकता हो। वे ऐसा इसलिए कर सकते हैं कि बैंक ऑफ इंग्लैंड में उनके खाते रहते हैं जो हमेशा जमा में होते हैं (इन क्रेडिट) और जिनसे वे इच्छानुसार द्रव्य निकलवा सकते हैं। इसका मतलब है कि बैंक ऑफ इंग्लैंड को स्वयं को अपने बैंकिंग विभाग में सिक्के और नोटों की संचिति रखना होती है जो कि इन मांगों को पूरी करने के लिए उपलब्ध रहती है। परन्तु इस प्रकार संचिति (रिज़र्व) में कुल नक़द रखना होता है और जो परिचलन में नहीं होता, उसका परिणाम उससे बहुत कम है जो उस समय आवश्यक होता जब कि हर बैंक को हर स्थिति का सामना करने के लिये अपनी अपनी संचिति रखनी पड़ती। 1913 के सुधार के पहले, जिसने संघीय संचिति अधिकोषण व्यवस्था (फेडरल रिज़र्व बैंकिंग सिस्टम) की स्थापना की, अमेरिकन बैंकिंग व्यवस्था की एक प्रमुख कमजोरी ही यह थी कि इस प्रकार प्रत्येक बैंक को अपनी अपनी संचिति रखना होती थी। और ग्रेट ब्रिटेन में भी व्यापारिक बैंकिंग के प्रारंभिक दिनों में इसी प्रकार अलग अलग बैंकों की एक बड़ी संख्या में संचितियां बिखरी हुई थीं। बैंकिंग की कोई सी भी व्यवस्था हो, हमेशा ही कुछ न कुछ संचिति तो ऐसे नोटों और सिक्कों में, जो परिचलन से बाहर रखे जाते हैं, रहती ही है ताकि आवश्यकता के समय उसका उपयोग हो सके। लेकिन बैंकों का एक समन्वयित ढंग से पारस्परिक संबंध स्थापित करके और केन्द्रीय बैंक का संचित के तौर पर उपयोग करके आवश्यक संचिति का परिणाम बहुत कम किया जा सकता है।

अगर नक़द ऐसे सांकेतिक द्रव्य के रूप में है जिसका अपने आप में बहुत थोड़ा या कुछ भी मूल्य नहीं है तो ऐसे नक़द की संचिति रखने की वास्तविक लागत नगण्य होती है। बैंक ऑफ इंग्लैंड को उन कागज़ के नोटों को, जो उसकी संचित के प्रमुख भाग हैं, छापने में नहीं के बराबर खर्च आता है। खर्च का प्रश्न केवल तब उठता है जब स्वयं नोटों के मुकाबले में किसी अधिक मूल्यवान वस्तु की संचित (रिज़र्व) रखने की बात आती है। 1914 के पहले संचित (रिज़र्व) को रखने में, जबकि उसका एक भाग सोने के सोवरिनों का होता था, पर्याप्त खर्च आता था क्योंकि बैंक ऑफ इंग्लैंड को उस सोने का मूल्य चुकाना पड़ता था जिसके कि ये सोवरिन बनाए जाते थे और इन सोवरिनों पर उस

समय तक कोई सूद नहीं मिलता था जब तक कि ये तिजोरी (वाल्डन्) में बंद रहते थे। संचिति (रिज़र्व) के तौर पर रखे जाने वाले नोटों के पृष्ठ पोपण के लिए जिस हद तक बैंक की तिजोरियों में सोना रखा जाता है उस हद तक भी ऐसा ही खर्च लगता है। उस समय जबकि सरकारी नोट (ट्रेजरी नोटम्) बैंक आव इंगलैंड को हस्तांतरित किये थे बैंक-नोटों को जारी करने की जो व्यवस्था की गयी थी उसके अनुसार एक निश्चित विश्वासाश्रित (फ़ाइड्यूशियरी) निर्गम (इश्यू) रखा गया था—अर्थात् नोटों की एक ऐसी मात्रा जिसके पृष्ठ-पोपण में सोना नहीं था—और इस निश्चित निर्गम से जो भी नोट जारी किये जाते थे उनके अंकित मूल्य के बराबर मूल्य सोना का बैंक में रखना पड़ता था। किन्तु विश्वासाश्रित निर्गम (फ़ाइड्यूशियरी इश्यू) की मात्रा कठोरता के साथ निश्चित नहीं होती थी। साधारणतया इसकी मात्रा 26 करोड़ पाँड तय की गयी थी—यह रकम इसलिये रखी गयी थी कि उन सरकारी नोटों का स्थान लेने के लिए जिन्हें परिचलन से वापिस लेना था, यह रकम आवश्यक समझी गयी। लेकिन बैंक आव इंगलैंड को यह अधिकार था कि वह स्वीकृत विश्वासाश्रित निर्गम (फ़ाइड्यूशियरी) को बढ़ाने के लिए संसद को आवेदन पत्र दे। और 1928 के अधिनियम के बाद यह रकम समय समय पर बढ़ाई और घटाई गयी। पर 1939 तक यह प्रारंभिक रकम के आस पास ही रही। उस साल के द्वितीय चतुर्थांश में जारी किये गए नोटों का औसत 52.6 करोड़ पाँड था जिसके पृष्ठ-पोपण में बैंक आव इंगलैंड के निर्गम विभाग के पास 26 करोड़ पाँड के सोने के सिक्के और सोना (जो प्रतिगुद्ध औंस 158-6 पै० के हिसाब से मूल्यांकित था)। इन नोटों में से 3.2 करोड़ पाँड के नोट बैंकिंग विभाग में थे—अर्थात् वास्तविक परिचलन में नहीं थे। सितंबर 1939 में बैंक आव इंगलैंड का स्वर्ण-कोष सरकार को हस्तांतरित कर दिया गया, और सारे बैंक नोट विश्वासाश्रित (फ़ाइड्यूशियरी) हो गए। युद्ध-काल में जैसे जैसे आय और मूल्यों में वृद्धि हुई बैंक-नोटों की मात्रा में भी तेज़ी से वृद्धि होती गयी। 1945 तक बैंक-नोट 131.1 करोड़ पाँड के औसत स्तर तक पहुँच गए जिसमें से केवल 2.7 करोड़ पाँड के नोट बैंकिंग विभाग में थे। 1951 तक की अधिकतम मात्रा 1947 में पहुँची—145 करोड़ पाँड, जिसमें से बैंकिंग विभाग में 6.65 करोड़ पाँड के नोट थे। 1948 में कुल मात्रा में कमी आयी, और तब से निम्नानुसार परिवर्तन होता रहा है:—

तालिका २

बैंक-नोट परिचलन, 1948-1953

साप्ताहिक औसत दस लाख पाँड में

	1948	1949	1950	1951	1952	1953
परिचलन में—	1,254	1,269	1,287	1,342	1,435	1,532
बैंकिंग विभाग में—	59	46	41	41	41	39
	1,313	1,315	1,328	1,383	1,476	1,570

1939 तक जो परिस्थितियाँ थीं उनमें केन्द्रीय बैंक में नोटों के रूप में संचिति (रिज़र्व) रखने में अवश्य खर्च आता था, क्योंकि नोटों में संचिति (रिज़र्व) रखने की आवश्यकता का मतलब यह होता था कि नक़द के परिचलन की वास्तविक मांग पूरी करने के लिये ही जितने नोट जारी करने पड़ते कुल नोट उससे अधिक के होंगे, और, चूँकि कुल जारी किये गए नोट विश्वासाश्रित (फ़ाइड्युशियरी) मर्यादा से अधिक होते थे इससे यह निष्कर्ष निकलता था कि संचिति (रिज़र्व) के लिए जिन अतिरिक्त नोटों की आवश्यकता होती थी उनके पृष्ठपोषण के लिये सोना रखना होता था, और इसलिये उस सोने को निष्क्रिय रखने से जो लागत आती थी वही इसी प्रकार सोना रखने का खर्च होता था। अधिकांश दूसरे देशों में स्थिति थोड़ी बहुत भिन्न थी, क्योंकि अधिकतर केन्द्रीय बैंक किसी निश्चित विश्वासाश्रित (फ़ाइड्युशियरी) निर्गम (इश्यू) से बंधे हुए नहीं थे बल्कि इस बात से कि जारी नोटों के अमुक अनुपात के बराबर सोने की पूर्ति बनी रहे। इसका मतलब यह था कि नोटों की संचिति (रिज़र्व) रखने का खर्च कम आता था—अगर निर्धारित अनुपात 50 प्रतिशत होता तो जितने के नोट होते उतने का आधा, और इसी प्रकार अन्य अनुपातों के बारे में। लेकिन जहाँ भी कागज़ी द्रव्य के निर्माण में वृद्धि होने से सोना भी अधिक मात्रा में रखना आवश्यक था वहाँ खर्च तो आना ही चाहिये।

युद्धकाल में, इस तरह की शर्तें हट जाती हैं और कितना सोना रखा हुआ है इसका विचार किये बिना नक़द व्यय की आवश्यकता के अनुसार नोट जारी किये जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में, संचिति (रिज़र्व) के विचार का ही कोई महत्व नहीं रहता, क्योंकि नोट छापने वाले छापेखाने की हमेशा शरण ली जा सकती है और केन्द्रीय बैंक साई (टिल-मनी) के तौर पर किस परिमाण में नोट रखता है यह केवल सुविधा का प्रश्न हो जाता है।*

* (नोट) इन परिस्थितियों में, प्रायः अतिरिक्त नोट छापने से द्रव्य पूर्ति में स्फीतिकारी-वृद्धि नहीं होती। अतिरिक्त नोटों की तो आवश्यकता होती है क्योंकि बैंक-साख में वृद्धि हुई है। अगला पृष्ठ देखें।

तो, जनता के हाथों में जो नोट और सिक्के होते हैं—जो, अपसंचित को छोड़कर, सक्रिय नक़द परिचलन का निर्धारण भी करते हैं—तथा व्यापारिक बैंकों के पास जो नोटों और सिक्कों के रूप में साई (टिलमनी) होती है, तथा केन्द्रीय बैंक के पास नोटों और सिक्के के रूप में जो गौण साई (टिलमनी) की संचिति (रिज़र्व) होती है, इस सबसे नक़द की पूर्ति की मात्रा निर्धारित होती है। इनमें से केवल पहले वाले से सक्रिय परिचलन का निर्धारण होता है। निस्संदेह, व्यापारिक बैंकों में और व्यापारिक बैंकों से क्रमशः नक़द का आगम और निर्गम निरन्तर होता रहता है, लेकिन बैंकों के पास की साई (टिलमनी) से हमें वह रक़म समझनी चाहिये जो उनके साधारण निर्गम से अधिक वे रखते हैं। व्यवहार में यह कोई निश्चित रक़म नहीं होती, क्योंकि सप्ताह में अलग अलग समय, जैसे जब मजदूरी चुकाई जाती है और जब उसके पश्चात् व्यापारियों और दूसरे लोगों के द्वारा वह बैंकों के पास लौटकर आती है, और साल में भी अलग अलग समय, खास तौर से क्रिसमस के आस पास और छुट्टियों के समय, जब जनता नक़द में अधिक खर्च करती है और इसलिये बैंकों से नक़द की अधिक मांग करती है, क्रियाशील परिचलन की मात्रा अलग अलग होती है। अत्यधिक मांग के समय, व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से अधिक नक़द की मांग करते हैं और केन्द्रीय बैंक को या तो उनकी मांग पूरी करने के लिये पर्याप्त संचिति (रिज़र्व) रखना होती है या विशेष आवश्यकता को पूरी करने के लिये अतिरिक्त कागज़ी द्रव्य जारी करने का उसे अधिकार देना होता है।

वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत विश्वासाश्रित निर्गम (फांडड्यूशियरी ड्यू) की मात्रा कम-ज्यादा हो सकती है, बैंक के चाहने पर सरकार द्वारा उसका समय समय पर नियंत्रण होता रहता है।*

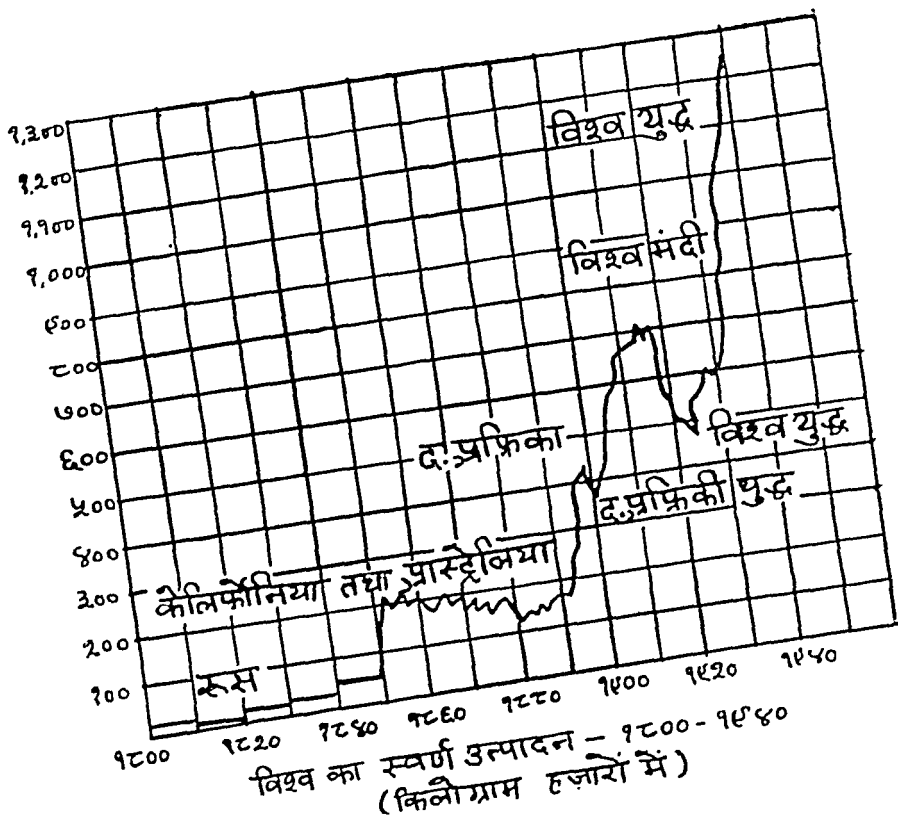
*1939 और 1953 के बीच में विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा एक आयात प्रतिरक्षा विनियम (इमरजेंसी डिफेंस रेगुलेशन) के अनुसार सरकार द्वारा नियंत्रित होती थी। 1939 के पहले कानूनी मर्यादा 30 करोड़ पाँड की थी, लेकिन उस समय तक जब नवंबर 1953 में चलाय (करेंसी) और बैंक नोट बिल पेश किया गया था, विश्वासाश्रित निर्गम इस युद्धकालीन अधिकार के अन्तर्गत 162.5 करोड़ पाँड तक बढ़ा दिया गया था। नए अधिनियम (एक्ट) ने सामान्य सीमा 175.5 करोड़ पाँड निर्धारित की, लेकिन सरकार को छः महीने या कम समय के लिये इस मर्यादा को बढ़ाने का अधिकार दिया गया, इन शर्त पर कि बिना 'हाउस आव कामन्स' के सामने रने गए कानूनी आदेश की स्वीकृति के इस प्रकार अधिकृत कोई भी वृद्धि दो साल से अधिक के लिये लागू नहीं होगी। 1953 के अधिनियम ने बैंक आव इंग्लैंड को किसी भी राशि (डिनोमिनेशन) के नोट जारी करने का अधिकार दे दिया था : इससे पहले

इससे विना सोने की संचिति का—जो, वास्तव में, अब बैंक की नहीं विनियम कोष (एक्सचेंज इक्वेलाइजेशन फंड) की संपत्ति है—विचार किये हुए किसमम पर उत्पन्न अतिरिक्त मांग या मूल्यों या लेन-देन की मात्रा में वृद्धि होने से नक़द की बढ़ी हुई आवश्यकता की पूर्ति बैंक अतिरिक्त नोट जारी करके कर सकता है। इस प्रकार अब नोटों की पूर्ति का सोने की संचिति की मात्रा से कोई संबंध नहीं है।

किसी समय ऐसा माना जाता था कि द्रव्य तथा बैंकिंग संबंधी सही नीति की कुंजी नक़द की पूर्ति को नियंत्रित करने के लिए किये गये सही प्रयत्नों में है। 1844 के बैंक चार्टर अधिनियम के पीछे, जिसने कि केन्द्रीय बैंकिंग की आधुनिक व्यवस्था की नींव रखी, यही दृष्टि थी। उस अधिनियम में सावधानी-पूर्वक उन नियमों का समावेश किया गया था जिनके अन्तर्गत कागज़ी द्रव्य के विश्वासाश्रित निर्गम की सीमा निर्धारित की गयी थी और उस धारा के अनुसार जिसके द्वारा दूसरे बैंकों से उनके नोट-जारी करने के अधिकार क्रमशः ले लिये जाने वाले थे स्वीकृत निर्गम धीरे धीरे बैंक ऑफ इंग्लैंड के पास केन्द्रित हो गया था। उस अधिनियम के प्रारूप बनाने वालों का, जिनको नैपोलियन युद्धों के समय के और बाद के कागज़ी द्रव्य के अनियंत्रित निर्गम का और अनेक बैंक असफलताओं के रूप में व्यक्त बैंकिंग व्यवस्था की अस्थिरता का बहुत ध्यान था, ऐसा विश्वास था कि यदि वे केवल नोटों का निर्गम सही और सुरक्षित आचार पर स्थापित कर देते हैं तो शेष वित्तीय व्यवस्था को बिना राज्य के हस्तक्षेप के अपना स्व-संचालन करने दिया जा सकता है।

इस विश्वास में, उन्होंने एक ऐसी व्यवस्था खड़ी कर दी जिसके अन्तर्गत नक़द की बढ़ी हुई पूर्ति केन्द्रीय बैंक द्वारा मूल्यवान धातुओं की बढ़ी हुई मात्रा प्राप्त करने के परिणाम स्वरूप ही उपलब्ध हो सकती थी, और यह उन्होंने ऐसे समय किया जब कि संसार की सोने की पूर्ति में धीरे धीरे वृद्धि हो रही थी। यदि उनकी वाजिव अपेक्षाएं पूरी हो जातीं तो नक़द की पूर्ति में द्रुतगति से वृद्धि करना असंभव हो जाता और विनियम किये जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में होने वाली किसी भी बढ़ी वृद्धि का विनियम करने के लिए उपलब्ध नक़द की मात्रा में सामानान्तर वृद्धि किये बिना ही सामना करना पड़ता। अगर ऐसा होता तो मूल्यों में गिरावट आना अनिवार्य हो जाता।

वास्तव में, 1844 की सभी अपेक्षाएं जल्दी ही ग़लत साबित हो गयीं। थोड़े ही वर्षों में केलिफ़ोरनिया और आस्ट्रेलिया की सोने की महान खोजों ने उन 1 पौंड और 10 शि० के नोटों के अलावा जो 1928 में सरकार से ले लिये गए थे, उसे 5 पौंड से कम राशि के नोट जारी करने का अधिकार नहीं था।





द्रव्य-सोने की पूर्ति की वार्षिक वृद्धि में बड़ी बढ़ोतरी कर दी, और इसने बैंक आव इंगलैंड के लिए कागजी द्रव्य की बढ़ती हुई पूर्ति जारी करना, और 1844 में जितना मुमकिन मालूम पड़ता था उससे कहीं अधिक सोवरिन का टंकन करना संभव बना दिया। लेकिन इतना ही नहीं हुआ। बैंक चार्टर अधिनियम (एक्ट) के बाद के वर्षों में बैंक प्रणाली के अत्यधिक प्रसार से बैंकिंग प्रणालियों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया, जिसका यह परिणाम आया कि जिन बहुत सी लेन-देन की क्रियाओं का पहले नक़द से निपटारा होता था अब बैंक से निपटारा हो जाता था और नक़द की पूर्ति पर कोई मांग नहीं होती थी। नक़द जारी करने के लिए आधार के तौर पर अब अधिक सोना उपलब्ध था, और जारी की गई हर इकाई का बढ़ा हुआ अन्तर होता था क्योंकि बैंकों के बढ़ते हुए उपयोग के द्वारा यह संभव हो जाता था कि उस पर साख का एक विस्तृत ऊपरी ढांचा खड़ा कर दिया जाए। परिणाम-स्वरूप अठारह सौ पचासी में, मूल्य, स्वर्ण-आधारित द्रव्य की कमी से गिरावट की ओर जाने की वजाय, उसकी प्रचुरता के कारण और बैंक प्रणाली की वजह से नक़द के उपयोग में होने वाली क्रियतों के कारण, बढ़े।

नयी परिस्थितियों में, लोग यह सोचने लगे कि चुकारे के साधनों की पूर्ति का अंतिम नियामक नक़द, और इसलिये सोना जिस पर नक़द की मात्रा निर्भर करती है, और व्यापारिक बैंकों द्वारा रदीकृत साख वो वे एक ऊपरी ढांचे के रूप में, जो उपलब्ध सोने के आधार पर खड़ा किया गया है, देखने लगे। और एक अर्थ में, ऐसा था भी, क्योंकि कितनी क्रय शक्ति का निर्माण किया जा सकता है इसकी सीमा का 'निर्धारण नक़द' की पूर्ति से होता था, जो कि, विश्वासार्थित निर्गम के कानून द्वारा निर्धारित होने के साथ साथ, बैंक आव इंगलैंड के पास की सोने की मात्रा, तथा परिचलन में या व्यापारिक बैंकों के पास में सोने के सोवरिनों की संख्या पर निर्भर करती थी। बैंकों के ग्राहकों की ओर से नक़द के लिए जितनी मांग आती उसकी पूर्ति के लिये पर्याप्त नक़द होना ही चाहिये था, और इस प्रकार की मांग बैंक जो क्रय शक्ति उधार दे देते थे उसकी मात्रा से प्रभावित होती थी। इसलिए बैंक ऐसी मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर सकते थे जिससे कि नक़द के लिए इतनी मांग पैदा हो जाए कि उसे वे पूरी ही न कर सकें। लेकिन जैसे जैसे उनके ग्राहक, आपस में एक दूसरे को नक़द में चुकारा की वजाए, बिना नक़द की मांग किये, बैंक के द्वारा बैंक जमा के हस्तांतरण से चुकारा करने लगे वैसे वैसे ही अमुक नक़द के आधार पर बैंक जो साख का ऊपरी ढांचा खड़ा कर सकते थे वह बढ़ा होने लगा। साख का ढांचा अधिकाधिक लोचदार होने लगा, और अगर सोने की पूर्ति में होने वाली वृद्धि साथ ही साथ नक़द के आधार को न बढ़ाती तो यह ढांचा जितना हुआ उससे भी अधिक लोचदार हो जाता।

सोने की पूर्ति या साख व्यवस्था सम्बन्धी लोच के सिलसिले में घटित वाद की घटनाओं के इतिहास में जाने का यह स्थान नहीं है। मैं द्रव्य विकास का इतिहास नहीं, बल्कि उस पर टिप्पणी, जिसके लिये आवश्यकतानुसार इतिहास से उदाहरण ले लिये गये हैं, लिख रहा हूँ। उन्नीसवीं सदी की आठवीं और नवीं दशाब्दियों में फिर सोने की पूर्ति में कमी आ गई जो उस समय तक बनी रही जब तक कि दक्षिण अफ्रिका की नई खोजों के परिणामस्वरूप होने वाली महान वृद्धि ने स्थिति में सुधार नहीं कर दिया। इसी बीच में स्वर्णमान पर आधारित विकसित बैंकिंग पद्धतियों का नए-नए देशों तक प्रसार होने के कारण सोने की मांग बढ़ गई, और इसके मुकाबले में बैंक प्रणाली के लगातार विस्तार ने साख व्यवस्था के लोच को बढ़ा दिया। धीरे-धीरे, बैंक वालों ने इस विषय में कि नक़द की किस मात्रा के आधार पर वे कितनी साख का निर्माण करने का सोच सकते हैं, परम्पराओं की शृंखला क्रायम कर ली। सोना अब भी अविपति था, क्योंकि नक़द की मात्रा सोने की उपलब्ध मात्रा से नियंत्रित होती मालूम देती थी।

ग्रेट ब्रिटेन में, लेकिन, एक ऐसी परम्परा का विकास हो गया कि जो समय पाकर साख के नियामक के रूप में सोने का महत्व कम करने वाली थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक में जमा खाते रखते हैं और इन खातों पर बैंक काट कर हमेशा केन्द्रीय बैंक से नक़द निकलवा सकते हैं। फलस्वरूप, व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के उसके खाते में जो भी रकम जमा होती है उसे नक़द जैसा ही मानता हैं क्योंकि वह उसके एवज में हमेशा नक़द प्राप्त कर सकता है। तदनुसार, व्यापारिक बैंक उन तमाम रकमों को जो बैंक अब इंग्लैंड में उनके नाम में जमा हैं नक़द ही मानते हैं, चाहे फिर वास्तव में बैंक के पास, अगर ये तमाम रकमों एक साथ निकलवाई जाएं तो, उनका चुकारा करने के लिये पर्याप्त नक़द न भी हो, इसका असर होता है, एक तो, कथित (नोमिनल) 'नक़द' के आधार को जिस पर साख का ऊपरी ढांचा खड़ा किया जाता है बढ़ाना, और दूसरे बैंक अब इंग्लैंड पर यह निर्णय करने की जिम्मेवारी डालना कि कितनी साख का निर्माण किया जाएगा—या, किसी भी हालत में, क्या अधिकतम सीमा होगी जिससे आगे साख का निर्माण नहीं होगा। क्योंकि यदि बैंक अब इंग्लैंड को इस स्थिति में रहना है कि उस पर वास्तव में की गई नक़द की तमाम मांग को वह पूरी कर सके, तो उसे इस बात को पक्का करने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिये कि ये मांग जिस हद तक वह पूरी कर सकता है उससे आगे न जाए। इसलिये उसे व्यापारिक बैंकों को इस मात्रा पर साख देने से रोकना चाहिए कि जिससे नक़द की अत्यधिक मांग पैदा हो जाए।

लेकिन बैंक अब इंग्लैंड यह करे कैसे ? व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों को

जो रक़में उधार देते हैं उन पर उसका कानून से कोई नियंत्रण नहीं होता । लेकिन उसकी किताबों में व्यापारिक बैंकों के नाम जो रक़में जमा होती हैं उनको प्रभावित करना, और इस प्रकार उस 'नक़द आधार' को, जिस पर कि ये बैंक साख़ का ऊपरी ढांचा खड़ा करने का अपने आप को अधिकारी मानते हैं, कम या ज्यादा करना उसके हाथ में है । बैंक आव इंगलैंड जिस तरीके से इन रक़मों में परिवर्तन करता है उसे 'खुले बाज़ार की क्रियाओं' में संलग्न होना कहते हैं, जिसका मतलब होता है स्कॉच बाज़ार में प्रतिभूतियों का क्रय या विक्रय करना । जब भी बैंक आव इंगलैंड कोई प्रतिभूति बेचता है, खरीदने वाले को उसे चुकारा करना होता है और अधिकतर वह व्यापारिक बैंकों में से किसी एक पर, जिसमें उसका खाता है, चैक काट कर ऐसा करता है । इससे सम्बन्धित बैंक के शेप में चैक की रक़म के बराबर कमी आ जाती है और इसका परिणाम उस 'नक़द आधार' में जिस पर वह बैंक अपनी साख़ का निर्माण करता है उतनी ही, कमी आ जाने का होता है । केन्द्रीय बैंक के द्वारा बड़ी मात्रा में प्रतिभूतियां बेचने का परिणाम तमाम अग्रणीय व्यापारिक बैंकों के शेप में कमी आने का होगा और यदि ये बैंक अपने पास के नक़द जिसमें केन्द्रीय बैंक में उनके शेप भी शामिल हैं, और जितना साख़ वे स्वीकार करते हैं उसकी मात्रा के बीच में प्रचलित अनुपात कायम रखते हैं तो साख़ की मात्रा में भी कमी लाई जा सकेगी ।

स्वभावतः केन्द्रीय बैंक के द्वारा प्रतिभूतियां खरीदने का असर इससे उल्टा होता है । प्रतिभूतियां बेचने वालों को केन्द्रीय बैंक चैक से चुकारा करता है और बेचने वाले इन चैकों को व्यापारिक बैंकों में अपने खातों में जमा करा देते हैं । तब व्यापारिक बैंक ये चैक बैंक आव इंगलैंड को पेश करते हैं और वह चैकों की रक़म उनके खातों में जमा कर देता है और इस प्रकार उस 'नक़द आधार' में वृद्धि होती है जिस पर कि वे साख़ का निर्माण करने का अपना अधिकार मानते हैं । उपरोक्त दोनों प्रक्रियाओं के कार्यान्वित होने में जो अन्तर है वह केवल यह है—जब केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को नक़द से वंचित करता है तो उन्हें, जब तक वे प्रचलित अनुपातों को बदलने के लिए ही तैयार न हों, साख़ कम करनी ही चाहिये, लेकिन जब उनके 'नक़द आधार' में वृद्धि होती है तो उनके द्वारा दी जाने वाली हवालियों में विस्तार करना आवश्यक नहीं है । निस्संदेह, ऐसा करने के लिए उनको प्रबल प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि उनको उनकी हवालियों पर सूद मिलता है और इसलिए जितनी हवालगी देने का वे साहस कर सकें उतनी हवालगी देने का उनके पास अच्छा कारण है । लेकिन वे हवालगियां नहीं देंगे सिवाए उन उधार चाहने वालों को जो उनकी दृष्टि में विश्वसनीय हैं—यानि जिनके बारे में वह संभावना है कि वे सूद चुकाने और ठीक समय पर मूल चुकाने में समर्थ हैं—और न वे तब तक हवालगियां दे सकते हैं जब तक कि उन्हें ऐसे व्यक्ति न मिल जाएं जो उधार

लेने के लिए तैयार हैं। ऐसा हो सकता है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा 'नक़द आधार' में की गई वृद्धि साख के ऊपरी ढांचे में विस्तार करने में असफल हो या तो इसलिए कि उधार लेने वालों की कमी है या जो उधार लेने वाले सामने आते हैं उन्हें व्यापारिक बैंक विश्वसनीय नहीं मानता। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाने वाली 'खुले बाज़ार की क्रियाएं' जब उनका लक्ष्य साख नियंत्रण करने का होता है तब सफलता की अधिक संभावनाएं रखती हैं वनिस्वत उस समय के जब उनका लक्ष्य साख विस्तार करने का हो।

इन मर्यादाओं में भी, केन्द्रीय बैंक की नीति की सफलता उसके हाथ में कानून से दिये गए किन्हीं अधिकारों पर निर्भर न करके शुद्ध परम्परा पर निर्भर करती है। यदि व्यापारिक बैंक उस नक़द-उधार अनुपात की अवहेलना करने की सोच लें जो परम्परा से मान्य है, तो उनके ऐसा करने के मार्ग में कोई कानूनी बाधा नहीं है। जब उनकी ऐसी इच्छा होती है तब अपने आपको थोड़ी सी आज़ादी देकर वे वास्तव में किसी हद तक इसकी अवहेलना करते भी हैं। परन्तु, प्रधानतया, वे परम्परागत मर्यादा का पालन करते हैं, और कोई भी एक बैंक, जब तक कि दूसरे बैंक भी साथ देने को तैयार नहीं, उससे बहुत दूर नहीं हट सकता। यह इसलिए कि जो बैंक भी साख का विस्तार करने में अन्य बैंकों से आगे बढ़ जाता है उसे एकदम यह देखने को मिलेगा कि उसे दूसरे बैंकों से जितना लेना है उससे अधिक देना है, और, चूंकि बैंक अपना पारस्परिक ऋण का निपटारा बैंक आव इंग्लैंड में जो उनके शेष होते हैं, उनमें से एक दूसरे के खातों में रकम का हस्तांतरण करके करते हैं, जो बैंक बाकी के बैंकों की अपेक्षा अधिक आज़ादी से साख स्वीकार करता है उसी का 'नक़द आधार' इन हस्तांतरणों के कारण कम हो जायेगा और इस प्रकार उसे अपने पास के उपलब्ध 'नक़द' और उसके आधार पर स्वीकृत साख के बीच में और भी बड़े अन्तर का सामना करना होगा, इस संभावना के साथ कि यदि वह अपनी इस नीति पर ही चलता रहा तो केन्द्रीय बैंक में उसका शेष समाप्त ही हो जायेगा।

यदि सभी व्यापारिक बैंक एक सा व्यवहार करते हैं तो ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न नहीं होगी। ऐसा करके वे 'नक़द' और साख के बीच में उपयुक्त अनुपात संबंधी अपने विचार में परिवर्तन करके अपनी साख का कितना ही विस्तार कर सकते हैं। लेकिन, यदि ऐसा होता है तो बैंक आव इंग्लैंड लगातार खुले बाज़ार की क्रियाओं के द्वारा उनके 'नक़द' में कमी लाता रह सकता है, यहां तक कि उनके शेष समाप्त ही हो जाएं, ताकि वे अपनी 'साई' को पुनः पूर्ति करने की दृष्टि से और अधिक नक़द की उससे कोई मांग न कर सकें। व्यवहार में ऐसी स्थिति कभी उत्पन्न नहीं होगी। बैंक आव इंग्लैंड और व्यापारिक बैंक एक व्यवस्था के अंग के रूप में एक साथ काम करते हैं। समय समय पर उनमें आपस में विवाद और

मतभेद हो सकता है, पर व्यापारिक बैंक आव इंग्लैंड के साथ साथ चलने के महत्व से इतने काफ़ी परिचित हैं कि वे उसके साथ कभी ऐसी शक्ति परीक्षा में नहीं पड़ेंगे जिससे कि सारी व्यवस्था ही टूट जाए। सामान्य निष्कर्ष यह है कि, प्रचलित परिस्थितियों में, साख की उपलब्ध मात्रा, यद्यपि वह वास्तव में अधिकांश में व्यापारिक बैंकों के द्वारा ही जारी की जाती है, बैंक आव इंग्लैंड पर निर्भर करती है जो वास्तव में अपनी इच्छानुसार—खुली बाज़ार की क्रियाओं के द्वारा साख को दुर्लभ या प्रचुर बना सकता है। अपने ग्राहकों को हवाली देकर, व्यापारिक बैंक साख निर्माण करते हैं, पर कितने साख का निर्माण वे कर सकते हैं यह केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाई जाने वाली नीति पर निर्भर करता है।

इस प्रकार यद्यपि कानून से केन्द्रीय बैंक केवल चलार्थ का संरक्षक है—यानी बैंक नोटों की पूर्ति का—पर व्यवहार में वह व्यापारिक दुनिया को उपलब्ध साख की पूर्ति का कोई कम संरक्षक नहीं है। इसके अतिरिक्त, जबकि पहले समय में केन्द्रीय बैंक वास्तव में चलार्थ की पूर्ति का नियंत्रण करता था और साख के संबंध में अन्य बैंकों को अपनी अपनी योजना के अनुसार चलने को ओज़ाद छोड़ देता था, आजकल वह अधिकाधिक साख की पूर्ति के नियंत्रण की बात पहले सोचना चाहता है और नोटों के रूप में नक़द की पूर्ति को सर्वथा गौण बात मानता है। आवश्यक नोटों की मात्रा का अनुमान जिस मात्रा में साख का निर्माण किया गया है उससे लगाया जाता है। अगर उधार लेने वालों को बैंक हवाली के रूप में अमुक मात्रा में क्रय शक्ति उपलब्ध की गयी है तो वे मज़दूरी चुकाने को और ऐसे दूसरे खर्च के लिए जिसके वास्ते नक़द द्रव्य आवश्यक है नोटों और सिक्के में अमुक मात्रा में विकर्ष करेंगे। इसलिए केन्द्रीय बैंक को वह जितनी साख का निर्माण करने देता है उसके फलस्वरूप जिस मात्रा में नक़द चाहा जाता है उसे उपलब्ध करना ही चाहिए। वजाए इसके कि नोटों और सिक्कों के रूप में नक़द की पूर्ति साख की पूर्ति का निर्धारण करें, साख की जो मात्रा स्वीकार की जाती है वह नक़द की मांग को निर्धारित करती है।

यह सत्य 'नक़द' शब्द का आजकल जो दुहरा अर्थ लगाया जाता है उसके कारण छिपा रहता है। सीमित अर्थ में, नक़द में सिक्के और नोट आते हैं, व्यापक अर्थ में, इसमें इनके अलावा व्यापारिक बैंकों के नाम में जो केन्द्रीय बैंक में जो शेष हैं वे भी शामिल माने जाते हैं, क्योंकि सीमित अर्थ में जो नक़द माना जाता है उसी के समान इन्हें भी समझा जाता है। पर सच्चाई यह है कि इन तथाकथित 'नक़द शेष' का अपना विशेष-कार्य (की-फंक्शन) भी है। ये साधारण अर्थ में नक़द नहीं हैं, बल्कि वह साधन हैं जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक साख की पूर्ति का नियंत्रण करता है।

यह भेद उस समय बहुत साफ़ हो गया जब अन्तरा-युद्ध काल में कितनी मात्रा में साख का निर्माण किया जाए इस बात को लेकर केन्द्रीय बैंक और 'पांच बड़ों' में से एक में मतभेद खड़ा हो गया था। भिन्न मतवाला मिडलैंड बैंक यह मानता था कि बैंक आव इंगलैंड अनावश्यक रूप में आयंत्रित नीति अपना रहा है। इसलिए उसने सोना खरीद कर अपनी स्वयं की एक विशेष नक़द संचिति का निर्माण करना प्रारंभ किया जिसके आधार पर वह साख के ऊपरी ढांचे की रचना करना चाहता था और इस प्रकार बैंक आव इंगलैंड जितनी उचित मानता था उससे अधिक मात्रा में कुल साख की पूर्ति बढ़ाना चाहता था। बैंक आव इंगलैंड ने फ़ौरन ही खुले बाज़ार की क्रियाओं द्वारा इस कार्यवाही का उत्तर दिया जिससे कि उसकी कित्तियों में तमाम व्यापारिक बैंकों के शेप मिडलैंड बैंक के सोने की हद तक कम हो गए। जब दूसरे बैंकों ने अपने 'नक़द आधार' को कम होता हुआ देखा तो वे मिडलैंड पर पड़े जिससे उसे अपनी विस्तार की नीति का त्याग करना पड़ा। इस घटना ने यह सत्य प्रकट कर दिया कि अब साख की मात्रा चलार्थ के आधार के रूप में जिस मात्रा में सोना उपलब्ध है उस पर निर्भर नहीं करती है बल्कि बैंक आव इंगलैंड की कुल क्रय शक्ति के उचित स्तर के संबंध में जो भी दृष्टि है उस पर निर्भर करती है।

1931 के संकट में ग्रेट ब्रिटेन के बाक्रायदा स्वर्णमान से अलग होने के पहले ही, साख की पूर्ति पर केन्द्रीय बैंक का यह नियंत्रण उस रूप में जो युद्धों के बीच के समय में उसने अपनाया था, परम्परागत स्वर्णमान को समाप्त करने जैसा ही था। पुराने स्वर्णमान के अनुसार, सिद्धान्त यह था कि सामान्यतया केन्द्रीय बैंक को निर्धारित मूल्य पर जो भी सोना बेचा जाए वह निश्चेष्ट भाव से स्वीकार कर लेना चाहिये और अपने पास के सोने के संचयन के आधार पर जिस मात्रा के नोट वह जारी कर सकता हो जारी कर देने चाहिये। 1914 के पहले भी बैंक आव इंगलैंड विल्कुल इतने निश्चेष्ट भाव से काम नहीं करता था। जितना कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत माना गया है। किन्तु मोटे रूप में वह अवश्य ही इस सिद्धान्त पर काम करता था कि जितना सोना उसे प्राप्त हुआ उसे चलार्थ (जो उन दिनों में एकसाल से प्राप्त सोने के सिक्कों में होता था) जारी करने के आधार के रूप में काम में लिया, और नक़द के इस आधार पर जितने साख का निर्माण करना उचित हो उतने साख का निर्माण करने के लिए अन्य बैंकों को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। पर 1918 के बाद बैंक आव इंगलैंड कभी भी केवल निश्चेष्ट नहीं रहा, और 1925 में जब स्वर्णमान की सामान्य रूप में पुनः स्थापना हो गयी तब भी वह अपने परम्परागत रूप में वापिस नहीं आया। युद्धकाल में, सरकारी नोटों सहित चलार्थ की पूर्ति अन्य प्रकार से जो क्रय शक्ति जारी की जाती थी उस पर से तय होती थी, और वास्तव में यह स्थिति युद्ध के बाद भी बनी रही, केवल इस अन्तर के साथ कि बैंक आव इंगलैंड साख की पूर्ति के संबंध में, इस उद्देश्य से कि वह उपलब्ध सोने के संचयन

से मेल खाने वाली सीमाओं के अन्तर्गत रहे, बराबर क्रियाशील रहता था या किसी कदर 1925 तक, पूर्व 1914 के आधार पर स्वर्णमान की पुनः स्थापना करने के योग्य हो जाने की दृष्टि से, बैंक आव इंग्लैंड साख पूर्ति को दवाने का प्रयत्न करता रहा था, और 1925 के बाद वह साख पूर्ति को इसलिये दवाता रहा कि पुनर्थापित मान बना रह सके। यह स्थिति 1931 तक चली, जब विश्व संकट के दौरान में ग्रेट ब्रिटेन को स्वर्ण मान से हटना पड़ा, पर उसके बाद भी बैंक आव इंग्लैंड साख की पूर्ति का इसलिये प्रबंध-नियंत्रण करता रहा कि स्टर्लिंग के स्वर्ण अर्हा का ह्रास सीमित रहे। बैंक लगभग इस प्रकार व्यवहार करता रहा जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन अब भी, परिवर्तित आधार पर, स्वर्णमान पर है, और इस प्रकार व्यवहार तब तक करता रहा जब तक कि संकट अपनी विकटतम स्थिति से निकल नहीं गया।

दरअसल, केन्द्रीय बैंक ने, बजाए इसके कि चलार्थ का नियंत्रण करे और साख को अपनी चिंता स्वयं करने दे, चलार्थ को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों की अपनी जानकारी के प्रकाश में साख का सीधा नियंत्रण करना आरंभ कर दिया। 1933 से जिन तरीकों से उसने ऐसा किया वे विनिमय समकारि-निधि (एक्सचेंज इक्वैलाइज़ेशन फंड) के अस्तित्व से, जिसके विषय में मैं बाद में विचार करूंगा, बहुत अधिक प्रभावित थे, और निधि का एक परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय बैंक ऐसी नीति को लागू कर सका जिसने द्रव्य के लिये सुरक्षित सोने के राष्ट्रीय संचयन में होने वाले परिवर्तन के असर से चलार्थ की पूर्ति के नियंत्रण को बहुत कुछ अलग कर दिया। पर ये बातें ऐसी विषम हैं कि इस अवस्था में उनको समझना मुश्किल है। इस समय तो ध्यान देने की बात इतनी ही है कि साख पूर्ति, जिसके विषय में 19 वीं शताब्दी में ऐसा माना जाता था कि जत्र तक चलार्थ की व्यवस्था सही ढंग से होती है वह अपना ध्यान स्वयं रख लेगी, केन्द्रीय बैंक के सीधे और सतत नियंत्रण का विषय बन गयी और इस प्रकार केन्द्रीय बैंक ने अपने आपको क्रय शक्ति की उस कुल मात्रा के नियंत्रण के लिये जिम्मेदार बना लिया जो हर प्रकार के द्रव्य में किये जाने वाले क्रय विक्रय की वित्तीय व्यवस्था के लिए उपलब्ध होती थी।

अब हम फिर अपने उस प्रारंभिक मुद्दे पर आ सकते हैं जिससे अलग हो गये थे। हम देख चुके हैं कि आज की दुनियां में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित की जा सकने वाली सामान्यीकृत क्रय शक्ति के अर्थ में द्रव्य के तमाम आवश्यक गुण न केवल सिक्कों और नोटों में बल्कि बैंक जमा में भी हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि इस अर्थ में 'द्रव्य' की कुल पूर्ति में बैंक जमा का बढ़ने बढ़ा अंश है और बैंक जमा की मात्रा केन्द्रीय बैंक के पक्के नियंत्रण में होती है। अब

चूँकि सोने के सोवरिनों का जनता में परिचलन नहीं है, सिक्के वाले द्रव्य का सारा स्वतंत्र महत्व ही समाप्त हो चुका है, फुटकर क्रय-विक्रय में केवल रेज़गारी का इस्तेमाल किया जाता है और व्यापक अर्थ में द्रव्य की पूर्ति को नियंत्रित करने वाले प्रमुख निर्णयों के फलस्वरूप जिस मात्रा में रेज़गारी की आवश्यकता समझी जाती है उसी में वह उपलब्ध की जाती है। बैंक नोट सिक्कों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं, लेकिन वे भी गौण कार्य करते हैं और बैंक जमा की मात्रा के नियंत्रण के संबंध में जो नीति बर्ती जाती है उसके फलस्वरूप जिस मात्रा में बैंक नोटों की आवश्यकता होती है उसी के अनुसार उनकी पूर्ति की जाती है। द्रव्य की पूर्ति में, वास्तव में, बैंक जमा सबसे महत्वपूर्ण अंश है, और चुकारे के साधनों की प्रचुरता या कमी का निर्धारण करने में केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक जमा की मात्रा का निर्धारण ही अनिवार्य तत्व है।

जब कोई देश स्वर्णमान पर काम कर रहा है और अपने लिए अपनी आन्तरिक द्रव्य नीति का निर्धारण अपने केन्द्रीय बैंक के पास सोने की पूर्ति की जो स्थिति है उससे होने देता है, तो बैंक जमा की मात्रा में वृद्धि करने की उसकी क्षमता अन्ततोगत्वा नक़द की उस मांग से मर्यादित रहती है जिसकी पूर्ति चलार्थ जारी करने सम्बन्धी नियम उसे करने देते हैं। विदेशी विनियम के द्वारा हुई सोने की हानि चलार्थ की पूर्ति में कमी कर देती है, और इसके कारण साख की पूर्ति में कमी करना आवश्यक हो जाता है। व्यवहार में, इन परिस्थितियों में, केन्द्रीय बैंक उस स्थिति में पहुँचने के पहले ही जब कि चलार्थ की कमी अनुभव की जाने लगे साख का नियंत्रण करने की कार्यवाही करने लगते हैं, क्योंकि वे अपनी चलार्थ संचिति के ह्रास को, इसके पूर्व कि वे समाप्ति के बिन्दु पर पहुँच जाए, रोकने के क्रम उठाने लगते हैं : इसलिए वह तत्व जिसका नियंत्रण किया जाता है साख—यानी बैंक जमा की मात्रा—है, न कि जारी किए गए चलार्थ की मात्रा। स्वर्ण मान होने पर भी, आधुनिक परिस्थितियों में, द्रव्य अधिकारियों की कार्यवाही का आधार साख न कि चलार्थ होता है, यद्यपि चलार्थ संबंधी कानूनी आवश्यकताओं से उनकी कार्यवाही प्रभावित होती है।

जब कोई देश स्वर्णमान पर नहीं होता *और इसलिये उसके द्रव्य तथा दूसरे देशों के द्रव्यों के बीच में विनिमय दरें न्यूनान्तर वाली सीमाओं की मर्यादाओं में स्वतः निश्चित नहीं होती हैं, तो और भी अधिक स्पष्ट है कि साख ही आधार-भूत तत्व होता है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय चलार्थ और सोने के बीच में स्वयं-क्रिय सम्बन्ध विच्छेद करने का उद्देश्य यह होता है कि चलार्थ के वाह्य मूल्य को यथावत बनाए रखने वाली आन्तरिक नीति का पालन

* या समान असर रखने वाले किसी अन्तर्राष्ट्रीय मान पर।

करने के लिये विवश होने की वजाय राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुसार साम्प्रदायिक नीति के अनुसरण करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो सके । इसलिये, यह मान लिया जाना चाहिए कि जो देश किसी अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य मान पर नहीं है वह, किन्हीं मर्यादाओं में, अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं के अनुरूप साम्प्रदायिक नीति का पालन करने के लिये अपने आपको स्वतंत्र रखना चाहेगा—मर्यादाएं ये होंगी कि वह अपनी आन्तरिक नीति का व्यापार संतुलन पर या विदेशी द्रव्यों की दृष्टि से अपने चलार्थ के मूल्य पर पड़ने वाले असर की सर्वथा अवहेलना नहीं करेगा । उसके द्रव्य अधिकारी ज्यादा या कम इस प्रकार का व्यवहार कर सकते हैं जैसे वे अब भी स्वर्णमान पर हैं । वे या तो यह कर सकते हैं कि चलार्थ के बाह्य मूल्य में बिना किसी स्कावट के, और बिना उसे प्रभावित किये, उतार-चढ़ाव आने दें, या फिर वे दूसरे द्रव्यों में अपने द्रव्य के मूल्य का जो स्तर अपनी इच्छानुसार ठीक समझें वह निर्धारित कर सकते हैं, और फिर अपनी साम्प्रदायिक नीति ऐसी रख सकते हैं कि उनका द्रव्य चुने हुए बाह्य दर पर बना रहे यद्यपि उनको उस बाह्य दर को जिस पर वह अपने द्रव्य को बनाए रखना चाहते हैं किसी भी समय बदलने की स्वतंत्रता रहेगी । दूसरे शब्दों में, घरेलू आवश्यकताओं के अनुसार आन्तरिक साम्प्रदायिक पूर्ति का समायोजन करने और किसी चुने हुए दर पर चलार्थ के बाह्य मूल्य को स्थिर रखने के दोनों उद्देश्यों को अपनी इच्छानुसार सापेक्षिक महत्व दे सकते हैं । वे कुछ भी करें जिस तत्व का वे नियंत्रण करने लगेंगे वह मुख्यतया साम्प्रदायिक पूर्ति होगा न कि चलार्थ की वह मात्रा जो परिचलन में है ।

तो हम बिना किसी आपत्ति के यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आधुनिक द्रव्य व्यवस्था में साम्प्रदायिक नीति ही आधारभूत कारक है और बैंक जमा द्रव्य का प्रधान रूप है । द्रव्य के कुल परिचलन में सिक्कों और नोटों का समान रूप से गौण स्थान हो गया है : अब उपयोग में आने वाले द्रव्य का प्रधान प्रकार सांकेतिक चलार्थ का नहीं बल्कि बैंक के लेजरों (खाता बहियों) में किये गए किताबी दाखिलों का है जो, यह आवश्यक हुए बिना कि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को नोट या सिक्के दिया जाए, एक मालिक से दूसरे मालिक को बैंकों द्वारा हस्तांतरित किये जाते हैं ।

परन्तु, सिक्का नोट और बैंक जमा के अतिरिक्त और भी द्रव्य कहलाने के दावेदार हैं । “विनिमय पत्र” बैंक से हस्तांतरित होने वाले बैंक जमा की अपेक्षा कहीं अधिक पुराना साम्प्रदायिक पत्र है, और उसका आज भी बड़ा महत्व है । इस देश में व्यापार पत्रों का उपयोग विदेशी व्यापार के लेन देन में मुख्यतया होता है और घरेलू ढंग के व्यापारिक लेन देन में उनका उपयोग अपेक्षाकृत कम होता है । हमेशा ऐसा नहीं होता था । बैंक व्यवस्था के विकास होने के पहले एक ही देश में

निर्माताओं (ग्रौद्योगिक) और व्यापारियों तथा उनके प्रदायकों के बीच में कर्ज का निपटारा करने के लिए विपत्रों का विस्तृत उपयोग होता था, और उनका अर्थ भी कभी कभी इस प्रकार का उपयोग किया जाता है। लेकिन अधिकांश में माल के आन्तरिक विनिमय के वित्त प्रबंध में बैंक अधिविक्रयणा और चैंक तथा व्यापार साख की व्यापक व्यवस्था ने विपत्र (विल) का स्थान ले लिया है।

‘व्यापार पत्र’ भविष्य में एक निश्चित तारीख को चुकारा करने का वायदा है। इसे उधार देने वाला—जैसे किसी व्यापारी को माल देने वाला—माल पाने वाले के नाम जारी करता है और कुछ महीनों—प्रायः तीन—के बाद, जब तक कि यह आशा की जाती है कि प्राप्त माल को बेंच कर और मूल्य प्राप्त करके वह अपने पास निधि प्राप्त कर लेगा, उधार लेने वाले के द्वारा उसका चुकारा कर दिया जाता है। उधार देने वाला उधार लेने वाले पर विपत्र ‘काटता’ है यानी बनाता है : उधार लेने वाला उस पर पृष्ठांकन (एन्डोर्समेंट) करके स्वीकार करता है, और इस प्रकार दी हुई तारीख पर चुकारे का वायदा करता है। विपत्र का यह सबसे सरल रूप है। यह प्रायः इसलिये काटा जाता है कि उधार देने वाला अपने द्रव्य से तब तक के लिए वंचित नहीं होना चाहता जब तक कि उधार लेने वाला चुकारा करने को तैयार न हो। उसने उधार लेने वाले को जो व्यापार साख दी है उसे वह अन्य किसी से उधार लेना चाहता है। इसलिये, वह उधार लेने वाले से एक निश्चित तारीख को चुकारा करने का लिखित वायदा प्राप्त कर लेता है और अपने आप को भी विपत्र की ‘वसूली’ के लिये यानी चुकारे के लिए, उस हालत में जब कि उधार लेने वाले की चूक (डिफाल्ट) हो जाए, जिम्मेदार बनाता है। इस प्रकार विपत्र पर दो नाम होते हैं—उधार देने वाले का और उधार लेने वाले का, और इसलिये दोनों की संयुक्त जिम्मेदारी पर उसे तत्काल नक़द पर बेचा जा सकता है। इससे उस पर केवल एक ही नाम होने से जिस हद तक वह विक्री योग्य होता उससे अधिक विक्री योग्य वह हो जाता है, और ऐसे लोग होते हैं जिनके पास द्रव्य उपलब्ध है और जो विपत्र को अगर उस पर के नाम अच्छे हैं तो तुरंत खरीदने के लिए तैयार रहते हैं। स्वभावतः उसकी पूरी कीमत जिस पर चुकारे की तारीख के दिन उसे भुनाया जा सकता है उसके लिए कोई नहीं देगा, क्योंकि जब तक विपत्र के चुकारे की तारीख नहीं आती है तब तक उसमें जो रूपया रक्का रहेगा उस पर सूद चाहा जाएगा। यह सूद ‘बट्टे’ के नाम से एक उल्टा हुआ रूप लेगा—यानी विपत्र के अंकित मूल्य में से विपत्र का जितना समय है और द्रव्य बाज़ार में जो सूद कि दर प्रचलित है उनके हिसाब से एक कटौती का। ‘बट्टा’ केवल विशीर्ष सूद है।

स्पष्ट है कि जिस विपत्र पर दो बिना जाने हुए या कम जाने हुए नाम हैं वह बनिस्वत ऐसे विपत्र के जिस पर खूब जाने हुए नाम हैं, कम आसानी से भुनाया

जाएगा अर्थात् नकद से खरीदा जाएगा। इसलिए जो व्यापारी विपत्र जारी करते हैं या उनका पृष्ठांकन (एन्डोर्समेंट) करते हैं, वे, यदि अपने नामों का उपयोग करने के स्थान पर बैंकों या ऐसे दूसरे सुविख्यात वित्तीय संस्थानों के नामों का, जिनकी शोवक्षमता के विषय में कोई प्रश्न उठाए जाने की संभावना नहीं है, उपयोग कर सकें तो उनकी स्वीकार्यता को बढ़ा सकते हैं। इसलिए यह प्रथा चल पड़ी है कि व्यापारी अपने बैंक वालों से उनके नाम पर उनके विपत्रों को स्वीकार करने की व्यवस्था कर लेते हैं जिससे बैंक वालों के नाम उन लोगों के नाम की जगह ले लेते हैं जिनका उस क्रय-विक्रय व्यवहार से सम्बन्ध है। इस कार्य के लिए बैंक या अन्य वित्तीय संस्थान थोड़ा सा प्रसार वसूल करते हैं, और विपत्र 'व्यापारिक पत्र' में 'बैंक पत्र' का रूप ले लेता है जिसका बाजार अधिक विस्तृत होता है। तब यह आसानी से भुनाया जा सकता है, और जिस व्यापारी ने अपने ग्राहक को उधार दिया है उसे, विपत्र के चुकारे के समय तक प्रतीक्षा किये बिना, वट्टे को छोड़ कर अपना द्रव्य तत्काल मिल जाता है। वेशक उधार समाप्त नहीं होता, लेकिन हस्तांतरित मात्र होता है जो भी बिल भुनाता है, अर्थात् खरीदता है, वही साथ देने वाला हो जाता है।

अब इस प्रकार के विपत्र, जिनके पास वे हैं, वे यदि ऐसा ठीक समझें तो, चुकारे का समय होने से पूर्व, एक बार नहीं बल्कि बार बार भुनाए जा सकते हैं। अगर विपत्र खरीदने वाले को तत्काल द्रव्य चाहिये तो, यदि आवश्यकता हो तो अपना नाम जोड़ कर जिससे कि अगर मूल हस्ताक्षरकर्ता चुकारा न कर सकें तो वह अपने को जिम्मेदार मानेगा, वह विपत्र बेच सकता है। इसलिए विनिमय पत्र, यद्यपि भविष्य में चुकारा करने के वायदे होने के नाते बाह्य रूप में उत्तर दिनांकित बैंकों से वास्तव में भिन्न नहीं हैं, बैंकों की तरह केवल एक बार क्रय शक्ति का हस्तांतरण करने के काम में नहीं आते। वे इस बात में बैंक-नोट के समान हैं कि उनके सम्बन्ध में बैंक की गारंटी (प्रत्याभूति) रहती है, और बैंक-नोटों की तरह ऋण का निपटारा करने के लिए उन्हें एक से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित किया जा सकता है।

किन्तु जिस अर्थ में बैंक-नोट द्रव्य हैं उस तरह से किसी अर्थ में विपत्र 'द्रव्य' नहीं हैं। उनके परिचलन का क्षेत्र साधारणतया बहुत सीमित होता है और बैंक प्रणाली के सामान्य विकास हो जाने के बाद से वह बहुत अधिक सीमित हो गया है। जैसा कि डेनियल डिफो जैसे पुराने उपन्यासों के पाठकों को मान्य होगा, अठारहवीं शताब्दी में व्यापारियों के लिए विपत्रों को साथ में लाना ले जाना और रोज वरोज के लेन देन का फैसला जो आज बैंक से किया जाता है उनके निचे उनका उपयोग करना एक साधारण बात थी, और ऐसे विपत्रों का गुमना या चोरी

जाना एक सामान्य घटना थी। आजकल, विपत्र प्रायः एक बहुत सीमित क्षेत्र में चलते हैं पहली बार भुनाने वाला उनको बेच सकता है, पर वह आमतौर पर या तो बैंक को या विपत्रों में नियमित रूप से व्यापार करने वाले को बेचेगा। साधारण व्यापारिक चुकारों के लिए वह उनका उपयोग नहीं करेगा। अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड में बैंक नोटों के समान ही विपत्रों को भी द्रव्य का एक प्रकार मानने का अच्छा कारण था। और दुनिया के किन्हीं हिस्सों में, जहां वे अब भी नोटों या बैंकों के स्थानापन्न के रूप में काम में आते हैं, ऐसा मानने का अब भी कारण है। पर आज ग्रेट ब्रिटेन में विपत्रों को 'द्रव्य' मानना उचित नहीं है। वे विनिमयसाध्य [नेगोशियेबल] साख पत्र हैं जो एक विशेष वित्तीय बाजार में चलते हैं, 'द्रव्य' की तरह साधारण वस्तुओं और सेवाओं के चुकारे के व्यापक रूप में स्वीकृत साधन वे नहीं हैं। अपनी अधिक सुविधा के कारण बैंक ने उनका इस विशेष क्षेत्र से निष्कासन कर दिया है।

इस पुस्तक में आगे चलकर इस परिवर्तित व्यवहार के किन्हीं फलितार्थों पर विचार करना होगा। फिलहाल हमारा इससे इसीलिए सम्बन्ध है कि 'द्रव्य' की काम चलाऊ परिभाषा तक पहुंचने के हमारे प्रयत्न को वह प्रभावित करता है। अब हम आखिरकार ऐसी परिभाषा करने का प्रयत्न कर सकते हैं। इस पुस्तक में जिस अर्थ में उपयोग किया गया है उसमें 'द्रव्य' ऐसी कोई भी वस्तु है जिसका आदतन और व्यापक रूप में चुकारे के माध्यम के तौर पर उपयोग होता है, और जो ऋण का निपटारा करने के लिए सामान्यतया स्वीकार की जाती है। ये द्रव्य सिक्के के रूप में हो सकता है, जो आजकल मुख्यतया फुटकर लेन देन और मजदूरी चुकाने के काम में आता है, बैंक-नोटों के रूप में हो सकता है, जो भी प्रधानतया इन्हीं कामों में आते हैं, पर एक सीमित क्षेत्र में बड़े ऋणों का फैसला करने के काम में भी आते हैं। या बैंक-जमा के रूप में हो सकता है जिसका बैंक के द्वारा हस्तांतरण होता है। आजकल अधिकांश बड़े बड़े लेन देन, और बहुत से काफी छोटे छोटे भी इस अन्तिम माध्यम से ही होते हैं। बैंक द्रव्य नहीं हैं क्योंकि चुकारे के केवल ऐसे वायदे होने से, जिन पर एक ही व्यक्ति का हस्ताक्षर होता है, और साधारणतया एक ही बार के विनिमय में अपना परिचलन समाप्त कर लेने से उनका निर्वाह रूप से एक से दूसरे व्यक्ति को परिचलन नहीं होता। बैंक जमा जिनके खिलाफ बैंक काटे जाते हैं 'द्रव्य' हैं और द्रव्य का सबसे महत्वपूर्ण प्रकार हैं। द्रव्य की पूर्ति मालूम करने में बैंक जमा की मात्रा आधारभूत कारण है, और इसलिए सामान्य द्रव्य नीति में इस पूर्ति का नियंत्रण एक दुसाध्य समस्या है।

अध्याय २

कितने द्रव्य की हमें आवश्यकता है ?

कितने द्रव्य की हमें आवश्यकता है ? जाहिर है कि हर वस्तु जिसको हमें खरीदने और बेचने की आवश्यकता है उसको खरीदने के लिए जितना द्रव्य पर्याप्त हो । ठीक है, पर यह कितना द्रव्य होता है : क्या द्रव्य की कोई भी मात्रा क्रय-विक्रय की किसी भी मात्रा के लिए पर्याप्त नहीं होगी, यदि केवल मूल्यों का उसके साथ मेल बैठा दिया जाय ? वेशक, सिद्धान्ततः, ऐसा हो जायगा; पर व्यवहार में ऐसा मुश्किल से होगा, जबकि हम बिल्कुल आरंभ से विचार न करके लागत और मूल्यों की वर्तमान व्यवस्था से विचार करना प्रारंभ करते हैं, क्योंकि, यद्यपि इनमें से कुछ लागतों और मूल्यों को चाहे बहुत कुछ आसानी से ही बदला जा सके, पर बाकी के दीर्घकाल के लिये संविदा से निश्चित होते हैं; और इनके अनावा, बहुतों को व्यवहार में बदलना बहुत मुश्किल है । यदि लागतों और मूल्य पूर्णतया स्थिति अनुकूल बनाए जा सकते और सभी का समान मात्रा में शीघ्रतापूर्वक समायोजन हो सकता तो इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि हमारे पास अधिक द्रव्य है या कम वगैरें कि जो भी द्रव्य हमारे पास होता उसे हम अपनी इच्छानुसार कैसी भी इकाइयों में बांट सकते ।

तो द्रव्य की मात्रा का महत्व है, क्योंकि मूल्य संलागी (आसानी से नहीं बदलने वाले) होते हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि वे अत्यन्त भिन्न-भिन्न हृद तक संलागी होते हैं । द्रव्य की पूर्ति में कमी का अर्थ है कि या तो कम वस्तुएं खरीदी और बेची जाएं या खरीदी और बेची जाने वाली कुछ या तमाम वस्तुएं कम मूल्यों पर एक से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित की जाएं । यदि कुछ मूल्य, कम से कम काफी समय के लिए, निश्चित हैं तो अन्य मूल्यों में और भी अधिक गिरावट आना आवश्यक है ताकि पूर्ववत् मात्राओं में क्रय-विक्रय हो सके । अन्यथा, क्रय-विक्रय की मात्रा में कमी लानी होगी । द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि के, वेशक, उल्टे असर होंगे ।

वास्तव में, द्रव्य की पूर्ति में कमी के साथ साथ प्रायः दो बातें और होती हैं; मूल्यों में गिरावट—कुछ मूल्यों में, लेकिन सबमें नहीं और समान हृद तक नहीं—और क्रय-विक्रय की मात्रा में कमी । जब व्यापारी ये देखते हैं कि वे पूर्ववत् मूल्यों पर पहले जितना नहीं बेच सकते, तो वे या तो अपने मूल्य कम कर सकते हैं या

अपना उत्पादन कम कर सकते हैं, या निस्संदेह वे दोनों ही उपाय अपना सकते हैं। उनकी लागतें जितनी ज्यादा संलागी होती हैं अर्थात् जो कुछ भी वे उत्पादन में काम में लेते हैं उनके लिये दी जाने वाली कीमतों में जितनी कम कमी वे करा सकते हैं, उतना ही अधिक उत्पादन में कटौती करने और इस प्रकार जो कुछ उन्हें बेचना है उनके मूल्यों को कायम रखने के लिए वे तैयार होंगे। यह हो सकता है कि ऐसे निर्णय वे जान बूझ कर न करें। उनको केवल यह देखने को मिल सकता है कि अपने विक्रय मूल्यों में जितनी कमी करने का वे साहस कर सकते थे उतनी कमी करने पर भी उनकी विक्री कम हो रही है। उनके उत्पादन में कमी चाहे जानबूझ कर की गई हो या जानबूझ कर न की गई हो, पर उसका असर उनके कुछ कर्मचारियों को बेकार कर देने, या उनको म कसमय के लिये काम मिलने और इस प्रकार उनकी त्रय शक्ति को कम करने का होगा। इस कारण से दूसरे कार्यदाता, जिनसे वरखास्त किये गए या जिनको पूरा काम नहीं मिला हुआ है, वे मजदूर माल खरीदा करते थे, अपने उत्पादन में कटौती कर देते हैं। इस प्रकार बेरोजगारी और न्यून-उत्पादन तथा मूल्य कटौती का चक्र फैलता जाएगा।

मैंने यह अभिपुष्टि नहीं की है कि ये घटनाएं द्रव्य की पूर्ति में कमी आने के कारण होती हैं लेकिन केवल यह कहा है कि वे उसके साथ साथ होती हैं। यह संभव है कि मूल कारण द्रव्य से सर्वथा संबंधित न हो और अन्य कहीं हो। उदाहरणके लिये, यदि लंकाशायर के निर्माता अपने सूती माल के उत्पादन का एक बड़ा अंश भारत में बेचते रहे हैं और भारत में फसल नष्ट हो जाने और अकाल पड़ जाने से भारतीय जनता की लंकाशायर के माल ले सकने की उस समय क्षमता नष्ट हो जाती है, तो कुछ निर्माताओं को अपना काम बंद कर देना पड़ेगा या अपने कर्मचारियों की संख्या कम कर देनी होगी या काम का समय कम कर देना होगा। तब वे मजदूरी के रूप में कम चुकारा करेंगे, जो व्यापारी उनका माल बेचते हैं उन्हें कम देंगे, ईंधन के लिए कम देंगे और शायद अपने रहन सहन के व्यक्तिगत खर्च भी कम करेंगे। उनकी द्रव्य की मांग गिर जायगी; और यदि द्रव्य अधिकारी केवल मांग के अनुसार व्यवहार करते हैं, तो उनकी ओर से जानबूझ कर कोई निर्णय किये बिना ही द्रव्य की पूर्ति कम हो जायगी। उन्हें मांग में कमी दिखाई देगी और वे कम पूर्ति करके उसका उत्तर देंगे। ऐसी दशा में द्रव्य की पूर्ति में कमी उत्पादन कार्य की कमी का कारण नहीं, परिणाम है।

कुछ बैंक वाले यह मानना चाहते हैं कि, जैसा कि उक्त उदाहरण है, द्रव्य का कार्य सदा ही पूर्णतया प्रतिक्रियात्मक (पैसिव) रहता है, और वे जनता की द्रव्य की मांग को, उसको जरा भी प्रभावित किये बिना, केवल पूरी करते हैं। पर यह बेकार की बात है। एक तो यह बात है कि बैंक द्रव्य निःशुल्क, मुफ्त में

बिना कुछ लिये, उधार नहीं देते : वे अपनी हवालियों पर सूद वसूल करते हैं। किसी हद तक, व्यापारियों की उत्पादन करते रहने की तैयारी उधार लिए गए द्रव्य का जो मूल्य लिया जाता है उस पर निर्भर करती है, अर्थात् सूद की दर पर जो उनकी लागतों में से एक है। यदि, जब मंदी का भय होता है, बैंक फौरन सूद की दरों में कमी कर दें तो यह मानना तर्क संगत है कि व्यापारी उधार लेते रहने के लिए पहले से अधिक तैयार होंगे और इसलिये उत्पादन में जितनी कटौती वे अन्यथा करने वाले थे उससे कुछ कम करेंगे।

परन्तु, यह स्वीकार करना चाहिये कि इस बात के महत्व को आसानी से बढ़ाया चढ़ाया जा सकता है। अधिकांश उद्योगों में बैंक व्याज उत्पादन लागत का इतना बड़ा अंश नहीं होता है कि इस दर में किये जाने वाले किसी संभावित परिवर्तन का उत्पादन की मात्रा विषयक निर्णयों पर कोई बड़ा असर पड़े। इसका कुछ असर होगा, और कुछ घंटों में दूसरों की अपेक्षा बहुत ज्यादा होगा; किन्तु निर्मित उद्योग की अधिकांश शाखाओं में प्रायः बहुत अधिक अमर नहीं होगा।

पर, दूसरी बात यह है, कि बैंक सब मांगने वालों को उधार नहीं देते, किन्तु केवल उन्हीं को देते हैं जिन्हें वे विश्वास-योग्य मानते हैं यानी मूद देने और दी हुई हवालगी वापिस करने की जिसकी संभावना है। यदि, भारत या अन्यत्र प्रतिकूल बाजार परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने से बैंक वाले भय खा जाते हैं, और अपने कई ग्राहकों की शोषक्षमता (साहूकारा) के बारे में डर जाते हैं, तो वे उधार देने के लिये कम इच्छुक हो जाएंगे और कई हवालगियों, जो अधिक आशाजनक परिस्थितियों में वे आसानी से स्वीकार कर लेते, वे अस्वीकार कर देंगे। वेशक बैंक वालों का परिस्थिति के अनुसार निराशावादी होना बिल्कुल उनके अधिकार के अन्दर है, और यदि वे बिना उचित सावधानी के उधार दे देते हैं तो जिनका रुपया उनके पास जमा है उनके प्रति वे अनुचित व्यवहार करेंगे। लेकिन हम क्या कहेंगे यदि वे अनावश्यक रूप से निराशावादी हो जाते हैं और जिन उधार मांगने वालों की शोष क्षमता बने रहने की संभावना है उनको ऋण देना अस्वीकार कर देते हैं? तब वे अनावश्यक बेकारी और न्यून-उत्पादन के कारण होंगे और जिन परिस्थितियों से वे डरते हैं उन्हीं को उत्पन्न करेंगे : द्रव्य की मांग को तटस्थभाव से पूरा करने वाले नहीं होंगे, पर द्रव्य की पूर्ति में कृत्रिम कमी करने वाले होंगे। और मंदी के समय में, अति-सावधानी के कारण, बैंक बाने इन प्रकार का ही व्यवहार कर जाते हैं।

तीसरी बात केन्द्रीय बैंक के हस्त से संबंधित प्रश्न की है। यह हमें दंग चुके हैं कि जिन अधिकतम सीमाओं को निर्धारित करने की स्थिति में केन्द्रीय

बैंक होता है उन्हीं तक व्यापारिक ऋक उधार दे सकते हैं । इन सीमाओं तक वे उधार दे ही दें, यह आवश्यक नहीं है; पर उनसे आगे वे नहीं जा सकते । द्रव्य उत्पन्न करने की जो शक्ति उनके पास है उससे लाभ कमाने के लिए उनके सामने निर्धारित सीमाओं तक उधार देने का वित्तीय प्रोत्साहन रहता है ? पर जब उन्हें लाभ की जगह हानि होने का भय होता है तो फिर यह प्रोत्साहन काम नहीं करता । फलतः केन्द्रीय बैंक ने जितना उनको उपलब्ध कर रखा है उतना ऋण देने में वे असफल रह सकते हैं; और अगर उनकी मनोदशा ऐसी है तो उन्हें उससे मुक्त करने के लिए कुछ करना केन्द्रीय बैंक के लिए आसान नहीं है । अगर वह द्रव्य की पूर्ति में और अधिक वृद्धि करता है, तो यह आवश्यक नहीं है कि बैंक वाले अपने ऋणों की मात्रा बढ़ावें ही । यह हो सकता है कि जो अतिरिक्त द्रव्य उपलब्ध कराया जाता है उसका उपयोग न किया जाए या कम से कम उस ढंग से उपयोग न किया जाए जो उत्पादन और रोजगार को प्रोत्साहन दे सके ।

अत्यधिक संभावना यह है कि व्यापारिक बैंक, अपने पास अनावश्यक द्रव्य देख कर, और उत्पादक उद्योग को ऋण के रूप में उसे देने में डरने से, सर्वश्रेष्ठ प्रतिभूतियां खरीदना प्रारम्भ कर देंगे ताकि वे उस द्रव्य पर कुछ भी न कमाने की जगह थोड़ा सूद ही कमालें । इस खरीददारी का, जिसे इस बात से बल मिलेगा कि केन्द्रीय बैंक भी, अगर वह द्रव्य की पूर्ति बढ़ाने के प्रयत्न में है, सर्वश्रेष्ठ प्रतिभूतियां खरीद रहा है, असर इन प्रतिभूतियों के मूल्य को ऊपर उठाने का होगा । किन्तु स्थिर-सूद वाली सर्वश्रेष्ठ प्रतिभूतियों के मूल्य में वृद्धि दीर्घकालीन सूद की चालू दर में कमी के बराबर है । चूंकि वर्तमान प्रतिभूतियों के मूल्य की प्रतिक्रिया अनिवार्य रूप से नयी प्रतिभूतियों के मूल्य पर होगी, इसका अर्थ यह होगा कि स्पष्टतया शोध-क्षम व्यापारी दीर्घकालीन पूंजी पहले की अपेक्षा अधिक सस्ते आवार पर उधार ले सकेंगे । इससे, वादजुद प्रतिकूल व्यापारिक स्थिति के, उनको अधिक उधार लेने का प्रोत्साहन मिल सकता है; लेकिन हमें फिर यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि, कुछ उद्योगों को छोड़ कर, यह असर संभवतः अधिक नहीं होगा, क्योंकि अगर व्यापारियों का विचार यह है कि उधार लिए हुए द्रव्य के विनियोग से लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक संभावना है तो वे, उनको जो सूद की दर देनी पड़ेगी उसमें कमी आने से, अधिक उधार लेने को प्रोत्साहित नहीं होंगे । वेशक, अगर व्यापारी वर्ग बैंक वालों से कम निराशावादी हैं तो [उधार लेने के बारे में] उनका प्रत्युत्तर नगण्य न भी होने पर अगर वे बैंक वालों की मनस्थिति के ही हैं तो उस प्रत्युत्तर के कम होने की ही संभावना है । ऐसे समय में केन्द्रीय बैंक की परिचलन में जो द्रव्य है उसके कारगर विस्तार की क्षमता कम होती है, जब तक कि वह बहुत बड़े पैमाने पर कार्यवाही करने को ही तैयार न हो जाए । यदि खुले बाजार के व्यवहार के द्वारा वह व्यापारिक बैंकों को बराबर द्रव्य देता रहे, तो

गिरते हुए मूद्र की दरों और विस्तारकारी या संस्फीतिकारी स्थिति उत्पन्न करने के उसके प्रकट निश्चय का सम्मिलित प्रभाव व्यापारिक बैंकों और उन व्यवसायों के, जो द्रव्य की सस्ती पूर्ति का सबसे अधिक लाभ उठाने की स्थिति में हैं, निराशावाद को दीर्घकाल में कम कर सकता है।

किन्तु यह परिणाम लाने के लिए केन्द्रीय बैंक को कड़ी कार्यवाही करने की आवश्यकता हो सकती है जिसके अन्तर्गत द्रव्य जारी करने की सुविधाओं का पूरा पूरा उपयोग कर लेने पर द्रव्य की पूर्ति में जितना विस्तार हो सकता है उससे कहीं अधिक द्रव्य की संभावी पूर्ति में विस्तार करना शामिल है। प्रायः केन्द्रीय बैंकों का नियंत्रण ऐसे व्यक्तियों के पास नहीं होता है जिनके बारे में यह संभावना हो कि जितना निर्णायक कदम उठाने की आवश्यकता हो उतना उठाने के लिए वे तैयार हो जाएँ। जैसा कि हुआ है और अब भी बहुत से देशों में है, ज्यादातर संभावना यह है कि वे संस्फीति के लिए अधिक से अधिक आधे मन से प्रयत्न करें और जब थोड़े प्रयत्नों से कोई दिखती हुई सफलता न मिले तो उनका त्याग कर दें।

अब तक मैं यह मानकर चला हूँ कि केन्द्रीय बैंक शेष व्यापारिक और बैंकिंग जगत के निराशावाद का भागीदार होने के बजाय उसे समाप्त करने की कार्यवाही आरंभ करता है। लेकिन बहुत संभव है ऐसा न हो। अब हमें यह देखना होगा कि यदि प्रचलित भय से केन्द्रीय बैंक के संचालक भी प्रभावित हैं तो क्या होगा? तब, वे द्रव्य की मात्रा बढ़ाने का प्रयत्न करने के बजाएँ, उसकी पूर्ति कम करने की कार्यवाही शुरू करेंगे ताकि मूल्यों का स्तर इतना कम हो जाए जिस पर कि वे समझते हैं कि विदेशी मांग का विस्तार होने लगेगा। हमारे द्वारा दिए गए उदाहरण में, द्रव्य को दुर्लभ करके, लंकाशायर की वस्तुओं की कीमतों में वे इतनी कमी लाना चाहेंगे कि निर्वन भारतीय उन्हें फिर से खरीदने में समर्थ हो जाएँ। किसी हद तक यह नीति भारत को किये जाने वाले विन्यास का फिर से विस्तार करने में सफल हो सकती है—जब तक कि भारतीय इतने ही गरीब नहीं हैं कि लंकाशायर की वस्तुएँ कम से कम जिन कीमतों तक ले जाई जा सकती हैं उन पर भी वे उन्हें न खरीद सकें। लेकिन अगर इसमें सफलता मिल भी जाती है, तो इसमें होने वाली हानियाँ बहुत हैं। लंकाशायर की वस्तुओं के मूल्य जिन लागतों से मिल कर बने हैं वे सब लागतें समान रूप से कम नहीं की जा सकतीं। कुछ लागतें दीर्घकाल के लिए निश्चित होंगी। सामग्री बेचने वालों में से मूल्यों में कमी करने से इन्कार करने के लिए कुछ की स्थिति दूसरों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी होगी : मजदूर मजदूरी में कटौती का जब वे कर सकते हैं, प्रतिरोध करेंगे, और संचालक तथा प्रबंधक अपनी फीस और अपने वेतनों में कटौती करने के निये अनिच्छुक होंगे। जो भी कटौतियाँ की जा सकेंगी वे उस द्रव्य-आय की कमी में परावृत्त

होंगी जो घरेलू बाजार में वस्तुओं और सेवाओं के चुकारे का साधन है। खर्च करने की क्षमता में आने वाली यह कमी दूसरे उद्योगों के व्यवसायियों के सामने यह विकल्प प्रस्तुत करेगी कि वे अपने मूल्य कम करें, या अपना उत्पादन, या दोनों; और, कुल मिला कर, वे दोनों में, मूल्यों में (विभिन्न वस्तुओं के लिए असमान रूप से) और उत्पादन में (असमान रूप से ही), कमी करेंगे। अंतिम परिणाम यह हो सकता है कि घरेलू बाजार की विक्री में होने वाली कमी भारत को होने वाली विक्री की वृद्धि से कहीं अधिक हो। आचुकी या आने वाली मंदी का सामना करने के लिए द्रव्य की पूर्ति में कमी करने की अपस्थितिकारी नीति रोजगार और उत्पादन की सामान्य स्थिति को सुधारने के बजाए साधारणतया उसे बहुत हद तक बिगाड़ देगी।

फिर भी, केन्द्रीय बैंक के संचालक, ऐसी नीति का पालन करते हुए, आवे से ज्यादा हद तक यह विश्वास कर सकते हैं कि वे कुछ नहीं कर रहे हैं वल्कि मांग की बदलती हुई स्थिति के अनुसार द्रव्य की पूर्ति में परिवर्तन मात्र कर रहे हैं। जितना अधिक मंदी का प्रसार होता है उतने ही कम द्रव्य की मांग उन्हें मालूम होती है : पूर्ति को कम करने का उठाया गया उनका हर कदम मांग को कम करता है, और कमी करने का ओचित्य बताने वाला मालूम पड़ता है। केन्द्रीय बैंक के कार्य के निश्चेष्ट (पेसिव) सिद्धान्त का व्यवहार में बैंक को मंदी और बेरोजगारी की तमाम शक्तियों में सबसे अधिक प्रभावशाली शक्ति बनाने का परिणाम आता है। यह विल्कुल संभव है कि बाजार की गिरावट के प्रारंभिक कारण का केन्द्रीय या व्यापारिक कैसी भी बैंकिंग से कोई संबंध न हो। पर यह निश्चित है कि ऐसी स्थिति में भी व्यापारिक बैंक का निराशावाद और केन्द्रीय बैंक का अपस्फीतिवाद (डिफ्लेशनिज्म) दोनों ऐसे प्रभावशाली गौण कारण हो सकते हैं जो, जिस विकट स्थिति को वे उत्पन्न करते हैं उसके, प्रारंभिक कारण को सर्वथा अविमूर्त कर लें।

लेकिन मैंने दोनों ही बातें स्वीकार करली हैं कि व्यापारिक बैंकों का उचित सतर्कता बरतना अनिवार्य है और घटना चक्र को प्रभावित करने की केन्द्रीय बैंक की क्षमता, जब तक कि वह एक बहुत विस्तृत पैमाने पर कार्य करने को तैयार न हो जाए, कम है। मुझे फिर से इस बात पर आगे के एक परिच्छेद में आना होगा जिसमें मंदी का सामना करने के लिए केन्द्रीय बैंकों को जो नीतियां अपनाना चाहिये उनकी और उनकी कार्यवाही को कारगर बनाने के लिए जो गैर-द्रव्य वाले उपाय आवश्यक हैं उनकी मैं पूर्णतया चर्चा करूंगा। यह प्रश्न तब उठेगा जब हम पूर्ण रोजगार और उसे कायम रखने के लिए आवश्यक द्रव्य संबंधी उपायों के महत्वपूर्ण प्रश्न का विचार करने लगेंगे। इस परिच्छेद में मैं एक भिन्न,

यद्यपि बहुत कुछ संबंधित, विषय का विचार कर रहा हूँ—उस आधार का जिससे कोई भी समाज उसे जितने द्रव्य की आवश्यकता है उसका निर्णय कर सके ।

यह हम देख चुके हैं कि उसे (समाज को) उतना द्रव्य चाहिये जो उस हर वस्तु को खरीदने के लिए पर्याप्त हो जिसे द्रव्य के बदले में खरीदना और बेचना आवश्यक है । इसमें क्या शामिल है ? एक तो, वस्तुओं और सेवाओं का समस्त चालू उत्पादन, सिवाए उन वस्तुओं के जो जानबूझ कर स्टॉक के लिये बनायी गयी हैं, और ऐसी वस्तुओं के जो बिना बेचे ही उत्पन्न और उपयोग की जाती हैं—ग्रंथे जो मेरी अपनी मुर्गियां देती हैं और ऐसी ही दूसरी वस्तुएं—और ऐसी सेवाएं जो बिना द्रव्य लिए की जाती हैं—उदाहरण के तौर पर, गृहणी के रूप में मेरी पत्नी की सेवाएं और फेमियन समाज के अध्यक्ष के रूप में मेरी सेवाएं । इसके अलावा इन चालू वस्तुओं में से बहुत सारी अनेक बार खरीदी और बेची जाती हैं । तैयार माल थोक व्यापारियों और फुटकर व्यापारियों के पास होता हुआ उपभोक्ताओं तक पहुँचेगा; और अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन कई प्रक्रियाओं में से गुजरता है, जो प्रायः अलग अलग फर्मों में होती है । द्रव्य के लेन-देन में इन तमाम बीच के सौदों का ही नहीं अंतिम अवस्था की वस्तुओं के क्रय-विक्रय का भी समावेश होना चाहिये । वास्तव में, अंतिम खरीददारों के द्वारा तैयार वस्तुओं को खरीदने में द्रव्य का जितना लेन-देन होता है उससे कहीं अधिक मध्यस्थों के बीच में होता है ।

वेशक, अगर हम वर्ष जैसा कोई निश्चित हिसाबी समय लें, तो साल भर का समस्त उत्पादन उसी साल में खरीदा और बेचा नहीं जायेगा । जब वर्ष का प्रारंभ होता है तो वस्तुओं का स्टॉक विभिन्न अवस्थाओं में होगा, और जब वर्ष का अंत होता है तो अगले वर्ष में ले जाए जाने के लिए स्टॉक होगा । इन स्टॉकों की मात्रा समय समय पर बदलती रहती है; और इसलिए कन्हीं वर्षों में उत्पादन से अधिक और कन्हीं में कम बेचा जायगा । स्टॉक की मात्रा की इस बेगी और कमी के—युद्धकाल में उनमें बहुत कमी आ गयी थी—महत्वपूर्ण आर्थिक परिणाम होते हैं; पर इस समय उनका विचार करने के लिए हमें नहीं रुकना चाहिये । हम उनका विचार बाद में करेंगे ।

दूसरे, हमेशा ही ऐसी वस्तुओं में भी लेन-देन होता रहता है जिनका नया उत्पादन नहीं हुआ है । लोग भूमि, मकान और दूसरी इमारतें, मशीनरी, पुराना फर्नीचर, मोटर-गाड़ियां, तस्वीरें जेवर, और बहुत सी दूसरी चीजें, और पुराने स्कंध और हिस्से जो कभी विभिन्न प्रकार की संपत्ति पर स्वामित्व-अधिकार का प्रतिनिधित्व करते हैं और कभी केवल ऋण की अभी स्वीकृति मात्र हैं—जैसे

कौन्सोल्स या युद्ध ऋण या राष्ट्रीय ऋण में अन्य कोई तत्व, तथा हिस्सा मूल्यों का वह अंश जो भौतिक संपत्तिके किसी प्रकार का नहीं पर व्यापार की ख्याति का प्रतिनिधित्व करते हैं—खरीदते और बेचते हैं। ऐसा टिकाऊ और पुरानी वस्तुओं के—जिनमें हर प्रकार के स्कंध, हिस्से और वैध-पत्र (वोन्ड्ज) शामिल हैं—द्रव्य द्वारा होने वाले लेन-देन के लिए उनके वास्ते आवश्यक द्रव्य की पूर्ति करना होती है। किन्तु जहां नए उत्पादन का अधिकांश लगभग फौरन ही बेचने के लिये तैयार किया जाता है, वहाँ किसी भी हिसाबी समय में टिकाऊ और पुरानी वस्तुओं के कुल स्टॉक का केवल एक अंश ही—और बहुत ही बदलता हुआ अंश—खरीदा और बेचा जायगा।

इस स्टॉक में, जहां तक बार बार खरीदे और बेचे जाने का संबंध है, सबसे अधिक परिवर्तनशील तत्व स्कंध और हिस्से और भूमि हैं—दो वस्तुएं जिसके इर्द-गिर्द बहुत कुछ सट्टे की हल चल केन्द्रित रहती है। वास्तव में स्कंधों और हिस्सों में, बिना सचमुच की खरीद और बिक्री के सट्टा कराने की विचित्र क्षमता है। पेशेवर खरीद-फरोख्त करने वालों के लिये, और दूसरे बाहर वालों के लिये भी, स्कंध बाजार की प्रतिभूतियों को खरीदने का, उनको कभी भी अपने कब्जे में करने का कोई भी इरादा हुए बिना ? संविदा करना, और प्रतिभूतियों को, जिन पर न उनका स्वामित्व है और न स्वामित्व होने की अपेक्षा है, बेचने का संविदा करना एक साधारण बात है। मूल्यांतर पर आधारित इस प्रकार का क्रय-विक्रय, इस आशा में कि अमुख प्रतिभूति का बाजार मूल्य बढ़ेगा या घटेगा, केवल जुए जैसा है। अगर वह बढ़ जाता है, तो सट्टा करने वाला खरीददार प्रतिभूति को कभी भी खरीदे बिना अपना लाभ प्राप्त कर सकता है; अगर वह घटता है तो सट्टा करने वाला विक्रेता इसी प्रकार अपना लाभ प्राप्त कर सकता है। अमरीकी वित्तीय हल्कों में राष्ट्रपति रूजवेल्ट की अलोकप्रियता के कारणों में से एक यह था कि उन्होंने इस प्रकार के जुए पर, उसके अधिक चरमरूपों में वास्तव में उसको गैर कानूनी घोषित करते हुए, प्रतिबंध लगाए थे। जहां यह होता है जाहिर है कि प्रतिभूतियों की वह मात्रा जिसका क्रय-विक्रय होता है, उस संख्या की तो बात ही क्या जो बिक्री के लिए आती है, वास्तव में जो संख्या होती है उस तक भी सीमित नहीं रहती। लेकिन द्रव्य काम में आता है चाहे बिक्री वास्तविक हो या कृत्रिम; यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि काम में आने वाली रकम कम होती है अगर क्रय-विक्रय मूल्यांतर के आधार पर होता है जिससे कि वास्तविक और संवेदित मूल्य का केवल अन्तर ही चुकाया जाता है।

स्कंध वालों के सौदों और भूमि के सट्टे के लिए उसी प्रकार द्रव्य चाहिए जैसे और किसी क्रय-विक्रय के लिए। लेकिन सट्टे के कारण होने वाली क्रिया-

शीलता में वृद्धि और साधारण वस्तुओं और सेवाओं के बाजार की तेजी के कारण होने वाली वृद्धि के प्रभावों में अंतर है। सट्टे के सौदों का, सिवाए, कुछ ऐसे सौदों के जो कम प्रतिष्ठित माने जाते हैं, निपटारा, बिना सिक्कों और नोटों को काम में लिये, प्रायः बैंक से किया जाता है : जिससे स्कंध या उपज बाजारों की या भूमि संबंधी सौदों की तेजी अपने आप से नकद की पूर्ति में वृद्धि नहीं चाहती। वह तेजी जिसका वसूल होना बाकी है उस साख की और इसलिये बैंक जमा की मात्रा की वृद्धि करती है; पर वह नकद द्रव्य की पूर्ति में समानान्तर विस्तार नहीं चाहती। इसके मुकाबले में, उत्पादन में तेजी का मतलब यह है कि मजदूरी के रूप में, जो कि नकद की मुख्य मांग उत्पन्न करती है, अधिक चुकाया जाएगा। इसलिये बिना नकद की मांग अनुभव किये, जो कि केन्द्रीय बैंक में उनके शेष को कम और इस प्रकार जिस आधार पर साख की इमारत खड़ी की जाती है उसको संकुचित कर देगी, बैंकों के लिए यह अधिक आसान है कि उत्पादन और रोजगार की वास्तविक वृद्धि की अपेक्षा सट्टे से उत्पन्न तेजी की वित्तीय व्यवस्था कर दी जाए। इस बात का ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा संयुक्त राज्य में कहीं अधिक महत्व है, क्योंकि अमेरिका में सट्टे बाजी बहुत बड़ी हद तक पहुँच जाती है और इसलिये भी कि वहाँ के बैंक स्कंध बाजार के लिये दिये जाने वाले ऋणों में बहुत ज्यादा सीधा हिस्सा लेते हैं।

तो, उन बातों का लिहाज रखते हुए जिनके विषय में अभी लिखा जा चुका है, द्रव्य को उपलब्ध पूर्ति वस्तुओं और सेवाओं के चालू उत्पादन को (रिजर्व में रखे गए स्टाक के परिवर्तनों को जोड़ कर या कम करके, और बिना बेचे जिनका उपभोग होता है ऐसी वस्तुओं और सेवाओं को कम करके) विक्री के लिए पर्याप्त होनी चाहिए; और पहले से ही मौजूद उन टिकाऊ और पुरानी चीजों की विक्री के लिए भी, जो कि हिस्सावी काल के दौरान में द्रव्य के बदले में एक से दूसरे व्यक्ति को ली-दी जाती हैं, इसमें गुंजाइश होनी चाहिए। जब एक हद तक, उत्पादन और वितरण की प्रणाली जितनी अधिक विकसित होती जाती है, औसतन उतनी अधिक बार वस्तुएं कच्चे माल के उत्पादकों से अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचने के दौरान में द्रव्य के एवज में एक से दूसरे हाथ में हो कर गुजरती हैं। जब श्रम विभाजन के कारण कोई उत्पादन प्रक्रिया कई अवस्थाओं में, हर अवस्था के लिए एक अलग फर्म होते हुए, बंट जाती है तो एक से दूसरे हाथ में ने निकलने वाली द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती है, उस हालत में भी जब कि वस्तुओं के अंतिम मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती—अधिक संभावना यही है कि कमी होती है। इसके मुकाबले में, जब विकास अमुक अवस्था में पहुँच चुकता है, एक ही फर्म या समुच्चय (कंवाइन) में पूर्वानुपर (सक्सेसिव) प्रक्रियाओं के केन्द्रित होने की प्रतिकूल-प्रवृत्ति आरम्भ हो सकती है, और इससे उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया के दौरान में

द्रव्य के बदले में वस्तुओं का जितनी बार विनिमय होता है उनकी संख्या में कमी आ सकती है। पर, अगर समुच्चय (कंवाइन) में शामिल फर्म या मिश्र फर्म में शामिल कारखाने आपस में केवल अपने वही खातों में किए गये दाखिलों के जरिये क्रय-विक्रय करने की बजाए द्रव्य के द्वारा क्रय-विक्रय करने तक की स्वतन्त्रता रखते हैं, तो ऐसा असर न भी हो।

उन्हीं वस्तुओं को विभिन्न अवस्थाओं पर यह बार बार वेचना, जैसे जैसे वे उत्पादन और वितरण की सीढ़ी पर आगे बढ़ती हैं, बैंक साख की माँग बढ़ाता है, लेकिन स्कंव बाजार के सट्टे की भांति इसका भी नकद की माँग पर कोई तदनु रूप असर नहीं होता। उत्पादन और वितरण के विभिन्न कामों में संबंधित फर्मों के लिए जो मजदूर काम करते हैं उनको इसलिए सामान्यतया मजदूरी न ज्यादा मिलेगी और न कम कि वे किसी एकीकृत फर्म में काम करने के बजाय कई फर्मों की एक शृंखला में काम करते हैं। देशक, जहाँ श्रम विभाजन से किफायत की बजाए अपव्यय—उदाहरण के तौर पर, जैसा कि प्रायः वितरण में होता है, अनावश्यक हस्तांतरण से—होता है वहाँ काम करने वालों की संख्या और दी जाने वाली मजदूरी दोनों प्रभावित हो सकते हैं। पर यह एक भिन्न बात है। सामान्यतया, व्यापारिक संस्थान के ढांचे का, चाहे उसमें क्रमदार फर्म हों और चाहे वे उदग्र रूप में (वर्टीकली) एकीकृत हों, साख की माँग पर काफी प्रभाव पड़ता है जब कि नकद की माँग पर नहीं पड़ता है।

तो, द्रव्य की माँग जिन विक्री मूल्यों के जोड़ के रूप में प्रकट की जा सकती है वे हैं : (अ) उन वस्तुओं और सेवाओं के चालू उत्पादन का अंतिम विक्री मूल्य जो विचाराधीन काल में वास्तव में बेची जाती हैं; (ब) उन संयोगांगों (इनग्रेडियेन्स) के जिनसे अंतिम वस्तु बनी है उत्तरोत्तर विक्री मूल्यों का जोड़, जिसमें वितरण को अन्तर्गती अवस्थाओं के विक्री मूल्य भी शामिल हैं, उसी हद तक जिस हद तक कि विचाराधीन काल में इस प्रकार की विक्रियां वास्तव में होती हैं; और (स) हिसाबी काल में जिन पूर्व-स्थित टिकाऊ और पुरानी वस्तुओं का वास्तव में विनिमय होता है उनके विक्री मूल्य। और परिष्करण करना संभव होगा; पर फिलहाल अधिक परिष्कार से विषय उल्टा उलझ जायेगा।

द्रव्य की माँग यह है; पर इसका यह अर्थ नहीं है कि द्रव्य की मात्रा इस माँग के बराबर होनी चाहिये। क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, द्रव्य एकबार विनिमय के काम में आने से ही नष्ट नहीं हो जाता। वह, या हर हालत में उनमें से कुछ तो, एक सौदे से दूसरे सौदे तक परिचलन करता रहता है। कार्यदाता मजदूर को उसकी मजदूरी चुकाता है, मजदूर उसे दुकानदार को, या किराया-बमूल

करने वाले को या बीमा के एजेंट को दे देता है। प्राप्तकर्ता उसे बैंक में दे देता है और बैंक उसी द्रव्य को अगले सप्ताह में या उसके बाद के सप्ताह में फिर मजदूरी चुकाने के लिए जारी कर देता है—और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि द्रव्य विल्कुल घिस नहीं जाता, और तब अगर नई पूंति चाहिए तो उसके स्थान पर नया द्रव्य जारी किया जा सकता है।

फिलहाल हम द्रव्य के एक खास प्रकार नकद—के परिचलन के विषय में ही विचार करेंगे। जाहिर है, जितना अधिक तेजी से इसका परिचलन होता है और दुबारा जारी होने के लिए यह जितनी जल्दी बैंक के पास वापिस लौट जाता है, चुकारों की किसी दी हुई मात्रा की वित्त—व्यवस्था के लिए उतनी ही कम आवश्यकता इसकी होगी। अगर तमाम द्रव्य एक सप्ताह में बैंक के पास लौट आता है, तो बैंक को कुल स्टॉक बहुत कम रखना पड़ेगा वनिस्वत उस स्थिति के जब कि इस सारी प्रक्रिया में एक पखवाड़ा या एक महीना लग जाए; और जिस हद तक साधारण लोग अपने पारस्परिक सौदों का निपटारा करने के लिए आपस में एक दूसरे को द्रव्य का, उसे वापिस बैंकों को दिये बिना, हस्तांतरण करते हैं उसी हद तक नकद अधिक काम करेगा वनिस्वत तब के कि अगर हर व्यक्ति जिसके पास द्रव्य है वह उसे अधिक लंबे समय तक अपने पास बिना काम में लिये पड़ा रखता है। औसतन जिस गति से द्रव्य का हस्तांतरण होता है उसे परिचलन की गतिशीलता कहते हैं, और ऐसा प्रायः कहा जाता है कि अमुक समय में होने वाले सौदों की एक दी हुई मात्रा के लिये वित्त व्यवस्था करने के वास्ते जितनी द्रव्य की मात्रा चाहिये वह जितने द्रव्य के बराबर वे सौदे हैं उसमें परिचलन की गतिशीलता का—यानी जिस समय का विचार कर रहे हैं उसमें द्रव्य की एक इकाई औसतन जितने सौदे निपटाती है उसका—भाग देने से मालूम होती है।

जहां तक हम केवल नकद द्रव्य का विचार करते हैं काफी सरल मालूम पड़ता है। लेकिन बैंक जमा की परिचलन की गतिशीलता के विचार का हम क्या अर्थ लगाएं? अंक शास्त्री, वेशक, इस तरह की गतिशीलता की गणना करते हैं। यह गणना वे इस प्रकार करते हैं: मुख्य बैंकों के बीच में चुकाए गए तमाम बैंकों का द्रव्य में कुल मूल्य से इन्हीं बैंकों के प्रकाशित विवरण में जो बैंक जमा का जोड़ दिया हुआ होता है उसकी तुलना की जाती है। सच्ची बात यह है कि, किसी भी अर्थ में, परिचलन की वास्तविक गतिशीलता इस प्रकार नहीं नापी जा सकती, क्योंकि हमारे पास केवल उन बैंकों का लेखा होता है जिनके कारण एक बैंक ने दूसरे बैंक की विकलन (डेबिट) होता है (जिनका एक बैंक से दूसरे बैंक को चुकारा होता है)। अगर मेरा बैंक खाता वार्कलेज में है और मैं किसी ऐसे व्यक्ति को बैंक देता हूँ जिसका बैंक खाता भी वार्कलेज में है, तो यह बैंक बैंकों के शमाशोधन-गृह

में, जिनके द्वारा बैंक अपना आपसी ऋण निपटाते हैं, नहीं जाएगा। वस इतना ही होगा कि बार्कलेज के वहीखातों में अमुक रकम मेरे खाते में से किसी दूसरे के खाते में जमा कर दी जायेगी। इस तरह के सौदे का कोई प्रकाशित लेखा नहीं होगा।

पर अंकशास्त्री जो कुछ नापने का प्रयत्न करते हैं वह बैंक जमा के परिचलन की निरपेक्ष गतिशीलता नहीं है बल्कि इस गतिशीलता में होने वाले परिवर्तन हैं। यदि शमाशोधन-गृह में से जाने वाले बैंकों का कुल बैंकों की तुलना में मोटे रूप में एक स्थिर अनुपात है, तो बैंक जमा और इस प्रकार चुकाए जाने वाले बैंकों के अनुपात में होने वाला परिवर्तन बैंक में जिन लोगों का हिसाब है वे उनके खिलाफ बैंक जिस गति से काटते हैं उसमें होने वाले परिवर्तन की ठीक ठीक सी जानकारी देंगे। अधिकांश व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये यह आवश्यक है कि कुल (टोटल्स) के टुकड़े किए जाएं—उदाहरण के लिए व्यापार और उद्योग संबंधी सौदों और स्कंध बाजार के सट्टे से उत्पन्न सौदों की स्थिति को अलग अलग जानने के लिए जो कुछ करना संभव हो उसके करने का महत्व है। बहुत मोटे रूप में यह इस प्रकार किया जाता है कि जो बैंक केन्द्रीय लंदन के बैंकों के बीच में चुकाए जाते हैं उनको वित्तीय परिचलन से संबंधित माना जाता है और जो बैंक बाकी के देश से, जिसमें बाकी का लंदन भी शामिल है, संबंधित हैं उन्हें औद्योगिक परिचलन से संबंधित माना जाता है। आंकड़ों से किसी कदर यह जानकारी करना संभव है कि कुल चुकारों में वृद्धि या कमी किस हद तक नगर (सिटी) या उद्योग और व्यापार जगत के चढ़ाव या उतार के कारण है।

इस प्रकार के संकेत स्पष्टतया उपयोगी हैं, पर क्या बैंक जमा के परिचलन की गतिशीलता के विचार में कोई तात्त्विक सत्यता है? नकद और नोट जब एक बार परिचलन में आजाते हैं तो जब तक वे सर्वथा घिस न जाएं या वापिस न ले लिए जाएं परिचलन में बने रहते हैं। हर बैंक जमा केवल किताना में किए गए

१ यह सरल है; पर नकद के परिचलन पर भी विचार करने का सबसे उपयुक्त तरीका यह नहीं है। यह सोचना कहीं अधिक जानकारी देने वाला और सच्चाई के ज्यादा नजदीक है कि बैंकों को सर्वाधिक बोझ उठाने के लिए—यानी, मानलो, सप्ताह भर में किसी भी समय जो सर्वाधिक मांग हो सकती है उसे पूरा करने के लिए—पर्याप्त नकद की पूर्ति रखना आवश्यक होता है। यह और गतिशीलता का नाप एक ही बात नहीं है, क्योंकि सर्वाधिक बोझ के समय के अलावा और सब समय में नकद का जिस गतिशीलता के साथ परिचलन होता है वह उस मात्रा के लिए जो कि बैंकों को तैयार रखना होती है प्रायः अर्थहीन है।

दाखिले हैं जिनका करीब करीब बैंक अपनी इच्छानुसार निर्माण कर सकते हैं या जिन्हें वे मिटा सकते हैं। यदि कोई व्यापारिक बैंक मसर्स ए को 500 पाँड उधार देता है और मसर्स ए के द्वारा यह उधार चुका देने के बाद, वह मसर्स बी को 500 पाँड उधार देता है, तो क्या यह कहना किसी भी अर्थ में वास्तविक है कि 500 पाँड की इन दोनों रकमों में एक ही द्रव्य है जो लगातार दो बार परिचलन में जाता है? अगर यह सच होता कि बैंक वाले वास्तव में द्रव्य का निर्माण नहीं करते हैं, बल्कि, जैसा कि कुछ लोग मानते थे, किसी एक व्यक्ति को वे वही रकम उधार देते हैं जो दूसरों ने उनको दी है तब तो बैंक जमा के कुल योग को एक द्रव्य-निधि और उत्तरोत्तर दी गई हवालगियों को उसी द्रव्य के उत्तरोत्तर परिचलन मानने का किसी हद तक वाजिव कारण होता। पर जो कुछ होता है वह यह नहीं है। अगर ऐसा होता तो हवालगी की रकम के बराबर वृद्धि नहीं होती जैसी कि वास्तव में होती है। जमा की मात्रा निश्चित होती और उनको एक के पास से दूसरे को हस्तांतरित करने मात्र का ही सवाल होता। पर, जैसा कि हर एक जानता है, बैंक जमा की कोई निश्चित रकम नहीं होती बल्कि उसमें परिवर्तन होता रहता है। केन्द्रीय बैंक की कार्यवाही पर यह मुख्यतया निर्भर करता है। व्यापारिक बैंकर इस भ्रम में रह सकता है कि वह द्रव्य का निर्माण करने वाला नहीं है, क्योंकि जितने द्रव्य का वह निर्माण कर सकता है उसकी मात्रा का निश्चय उसके लिये केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। पर इससे यह तथ्य नहीं बदल सकता कि बैंक जमा किसी न किसी के द्वारा उत्पन्न और समाप्त किये जाते हैं, और सबसे अधिक स्वाभाविक यही लगता है कि जब व्यापारिक बैंक कर्ज दे तो उनका निर्माण होना और जब वह कर्ज वापिस चुका दिया जाए तो उनका समाप्त होना माना जाए। वास्तव में यही होता है।

इस विचार के अनुसार, बैंक जमा हमेशा परिचलन में रहने वाला कोई स्टाक या निधि नहीं है, बल्कि नई जमा के निर्माण और पुरानी जमा के विनोदन (कैंसेलेशन) की बराबर चलती रहने वाली प्रक्रिया के परिणाम हैं। हम युक्ति-युक्त पूर्वक शमाशोधन गृहों में बैंकों के आवागमन के दर की चर्चा कर सकते हैं, और इस आवागमन (टर्न ओवर) की मात्रा की तुलना हम बैंक जमा के प्रकाशित योगों से कर सकते हैं। लेकिन हम बैंक जमा के परिचलन की गतिशीलता उसी अर्थ में नहीं कह सकते जिस अर्थ में नकद की परिचलन की गतिशीलता कह सकते हैं। नकद का एक हाथ से दूसरे हाथ में परिचलन होता है, बैंक जमा एक दूसरी प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं। नकद के परिचलन और बैंकों द्वारा दिये गए ऋणों के अभाव में जमा कराने वालों के बीच में बैंक जमा के हस्तांतरण में एक निकट का सादृश्य है, लेकिन जैसे ही ऋण का तत्व आया कि एक आवश्यक अंतर उत्पन्न हो जाता है। यदि बैंक केवल ऐसी संस्थाएं होती जिनके द्वारा व्यक्ति

विशेष जिन पर उनका स्वामित्व है एक दूसरे को हस्तांतरित करते हैं, तो हम इन जमाओं के परिचलन की गतिशीलता की बात कर सकते थे। हम किसी ऐसी वस्तु की गतिशीलता के परिचलन की बात नहीं कर सकते जो निरंतर उत्पन्न की जा रही है। कुछ भी हो, हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है कि हम बैंक जमा संबंधी व्यवहारों को दो समूहों में बांट सकें, एक उन रकमों के हस्तांतरण को बतलाने वाला जो उनके स्वामियों के बीच में होता है और दूसरा उन रकमों के हस्तांतरण को बतलाने वाला जो बैंकिंग व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। इन दोनों में भेद नहीं किया जा सकता है। यदि मुझे कोई किसी अधिविकर्ण (ओवर ड्राफ्ट) के आधार पर काटे गए बैंक से चुकारा करता है, और मैं वह बैंक अपने बैंक के हिसाब में जमा करा देता हूँ तो वह उस द्रव्य से अलग नहीं पहचाना जा सकता जो किसी ने अपने शेष में से, बिना बैंक से कोई हवालगी लिए, मुझे दिया है। बैंक जमा को एक ही श्रेणी का हमें मानना पड़ता है, क्योंकि उनको अलग अलग करने का कोई तरीका नहीं है।

पूर्वगामी पैराग्राफों का प्रयोजन यह बताना रहा है कि आधुनिक परिस्थितियों में, द्रव्य की मात्रा और उसके परिचलन की गतिशीलता वास्तव में दो अलग अलग चीजें नहीं हैं, जिससे कि हम एक को दूसरे से गुणा कर सकें और इस प्रकार क्रय विक्रय करने के लिए उपलब्ध द्रव्य की कुल कार्य क्षमता के नाप तक पहुंच सकें। इस विश्वास पर ही कि ऐसा हो सकता है उस सिद्धान्त का जो द्रव्य के परिणाम सिद्धान्त के नाम से विख्यात है परम्परागत निर्माण आधारित था। इस सिद्धान्त के अनुसार, जिसे अर्द्ध-बीज गणित के ढंग से व्यक्त करने का तरीका पड़ा हुआ है, मूल्यों का स्तर उस अनुपात पर निर्भर करेगा जो एक तरफ, उन सौदों की मात्रा है, जिसके लिए अर्थ प्रबंध करना है, और दूसरी तरफ, द्रव्य की मात्रा को उसके परिचलन की गतिशीलता से गुणा करने पर जो गुणनफल आये उसके बीच में होगा। एम० बी० = सी० पी०, यानी द्रव्य की मात्रा (एम) ? उसके परिचलन की गतिशीलता (बी०) = सौदों की मात्रा (सी) को मूल्यों के औसत स्तर (पी) से गुणा किया जाने पर। द्रव्य के परिणाम सिद्धान्त में अन्तर्निहित सत्य है, इस बात से, मैं समझता हूँ, कोई इन्कार नहीं करता; पर फार्मुला (सूत्र) की प्रकट सुतथ्यता (प्रिसिपल) से यह बात छिप जाती है कि वह ऐसे कई तत्वों से बना है जो नापे नहीं जा सकते। एम० और बी० दो अलग अलग वस्तुएं नहीं हैं, बल्कि एक ही विषय वस्तु है। इसके अलावा, सौदों की मात्रा जिन मूल्यों पर वे होते हैं उनसे अलग और हो ही क्या सकती है। एक टन कोयला की और एक एकड़ भू-संपत्ति की विक्री की मात्राओं की तुलना करने या उनको जोड़ने का उनके मूल्यों के माध्यम के अलावा और कोई तरीका नहीं है। एम० बी० की तरह सी० पी० दो अलग-अलग वस्तुओं से नहीं बना है, बल्कि एक ही विषय वस्तु है।

फिर भी यह तो स्पष्टतया सत्य है कि जितना द्रव्य एक से दूसरे के हाथ में जाता है, औसत में मूल्यों के उतने ही ऊँचे जाने की संभावना होती है—जब तक कि विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की पूर्ति उतनी तेजी से नहीं बढ़ती जितनी कि एक से दूसरे हाथ में जाने वाले द्रव्य की मात्रा। सहज वृद्धि और अनुभव समान रूप से इसका समर्थन करते हैं; और जिसने मुद्रास्फीति काल देखा है या उसके प्रभावों का अव्ययन किया है उसके इस बात से इन्कार करने की संभावना नहीं है। जो हम नहीं बतला सकते वह यह है कि बैंक जमा से उस योग में जिसका हिसाब रखा गया है अमुक प्रतिशत की वृद्धि औसत मूल्यों के स्तर में भी समानुपातिक वृद्धि करेगा, या अमुक प्रतिशत की कमी समानुपातिक कमी करेगा। अगर हम इस निश्चित तथ्य को छोड़ भी दें कि किसी ने कभी भी तमाम मूल्यों के औसत स्तर को नहीं नापा है, और न कोई कभी नापेगा. तो भी यह बात रह जाती है कि एक से दूसरे हाथ में जाने वाले द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन और विनिमय की गयीं टिकाऊ और पुरानी वस्तुओं की मात्रा में परिवर्तन के साथ साथ उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन और विनिमय की गयी टिकाऊ और पुरानी वस्तुओं की मात्रा में परिवर्तन भी होगा। द्रव्य की बदली हुई मात्रा, अगर मैं कम ठीक वावयांश काम में ले सकूँ, सौदों की उसी मात्रा की—दूसरी कम ठीक भापा—द्वितीय आवश्यकता पूरी नहीं करेगी जिसकी कि वह पहले करती थी।

मैं आशा करता हूँ कि यह बात अब समझी जा सकती है कि कितने द्रव्य की हमको आवश्यकता है। इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है। हम यह कैसे कह सकते हैं कि कितने द्रव्य की हमको आवश्यकता है जब हम निश्चिततापूर्वक यह भी नहीं कह सकते कि पहले से कितना द्रव्य हमारे पास है ? द्रव्य की मात्रा का विचार जैसे ही कोई उसका विश्लेषण करना आरम्भ करता है समाप्त हो जाता है। क्या इसका यह अर्थ है कि हमें एक सर्वथा नकारात्मक और ध्वंसकारी परिणाम पर पहुँचना चाहिए—कि इस विषय पर कोई उपयोगी बात नहीं कही जा सकती है ? ऐसा बिल्कुल नहीं है। कहने के लिए बहुत कुछ है; पर वह इस तरह का नहीं है कि जिसे ऐसे सूत्रों के रूप में घटाया जा सके जो बीजगणित की तरह दिग्विस्तृत पड़े और निश्चिन्तात्मकता के भुटे आवरण में अनिश्चितताओं के छिपाने के उपाए हों।

तब, हम क्या कह सकते हैं ? यही कि पुँडिंग का प्रमाण खाने से ही मिल सकता है। अधिकांश परिस्थितियों में द्रव्य की जो मात्रा या यों कहें कि चुकाने करने के लिए सुविधाओं की जो मात्रा हमें चाहिए वह वह मात्रा है जो उत्पादन के साधनों का लगभग पूरी तौर से उपयोग करने के लिए पर्याप्त होगी, और केवल पर्याप्त ही होगी। यह हम कैसे बतायेंगे कि यह मात्रा कितनी है ? आर्थिक तथ्यों और प्रवृत्तियों को ध्यानपूर्वक देखने से। यदि इस प्रकार के अवलोकन से हमें यह पता

चले कि साधनों को पूरी तौर से काम में नहीं लगाया जा सक रहा है तो यह इस बात को मानने का एक अच्छा दृष्टया कारण (प्राइमा फैसी) है कि चुकारे के साधनों को अधिक प्रचुर बनाने की आवश्यकता है। यदि, युद्धकाल के अलावा, हमें ऐसा मालूम पड़े कि उत्पादन साधनों की अत्यधिक कमी है जिससे कि उनका उपयोग करने के लिए छीनाभूषण की सी स्थिति है, तो चुकारे के साधनों को कम प्रचुर बनाने का यह एक अच्छा प्रथम दृष्टया कारण है। यह बात वेशक, समझी हुई होनी चाहिए कि मैं ग्रेट ब्रिटेन और दूसरे पूंजीवादी देशों की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में जो स्थितियाँ होती हैं उनकी बात कर रहा हूँ, न कि उनकी जो कि एक सर्वथा भिन्न व्यवस्था में हो सकती हैं या जो कि सोवियट यूनियन में हैं; जहाँ कुछ मामलों में द्रव्य एक सर्वथा भिन्न कार्य करता है। १९३६ तक जैसी हमारी व्यवस्था थी, उसमें प्रथम दृष्टया स्थिति लागू होती थी। पर यह अपने आप में अन्तिम प्रमाण नहीं है। यह हो सकता है कि साधनों का न्यून-या-अति उपयोग अर्थ व्यवस्था के किसी अंग विशेष तक ही सीमित हो, और किसी गैर-द्रव्यिक कारण से संबंधित हो—उदाहरण के लिए, ऊन की मांग में दुनियाँ में कमी आ जाने के कारण, या दुनियाँ को सूती कपड़े की पूर्ति करने वाले के तौर पर लंकाशायर के अप्रचलन के कारण। ऐसे मामलों में, इलाज मुख्यतया द्रव्यिक नहीं है, चाहे फिर उसका द्रव्य संबंधित पक्ष निकल आए। किसी कदर इलाज तलाश किया जाना चाहिए उत्पादन साधनों को उत्पादन के गिरते हुए क्षेत्रों से दूसरे क्षेत्रों में ले जाने में, जो ज्यादा विस्तार कर सकने वाली मांगों को पूरी करते हैं। पर, यदि साधनों का न्यून-उपयोग या अति उपयोग आमतौर से है, या कम से कम काफी फैला हुआ है, तो ऐसा मानना काफी ठीक ही है कि इलाज का एक आवश्यक तत्व चुकारे के साधनों की पूर्ति में परिवर्तन करना होगा।

चुकारे करने के हमको इतने ही साधन चाहिए जो पूर्ण रोजगार तक पहुंचने और उसे बनाए रखने मात्र के लिए पर्याप्त हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इन साधनों की व्यवस्था कर देना मात्र ही उत्पादन साधनों के उपयोग का यह स्तर लाने और उसे बनाए रखने के लिए पर्याप्त होगा। ऐसा नहीं होगा। पर जब तक चुकारे के साधन पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं, रोजगार को संतोषजनक स्तर पर रखने में और कोई उपाय काम नहीं करेगा। अगर चुकारे के साधन अपर्याप्त हैं, पूंजीवादी व्यवस्था में बेरोजगारी अनिवार्यतः उत्पन्न होगी।

इस परिणाम के प्रति इस आधार पर आपत्ति की जा सकती है कि अगर कुछ समय के लिये बेरोजगारी उत्पन्न हो भी गयी तब भी दीर्घकाल में आवश्यक सीमा तक मूल्यों में कमी की जायेगी ताकि कम कीमतों पर उपलब्ध साधनों के पूर्ण उपयोग से द्रव्य की जो कम की गयी मांग मेल खाती है उसके हिसाब से चुकारे के

साधनों की पूर्ति फिर कम न रहे। इसकी मैं न तो पुष्टि करता हूँ और न इसे स्वीकार करता हूँ। इसमें मेरी दिलचस्पी नहीं है। जो मैं जानता हूँ वह यह है कि, जैसा लार्डकेन्स ने कहीं लिखा है, दीर्घकाल में हम सब मर जाते हैं, और समायोजन की प्रक्रिया इतनी कष्टदायी होने की और विभिन्न समूहों, वर्गों और व्यक्तियों पर पड़ने वाले असर की दृष्टि से इतनी अन्यायपूर्ण होने की संभावना है कि किसी को भी इस संकट का सामना करने की जब तक इच्छा नहीं करनी चाहिये तब तक कि उससे बचने का कोई उपाय ही न हो। चुकारे के साधनों की पूर्ति को इस उद्देश्य से कम करना कि मूल्य और आय इतने नीचे स्तरों पर आ जाएँ कि उनका कम पूर्ति से मेल बैठ जाए, ऐसे बहुत से लोगों को दिवालिया बनाने से प्रारम्भ होगा जो, बिना किसी कसूर के, खास तौर से आक्राम्य स्थिति में हैं। इससे जिनकी द्रव्य-आय निश्चित है उनकी वास्तविक आय बढ़ेगी और जिनके द्रव्य-पुरस्कार परिवर्तनशील हैं उनकी वास्तविक आय कम होगी। मजदूरों के सामने वह यह दुःखदायी दुविधा उत्पन्न करेगा कि या तो वे बढ़ती हुई बेरोजगारी की कीमत पर मजदूरी में कमी करने का विरोध करें या फिर काम पर लगे रहें पर अपने रहन-सहन के स्तर की कीमत पर मजदूरी की कमी को स्वीकार करें। पूँजीवादी संस्थानों के सामने भी वह इसी प्रकार की दुविधा उत्पन्न करेगा कि या तो वे कीमतों को कायम रखें और उत्पादन में कमी करें या फिर इस आशा में कि घटी हुई कुल द्रव्य-मांग का एक बड़ा हुआ अनुपात उनका माल खरीदने के काम में आएगा मूल्यों को कम करें। दोनों ही दशाओं में यह (चुकारे के साधनों की पूर्ति में कमी करना) कमजोरों की तुलना में जो शक्तिशाली और संगठित हैं उनकी मदद करेगा। यह अन्यायों को ठीक करने की दृष्टि से नहीं बल्कि एक मनमाने और तर्कहीन तरीके से मूल्यों और आयों के संबंध में उथलपुथल ला देगा। शायद, दीर्घकाल में, वह स्थिति आजायेगी जो इस प्रक्रिया के आरम्भ में होने के समय की स्थिति से बुरी नहीं होगी, पर स्थिति किसी भी तरह कुछ अच्छी हो जाएगी वह मेरी समझ में विल्कुल नहीं आ सकता; और संक्रमणकाल की तकलीफों और अन्यायों का मुआवजा क्या होगा।

वेशक, मैं जो कुछ बहुत कम मात्राओं में द्रव्य होने के असर के बारे में कह रहा हूँ वह बहुत अधिक मात्रा में द्रव्य होने के बारे में भी लागू होता है। जब तक वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्ध पूर्तियों से अधिक चुकारे के साधनों की पूर्ति का विस्तार होता है, तो उसका अनिवार्य परिणाम मूल्यों को ऊपर उठाने का होता है। अगर नियंत्रण के द्वारा किन्हीं वस्तुओं की कीमतों को कम रखा जाता है, तो या तो काले बाजार खड़े हो जाते हैं या अर्थव्यवस्था के अनियंत्रित भागों में कीमतें और भी बढ़ जाती हैं। वास्तविक आयों का ढ़ाँचा ही बिगड़ जाता है। जो निश्चित आय पर जीवन निर्वाह करते हैं उनके साथ ज्यादाती होती

हैं: कई विन्दुओं पर अत्याधिक लाभ होने लगते हैं। ऋणदाताओं की कीमत पर ऋण लेने वाले लाभ उठाते हैं; और क्रय शक्ति की अधिकता को आयात वस्तुओं की बढ़ी हुई खरीदारी में लगने से रोक कर चुकारे संतुलन की रक्षा करनी होती है। मुद्रा स्फीति के इन परिणामों का उदाहरण प्रथम महायुद्ध के पश्चात् युरोप में होने वाली घटनाओं में पूरी तौर से देखने को मिलता है, जब कि बहुत से देशों को दौड़ती हुई मुद्रा स्फीति के अनुभव में से हो कर गुजरना पड़ा, और कुछ देशों में वर्तमान चलाय ने प्रायः अपना मूल्य ही खो दिया। पर, इन सीमावर्ती उदाहरणों को छोड़ दें तब भी, वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्ध पूर्तियों से अधिक चुकारे के साधनों की स्फीति के बहुत बुरे परिणाम हो सकते हैं। 1945 से कई देश, कम या ज्यादा हद तक, जिन्हें नियंत्रित मुद्रा स्फीति कहें उन परिस्थितियों में रहते आ रहे हैं। पूँजी वस्तुओं और कई प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं दोनों के लिए बहुत सी अतृप्त मांग होने से, इन वस्तुओं की जितनी पूर्ति करना संभव हुआ उससे अधिक खरीदने की तैयारी रही है, और इसका परिणाम मूल्यों और मुनाफों के बढ़ने की प्रवृत्ति में आया है और, फलतः अधिक ऊँची मजदूरी की मांगों में आया है जो, पूरी होने पर, फिर मूल्यों पर असर डालती हैं। इन स्फीतिकारी शक्तियों को नियंत्रित करने के प्रयत्न ने वचत का वजट का—अर्थात् सरकार के चालू खर्च के लिये जितना आवश्यक है उससे अधिक कर लगा कर अधिक क्रय शक्ति के एक अंश को परिचालन से वापिस लेने का—या किसी कदर कर की आय से चालू खर्च निकालने के अलावा सरकार के पूँजी खर्च के एक बड़े हिस्से की पूर्ति करने का रूप लिया है। इस प्रकार वचत का वजट बनाना मंदी के जमाने में अशासकीय नागरिकों के हाथों में अधिक क्रय शक्ति छोड़ने और इस प्रकार मांग बढ़ाने के लिये घाटे का वजट बनाने की नीति से सर्वथा उल्टा है।

बाद में हमें वजट से संबंधित इन प्रणालियों की चर्चा करनी होगी जिनका कि मौद्रिक नियंत्रण द्वारा रोजगार की परिस्थितियों का नियमन करने वाली सरकारी नीतियों में काफी बढ़ा हुआ हिस्सा हो गया है। पर इस समय मेरा मतलब इसी बात से है कि मूल्य-स्थिरता और क्रय शक्ति की या तो अधिकता या कमी के कारण होने वाले उतार चढ़ाव से वचने के महत्व पर मैं जोर दूँ। जब मूल्यों की एक व्यवस्था विशेष चालू हो तो चुकारे के साधनों की पूर्ति का इस स्तर के साथ मेल बैठाना ही सबसे अच्छा है, वजाय इसके कि चुकारे के साधनों की पूर्ति के परिवर्तन को इस स्तर में परिवर्तन लाने के साधन के तौर पर काम में लिया जाए। इसको इस बात से नहीं मिलना चाहिये कि मूल्यों में सामान्यतया या किन्हीं विशेष मूल्यों में कृत्रिम रूप से स्थिरता लाई जानी चाहिये। यह बिल्कुल ही दूसरा प्रश्न है, जिस पर मैं बाद में विचार करूँगा। जैसे जैसे उत्पादन की

प्रावैधिक परिस्थितियां बदलती हैं, किन्हीं वस्तुओं के मूल्यों में स्वभावतः परिवर्तन आएगा और दूसरे मूल्यों से उनका संबंध भी बदलेगा, और इस दृष्टि से, मैं यह मानने का कोई कारण नहीं देखता कि मूल्यों के सामान्य स्तर में, जो इन विशेष मूल्यों का किसी प्रकार का औसत है, स्थिरता लाने में कोई खूबी है। पर इस प्रश्न से संबंधित तर्क मैं आगे के लिए छोड़ना चाहता हूं; और यहां मैं इसका उल्लेख केवल इस अन्तर पर जोर देने के लिये करता हूं जो कि जैसे प्रावैधिक परिस्थितियां बदलें वैसे मूल्यों में परिवर्तन होने देने में मौद्रिक कारस्तानी के द्वारा उनमें जानबूझ कर परिवर्तन करने में है। मैं जो तर्क दे रहा हूं वह यह है कि, मोटे रूप में, मुद्रा प्रबंध मौजूदा मूल्य ढांचे को मानने पर आधारित होना चाहिये न कि एक नये ढांचे के निर्माण पर। यह सिद्धान्त सब परिस्थितियों में लागू न हो—उदाहरण के लिये जहां अत्यधिक मुद्रा स्फीति की प्रक्रिया से मूल्यों में उथलपुथल हो गयी है वहां यह पूरी तौर से ठीक न बैठे। किन्तु जहां मौजूदा मूल्य ढांचा दीर्घकालीन संविदाओं, आयों, और तमाम प्रकार के पूति और मांग के संबंधों के एक विषम ढांचे का आधार बन गया है, वहां उसे मौद्रिक तरीकों से बदलने का प्रयत्न करना अगर ऐसा करने के बजाये दूसरा कोई विकल्प है, साधारणतया अत्यन्त नासमझदारी है। सामान्यतया, ठीक बात यही है कि न्यूनतम विक्षोभ के साथ पूर्ण रोजगार की स्थिति तक पहुंचने और उसे कायम रखने के लिए चुकारे के साधनों की पूति का ही वर्तमान मूल्य ढांचे और वर्तमान उत्पादन सेवाओं के साथ मेल बैठना चाहिये। लेकिन, मैं फिर यह दुहराना चाहूंगा कि इसका यह अर्थ नहीं है कि मूल्यों में कृत्रिम रूप से स्थिरता लाई जाए : इसका अर्थ है कि उनमें कृत्रिम रूप से उथल पुथल न की जाए।

अध्याय ३

साख परिस्थितियां और स्वर्णमान

पिछले परिच्छेद में पहुंचे हुए निष्कर्ष अनुभवाश्रित थे। अधिकोपण (बैंकिंग) कला है, विज्ञान नहीं; चुकारे के साधनों के प्रश्न को नियंत्रित करने वाली परिस्थितियों का निर्धारण करना एक ऐसा विषय है जिसमें आंकड़े मदद कर सकते हैं पर पूरा मार्ग-दर्शन नहीं दे सकते। स्पष्ट है कि जो भी निर्णय किये जाएंगे वे समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए अत्यन्त महत्व के होंगे। वे तमाम प्रकार के उत्पादन साधनों—पूंजी और भूमि तथा श्रम—के उपयोग की मात्रा, समूहों और वर्गों के बीच में आयों का वटवारा तथा उनकी मात्रा, और सब तरह की वस्तुओं और सेवाओं के सापेक्षिक तथा निरपेक्ष मूल्यों दोनों ही को प्रभावित करेंगे। इनमें से किसी भी चीज का पूरी तौर से निर्णय करने वाले वे (निर्णय) वेशक, नहीं होंगे; पर उनका बड़ा असर होगा। स्पष्टतः इसलिये यह बड़े महत्व की बात है कि जो उनको करते हैं वे विशेषज्ञता और विवेक दोनों से ही काम लें और इस प्रकार अमल करें कि समाज जिन सामाजिक और आर्थिक नीतियों का पालन करना चाहता है उनको प्रोत्साहन मिले।

जो लोग केन्द्रीय बैंक के चार्ज में हैं उन पर ये बातें खास तौर से लागू होती हैं, क्योंकि केन्द्रीय बैंक की नीति पर अत्यन्त दूर तक जाने वाले परिणाम निर्भर करते हैं। व्यापारिक बैंक मुख्यतया साख का वितरण करने वाले होते हैं, या शायद फुटकर निर्माता कहना बहतर हो। साख की जिस मात्रा का वे निर्माण कर पाते हैं उसके निर्माण के लिए वे उस सामग्री पर निर्भर करते हैं जो उन्हें केन्द्रीय बैंक से मिलती है। केन्द्रीय बैंक जितनी साख का निर्माण करने देता है उससे कम साख का निर्माण वे कर सकते हैं : साधारणतया उससे अधिक का निर्माण वे नहीं कर सकते। इसके खिलाफ, केन्द्रीय बैंक किसी कदर एक स्वशासित निर्माता के रूप में सामने आता है, जो क्रय शक्ति की कितनी मात्रा की आवश्यकता है इस बारे में अपने ही विचारों का अनुसरण करता है।

पर क्या साख के आधार का निर्माण करने में केन्द्रीय बैंक उतना ही स्वतंत्र है जितना कि इस वर्णन में बताया गया है? अतीत में, अधिकांश केन्द्रीय बैंकिंग विशेषज्ञों और अर्थ शास्त्रियों ने इस बात से साफ इनकार कर दिया होता और यह तर्क उपस्थित किया होता कि केन्द्रीय बैंक स्वयं चुकारे के साधनों का

केवल थोक वितरण करने वाला या अधिक से अधिक एक थोक निर्माता है और इस निर्माण की सामग्री के लिए उन शक्तियों पर निर्भर करता है जो इसके नियंत्रण के बाहर हैं और, इसलिये, व्यापारिक बैंकों के समान ही, क्रय शक्ति की जिस मात्रा का वह निर्माण कर सकता है वह सीमित ही है। संभवतः इस प्रश्न पर अधिक विवाद होता कि क्या केन्द्रीय बैंक जितनी क्रय शक्ति का निर्माण कर सकता था उस सबका उसे निर्माण करना ही होता था, या वह उससे कम निर्माण करने के लिये भी स्वतंत्र था या हर हालत में यह विवाद तो होता ही कि क्रय-शक्ति का निर्माण करने की जो अधिकतम सीमा है उसकी मर्यादा में अधिक या कम क्रय-शक्ति निर्माण करने की आजादी उसे किस हद तक थी। कुछ लोगों का यह मानना था कि केन्द्रीय बैंक की कार्यवाही उन नियमों से, जो उसे अनिवार्यतः मानने ही पड़ते थे, अपने आप ही निर्धारित हो जाती थी; और कुछ लोग निश्चित सीमाओं में चुकारे के साधनों की पूर्ति में परिवर्तन कर सकने की जो ताकत उसके पास होती थी उस पर ज्यादा जोर देते थे। ५५६९

केन्द्रीय बैंकिंग का परम्परागत सिद्धान्त इस मान्यता पर बनाया गया था कि केन्द्रीय बैंक या तो स्वर्णमान के अनुसार कार्य कर रहे होंगे या उस मान को एक ऐसा आदर्श मान कर चल रहे होंगे जिसके अपनी परिस्थितियों के अनुसार जितना नजदीक वे जा सकें उतना जाना उनका काम था। स्वर्णमान, संक्षेप में, एक ऐसी प्रणाली है जिसके अनुसार किसी राष्ट्रीय चलार्थ का मूल्य सोने में निश्चित कर दिया जाता है। इस प्रणाली में कानून या मान्य नियमों के द्वारा यह निर्धारित कर दिया जाता है कि राष्ट्रीय चलार्थ की एक इकाई (जैसे पाउंड स्टर्लिंग) अमुक वजन के एक निश्चित शुद्धता के सोने के बराबर होगी। केन्द्रीय बैंक का यह स्थायी जिम्मा है कि इस निश्चित भाव पर वह सोना खरीदे और बदले में राष्ट्रीय चलार्थ दे—या जहां सिक्का ढलाई के चार्ज के तौर पर टंकण-प्रलाभ (सिनियोरेज) वसूल करता है वहां कुछ कम दर से सोना दे। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक पर निश्चित भाव पर सोना बेचने का अर्थात् राष्ट्रीय चलार्थ के बदले में सोना देने का भी जिम्मा होता है। इस प्रकार जहां टंकण-प्रलाभ नहीं है वहां केन्द्रीय बैंक के सोने के क्रय और विक्रय की एक ही दर हो सकती है, या उनमें थोड़ा सा अंतर हो सकता है; परन्तु अब तक यह अंतर इतना अधिक नहीं रहा है कि उसे इस प्रणाली का कोई बड़ा लक्षण माना जाता। ग्रेट ब्रिटेन में, स्वर्णमान में कोई टंकण-प्रलाभ नहीं था : गौण प्रतिबंधों के साथ, बैंक ग्राव इंग्लैंड के सोने के क्रय और विक्रय के भाव समान ही थे।

स्वर्णमान का अपने पूर्ण रूप में, एक अनिवार्य लक्षण यह भी है कि सोने के आयात और निर्यात की आजादी होगी। वास्तविक स्वर्णमान में कोई भी

व्यक्ति देश में सोना ला सकता है; और कोई भी देश के बाहर सोना ले जा सकता है। इसलिये सोने के स्टॉक में परिवर्तन आता रहता था, केवल इसीलिये नहीं कि खान से निकला हुआ नया सोना हमेशा ही बेचने के लिए लाया जा सकता था—दक्षिण अफ्रीका से इंग्लैंड में इस प्रकार का सोना बराबर लाया जाता था—लेकिन इसलिये भी कि चाहे तो कर्ज चुकाने के साधन के रूप में और चाहे राष्ट्रीय सीमाओं से परे पूंजी को लाने-लेजाने के साधन के तौर पर, जिसकी इच्छा हो वही देश के अन्दर या बाहर सोना लाया ले जा सकता था। इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी कि देश में जितना भी सोना था वह सब केन्द्रीय बैंक या टकसाल में आजाए। सोने का औद्योगिक बाजार भी था—अंगूठियों, घड़ियों, सोने की प्लेट आदि के लिए और इसके अलावा जिसकी इच्छा हो वह निजी तौर पर सोने का अपसंचय भी कर सकता था, या देश के अंदर या बाहर किसी दूसरे को बेच सकता था। अमौद्रिक उपयोगों के लिए सोने का बाजार मूल्य था; पर यह बाजार मूल्य, और इसलिये सोने की वह मात्रा जो सोने की खानों के मालिक उत्पन्न करना लाभदायक मानते थे, वास्तव में टकसालों और केन्द्रीय बैंकों की जो सोने की मौद्रिक मांग होती उससे निर्धारित होती थी और जो उस न्यूनतम स्तर से नीचे नहीं गिर सकता था जो कि केन्द्रीय बैंकों की खरीदने और बेचने की कीमतों से तय होता था।

केन्द्रीय बैंक के स्वचालित सिद्धान्त के अनुसार, केन्द्रीय बैंक सोना प्राप्त करने और सोने से मुक्ति पाने का केवल एक निष्क्रिय साधन है। जो सोना लोग इसके पास लाए उसे इसने ले लिया और जिन लोगों ने इससे मांग की वह इसने दे दिया। इस लेन-देन के बाद जो इसके कोठों (वाल्ट्स) में बच गया वही इसके मौद्रिक सोने का कोष था जिस पर कि इसे साख की सुविधाएं प्रदान करने के अपने काम का आधार रखना होता था। जब तक कि लोगों में ऐसे सोवरिनों का प्रचलन था, जिनका मूल्य उनके वजन के सोने के बराबर है, बैंक (केन्द्रीय) के पास सोने की संचिति (रिजर्व) अपेक्षाकृत कम ही होती थी। इंग्लैंड में 1914 से पहले और 19वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश से 5 पाँड से कम के कागज के नोट नहीं थे; और सोने की संचिति इन बड़े नोटों के लिए केवल उस हद तक आवरण था जिस हद तक कि उनका कुल मूल्य उस समय की स्वीकृत विश्वासाश्रित मात्रा से, जो कि 20 मिलियन पाँड से कुछ ही कम थी, अधिक था। कम से कम सिद्धान्त यह था कि बैंक अपने पास के संपूर्ण सोने और विश्वासाश्रित मात्रा के बराबर नोट जारी करे; लेकिन वह उन तमाम नोटों को, जिन्हें वह जारी करता था, चलन में नहीं लाता था। कहने के लिए बैंक के दो विभाग कर दिये गए थे (1844 में बैंक चार्टर एक्ट के द्वारा)—एक तो निर्गम (इश्यू) विभाग, जिसका केवल यह काम था कि सोने की संचिति और विश्वासाश्रित मात्रा के बराबर को

प्रतिभूतियों के मुकाबले में नोटों का निर्माण करे; और एक अधिकोपण (बैंकिंग) विभाग, जिसके द्वारा इसका बाकी का सारा काम होता था। निर्गम (ईश्यू) विभाग अपने सब नोट अधिकोपण (बैंकिंग) विभाग को दे देता था और वह अपने ग्राहकों के द्वारा उससे की जाने वाली मांग के अनुसार उन्हें परिचलन में लाता था और जो बच जाते थे उन्हें बतौर संचिति के, सोने के सोविरनों और छोटे सिक्कों को थोड़ी संचिति के साथ साथ, अपने पास रखता था। इस प्रकार बैंक-नोटों का क्रियाशील परिचलन, जितनी मात्रा में वे जारी किये जाते थे, उससे उतना कम होता था जितने वे अधिकोपण विभाग* में बचे रहते थे; पर नोटों के परिचलन के अलावा सोने के सिक्कों का एक बड़ी मात्रा में परिचलन होता था।

तालिका ३

विभिन्न तारीखों को बैंक आव इंग्लैंड में कुल सिक्का और धातु

हजार पौंड (फीवर ड्यर) से-पौंड (स्टरलिंग)

1792	7000	फ्रेंच युद्ध से पूर्व।
1799	6000	नकद चुकारे का स्थगन।
1809	4500	बुलियन रिपोर्ट से पहले।
1819	4500	स्वर्णमान पुनः स्थापित होने के पहले।
1824	9000	स्वर्णमान पुनः स्थापित होने के बाद।
1844	15250	बैंक चार्टर एक्ट।
1846	14500	
1856	11000	
1865	15000	
1889	19750	
1893	26500	
1894	34250	
1895	39000	
1896	44250	
1900	33250	दक्षिण अफ्रीकी युद्ध।
1906	34000	
1913	37500	
1914	88000	युरोपीय महायुद्ध (सोने कर सोविरन वापिस लिये गये)।
1928	159750	सरकारी नोट बैंक (केन्द्रीय) को हस्तांतरित।

*—और अगर हम बहुत ही सही होना चाहते हैं तो, जो रकम व्यापारिक बैंकों के द्वारा अपसंचित की जाती या संचिति के तौर पर रखी जाती थी। देखें पृष्ठ 39 मूल।

तालिका ४

बैंक आव इंगलैंड स्वर्ण संचिति, 1913 और 1920 से 1939
दस लाख पौंड में : वर्ष का अंत

	बैंक	खजाना
1913	35	—
1920	128	28.5
1921	128	28.5
1922	127	27
1923	128	27
1924	129	27
1925	145	
1926	151	
1927	152	
1928	153	
1929	146	
1930	148	
1931	121	
1932	120	
1933	191	
1934	192	
1935	200	विनियम
1936	314	समकारि निधि
1937	326	170 (सितम्बर)
1938	326	92 (सितम्बर)
1939	279	(सितम्बर) 367 (मार्च)

तालिका ५

संयुक्त राज्य (यू.के.) स्वर्ण और डालर संचिति, 1929-1953
दस लाख पौंड में : वर्ष का अंत

1939	548
1940	74 (1)
1941	97 (1)
1942	172 (1)
1943	322 (1)

1944	584	
1945	610	= 2476 डी०
1946	664	= 2696 डी०
1947	512	= 2079 डी०
1948	457	= 1856 डी०
1949	603 (2)	= 1688 डी०
1950	1178	= 3300 डी०
1951	834	= 2335 डी०
1952	659	= 1846 डी०
1953	899	= 2518 डी०

जब 1925 में ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान की पुनः स्थापना की तो सोने के सिक्कों का चलन फिर से जारी नहीं किया गया। ये सिक्के 1914 में परिचलन से वापिस कर लिए गये थे और ट्रेजरी नोटों (कोपागार नोटों) ने उनका स्थान ले लिया था; और कुछ वाद में, 1928 में, ट्रेजरी नोटों का स्थान 1 पाँड और 10 शिलिंग के बैंक आव इंग्लैंड के नोटों ने ले लिया था। नयी स्थिति में बैंक में जो सोने की संचित थी उसे परिचलन में जो चलार्थ की कहीं अधिक मात्रा थी, उसके रक्षा राशि के तौर पर काम करना पड़ा; क्योंकि सोने के सिक्के के स्थान पर काम में आने वाले नोटों और 5 पाँड और ऊपर के नोटों की रक्षा राशि का काम उसे करना पड़ा। लेकिन बैंक आव इंग्लैंड को अपेक्षाकृत अधिक अनुपात में स्वर्ण संचित रखना आवश्यक नहीं था। विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा 2 करोड़ पाँड से कम से बढ़ा कर 26 करोड़ पाँड से सामान्य स्तर तक कर दी गयी थी। यद्यपि ब्रिटेन फिर से स्वर्ण मान पर आगया था पर अब वह जो वास्तव में सोने का चलायं था और जो बहुत थोड़ी मात्रा में ऐसे कागजी चलार्थ से जिसे सोने का आवरण प्राप्त नहीं है अनुपूरित था, उपयोग नहीं कर रहा था। लेकिन इसको जगह अब उसने ऐसे कागजी चलार्थ को स्वीकार कर लिया था जिसको इतनी सोने की संचित का समर्थन प्राप्त था जिसके बारे में यह आशा थी कि जो वास्तव में उस पर मांग होगी उसको पूरी करने के लिये पर्याप्त साबित होगी।

(1) असल रकम स्टर्लिंग के एवज में सोने में जो देनदारी चुकाना है उसे कम करके।

(2) जून 1949 तक सोने का मूल्य 172 शि० 3 पं० प्रति औंस शुद्ध के हिसाब से और उसके बाद 250 शि० के हिसाब से लगाया गया है। डालर में एक शुद्ध औंस 35 डालर के बराबर माना गया है।

एक दूसरा परिवर्तन भी हुआ। अब पहले की तरह से किसी के लिये भी यह संभव नहीं था कि वह जब इच्छा हो बैंक के पास चला जाए और कागजी द्रव्य या बैंक जमा के बदले में सोने की मांग कर ले। यह अधिकार उन लोगों के लिए ही सुरक्षित रखा गया था, जिनको किन्हीं मान्य आवश्यकताओं के लिए सोने की आवश्यकता होती थी और जब सोने के सिक्के परिचलन में नहीं रहे थे तो ऐसा वास्तव में करना ही था। दरअसल इसका अर्थ यह था कि सोने की मांग करने का अधिकार केवल पेशेवर व्यापारियों और सट्टेवाजों तक ही जिसमें बैंक वाले भी बेशक शामिल हैं, सीमित हो जाता था। जब तक इस तरह के लोगों को सोना मिल सकता है और उसे विदेश भेजने के लिए वे स्वतंत्र हैं, स्वर्णमान का तत्व बना रहता है और ब्रिटिश चलार्थ का पहले के समान ही सोने के साथ कारगर रूप में संबंध बना रहता है और अनुत्पादक द्राविक उपयोग में इतना सोना लगाए रखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। वह सोना जो सोविरिन के सिक्कों में ढाल लिया जाए या बैंक के वज्र कक्ष में रखा रहे उस कागज से अधिक जो उस सोने की जगह रखा जा सकता है कोई सूद या लाभ नहीं देता। इसलिए सोने की एवज में कागज का उपयोग करना और सोने में रखी जाने वाली संचिति को इतनी कम मात्रा में रखना, जितनी कम मात्रा उसका जो काम है उसको पूरा करने के लिए पर्याप्त हो, ज्यादा किफायत मंद है।

1914 के पहले की स्थिति में, जब ग्रेट ब्रिटेन का अधिकांश मौद्रिक सोना सोविरिन के रूप में परिचालित था और नोटों का गौण स्थान था, बैंक आव इंग्लैंड के पास रखा हुआ सोना बिल्कुल साधारण मात्रा में था। 1913 के दिसंबर में वह 3.5 करोड़ पाँ० था। 1925 के दिसंबर में, स्वर्णमान की पुनः स्थापना के बाद, वह 14.5 करोड़ पाँड था। दूसरी ओर, नोट परिचलन 1913 के अंत में 3.5 करोड़ पाँड था और 1925 के अंत में 39.1 करोड़ पाँड था। 1913 में परिचलन में कितने सोविरिन थे इसका कोई ठीक हिसाब नहीं है : 11.5 करोड़ पाँड होने का अनुमान लगाया गया था। सक्रिय परिचलन का अधिकांश भाग सोने के सिक्कों का था : नोटों का एक बड़ा भाग वास्तव में व्यापारिक बैंकों के वज्रकक्षों में बंद था। जब भी उसको आवश्यकता होती, बैंक आव इंग्लैंड हमेशा ही टकसाल से सोने के सिक्के प्राप्त कर सकता था; और टकसाल को जैसे जैसे जरूरत होती थी स्वर्ण बाजार से सोना खरीद लेता था, और सरकारी बैंक की हैसियत से बैंक आव इंग्लैंड पर चैक काट दिये जाते थे।

इस प्रणाली में चलार्थ के संरक्षक की हैसियत से बैंक आव इंग्लैंड का मुख्यतया काम अपनी स्वर्ण संचिति के आवागमन पर नज़र रखना और इस आवागमन के अनुसार साख पूर्ति का प्रसार या संकुचन करना था। बैंक दो में से

किसी भी प्रकार सोना खो सकता था—आंतरिक उत्सारण (ड्रेन) से या बाह्य उत्सारण (ड्रेन) से। आंतरिक उत्सारण का अर्थ यह होगा कि घरेलू प्रचलन के लिए अधिक स्वर्ण मुद्रा की मांग की जा रही है या बैंक से अपमंचय के लिए स्वर्ण-मुद्राएं या स्वर्ण पिण्ड निकाला जा रहा है। बाह्य उत्सारण का अर्थ यह होगा कि बैंक से सोना निर्यात के लिए निकाला जा रहा है। व्यवहार में इस दूसरे प्रकार के उत्सारण का अधिक महत्व है। 1914 के पूर्व की मौद्रिक स्थिरता की स्थिति में स्वर्ण का अपसंचय करने का कोई विशेष प्रलोभन नहीं था, और आंतरिक परिचलन के लिए अधिक सोवरिनों की मांग बढ़ते हुए व्यापार के बहुत से सूचकों में से एक सूचक होगी।

बाह्य उत्सारण की एक ऐसी घटना है जिसके लिए बैंक (केन्द्रीय) हमेशा ही सावधान रहता है। इसके संभव कारण एक से अधिक हो सकते हैं। यह इस कारण से भी हो सकता है कि ब्रिटिश जनता या ग्रेट ब्रिटेन में लेन देन करने वाले लोग विदेश से जो वस्तुएं खरीद रहे हैं उनका कुल मूल्य उस मूल्य में अधिक है जो विदेशी लोग ब्रिटिश निर्यात, जहाजरानी, और वित्तीय सेवाओं के लिए और विदेशों में लगी ब्रिटिश पूंजी के उपयोग के लिए चुकाने वाले हैं। दूसरे शब्दों में ब्रिटिश आयात और दीर्घकालीन पूंजी का ब्रिटिश निर्यात दोनों मिल कर ब्रिटिश निर्यात और विदेशियों द्वारा किये गए ग्रेट ब्रिटेन में दीर्घकालीन विनियोग से कम होते हैं—और यह मान लेते हैं कि जहाजरानी और वित्तीय सेवाओं तथा लाभांश (डिविडेंड) और विदेशों में जो पहले विनियोग किये जा चुके हैं उनके सूद संबंधी अदृश्य निर्यात को दोनों ही तरफ गिन लिया गया है। इस रूप में दोनों तरफ के हिसाब के बराबर न होने के कारण हो सकते हैं : अत्यधिक आयात या निर्यात में कमी, विदेशों में किये जाने वाले विनियोग में उल्लेखनीय वृद्धि, जहाजरानी के किरायों में कमी, या अनेक दूसरे कारणों में से कोई। लेकिन दोनों तरफ के हिसाब के बराबर न होने के अन्य कारण भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में तेजी की स्थिति हो और वहां सूद की दरें ऊंची हो जाएं तो वे लोग जो पहले अपना द्रव्य ग्रेट ब्रिटेन में रखते थे अब उसमें से कुछ अमेरिका को ले जा सकते हैं, केवल अमेरिका के स्टाक बाजार में दीर्घकालीन प्रतिभूतियां खरीदने के लिए ही नहीं बल्कि अमेरिकन सट्टा गानों को ऊंचे सूद पर अस्थायी तौर पर उधार देने के लिए भी। अल्पकालिक और दीर्घकालिक दोनों ही तरह की पूंजी के आवागमन का विचार करना होगा, और हमेशा ही ऐसे लोग होते हैं जिनका पेशा ही यह है कि अधिकतम प्रतिफल पाने के लिए एक देश से दूसरे देश में द्रव्य को लाते ले जाते रहें।

ऐसे किसी आवागमन और दृश्य तथा अदृश्य व्यापार नंतुलन से संबंध रखने वाले पूंजी के दीर्घकालीन आवागमन के किसी असंतुलन के कारण या तो देश के

बाहर सोना जा सकता है या, अगर वे विपरीत दिशा में कार्य करते हों तो, देश में सोना आ सकता है। इन तमाम शक्तियों के सम्मिलित असर से बैंक आव इंग्लैंड के पास जो सोना रह जाएगा उसी के अनुसार वह अपने नोटों के निर्गमन की मात्रा का समायोजन बैठा लेगा। लेकिन वह यह प्रयत्न भी करेगा कि व्यापारिक बैंक तथा सामान्यतया समस्त वित्तीय संसार अपने कारोबार का मेल केवल सोने के वास्तविक प्रवाह से ही न बैठावें बल्कि सोने के आवागमन की संभावित प्रवृत्ति संबंधी अपनी अपेक्षाओं का भी ध्यान रखें। इस काम के लिए बैंक आव इंग्लैंड के पास दो मुख्य साधन हैं—बैंक दर और खुले बाजार की क्रिया। 1914 के पहले बक रेट पर विशेष जोर दिया जाता था: आजकल जब द्रव्य विषयक परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन आगया है जोर खुले बाजार की क्रिया पर दिया जाने लगा है।

बैंक दर कायदे से वह सूद की दर है जिस पर बैंक आव इंग्लैंड किन्हीं मान्य विनिमय पत्रों का पुनः पूर्व प्रापण (पूर्व चुकारा) करने के लिए तैयार रहता है। परन्तु खासतौर से बैंक दर का महत्व समस्त वित्तीय संसार को द्रव्य संबंधी स्थिति के बारे में बैंक आव इंग्लैंड के अनुमानों और इरादों के संकेत देने के रूप में है, या हर हालत में १९१४ तक तो था ही। बैंक रेट में वृद्धि द्रव्य संबंधी परिस्थितियों में तंगी की आशा करने का और उस आधार पर कदम उठाने का संकेत था और कमी इस बात का संकेत था कि द्रव्य उसकी माँग की तुलना में पर्याप्त है। जब बैंक आव इंग्लैंड अपनी दर बढ़ाता था तो व्यापारिक बैंकों से केवल इतनी ही आशा नहीं की जाती थी कि वे अपने ग्राहकों से वसूल की जाने वाली दर को बढ़ा दें बल्कि यह आशा भी की जाती थी कि नये ऋण स्वीकार करने में वे अपनी सावधानी बरतें और अल्पकालीन द्रव्य की जो वसूल होने तलब हवालगियां हों उन्हें कम करें। जब बैंक दर गिरती थी तो इससे विपरीत प्रक्रिया चालू की जाती थी। और आमतौर पर यह आशा की जाती थी कि चाहे केन्द्रीय बैंक और कोई कदम न उठाए तब भी इन प्रभावों के कारगर होने की सम्भावना है क्योंकि एक नियम के तौर पर व्यापारिक बैंक बिना किसी भिन्न के वही करते थे जो केन्द्रीय बैंक उनसे अपेक्षा करता था।

इन परिस्थितियों में केन्द्रीय बैंक का दूसरा साधन, खुले बाजार की क्रियाएँ खुले बाजार में प्रतिभूतियों को खरीदना या बेचना मुख्यतः आरक्षित साधन के तौर पर माना जा सकता था या एक ऐसे साधन के रूप में माना जा सकता था जो उन छोटे समायोजनों को करने के लिए, जिनके वास्ते बैंक रेट में परिवर्तन करने जैसे सख्त कदम उठाने की आवश्यकता नहीं थी, कभी-कभी काम में लाया जाता था। अगर व्यापारिक बैंकों ने बैंक रेट के द्वारा उनको दी गयी सलाह के अनुसार फौरन

काम न किया तो बैंक आफ इंग्लैंड खुले बाजार की क्रिया द्वारा पहले बताए गए तरीके से उनके नकद कोप में वृद्धि या कमी ला सकता था और इस प्रकार उन्हें रास्ते पर ला सकता था—कम से कम उस समय जब वह स्थिति को कठना चाहता था। और बैंक (केन्द्रीय) जब वह साख की स्थिति में थोड़ा सा समायोजन करना चाहता हो, बैंक दर को बदले बिना खुले बाजार की क्रिया के द्वारा व्यापारिक बैंकों के साधनों पर सीधा प्रभाव भी डाल सकता था।

उपरोक्त बातों में से कोई बात करने में 1914 तक बैंक आफ इंग्लैंड अपना योग मुख्यता निष्क्रिय ही मानता था। अगर कभी वह अपेक्षित घटनाओं के आधार पर पहले ही कोई कदम उठा लेता, तो भी, उसके संचालकों की दृष्टि में, यह जो कुछ उसे वाद में करना पड़ता, उसे तुरन्त कर डालने से अधिक कुछ नहीं माना जाता था, और इस प्रकार तत्काल कार्यवाही कर डालने से जो समायोजन करना पड़ता उसकी मात्रा में भी शायद कमी आजाती थी। यह जो कुछ करता था उसमें एक ही बात से प्रेरित होता था कि देश के अंदर सोने का प्रवाह होता है या देश से बाहर : दैनिक मुद्रा नीति के निर्धारित करने में इस आवागमन को ही वह संचाली (गवर्निंग) कारण मानता था, क्योंकि वह स्वर्णमान की रक्षा करना और तदनुसार पौंड-स्टरलिंग के दुनियाँ भर में माने गये मूल्य को वांछित स्तर पर रखना अपना कर्तव्य मानता था। अगर सोना देश से बराबर बाहर जाता रहे तो बैंक (केन्द्रीय) को अपने जारी किये गए नोटों में कमी करके हर आउंस की कमी की पूर्ति करनी होगी, और अन्त में जब चुकाने के लिए सोना बिलकुल ही न बचे तो देश को मजबूर हो कर स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ेगा और पौंड को इतने टालर, या फ्रैंक, या मार्क्स या क्राउन्स के बराबर बनाए रखने के लिए कुछ भी नहीं बच रहेगा। क्योंकि जब निश्चित दर पर ब्रिटिश चलार्य के एवज में जो सोना चाहते थे उनको सोना नहीं मिलता है तो पौंड का सोने में या दूसरे चलार्यों में जो सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर हैं, स्वतः मूल्य निर्धारण होने का सवाल ही नहीं रहता है।

इसलिये, स्वर्ण मान के खेल के एक अंग के रूप में, सोने के देश से बाहर जाने की यदि कोई प्रवृत्ति हो तो उसे रोकने के लिए तत्काल कदम उठाना आवश्यक था। मुक्त व्यापार की स्थिति में जो न आयात की मात्रा पर, न ब्रिटिश प्रजा द्वारा विदेश में किये जाने वाले विनियोग पर, केवल प्रोत्साहन से जो कुछ हो सकता हो उससे आगे, न अल्पकालिक निधि के आवागमन पर सीधे नियंत्रण की इजाजत देता है, सोने के देश के बाहर जाने की प्रवृत्ति को रोकने का यही उपाय है कि आर्थिक परिस्थितियों को ऐसा बना दिया जाए कि सोने को देश में बाहर ले जाने की इच्छा ही समाप्त हो जाए। ऊंची मूद्र की दरें मुक्त द्रव्य के मानकों को अन्य किसी जगह की अपेक्षा उसे लंदन में ही रखने को प्रेरित करेंगी : बैंक साख की

कमी से कीमत और लागतें कम होंगी जिससे विदेशी वस्तुओं की तुलना में ब्रिटिश वस्तुएं सस्ती होंगी और इससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा और आयात हतोत्साहित होगा : और द्रव्य की तंगी की स्थिति विदेशी विनियोग को भी हतोत्साहित करने वाली होगी । इन उपायों से, 1914 के पहले, सोने का बाहर जाना आम तौर पर काफी आसानी से रोका जा सकता था; और उन दिनों का पाठ्य पुस्तक का सिद्धान्त बैंक ऑव इंग्लैंड के वास्तविक और सफल व्यवहार को ही मुख्यतः प्रतिबिम्बित करता था ।

यह सही है कि समस्त प्रक्रिया इस बात का ज़रा सा भी विचार किये बिना चलाई जाती थी कि इसका ग्रेट ब्रिटेन के रोज़गार और उत्पादकता पर क्या असर पड़ेगा । अगर द्रव्य की तंगी के कारण कारखाने बंद हो गए और पुरुष तथा स्त्रियां बेरोजगार हो गईं तो यह एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम था जिसके लिए बैंक अपना कोई ज़िम्मा नहीं मानते थे । उनकी दृष्टि में इसका इलाज बहुत स्पष्ट था । इलाज यह था कि लागतें, मजदूरी सहित, इतनी कम की जाएं कि जिससे मूल्य उस हद तक गिर जाय जिस हद तक निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए और, कम द्रव्य-स्तर पर, घरेलू बाजार में भी लाभदायक व्यापार को फिर से शुरू करने के लिए उनका गिरना आवश्यक था ।

इस पुस्तक में मैं यह पहले ही लिख चुका हूँ कि वित्तीय अधिकारियों के कहने पर इस प्रकार ज़बरदस्ती से मूल्य में कमी करने का वास्तव में क्या परिणाम आता है । 1914 तक इस तरीके को वर्दाश्त किया गया क्योंकि स्वर्णमान पर बने रहने के लिये जो समायोजन बैंक को करने पड़ते थे वे प्रायः काफी छोटे थे और इसलिए जो परिणाम आते थे वे भी काफी साधारण थे । संपूर्ण वित्तीय संसार के प्रभावशाली केन्द्र के रूप में, उस बाजार के रूप में जहां दक्षिण अफ्रिका जो पूर्ति का सबसे बड़ा स्रोत था, से आने वाला सोना बराबर विकता था, और दीर्घकालिक पूंजी के विदेशी विनियोग तथा अल्पकालिक ऋण के मुख्य स्रोत के रूप में ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति अत्यंत दृढ़ थी । स्वर्णमान वास्तव में स्टर्लिंग मान था; और जब भी कोई गड़बड़ी होती उसे ठीक करने के लिए काफी गुंजाइश थी । परन्तु जब 1925 में स्वर्णमान की पुनः स्थापना हुई तो परिस्थितियां बहुत बदल चुकी थीं । संयुक्त राज्य अमेरिका ने, दोनों ही तरह से, एक तो अग्रणी बचत वाले देश के रूप में यानी उस देश के रूप में जिसके पास दीर्घकालिक विदेशी विनियोग के लिए सर्वाधिक रकम उपलब्ध है और दूसरे उस देश के रूप में जिसकी स्थिति बहुत बड़ी सोने की संचिति मौजूद होने से सुदृढ़ है और जो अपने चलार्थ को सोने का प्रभावशाली भागीदार बनाने की स्थिति में है, ब्रिटेन का स्थान ले लिया था । स्वर्णमान अब स्टर्लिंग स्टैण्डर्ड नहीं रह गया था : वह डालर स्टैण्डर्ड होता जा रहा था ।

इसके अलावा ग्रेट ब्रिटेन ने जिन शर्तों पर 1925 में स्वर्णमान की पुनः स्थापना की थी, वे घातक थीं। संयोग से जो एक अस्थायी साम्य स्थापित हो गया था और जिसके अनुसार लगभग युद्ध के पूर्व के स्तर पर डालर में जो वास्तविक विनिमय दर कायम हो गई थी उसका लाभ उठा कर इस देश ने पौंड स्टर्लिंग के 1914 के स्वर्ण मूल्य पर स्वर्ण मान की पुनः स्थापना करली। अमेरिका में बड़ी तेजी से परिस्थितियाँ बदलीं जिससे कि पौंड और डालर के बीच के स्वाभाविक विनिमय दर में ग्रेट ब्रिटेन के विपक्ष में परिवर्तन हुआ। लेकिन स्वर्णमान की पुनः स्थापना करने में ग्रेट ब्रिटेन ने अपने पर यह दायित्व ले लिया था कि वह डालर-स्टर्लिंग दर को एक निश्चित या प्रायः निश्चित स्तर पर बनाए रखेगा; लेकिन यह साफ हो गया कि ब्रिटिश मूल्यों और आयों में बहुत बड़ी कमी लाये बिना यह संभव नहीं था। 1926 की आम हड़ताल का मुख्य कारण ही यह था कि इस कमी को, अधिकतर मजदूरी में कमी करके, लाने का प्रयत्न किया गया था; और यद्यपि हड़ताल असफल रही पर इस मामले में पूरी सफलता नहीं मिली। दूसरे क्षेत्रों में इसका असर ऐसे आव्यंशित एकाधिकार उत्पन्न करने के रूप में आया जो मूल्यों को ऊँचा और उन्हीं के साथ साथ उत्पादन साधनों को पूरे या आंशिक रूप में बेकार रखना चाहते थे। यह दबाव की स्थिति ठीक उस समय तक चलती रही जबकि 1931 के विदव व्यापी आर्थिक संकट के समय इंग्लैंड को फिर से स्वर्णमान छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा।

मेरा आशय यह है। 1914 तक पाई जाने वाली परिस्थितियों में ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति इतनी सुदृढ़ थी कि वह शेष दुनिया के लिए एक बड़ी हद तक आर्थिक स्थिति या प्रवृत्ति (टोन) का निर्धारण कर सकता था सिवाए इसके कि संयुक्त राज्य अमेरिका में परिकल्पी (स्पेकुलेटिव) तेजी और मन्दी के कारण कभी कभी अस्त-व्यस्तता आजाती थी। इसका अर्थ यह था कि कुल मिला कर द्रव्य संबंधी जो स्थिति ब्रिटिश आन्तरिक आवश्यकताओं के अनुकूल थी उससे स्वर्णमान नीति का मोटे रूप में मेल बैठ जाता था, और सोने के आवागमन के कारण जो समायोजन आवश्यक होते थे वे प्रायः इतने बड़े नहीं होते थे कि जिनके कारण बेकारी और उत्पादन में कोई बड़ी गड़बड़ी आजाए। इसके विपरीत, 1925 के बाद स्वर्णमान का बिल्कुल भिन्न प्रकार का व्यवहार रहा, और बैंक आव इंग्लैंड को जो समायोजन करने पड़ते थे वे इतने बड़े पैमाने पर थे कि जिससे उत्पादन में अस्तव्यवस्था और आम बेकारी उत्पन्न हो सकती थी।

इन बदली हुई परिस्थितियों में, बैंक दर एक पर्याप्त हथियार नहीं रहा। इसका एक दोष भी था और वह यह कि जिस हद तक यह प्रभावशाली होता था उसका उसे उन सभी लेन-देन पर, जिनका सम्बन्ध पूँजी या भाग्य ने घाना था

पड़ता था न कि केवल उन पर जिनको कि विनिमय स्थिरता के हित में नियंत्रित रखने की वास्तव में आवश्यकता होती थी। उदाहरण के लिये ऊंची सूद की दरों से नई इमारतों के आर्थिक लंगान बढ़ गए, और, चूँकि मकानों की बहुत आवश्यकता थी, इसका अर्थ यह हुआ कि उनके निर्माण के लिए अधिक राजसाहाय्य (पब्लिक सबसिडीज) दी जायें। ऊंची सूद की दरों के कारण अन्य पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण कार्य पर भी प्रतिकूल असर हुआ और इसलिए औद्योगिक प्लांट के आधुनिकरण में रुकावट आयी। व्यवसायी जितना सतर्क वे अन्यथा होते उससे अधिक सतर्क इन ऊंची सूद की दरों के कारण होगये—हालांकि उन थोड़े से उद्योगों के अलावा जो अत्यधिक पूँजी का उपयोग करते हैं, शायद औरों पर कोई बड़ा असर नहीं पड़ा। सामान्यतया, द्रव्य मूल्यों में परिवर्तन वृत्ति का अभ्यास होने के कारण, ऊंची सूद की दरों का असर उत्पादन को हतोत्साहित करने का, तकनीकी प्रगति को रोकने का, और जो अपने मूल्यों को किसी न किसी प्रकार की एकाधिकारी कार्यवाही से ऊँचे नहीं रख सकते थे, उन पर अत्यधिक गंभीर प्रतिक्रिया पैदा करने का होता था।

खुले बाजार की क्रियाओं ने भी, जो भी 1914 के पहले की अपेक्षा बहुत अधिक काम में ली गई, इन प्रभावों को पुष्ट किया। वस्तुओं और सेवाओं का जितना उत्पादन हो सकता था उसे गतिमान करने के लिए, जब तक कि कीमतों को ही काफी कम नहीं कर दिया जाता है अधिक द्रव्य की आवश्यकता थी; पर कम द्रव्य उपलब्ध किया जा रहा था और स्वर्णमान संतुलन की आवश्यकताओं को पूरी करने के हिसाब से द्रव्य मूल्य कम नहीं हो रहे थे।

जब 1931 में ग्रेट ब्रिटेन को अपनी इच्छा के विरुद्ध स्वर्णमान का त्याग करने के लिए विवश होना पड़ा तब भी यही स्थिति थी। तब क्या हुआ? पौंड स्टर्लिंग के बाह्य मूल्यों में गिरावट आगयी जिससे बैंक की स्थिति फौरन ही ठीक हो गयी क्योंकि इस गिरावट से ब्रिटिश निर्यात विदेशी खरीदने वालों के लिये सस्ते हो गए और बाहर से आने वाले आयात ब्रिटिश उपभोक्ताओं के लिये महंगे होगए। इसके उपरांत तटीय कर (टैरिफ) लगा कर आयात को रोका गया और ग्रेट ब्रिटेन को जो मुक्त व्यापार सम्बन्धी परम्परागत मान्यता थी उसका अंत होगया। स्टर्लिंग विनिमय पर दबाव इसलिये भी कम हो गया कि जिनके पास स्टर्लिंग था और जो अब उसके एवज में सोना नहीं ले सकते थे, वे अपना द्रव्य वापिस लेने का प्रयत्न करने में अब भिन्न करने लगे क्योंकि जिस किसी दूसरे द्रव्य में वे उसे बदलना चाहते, वही कम और बदलती हुई मात्रा में मिलता।

स्वर्णमान का त्याग करके ग्रेट ब्रिटेन ने दूसरे देशों के द्रव्यों में स्थिर विनिमय दरों का त्याग किया और परिवर्तनीय विनिमय दरों ने उनका स्थान ले

लिया । 1931 के संकट का सामना करना इस प्रकार भी संभव था कि पौंड स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया जाता—यानी पौंड को एक नई और कम सोने की मात्रा के बराबर कर दिया जाता । ऐसा करने से तत्काल आने वाले अधिकांश वही परिणाम आते; लेकिन ग्रेट ब्रिटेन नीचे साम्य पर स्वर्णमान पर बना रहता । ऐसा नहीं किया गया । पौंड का अवमूल्यन नहीं किया गया : उसका मूल्य ह्रास होने दिया गया और पूर्ति तथा मांग के आधार पर दूसरे चलार्थों में नीचे मूल्य, पर स्थिर नहीं, अपने आप निर्धारित होने दिया गया ।

कम से कम पहले पहल जो कुछ हुआ वह यही था । पर जल्दी ही लोगों ने यह कहना शुरू कर दिया कि बैंक आव इंग्लैंड अब भी ऐसा व्यवहार कर रहा है जैसे ग्रेट ब्रिटेन स्वर्णमान पर हो यद्यपि नीचे साम्य पर । बैंक की नीति यह मालूम होती थी कि पौंड मूल्य 1931 के पूर्व के मूल्य के 70 प्रतिशत के बराबर बना रहे और केवल इस अंतर के साथ कि सामयिक और अल्पकालिक परिवर्तनों के लिए कहीं अधिक गुंजाइश दी जाए वह पुराने तरीकों को काम में लेता रहे । किन्तु यह नीति चली नहीं । अप्रैल 1932 में ब्रिटिश सरकार ने एक विनियम-समकारिनिधि की स्थापना की—सरकार ने उधार ले कर इस निधि का निर्माण किया और विनियम के परिवर्तनों को सीमित रखने तथा रोकने के लिये उसका उपयोग किया जाने वाला था—खासतौर से डालर-स्टर्लिंग विनियम के क्षेत्र में, और खास तौर से परिकल्पी (स्पेकुलेटिव) उतार-चढ़ाव के सम्बन्ध में । निधि की कार्य विधि यह थी कि वह स्टर्लिंग के एवज में डालर, दूसरे चलार्थ (करेंसीज) या सोना खरीदता या बेचता था ताकि उन शक्तियों को जो विनियम को अनुचित समझी जाने वाली दिशाओं में बदलना चाहती थीं रोका जा सके । अब बात यह है कि अपने स्वभाव से ही, इस प्रकार की निधि विनियम दरों की स्टर्लिंग के पक्ष या विपक्ष में जाने की बराबर बनी रहने वाली और स्पष्ट दिखाई देने वाली प्रवृत्ति का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सकती । यदि उसने ऐसा किया तो अपने काम को जारी रखने के लिए जो द्रव्य उसे चाहिये उसकी कमी पड़ जायेगी । उसमें या तो स्टर्लिंग ही स्टर्लिंग, या दूसरे ही दूसरे चलार्थ या सोना ही सोना एकत्रित हो जाएगा । इसलिए विनियम समकारि निधि का उद्देश्य वह नहीं था कि स्टर्लिंग का सोने या दूसरे चलार्थों में जो दीर्घकालिक मूल्य अन्यथा होता उससे कुछ भिन्नता उसमें लाई जाए पर इसका उद्देश्य यह था कि अल्पकालिक परिवर्तनों को कम किया जाए और परिकल्पकों (स्पेकुलेटर्स) को अत्यधिक लाभ कमाने की आशा में विनियमों को अस्तव्यस्त करने से रोका जाए । इन उद्देश्यों में बहुत सफलता मिली; और निधि ने जैसे ही अच्छी तरह काम करना शुरू किया उसकी मात्रा बढ़ाई गई और उसका अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा, खास तौर से उम सोने को खरीदने और उसे निष्प्रभाव या बेकार करने

में जो विदेशियों द्वारा इस देश में इसलिये लाया जाता था कि उनको अपने देश में द्रव्य संबंधी उथल-पुथल होजाने का डर था ।*

इसी बीच में 1933 में विश्व संकट के कारण स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका भी स्वर्णमान से हटा दिया गया था । पर अमरीकी परिस्थितियां ग्रेट ब्रिटेन में जो 1931 में परिस्थितियां थीं उनसे बहुत भिन्न थीं । संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वर्णमान का त्याग सोना अपने पास से निकल जाने के भय से नहीं किया—अमेरिका के पास बहुत बड़ी मात्रा में सोना था—बल्कि इसलिये किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका के निर्यात को उन्हें सस्ता बना कर एक दम बढ़ाने का प्रयत्न किया जाए और संयुक्त राज्य अमेरिका में, जहां एक सनसनीखेज मूल्य-पतन हो चुका था, डालर मूल्यों को ऊंचा किया जाए । इस नीति के सैद्धान्तिक आधार या व्यवहारिक प्रभावकता पर विचार करने का यह स्थान नहीं है । जिस बात पर हमें ध्यान देने की आवश्यकता है वह यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने डालर को अपने आप अपना स्तर निर्धारित करने नहीं दिया, बल्कि एक नए निश्चित स्तर तक उसका अवमूल्यन किया, और उसी समय इसी प्रकार के निश्चित शासकीय कृत्य से आगे भी सोने में उसके (डालर के) मूल्य को ऊपर या नीचे की ओर बदलने की अपने हाथ में शक्ति ले ली । तो, संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वर्णमान का त्याग उस अर्थ में कभी नहीं किया जिसमें कि ग्रेट ब्रिटेन ने 1931 में किया था । उससे केवल डालर का सोने में मूल्य बदला और इस प्रकार दूसरे चलार्थों में उसके मूल्य को प्रभावित किया । वास्तव में इस अवमूल्यन के बाद पाँड स्टर्लिंग, जिसका दिसम्बर 1932 में लगभग 328 सेंट के बराबर विनिमय मूल्य था, वह दिसंबर 1933 में लगभग 512 सेंट के हो गया । तुरन्त ही अमेरिकनों ने अपना स्वयं का विनिमय समकारि लेखा स्थापित कर दिया; और उसके बाद स्टर्लिंग-डालर विनिमय वास्तव में दोनों देशों के द्रव्य अधिकारियों द्वारा सम्मिलित रूप से संचालित होने लगा ।

1926 और 1931 के बीच में भी बैंक आफ इंग्लैंड के लिये यह कहना असंभव हो गया था कि स्वर्णमान अब भी अपने आप कार्य कर रहा था और उसको (बैंक का) मुख्य कार्य घटनाओं की प्रवृत्ति की निष्क्रिय ढंग से व्याख्या करना मात्र था । पर इस काल में संचालक यथासंभव पुरानी व्यवस्था को लौट जाने का प्रयत्न कर रहे थे । 1931 के पश्चात्, जब कि स्वर्णमान का त्याग किया जा चुका था, यह आवश्यक हो गया था कि नितान्त निष्क्रियता की वृत्ति, जो कि विनिमयों को एक क्षण से दूसरे क्षण में आजादी पूर्वक बदलते रहने देती, और सविचार संचालन की नीति के बीच में चुनाव कर लिया जाये । इन दोनों में से पहली नीति साफ तौर से

* निधि के सोने और डालरों का परिवर्तन पृष्ठ 75 (मूल) की तालिका में बताया गया है ।

घातक होती। वह सब प्रकार की विकल्पी (स्पेकुलेटिव) अतिथियों के लिये रास्ता खोल देती है और चुकारे के साधनों की पूर्ति तथा दूसरे द्रव्य के साथ ब्रिटिश द्रव्य के संबंध के मामले में ग्रेट ब्रिटेन को बड़ी और बराबर होती रहने वाली उथल पुथल के लिये खुला छोड़ देती। किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था तो स्थापित करनी ही थी; और जैसा कि हम लिख चुके हैं, शुरू शुरू में जो प्रवृत्ति देखी गयी वह यह थी कि चलायें की व्यवस्था इस तरह से की जाए कि बदले हुए साम्य पर उस समय तक स्वर्णमान चालू होने की स्थिति में जो कुछ किया जाता वह व्यवस्था उसकी यथासंभव नकल होती।

अन्य किसी कारण की अपेक्षा अमेरिका में जो घटनाएं हुई उन्होंने और भी अधिक इस नीति के वास्तविक व्यवहार को शीघ्र ही बदल दिया। जब अध्यक्ष रूजवेल्ट ने अमेरिकन संकट की सबसे खराब स्थिति में पद ग्रहण किया तो उसके शासन ने अनेक तरीकों से, जिनमें द्रव्य के सक्रिय परिचलन को बढ़ाने का प्रयत्न भी था, आर्थिक कारोबार में पुनरुन्नयन (रिवाइवल) लाने की कार्यवाही ही प्रारंभ की। अमेरिका में जैसे जैसे द्रव्य की पूर्ति में विस्तार हुआ जो कि सोने की कमी पैदा किये बिना वह बराबर करता रह सकता था ग्रेट ब्रिटेन में भी, बिना इस डर के कि विनिमयों पर प्रतिकूल असर पैदा हो सकता है, पूर्ति का विस्तार करना संभव हो गया। इस बात का कोई डर नहीं था कि लाभ की तलाश में मुक्त द्रव्य अमेरिका चला जाएगा : ग्रेट ब्रिटेन में बिना इस भय के कि द्रव्य की कमी पैदा हो सकती है व्याज की दरें नीची रखी जा सकीं। बैंक ऑफ इंग्लैंड की नीति बड़ी होशियारी से बदली गयी। उसने मर्यादित ढंग से द्रव्य विस्तार की नीति को प्रोत्साहन देना आरंभ किया।

सबसे खराब विश्व संकट के बाद जैसे ही स्थिति में सुधार आने लगा, मूद की दरों को नीचा रखा गया। स्थिर तौर पर मूद की दरों के कम होते हुए केन्द्रीय बैंक नीति के एक हथियार के तौर पर बैंक रेट ने अपना महत्व खो दिया। क्योंकि बैंक अपनी दरों को बदल कर अव्यवस्था उत्पन्न नहीं करना चाहता था। व्यापारिक बैंकों के साधनों में समायोजन लाने के लिए और इस प्रकार चुकारे के साधनों की सामान्य पूर्ति को प्रभावित करने के लिए खुले बाजार की क्रियाओं पर ही सारा महत्व दिया जाने लगा। इसकी वजाए कि बैंक दर को एक संकेत के तौर पर काम में लिया जाए और व्यापारिक बैंकों को उचित समायोजन के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए, बैंक ऑफ इंग्लैंड व्यापारिक बैंकों के नकद थ्रेज के स्तर में समायोजन करके द्रव्य की पूर्ति का सीधा नियंत्रण करने लगा।

ये परिवर्तन व्यापारिक बैंक व्यवहार पर प्रतिक्रिया उत्पन्न किये बिना नहीं रहे। पुरानी मान्यताओं में आने वाली सामान्य दिनाई से प्रोत्साहित होकर, व्यापार-

रिक बैंकों ने भी जो नकद का आधार उनको केन्द्रीय बैंक स्वीकृत करता था उस पर साख के भवन का निर्माण करने में पहले जितनी आज्ञादी वे वर्ता करते थे उससे ज्यादा आज्ञादी वर्तना आरंभ कर दिया। पुराना सिद्धान्त यह था कि मोटे रूप में 1 पाँड नकद, जिसमें बैंक आव इंगलैंड में व्यापारिक बैंकों की जमा भी शामिल थी, व्यापारिक बैंक के जमा के रूप में 10 पाँड के साख का आधार होगा। इसी अनुपात का अब भी पालन किया जाता था, पर पहले से अधिक लोच के साथ; और धीरे धीरे बैंकों ने, नकद और उधार के किसी एक अनुपात का ही पालन न कर, एक अधिक विपम सूत्र के आधार पर काम करना प्रारम्भ कर दिया जिसमें विभिन्न प्रकार के साखों के बीच में भेद किया जाता था।

अगर हम किसी व्यापारिक बैंक के स्टेटमेंट को देखें तो मालूम पड़ेगा कि देनदारी की तरफ, पूंजी और संचिति के अलावा, कुछ चालू खाते के जमा और कुछ सावधि-जमा होते हैं। संपत्ति (एसट्स) में ये चीजें शामिल होती हैं (अ) बैंक में रोकड़ (आ) बैंक आव इंगलैंड में जमा के रूप में रोकड़; (इ) याचना और अल्पकाल सूचना पर द्रव्य, यह वे हवालगियां होती हैं जो दैनिक आधार पर या कुछ दिनों के लिये खास तौर से कोपागार विपत्रों* (ट्रेजरी विल) और विनियम विपत्रों में सौदा करने वालों को और स्कंध बाजार के लेन-देन करने वालों को भी दी जाती हैं, (ई) भुनाए हुए विल, जिनमें कोपागार विपत्र और विनियम विपत्र जो स्वयं बैंक के पास हैं दोनों शामिल होते हैं; (उ) ग्राहकों को खास तौर से व्यापारिक फर्मों को दिया गया ऋण तथा अविविर्कप (ओवर ड्राफ्ट) और (ऊ) विनियोग, जो अविकांशतः, यद्यपि सर्वथा नहीं, दीर्घकालिक सरकारी प्रतिभूतियां होती हैं। अब, इन संपत्तियों की जिसे बैंकर तरलता (लिक्विडिटी), यानी नकद की शकल में तत्काल उपलब्धि, कहते हैं वह अलग अलग हद तक होती है। इस अर्थ में नकद खुद स्पष्टतया तरलता का एक पूर्ण उदाहरण है; और बैंक आव इंगलैंड में जो शेप हैं वे भी करीब करीब इतने ही तरल हैं क्योंकि मांग करने पर और बिना पूर्व-सूचना के वे नकद में बदले जा सकते हैं। याचना

*—कोपागार विपत्र तीन महीने के समय में चुकारा करने के बायदे होते हैं जो कोपागार (ट्रेजरी) द्वारा जारी किये जाते हैं और द्रव्य बाजार में जिस मूल्य पर भी वे विकें उसी पर वे बेचे जाते हैं। वे इस अर्थ में व्यापारिक विपत्र (देखें पृष्ठ 52 मूल) की तरह ही होते हैं कि वे अपने अंकित मूल्य से कम पर इसलिये बेचे जाते हैं कि जिससे उनके आधार पर उधार लिये गए द्रव्य का उस समय का जो उनके वसूल होने के समय के पहले निकलने वाला है, व्याज आ जाए। अर्थात्, वे भुनाए जाते हैं। भुनाने की दर वेशक द्रव्य बाजार में पाई जाने वाली परिस्थितियों पर—खास तौर से उस तरल द्रव्य की मात्रा पर जो अल्पकालिक व्याज देने वाले विनियोग में लगाया जाता है—निर्भर करती है। कोपागार विपत्र जारी

और अल्पकालिक सूचना द्रव्य भी बहुत तरल है : इस श्रेणी के ऋण को बैंक एक दिन या कुछ दिनों की सूचना पर ही वसूल कर सकते हैं और इस प्रकार बिना हानि के अपनी जिम्मेदारी को कम कर सकते हैं। उनको वसूल करके वे व्यवहार में अपनी नकद की भी पूर्ति कर सकते हैं; क्योंकि जिन विलों में लेन-देन करने वालों के व्यापारिक बैंक के ऋण वसूल हो जाएंगे उन्हें अपने कुछ विपत्रों को बैंक आव इंगलैंड में पुनः भुनाना पड़ेगा और इन विपत्रों के एवज में बैंक आव इंगलैंड जो बैंक उन्हें देगा उनके कारण, जब वे बैंक व्यापारिक बैंकों को दे दिये जाएंगे, बैंक आव इंगलैंड में जो उनका नकद शेष है उसमें वृद्धि हो जाएगी।

भुने हुए विल कम तरल होते हैं, क्योंकि उनके चुकारे में तीन या छः महीने तक का समय भी बाकी हो सकता है। लेकिन व्यापारिक बैंक ग्राम तोर से उन विपत्रों को खरीदना पसंद करते हैं जो अपने भुगतान के समय का काफी हिस्सा समाप्त कर चुके होते हैं और जिनके परिपक्व होने में थोड़ा समय ही बचा हुआ होता है। व्यापारिक बैंक जिन विपत्रों को एक बार प्राप्त कर लेते हैं उनको पुनः नहीं भुनाने का उनका तरीका रहता है; और जो अपनी परिपक्वता की ओर काफी आगे बढ़ चुके होते हैं, मुख्यतया उन विपत्रों को खरीदने का यह

करने के दो तरीके हैं। मुख्य तरीका निविदा (टेन्डर) का है। कोपागार जब वह इस रूप में द्रव्य (अल्प-कालिक द्रव्य) उधार लेना चाहता है तो जो मात्रा वह उचित समझता है विक्री के लिए प्रस्तुत करता है और निविदाओं (टेन्डर्स) की मांग करता है—अर्थात् संभावित खरीददारों से वह यह पूछता है कि तीन महीने वाले हर 1 पाँड के एवज में तत्काल वे कितना द्रव्य देने को तैयार हैं। कोपागार विपत्र जारी करने का दूसरा तरीका विवरी (टैप) कहलाता है, जिसका अर्थ यह है कि विपत्र, बजाए निविदा (टेन्डर) के लिए प्रस्तुत किये जाने के, एक निश्चित बट्टे पर, जो भी उनको खरीदना चाहता है, उसके लिये उपलब्ध किये जाते हैं। यह दूसरा तरीका प्रथम महायुद्ध में जारी किया गया था। कोपागार विपत्रों के खरीददारों में वे विभिन्न सरकारी संस्थाएं भी होती हैं जिनके पास जो उन्हें तत्काल खर्च करने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा द्रव्य होता है। बजाए इसके कि ये रकमें उनके पास पड़ी रहें और कोई मूद न कमाएं वे उनको कोपागार को उधार दे सकते हैं और एवज में कोपागार विपत्र ले सकते हैं। सरकारी खर्च की वित्तीय व्यवस्था करने में कोपागार विपत्रों का और उन्हीं से मिलते जुलते कोपागार निक्षेप-प्राप्ति (ट्रेजरी डिपोजिट रिमीट) का, जो कि व्यापारिक बैंकों ने कोपागार द्वारा अल्पकालिक उधार लेने का दूसरे महायुद्ध में जारी किया गया नया तरीका था, क्या स्थान है इस विषय में हम बाद में विचार करेंगे। (देखें पृष्ठ 211 और 215 मूल)

तरीका उनके पास के विपत्रों को वह तरलता प्रदान कर देता है जो वे चाहते हैं और यह जोखिम भी नहीं रहती कि वट्टे के दर में परिवर्तन होने से हानि हो जाएगी। इस तरह की जोखिम वे विपत्रों में लेन-देन करने वालों पर छोड़ देते हैं, जो विपत्र उनके पास होते हैं वे जब परिपक्व हो जाते हैं तो उनके पूरे अंकित मूल्य पर उनकी वसूली हो जाती है।

कर्ज और अधिविकर्ष के रूप में ग्राहकों को दी गयी हवालगियां विपत्रों की अपेक्षा बहुत कम तरल होती हैं। आम तौर पर वे छः महीने के लिये दी जाती हैं और प्रायः यह आशा रहती है कि उनकी अवधि बढ़ा दी जाएगी। निर्माता (मैन्यूफैक्चरर) या व्यापारी दैनिक या साप्ताहिक आधार पर दिये गए ऋणों से अपना काम नहीं चला सकता। उसे यह विश्वास होना चाहिये कि अपनी वस्तुओं का चुकारा प्राप्त करने में जितना समय उसे लगेगा उतने समय के लिए उधार का रुपया उसके पास रहेगा। इस आश्वासन के खातिर अल्प-कालिक ऋणों पर जो सूद दिया जाता है उससे कहीं अधिक सूद वह देता है। और इसलिये जो हवालगियां कम तरल होती हैं वे बैंकों के लिए अधिक लाभदायक होती हैं।

प्रायः बैंकर विनियोग को अपनी सबसे कम तरल संपत्ति मानते हैं। फिर भी ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियां और दरअसल बैंक जो प्रतिभूतियां खरीदते हैं उनमें से अधिकांश किसी भी समय आसानी से बेची जा सकती हैं। लेकिन वे अपनी परिपक्वता की तारीख तक—अगर ऐसी कोई तारीख है—और यह तारीख वर्षों बाद की हो सकती है, किसी निश्चित द्रव्य की मात्रा के लिए नहीं बेची जा सकती हैं। उनको जल्दी ही द्रव्य में बदलने में पूंजीगत हानि की जोखिम रहती है। इसलिए बैंक या तो ये पसंद करते हैं कि उनके परिपक्व होने तक वे उन्हीं के पास रहें—इस कारण से वे अपेक्षाकृत अल्पकालिक प्रतिभूतियों को पसंद करते हैं—या कम से कम बेचने का अपना स्वयं समय पसंद करें और किसी प्रतिकूल क्षण में बेचने की जल्दी न करें। इस वजह से बैंकर ऐसी प्रतिभूतियों को, बावजूद इसके कि वे तत्काल बेची जा सकती हैं, अतरल मानते हैं।

जिन नियमों के अनुसार, थोड़े बहुत अंतर के साथ, व्यापारिक बैंक अब काम करते मालूम होते हैं वे ये हैं। उनका ध्येय यह होता है कि कुल जमा की रकम का 9 प्रतिशत नकद में, बैंक आफ इंग्लैंड में जो नकद श्रेय है उसे शामिल करके, रखें। इसे प्रथम तरलता नियम कहा जाता है। दूसरे, उनका ध्येय यह रहता है कि कुल जमा का लगभग 30 प्रतिशत ठीक ठीक तरल रूप में, याचना और अल्प-सूचना द्रव्य को शामिल करके, रखा जाए। यह दूसरा तरलता नियम कहा जाता है। बाकी की उनकी 70 प्रतिशत संपत्ति चालू परिस्थितियों के अनुसार वे हवालगियों, अर्थात् साधारण ऋण और अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट), और विनियोग में

वांटते हैं। जब व्यापार में क्रियाशीलता होती है तो हवालियाँ बढ़ जाती हैं और विनियोग कम हो जाते हैं जब व्यापार मंदा होता है, तो इससे उल्टा होता है, नकद और अत्यन्त तरल संपत्ति के बीच में थोड़ा हेर फेर करने के लिए भी बैंक अपने आपको स्वतन्त्र अनुभव करते हैं। अगर उनके पास याचना और अल्प सूचना द्रव्य, और विपन्न अधिक मात्रा में हैं, तो वह अपने पास के नकद को 9 प्रतिशत में कम होने दे सकते हैं। यदि विपन्नों और अल्पकालिक ऋणों की कमी है, तो वे अपने पास के नकद को जमा के 9 प्रतिशत से अधिक कर सकते हैं।

इसका अर्थ यह है कि व्यापारिक बैंक अमुक नकद के आधार पर जो साग का ढाँचा खड़ा करने का अपने आपको अधिकारी मानते हैं उसमें काफी लोच रहता है। और इसका यह अर्थ भी है कि केन्द्रीय बैंक का जो नियंत्रण रहता है वह किसी प्रकार भी कठोर नहीं कहा जा सकता। लेकिन, एक मर्यादा हमेशा ही ऐसी रहती है जिसको पार कर जाना व्यापारिक बैंक अपने अधिकार में नहीं मानते। और इस मर्यादा तक पहुँचने का हमेशा ही लोभ रहता है क्योंकि नकद तो कुछ कमाता नहीं, जब कि कम तरल संपत्ति कुल मिला कर अधिक लाभ देने वाली होती है। पर तरलता के जिस अवरोही (गिरते हुए) पैमाने का ऊपर वर्णन किया गया है उसके लिये ऐसा कहना बिलकुल सही नहीं है; क्योंकि परम-प्रतिभूतियों (गिल्ट-एजेंड सिक्कुरिटीज़) में किये गए विनियोग से ऋण और अधिविकल्प ग्राम तीर पर ज्यादा लाभ देने वाले होते हैं। इसलिए जितना वे साहस कर सकें उतना उत्पादकों और व्यापारियों को उधार देने का लोभ बैंकों को हमेशा रहता है, क्योंकि इस प्रकार के ऋण उनका सर्वाधिक लाभकारी निष्क्रम (ग्राउटनेट) होते हैं। अगर जितना इस प्रकार का ऋण देना चाहिए उससे कम ऋण वे देते हैं तो इसका कारण सावधानी और डर हैं जो लाभ की इच्छा पर हावी हो जाते हैं, सामान्यतया बैंकिंग का कार्य इतना लाभदायक होता है कि बैंकों को अपने हिस्सेदारों की लाभ की तृष्णा को संतुष्ट करने के लिए कोई बहुत से जोगिम उठाने की आवश्यकता नहीं रहती है।

इस प्रकार व्यापारिक बैंक व्यवहार में थोड़े बहुत लचीलेपन के साथ, उस नकद के आधार पर जो मोटे रूप में उनके लिए केन्द्रीय बैंक, गाम तीर से गुने बाजार की क्रियाओं के माध्यम से, निर्धारित करता है कार्य करते हैं। जब कोई देश स्वर्णमान पर होता है, तो केन्द्रीय बैंक के नकद आधार की मात्रा तय करने में सबसे प्रधान कारण उसके अधिकार में सोने की जितनी पूर्ति है वह होता है। लेकिन हाल की परिस्थितियों के प्रकाश में, इन कथन को थोड़ा विक्षेपित करना होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका, अपनी लेनदार की स्थिति, आयात में निर्यात अधिक होने और शर्णार्थी पूँजी के अमेरिका में आकर सुरक्षा ढूँढ़ने के कारण, 1939 के

पहले भी इतना सोना प्राप्त कर रहा था कि अगर इस बड़ी हुई सोने की मात्रा को चुकारे के साधनों की पूर्ति पर अपना पूरा असर डालने दिया जाता, तो साख की अत्यधिक स्फीति की स्थिति पैदा हो जाती और कीमतें नियंत्रण के बाहर निकल जातीं। इसलिये अमेरिका में आने वाले सोने का बहुत सा अंश विभिन्न तरीकों से बेकार कर दिया गया और इस प्रकार उसे अपना असर लाने से रोक दिया गया। इसका एक तरीका यह रहा है कि व्यापारिक बैंकों को कितनी नकद संचिति रखना चाहिए—इस सम्बन्ध के कानूनी उपबन्ध (प्रोविजन्स) बदल दिये गए। अमेरिका में इन संचितियों का कानून से नियंत्रण होता है, जब कि ग्रेट ब्रिटेन में संचिति अनुपात केवल परम्परा पर निर्भर करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कड़ाई से देखें तो स्वर्णमान पर नहीं रहा; पर व्यवहार में डालर का सोने में मूल्य स्थिर कर देने से वहां की परिस्थितियां बहुत सी दृष्टियों से स्वर्णमान वाले देशों की परिस्थितियों के समान बन गयीं हैं। फिर भी अमेरिकन परिस्थितियों में यह वेतुकापन रहा है कि इससे पहले किसी भी देश के पास इतना सोना नहीं रहा कि आंतरिक मौद्रिक व्यवस्थाओं को निश्चित करने में सोने की उपलब्ध पूर्ति का विचार ही न किया जाए।

जब कोई देश स्वर्णमान पर नहीं होता, और सोने के निर्यात करने की आजादी नहीं होती तो आम लोगों द्वारा बैंक से सोना निकलवाने के कारण सोने के उत्सारण (ड्रेन) का कोई भय ही नहीं हो सकता। ऐसी हालत में केन्द्रीय बैंक का ध्यान, सोने के आवागमन पर केन्द्रित न हो कर, राष्ट्रीय चलार्थ और दूसरे देशों के चलार्थ के बीच में विनिमय दरों के परिवर्तन, या अगर उनको रोकने के कोई प्रयत्न नहीं किये गए तो जो परिवर्तन होंगे उन पर, केन्द्रित होता है। ऐसी परिस्थितियों में यह मानने का कोई निरपेक्ष आधार नहीं होता कि अमुक विनिमय दर को ही एक ऐसा प्रमाण (स्टैंडर्ड) मान लिया जाए जिसकी तरफ लक्ष्य रखा जाएगा। जब तक कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों से ही अपने आपको न बांध लिया हो, द्रव्य अधिकारियों को इस बात की आजादी रहती है कि वे किसी विनिमय दर को इस दृष्टि से चुन लें कि उसे कायम रखा जाएगा, अपनी इच्छानुसार बिना उनको रोकने का प्रयत्न किए हुए परिवर्तनों के होने देने के लिए सीमाएं वे तय कर दें और प्रमाण (स्टैंडर्ड) को जब वे चाहें और जितना वे चाहें उतना ही अपनी इच्छानुसार बदल दें। अपने निर्णय करते समय वे दो लक्ष्यों के बीच में भूलेंगे—एक तो आंतरिक आवश्यकता के अनुसार चुकारे के साधनों का समायोजन वैठाया जाए जिससे कि मूल्य-व्यवस्था में कम से कम संभव अव्यवस्था उत्पन्न किये बिना उत्पादन साधनों को यथासंभव अधिक से अधिक काम में लिया जाए और दूसरा यह कि राष्ट्रीय चलार्थ के बाह्य मूल्य में पर्याप्त स्थिरता लाई जाए जिससे कि विदेशी व्यापार में जो निर्यातक और दूसरे लोग लगे हुए

कुछ चलायों का संयुक्त राज्य अमेरिका के सेन्स में मूल्य, 1938-1953

	तालिका ६	वर्ष का औसत				1953 में मूल्य 1938 के मूल्य के प्रति शत में
		1938	1949 (1)	1949 (2)	1953	
कनाडा	डालर	99.44	100.0	90.91	101.7	102.3
स्विट्जरलैंड	फ्रैंक	22.87	23.17	23.16	32.0	101.9
पाकिस्तान	रुपया	36.42	30.22	30.22	30.22	83.0
स्वीडन	क्रोन	25.14	27.82	19.32	19.33	76.9
न्यूजीलैंड	स्टर्लिंग	393.3	403.0	280.0	280.0	71.2
डेनमार्क	क्रोन	21.76	20.84	14.48	14.48	66.5
पश्चिमी जर्मनी	आर एम० और डी एम०	40.16	30.0	23.81	23.81	59.3
बेल्जियम	फ्रैंक	3.380	2.282	2.0	2.0	59.2
भारत	रुपया	36.42	30.22	21.0	21.0	57.7
दक्षिण अफ्रीका संघ	स्टर्लिंग	486.2	403.0	280.0	280.0	57.6
ब्राज़ीलिया	स्टर्लिंग	389.6	322.4	224.0	224.0	57.5
यूनाइटेड किंगडम	स्टर्लिंग	489.0	403.0	280.0	280.0	57.3
नाम	क्रोन	24.45	20.15	14.0	14.0	47.9
मिश्र	स्टर्लिंग	501.5	413.3	287.2	287.2	45.0
हॉलैंड	गिल्डर	54.95	37.70	26.32	26.32	20.3
इटली	स्टर्लिंग	79.36	35.71	35.71	35.71	14.47
फिनलैंड	माक	2.145	0.7353	0.4348	0.4348	10.0
यूगोस्लाविया	डीनार	2.303	2.0	2.0	2.0	3.04
फ्रान्स	फ्रैंक	2.860	0.3076	0.2864	0.2864	0.975
इटली	लीरा	5.263	0.1739	0.16	0.16	
जापान	येन	28.50	0.2778	0.2778	0.2778	

(1) प्रचालन के पूर्व
(2) प्रचालन के बाद

हैं और विदेशी विनियोग से जो आय प्राप्त करने वाले हैं वे संविदा (कान्ट्रेक्ट) करते समय, विदेशों को माल बेचते समय, या विदेशी पूंजी से होने वाली भावी आमदनी को आंकते समय यथासंभव अधिकाधिक आश्वासन रख सकें। इन दिनों जब कि चुकारे के संतुलन में सरकारों का पारस्परिक ऋण एक महत्वपूर्ण कारण होता है, इसमें कोई शक नहीं कि ये लोग भी सरकार के वित्तीय मामलों में दिये गए वचन से प्रभावित होते हैं। किसी व्यापारिक देनदार की तरह सरकार को भी अपने चलार्थ में ज्यादा चुकाना पड़ता है अगर इस चलार्थ का मूल्य उन दूसरे चलार्थ में जिन में कि ऋण चुकाना है या सोने में, कम हो जाता है। इन उद्देश्यों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो सकता है; और उस हालत में मौद्रिक अधिकारियों को जितना अच्छा समझौता करना संभव है उतना अच्छा समझौता करना पड़ता है। जितना अधिक कोई देश विदेशी व्यापार और समुद्र पार विनियोग पर निर्भर करता है उतना ही अधिक महत्व उसके धनिक वर्ग विनिमय दरों को देते हैं; अपने उत्पादन का जितना अधिक अंश देश के उपयोग के काम में आता है, उतना ही अधिक जोर देश के उद्योग और व्यापार की वित्तीय व्यवस्था के लिये द्रव्य की पर्याप्त पूर्ति करने की आवश्यकता पर दिया जाएगा। किसी सरकार को सोने या विदेशी चलार्थ में जितना अधिक विदेशों को देना होता है, उसके पास यह इच्छा नहीं करने का उतना ही अधिक कारण होता है कि राष्ट्रीय चलार्थ का लेनदार देशों के चलार्थ में या सोने में मूल्य गिरे। यह भी कह देना चाहिये कि जितना अधिक कोई देश बेकारी से पीड़ित है और इस अभिशाप से वचना चाहता है उतना ही अधिक दबाव उसके मौद्रिक अधिकारियों पर इस बात के लिए होगा कि उसके घरेलू उद्योगों के वास्ते साख की सुविधाओं की उदार व्यवस्था की जाए।

तो, ऐसे देश में जो स्वर्णमान पर, या अन्य कोई निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय मान पर नहीं है, कोई ऐसा अपने आप में निश्चित नियम नहीं हो सकता जिसके अनुरूप द्रव्य नीति को रखना पड़े। ऐसे देश में आवश्यकता के अनुसार ही निर्णय करने की बात हो सकती है, किसी पूर्व निश्चित नियम के पालन करने की नहीं। जब स्वर्णमान था तो उसके विरुद्ध आपत्ति उठाने वाले और उसका अन्त चाहने वाले आलोचक थे; लेकिन जब तक वह था किस साख नीति का पालन किया जाए इस संबंध में मामूली मतभेदों से ज्यादा के लिए गुंजाइश नहीं होती थी। पर जैसे ही कोई देश स्वर्ण मान से पृथक हो जाता है तो राय की बहुत अधिक भिन्नता के लिए गुंजाइश पैदा हो जाती है। यह एक विवाद का विषय हो जाता है कि पूर्ण रोज़गार की स्थिति बनाए रखने के लिए कितना द्रव्य आवश्यक है, और इसके अलावा पूर्ण रोज़गार की परिभाषा के बारे में, और पूर्ण रोज़गार तथा विनिमय स्थिरता बनाए रखने के आपेक्षिक महत्व के बारे में भी विचार भेद होगा। ऐसी परिस्थितियों में

द्रव्य नीति अवश्य ही एक बड़ी भारी विवाद का विषय हो जाती है; और यह जानकारी कि ऐसा होना अनिवार्य है और ऐसा होने के परिणामों का डर, इस बात के मुख्य कारणों में हैं कि क्यों बहुत से वित्त प्रबंधक और वित्तीय-विशेषज्ञ स्वर्णमान को एक आदर्श के रूप में मानते रहे और उसकी पुनः स्थापना अत्यधिक चाहते रहे, तब भी जब कि वे मानते थे कि इसमें कई दोष हैं। स्वर्णमान के यह समर्थक समाजों की ऐसी द्रव्य व्यवस्था प्रणालियाँ खड़ी करने की क्षमता के विषय में, जो ठीक तरह या जिसे वे ठीक समझें वैसे, काम करेंगी, इतने सशंक थे—और उनमें से कुछ अब भी हैं कि वे ऐसे वस्तुगत प्रमाण को पसंद करते थे जिसकी व्यवस्था नहीं हो सकती थी, चाहे फिर इसके कारण समय समय पर समाज की आन्तरिक आवश्यकताओं के साथ चुकाये के साधनों की पूर्ति का कुसमायोजन (मेलएडजस्टमेंट) ही क्यों न हो जाए। स्वर्णमान वित्तीय नियमों के पालन करने से उत्पन्न होने वाली बेकारी होने देना वे अधिक पसंद करेंगे, इसकी अपेक्षा कि वे किसी पर भी यह विश्वास कर लें कि उसे बैंकिंग व्यवस्था का अधिकारी बना कर साख की स्थिति का विवेकपूर्ण और अच्छा प्रबंध करने को कहा जाए। बैंकरों में ऐसा दृष्टिकोण हो यह बात आसानी से समझ में आ सकती है क्योंकि उद्योग और व्यापार की मंदी की हालत में भी वे प्रायः अच्छा लाभ कमा लेते हैं। पर जब ऐसे लोग इस दृष्टि कोण का समर्थन करते हैं कि जिन्हें व्यापारिक मंदी से भारी हानि होने वाली है तो यह बात आसानी से समझ में नहीं आती। जब इस तरह के लोग ऐसा विचार रखते ही हों, तो उनके दृष्टिकोण को आर्थिक मामलों पर राज्य के नियंत्रण के प्रति उनके विरोध के उप-परिणाम के रूप में ही समझना होगा और उसे उनकी इस मान्यता से जोड़ना होगा कि जब रोज वरोज की बैंकिंग नीति गुटों और वर्गों के बीच में विवाद का विषय हो जाए तो इनमें बहुत समय नहीं लगेगा कि संपूर्ण बैंकिंग व्यवस्था को राजनीतिक नियंत्रण में लाने के लिए राजनीतिक दबाव डाला जाने लगे।

आजकल यद्यपि अनेक वित्तीय विशेषज्ञ अब भी स्वर्णमान की पुनः स्थापना के पीछे पड़े हुए हैं। एकसी ऐसी बैंकल्पक व्यवस्था स्थापित होने की आशा रखते हैं जो कि मुख्य मुख्य चलायों के आपेक्षिक मूल्य निश्चित करेगी जिससे कि यह प्रश्न केवल राष्ट्रीय नियंत्रण के बाहर हो जाए, परन्तु ग्रेट ब्रिटेन में अधिकांश लोग, फिलहाल, ऐसा कुछ हो सकने की अव्यावहारिकता को समझते हैं। अमेरिकन लोग वास्तव में बराबर यह दबाव डालते रहते हैं कि राष्ट्रीय चलायों की पूर्ण परिवर्तना (कनवर्टिबिलिटी) फिर से लाई जाए और राष्ट्रीय सीमाओं के परे किये जाने वाले चुकावों पर जो प्रतिबंध हैं वे हटाए जाएं। वे ऐसा इसलिये कर सकते हैं कि दूसरे एक दुर्लभ चलाय है और उनको इस बात का कोई खतरा नहीं है कि बाहर से उन पर अपस्फीति (डिफ्लेशन) लादी जा सकती है; और वे दूसरे देशों को जिन्हें वे विनिमय की स्वतंत्रता कहते हैं उस स्थिति में लौटने के लिए तैयार करना चाहते हैं।

क्योंकि वे अमर्यादित पूंजीवादी व्यवसाय के समर्थक हैं और राज्य के नियंत्रण के, जहाँ भी वह अमेरिकन पूंजीवादी के अवसरों को रोकता है, विरोधी हैं। इसके विपरीत जो देश अपने चुकारे संतुलन के मामले में कठिनाई में हैं और अधिकांश को खास तौर से डालर की कमी है, वे स्वतंत्र परिवर्त्यता (कनवर्टिबिलिटी) की अनुमति देने की स्थिति में नहीं है क्योंकि इससे उनकी अर्थ व्यवस्थाएं वास्तव में अमेरिकन व्यापारिक क्रिया-शीलता के उतार चढ़ाव पर आधारित हो जायगी और उनके संयुक्त राज्य अमेरिका में शुरू होने वाली तेजी और मंदी के शिकार होने की आशंका हो जाएगी। किन्तु इन प्रश्नों पर इस पुस्तक में वाद में ज्यादा बारीकी से और अधिक अच्छी तरह से विचार किया जा सकेगा*। यहाँ इनका केवल इसलिए उल्लेख किया गया है कि परिवर्त्य (कनवर्टिबिल) चलार्थों की ओर लौटने का अमेरिकनों का समर्थन पुरानी वित्तीय परम्पराओं के युरोपियन समर्थकों को द्रव्य नीति के प्रथम लक्ष्य के तौर पर विनिमय स्थिरता के मुकाबले में पूर्ण रोज़गार को पसंद करने के विचार का विरोध करने की-उनको मुख्य शक्ति प्रदान करता है।

* देखें पृष्ठ 332 (मूल)

अध्याय ४

मूल्य नियंत्रण—व्यापार चक्र—परिकल्पना

1930 के दशक में 'प्रचुरता में निर्धनता' संबंधी विरोधाभास के विषयमें बहुत कुछ लिखा गया था। बढ़ती हुई संख्या में, और अधिकाधिक जोर से लोग पूछते थे कि दुनिया में जो तकनीकी दृष्टि से विपुलता उत्पन्न करने के योग्य है आम-वेकारी और अल्प-उपभोग को क्यों बना रहने दिया जाता है। कई बार, शिकायत करने वाले अधिकांश—कभी कभी पूरा—दोष इस विरोधाभास की स्थिति का द्रव्य को देते थे। उनका कहना था कि विकसित देशों और दरअसल तमाम देशों में उनके द्रव्य सम्बन्धी मामलों की अत्यधिक अव्यवस्था है, द्रव्य व्यवस्था में कहीं न कहीं कोई कमी है जिससे लगातार या बार बार क्रय शक्ति की कमी पैदा होती है, मनुष्य 'स्वर्णमान वित्त', या, फिर, 'वेकार कागज की बाढ़' के शिकार हैं, बैंकरो और—या राजनीतिज्ञों के द्रव्य द्वारा व्यवस्था या तो बहुत कम या बहुत ज्यादा 'व्यवस्थित' है, और हर बात, या कम से कम अधिकांश बातों को, द्रव्य सुधार के सुनिर्मित और व्यापक उपायों द्वारा ठीक किया जा सकता हैं। दूसरे लोग ज्यादा नम्रता से यह कहते थे कि द्रव्य संबंधी कारण, अगर हमारी तमाम तकलीफों की जड़ में नहीं भी हैं, तो भी, वे बारबार होने वाले उन आर्थिक संकटों के लिए मुख्यतया जिम्मेदार हैं जो, जबसे पूंजीवादी व्यवस्था आरंभ हुई है, दुनिया भर में फैल गए हैं, और द्रव्य में एक स्वाभावगत 'अस्थिरता' होती है जिसे नियंत्रण में रखना सार्वजनिक आर्थिक नीति का लक्ष्य होना चाहिये।

दोष कहां है इसके निदान और प्रस्तावित इलाज दोनों ही विभिन्न और अनेक थे, और इस विषय पर दो युद्धों के बीच के आर्थिक अस्थिरता के काल में जो कुछ साहित्य प्रकाशित हुआ उसके दशांश की, इस जैसी पुस्तक में ऊपर ऊपर से भी आलोचना करने का कोई प्रश्न नहीं उठता। जो संभव है वह यह कि आलोचनाओं, योजनाओं और प्रस्तावों के ढेर में से कुछ ध्यान देने योग्य ऐसी मुख्य-मुख्य बातें जिन पर कई आलोचकों का ध्यान गया है, और सुधार के कुछ नमूने की योजनाएं चुनली जाएं।

पहले उन आलोचकों पर विचार कर लेना सबसे अच्छा होगा जिनकी निगाह में घुसाई की जड़ स्वयं द्रव्य में नहीं, बल्कि मूल्य-व्यवस्था के व्यवहार में

है। वेशक इस में सबकी एक राय है कि हाल के वर्षों में बहुत से देशों में और बहुत प्रकार के व्यापारिक कार्यों में मूल्यों की अत्यधिक अस्थिरता उथल-पुथल का एक बड़ा कारण रही है। सुधारकों में से कुछ का मानना यह है कि मूल्यों की इस अस्थिरता का कारण द्रव्य सम्बन्धी मामलों की अव्यवस्था है, और इसलिये निराकरण भी द्रव्य सम्बन्धी नीति में ही ढूँढना होगा। लेकिन दूसरों का मानना यह है कि निराकरण वास्तव में मूल्यों के नियंत्रण में मिलने वाला है, क्योंकि वे ऐसा सोचते हैं कि मूल्यों का परिवर्तन द्रव्य की मांग पर अवांछनीय प्रतिक्रियाएं पैदा करते हैं और स्थिर मूल्य-व्यवस्था द्रव्य की पूर्ति के क्षेत्र में भी अपने आप से ही बहुत अधिक स्थिरता लाएगी। मूल्य-स्थिरता के यह समर्थक मोटे रूप में दो समूहों में बंटते हैं—एक तो वे जो मुख्यतया बुनियादी महत्व रखने वाली खास खास वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के संबंध में ही कार्यवाही करना चाहते हैं, और दूसरे वे जो 'मूल्यों के सामान्य स्तर' को स्थिर रखने की दृष्टि से ही कार्यवाही करना चाहते हैं। मैं दूसरे समूह वालों पर पहले विचार करूंगा।

'मूल्यों' का सामान्य स्तर किसे कहते हैं ? जिस हद तक इस विचार में सुस्पष्टता (प्रिसिशन) है, उसका आशय किन्हीं वस्तुओं के मूल्यों के औसत से होना चाहिये। अधिकांश देशों में अब देशनांक का एक समूह होता है जिससे मूल्यों के स्तर में होने वाले परिवर्तनों को नापने का प्रयत्न किया जाता है। दो सर्वाधिक जाने हुए और फैले हुए नमूने ये हैं : एक तो अमुक देशों में पाए जाने वाले थोक मूल्यों के देशनांक, और, दूसरे इसके सामानान्तर या तो वस्तुओं के फुटकर मूल्यों या, कुछ व्यापक आधार पर, रहन सहन के खर्च के देशनांक। इस प्रकार के देशनांक समूह में प्रायः कोई एक आधार वर्ष या महीना होता है, या कभी कभी जो आधार होता है वह स्वयं कई वर्षों या महीनों का औसत होता है। आधार समय के औसत मूल्यों को 100 के बराबर मान लिया जाता, और दूसरे वर्षों के देशनांक इस प्रमाण से जो अंतर होते हैं उनको नापते हैं। इस प्रकार ब्रिटिश थोक मूल्यों का बोर्ड ऑफ ट्रेड (व्यापार मंडल) का पुराना देशनांक, 1939 के पूर्वार्द्ध, युद्ध आरंभ होने के ठीक पहले, के 100 की तुलना में फरवरी 1946 में 176 पर था, जबकि श्रम मंत्रालय के रहन-सहन के खर्च का देशनांक 1939 के सितंबर के प्रारंभ के 100 की तुलना में 1945 के अंत में 132 पर था। साथ की तालिकाओं में दूसरे देशनांकों के उदाहरण दिये गए हैं।

स्पष्ट है कि तमाम देशनांक मूल्यों के चुनाव पर ही आधारित रहते हैं, क्योंकि किसी भी समय में वास्तव में जो मूल्य लिये जा रहे हैं उन सबको रेकार्ड करना और उनका औसत निकालना असंभव होगा। इसके अलावा अगर किसी अवधि के दरमियान में होने वाले मूल्य परिवर्तनों को रेकर्ड (अभिलेख) करना

मूल्यों के देशान्तर, 1229—1945

थोक मूल्य										रहन सहन का खर्च			
1929 = 100		युनाइटेड किंगडम्		यू०एस०ए०		जर्मनी		फ्रांस		यू०के०		यू०एस०ए०	
बोर्ड आब	इकोनो-	स्टेडिस्ट	लेबर	इरविंग	सरकारी	सरकारी	सरकारी	सरकारी	सरकारी	श्रम-मंत्रालय	ब्युरो	श्राव	इन्डस्ट्रियल
ट्रेड	मिस्ट	सोअर-बैक	ब्युरो	फ्रिशर	ब्युरो	ब्युरो	ब्युरो	ब्युरो	ब्युरो	लेबर	कान्फेस बोर्ड	कान्फेस बोर्ड	कान्फेस बोर्ड
100	100	100	100	100	100	100	100	100	100	100	100	100	100
1929	100	100	100	100	100	100	100	100	100	100	100	100	100
1930	87.5	84.0	90.7	89.6	90.8	90.8	88.4	96.3	97.5	96.6	97.5	96.6	96.6
1931	76.8	70.2	76.6	74.1	80.8	80.8	80.0	89.9	88.7	87.1	88.7	87.1	87.1
1932	74.9	67.7	68.0	64.0	70.3	70.3	68.2	87.8	79.7	77.8	79.7	77.8	77.8
1933	75.0	68.2	69.8	67.1	68.0	68.0	63.6	85.4	75.4	74.8	75.4	74.8	74.8
1934	77.1	71.0	71.7	79.5	71.7	71.7	60.0	86.0	78.1	79.3	78.1	79.3	79.3
1935	77.9	74.1	74.1	86.2	74.2	74.2	54.0	87.2	80.1	82.1	80.1	82.1	82.1
1936	82.7	78.6	77.8	86.9	75.9	75.9	65.5	89.6	80.9	84.0	80.9	84.0	84.0
1937	95.2	89.3	90.0	94.2	77.2	77.2	92.7	93.9	83.8	87.7	83.8	87.7	87.7
1938	88.8	77.8	80.1	84.3	77.1	77.1	104.1	95.1	82.3	85.6	82.3	85.6	85.6
1939	90.0	80.3	84.3	85.0	77.7	77.7	108.6	96.3	81.1	84.4	81.1	84.4	84.4
1940	119.6	104.3	113.0	86.8	80.2	80.2	—	112.2	81.7	85.2	81.7	85.2	85.2
1939 का सूचकांक = 100													
1940	140	139	144	105	103	103	—	121	101	101	101	101	101
1941	157	151	159	117	105	105	—	129	106	106	106	106	106
1942	164	160	169	134	107	107	181	130	118	118	118	116	116
1943	167	164	172	140	109	109	210	129	125	125	125	122	122
1944	171	168	177	142	110	110	243	131	127	127	127	124	124
1945	174	172	182	145	—	—	—	132	130	130	130	126	126

तालिका ८

मूल्यों के देशनांक, 1945—1953

1948=100	थोक मूल्य		साधारण देशनांक		रहन सहन का खर्च	
	यू०के०	यू०एस०ए०	जर्मनी	फ्रांस*	यू०के०	यू०एस०ए०
			(1949—100)			
1945	77	66	—	20	—*	75
1946	80	75	—	34	—*	81
1947	87	92	—	52	94*	93
1948	100*	100	100	89	100*	100
1949	105	95	97	100*	103	99
1950	120	99	94	108	106	100
1951	146	110	112	138	116	108
1952	149	107	114	145	126	110
1953	150	105	111	138	130	111

है, तो यह सावधानी रखनी होगी कि तुलना उन्हीं की की जाए जो समान या एक से हैं। अगर हमको यह मालूम पड़े कि ऑस्टिन सेवन की कीमत अमुक दिन 145 पाँड थी और किसी दूसरे दिन रोल्स-रायस की कीमत 3,500 पाँड थी तो इससे मोटर गाड़ियों की कीमतों के परिवर्तन के विषय में कोई जानकारी नहीं हो सकेगी। जिन चीजों का मुकाबला किया जाने को है उनकी किस्म जहां तक संभव हो हर तारीख को एक सी होनी चाहिए। और इसलिये केवल प्रमापकृति (स्टेन्डार्डाइज्ड) वस्तुओं की ही किसी हद तक की परिशुद्धता के साथ तुलना की जा सकती है। इसका अर्थ यह है कि किन्हीं वस्तुओं के, किन्हीं दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा, मूल्य-परिवर्तनों को नापना आसान है। लेकिन जहां बहुत अधिक प्रमाणीकरण है वहां भी किसी एक समूह में विभिन्न प्रमाप वस्तुओं की एक बड़ी संख्या हो सकती है। उनमें से किसी एक को नापने से दूसरों में होने वाले मूल्य परिवर्तनों का ठीक ठीक अनुमान नहीं लग सकता। और उन सभी को नापने में बड़ा परिश्रम पड़ सकता है। इसके अलावा, किन्हीं चीजों के सम्बन्ध में मूल्य परिवर्तनों के दो या अधिक नापों को जैसे ही हम इकट्ठा करने का प्रयत्न करते हैं, एक और समस्या पैदा होती है। क्या हर नाप को हम समान महत्व देने वाले हैं या विभिन्न वस्तुओं के सापेक्षिक महत्व को ध्यान में रखते हुए हम किसी प्रकार के भारण (व्हेटिंग) का प्रयत्न करने वाले हैं। अगर किसी एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा

* नया देशनांक

† दोनों पुराने देशनांक के (1937=100) अनुसार 132

सौ बार अधिक लेन देन होता है या सौ गुना अधिक वह खरीदी और बेची जाती है, तो मूल्य-परिवर्तनों के अपने औसत देशनांक को तैयार करने के लिए क्या हम उस वस्तु को 100 गुना भारण (व्हेटिंग) देने वाले हैं ? और अगर एक तारीख से दूसरी तारीख के बीच में दो वस्तुओं का सापेक्षित महत्व बदल जाता है, तो क्या हम भारण में परिवर्तन करेंगे ?

जैसे ही हम किसी एक वस्तु समूह में, जिसमें विभिन्न किस्म या प्रकार शामिल हैं, मूल्य परिवर्तन नापने का प्रयत्न करते हैं, ये समस्याएं उत्पन्न होती हैं। ये समस्याएं तब भी पैदा होती हैं जब इन समूहों के देशनांकों को हम एक व्यापक क्षेत्र के परिवर्तनों को नापने वाले किसी प्रकार के सम्मिलित देशनांक में बदलना चाहते हैं। इन कठिनाइयों को हल करने के अंकशास्त्रियों के पास अनेक उपाय हैं। गेहूं जैसी कोई चीज़ लो। इसकी कई किस्में हैं—सख्त कॅनेडियन, नरम अंग्रेजी अरजेन्टाइन, आस्ट्रेलियन, आदि—और एक किस्म की कई उप-किस्में हैं। मामूली तौर पर, गेहूं की कीमतों में होने वाले परिवर्तन का अनुमान लगाने के लिए, व्यापार मंडल जो करता है वह यह है कि उप-किस्मों में से कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण को वह चुन लेता है और बाकी को छोड़ देता है। और वस्तुओं के मामले में भी वह यही करता है, जिन वस्तुओं में व्यापार अधिक होता है उनकी बहुत सी किस्मों, और जो कुछ लेन देन में कम महत्व की वस्तुएं हैं उनकी थोड़ी सी किस्मों को वह चुन लेता है। इस प्रकार कुछ की ज्यादा और कुछ की कम किस्मों को शामिल करने से वह अपनी सूची की वस्तुओं के सापेक्षिक महत्व का एक मोटा भारण (व्हेटिंग) कर लेता है। अलग अलग वस्तु-समूहों और तमाम वस्तुओं सम्बन्धी औसत निकालकर, वह समूह देशनांकों की एक श्रृंखला तैयार कर लेता है—अनाज, मांस, वस्त्र, धातु आदि के लिए—और अपने अध्ययन के क्षेत्र में आने वाली तमाम वस्तुओं के थोक मूल्यों का एक सामान्य देशनांक तैयार कर लेता है। इस अन्तिम देशनांक को ही थोक मूल्य देशनांक कहते हैं, और फुटकर व्यापार से अलग, वस्तु मूल्यों के सामान्य स्तर को जानने के लिए इसी का ग्राम तौर से उपयोग किया जाता है।

श्रम मंत्रालय का रहन सहन के खर्च का देशनांक थोड़ा भिन्न प्रकार से तैयार किया जाता है। आज से 50 वर्ष पहले शुरू में इसका आधार अलग अलग मजदूर-परिवारों के पारिवारिक बजटों का संकलन था जो यह बतलाते थे कि ये परिवार विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं पर अपनी आय किस प्रकार खर्च करते थे। इन बजटों में से कुछ ऐसे खर्चें छांट लिये जाते थे जो ज्यादा महत्वपूर्ण थे और अधिकांश बजटों में मिलते थे और बियर तथा तंबाकू जैसी वस्तुएं जो कुछ ही लोग उपभोग करते थे तथा ऐसे अत्यधिक परिवर्तनशील खर्च जैसे डाक्टरों के बिल,

सफ़र और यातायात और कई प्रकार के विलासिता तथा अर्धविलासिता संबंधी खर्च, छोड़ दिये जाते थे। इस प्रकार एक औसत वजट तैयार कर लिया जाता था जो विभिन्न मदों में—मुख्य-मुख्य प्रकार के भोजन, वस्त्र और गृहस्थी की आवश्यकताएं—साप्ताहिक खर्च का औसत वटवारा बतलाता था। इसके बाद औसत वजट की रचना के अनुसार विभिन्न वस्तुओं को भारण दिया जाता था। हर महीने श्रम मंत्रालय बहुत सी दुकानों से जहां तक संभव हो, एक सी किस्म की विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिए जो मूल्य तत्काल वसूल किये जाते हैं उनकी जानकारी एकत्रित करता है और आधार समय में जो मूल्य थे उनसे इनकी तुलना करता है। इस प्रकार वस्तुओं के हर समूह के लिए, जहां आवश्यकता हो वहां कई किस्मों का औसत निकालकर, एक अलग देशनांक तैयार किया जाता है, और फिर ये देशनांक एक ऐसे भारित देशनांक (व्हेटेड इनडेक्स) के रूप में, जिसमें ये सब शामिल होते हैं, एकत्रित किये जाते हैं। किरायों और कुछ दूसरी चीजों सम्बन्धी परिवर्तनों को नापने के लिए कम परिष्कृत तरीके काम लिये जाते हैं, और पहले से ही शामिल मदों की तुलना में इनको भी भारित किया जाता है। अंतिम परिणाम एक ऐसे सामान्य देशनांक के रूप में आता है जिसका अभिप्राय मजदूर वर्ग के रहन सहन के खर्च में होने वाले परिवर्तनों को नापने का होता है। 1947 के रहन सहन के खर्च के पुराने देशनांक की जगह एक नये फुटकर मूल्यों के अन्तःकालीन देशनांक ने, जिसमें भारण में बहुत बड़े परिवर्तन कर दिये गए हैं, ले ली है। लेकिन मोटा सिद्धान्त वही है।

दूसरे देशनांकों को तैयार करने के कई दूसरे तरीकों का उल्लेख भी किया जा सकता है। पर उदाहरण के लिए ये दो ही काफ़ी हैं। यह साफ़ है कि कोई भी देशनांक जो चीज़ वह नापना चाहता है उसको ठीक ठीक नहीं नापता। थोक मूल्यों के मामले में कच्चे पदार्थ जैसे गेहूँ, कपास या अर्धनिर्मित वस्तुएं, जैसे पिग-आइरन या इस्पात या सूत की प्रमाप किस्मों का पता लगा लेना आम तौर से तैयार माल की प्रमाप किस्मों का, जो बहुत अधिक विभिन्नता रखने वाली होती हैं, पता लगा लेने से कहीं ज्यादा आसान है। इसलिए, थोक मूल्यों के देशनांक सामान्यतया तैयार पूंजीगत और उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य परिवर्तनों की अपेक्षा कच्चे और अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं के मूल्य-परिवर्तनों को बहुत ज्यादा प्रकट करते हैं, और चूंकि तैयार माल की कीमतें जिन चीजों से वे बनी हैं, उनकी कीमतों के परिवर्तनों के मुकाबले में कम अनुपात में परिवर्तित होती हैं, थोक देशनांक तैयार माल की कीमतों के परिवर्तनों या सभी अवस्थाओं की वस्तुओं के थोक मूल्य-परिवर्तनों के सामान्य औसत को ठीक ठीक न बतलाएं, यह हो सकता है। इसी प्रकार रहन सहन के खर्च का देशनांक फुटकर मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों को न प्रकट करें यह हो सकता है अगर उन वस्तुओं की कीमतें जिनका उसमें प्रतिनिधित्व नहीं होता

है या अपर्याप्त रूप में होता है उन वस्तुओं की कीमतों से जिनका उसमें समावेश होता है भिन्न दिशा में बदलती है ।

इस तरह के देशनांक अपने में उन कुल चालू सौदों का जो मूल्यों के कुल परिवर्तन का निश्चय करते हैं एक हिस्सा मात्र होते हैं । वे भूमि, स्कंध और हिस्से, और जो उद्योग का चालू उत्पादन नहीं है ऐसी तमाम प्रकार की वस्तुओं संबंधी सौदों को छोड़ देते हैं । वे मजदूरी, वेतन और उन दूसरे चुकारों को, जो पाने वालों के लिए आय और चुकाने वालों के लिए लागत होती हैं, छोड़ देते हैं ।* एक या दो प्रयत्न इस तरह के भी हुए हैं कि थोक और फुटकर देशनाकों को मिलाकर और इनके साथ इन दूसरी वस्तुओं में से कइयों के देशनाकों को लेकर तमाम प्रकार के चालू मूल्यों का एक अधिक सामान्य देशनांक तैयार किया जाए । लेकिन नापने और भारण (व्हेटिंग) दोनों ही की कठिनाइयां बहुत बड़ी होती हैं और जो परिणाम आते हैं वे अधिक मान्यता नहीं प्राप्त करते । आज तो हम सब मूल्यों के सामान्य स्तर में होने वाले परिवर्तनों को नहीं नाप सकते : केवल मूल्य-परिवर्तनों के कुछ बड़े समूहों को ही हम नाप सकते हैं, और ये नाप भी किसी तरह से बिल्कुल ठीक नहीं होते । उदाहरण के लिए, जब कई अधिकारी अलग अलग तरीकों और अलग अलग भारण से थोक-मूल्य देशनांक तैयार करते हैं तो कभी कभी बड़ी बड़ी भिन्नताएं सामने आती हैं । 1943 के अप्रैल में, समान आधार पर (जनवरी जून 1939=100) तीन सर्वश्रेष्ठ माने हुए ब्रिटिश देशनांक इस प्रकार थे : व्यापार मंडल, 167, इकोनोमिस्ट 165, स्टेटिस्ट (सुपरिचित सावर बैंक देशनांक) 173 ।

जब किसी देश में औसत मूल्यों के नाप कठिन होते हैं, तो जब उनको अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर लागू करने का प्रयत्न किया जाए तो वे और भी कठिन होते हैं । वेशक कुछ ऐसी वस्तुएं होती हैं जिनका विश्व-व्यापी बाजार में व्यापक रूप से व्यापार होता है और इसलिए, अगर प्रतिबंधात्मक संयोजन (कोम्बिनेशन) न हो, यह संभावना रहती है कि, तटकर, या साहाय्य (सबसिडीज़), के कारण जो अन्तर उत्पन्न हो उसको छोड़ देने पर, उनका हर जगह एक सा मूल्य हो । पर ऐसी वस्तुएं अपेक्षाकृत कम होती हैं और विभिन्न देशों में उनका बहुत भिन्न भिन्न महत्व होता है । इसमें कोई शक नहीं कि इन वस्तुओं के मूल्य सोने में या किसी एक देश के द्रव्य में जो प्रमाप के रूप में मान लिया जाए, व्यक्त किये जा सकते हैं और, इस प्रकार व्यक्त, उनके औसत मूल्यों के परिवर्तन नापे जा सकते हैं । इस

*वेशक, कई देशों में मजदूरी के लिए अलग देशनांक होते हैं—जो कभी तो मजदूरी के दर के परिवर्तनों को नापते हैं और कभी आय के परिवर्तनों को नापते हैं पर ये देशनांक थोक मूल्यों और रहन सहन के खर्च के देशनाकों से सर्वथा अलग होते हैं ।

प्रकार के नापों का अपना उपयोग है, पर यह स्पष्ट है कि कोई ऐसा नाप कुल मिलाकर विश्व मूल्य-परिवर्तनों का कोई भी अन्दाज़ देने के लिए बहुत अपर्याप्त होगा ।

प्रायः 'मूल्यों' के सामान्य स्तर में स्थिरता बनाए रखना एक राष्ट्रीय नीति के तौर पर प्रतिपादित किया जाता है, और उसका उद्देश्य यह माना जाता है कि इस दृष्टि से मूल्यों का जो आंतरिक नाप सबसे महत्वपूर्ण माना जाए उसे स्थिर रखा जाए । सामान्यतया इसका अर्थ होगा थोक मूल्यों का देशनांक न कि रहन सहन के खर्च का, एक तो इसलिए कि रहन सहन के खर्च का देशनांक का क्षेत्र काफी संकीर्ण होता है और वह, जैसा कि प्रायः होता है, मजदूर वर्ग के खर्चों पर ही लागू होता है और कुछ इसलिए कि सामान्यतया जो लक्ष्य दृष्टि में होता है वह व्यापारिक लेन देन में स्थिरता का, न कि रहन सहन के स्तर में स्थिरता का, होता है । जो कुछ, लेकिन, मैं कहने जा रहा हूँ वह जो भी देशनांक काम में लिया जाए, उसी पर लागू होता है ।

कोई नीति जो किसी औसत में स्थिरता लाने के लिये बनाई गयी है, जिन चीजों से वह औसत बना है, उनमें परिवर्तन पहले ही से मान कर चलती है । अगर कोई मूल्य गिरते हैं, तो औसत भी गिरेगा, जब तक कि उसी हद तक दूसरी कीमतों में वृद्धि न हो । वस्तुओं विशेष में मूल्य परिवर्तन के विभिन्न कारणों में से कोई से भी कारण हो सकते हैं । जैसे चमड़े का मूल्य इसलिये गिर सकता है कि या तो चमड़े कमाने की प्रक्रिया में तकनीकी सुधार हो गया है, या इसलिये कि कच्चे चमड़े सस्ते हो गए हैं, या इसलिए कि जो एकाधिकार पहले मूल्य को ऊपर रखे हुए था वह समाप्त हो गया है, या उसने अपनी नीति बदल दी है, या इसलिए कि मांग गिर गयी है, और निर्माता अपने स्टॉक कम करने के प्रयत्न में हैं, या इसलिये कि चमड़े का काम करने वालों की मजदूरी कम कर दी गयी है । कच्चे चमड़े इसलिए सस्ते हो सकते हैं कि या तो मांस की बढ़ी हुई मांग के कारण अधिक संख्या में मवेशी पाले जाने लगे हैं, या जिन प्रदेशों में पशुपालन का धंधा होता है उनमें मजदूरी गिर गयी है, या दूसरे कारणों में से और कोई कारण हो सकता है । चमड़े की मांग इसलिए गिर सकती है कि फ़ैशन में परिवर्तन हो गए हैं या स्थानापन्न वस्तुओं का विकास हो गया है या उपभोक्ताओं की आय में परिवर्तन हो गए हैं । इस प्रकार, वस्तुओं विशेष के मूल्यों के संपूर्ण दायरे के माध्यम से ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जो किसी वस्तु विशेष के मूल्य में परिवर्तन ले आएँ । इनमें से कई कारण बहुत सी दूसरी वस्तुओं पर भी लागू होंगे और कुछ केवल उसी वस्तु या समूह पर लागू होंगे जिनका विचार किया जा रहा है, और जो कारण किसी न किसी हद तक अधिकांश वस्तुओं पर लागू होते हैं वे भी उन सब पर समान हद तक लागू नहीं होंगे ।

अगर मूल्यों के सामान्य स्तर को स्थिर रखना है तो किसी कारण विशेष से आने वाली वृद्धि या कमी किसी अधिक सामान्य कारण से होने वाली कमी या वृद्धि से बराबर हो जानी चाहिये । अगर, केवल तकनीकी कारणों से, कोयले, इस्पात या सूती कपड़ों का उत्पादन करना सस्ता या महंगा हो जाता है तो इनकी कीमतों में आने वाले परिवर्तन की दूसरी वस्तुओं की कीमतों में विपरीत दिशा में परिवर्तन लाकर बराबर करने के लिये कार्यवाही की जानी चाहिये । पर चूंकि मोजों की कीमत कम हो गयी है, इसलिए, जैसे बूट जूतों की कीमत क्यों बढ़ानी चाहिये ? वेशक, अगर बहुत बड़ी कमी, जिसके पीछे उत्पादन लागत को प्रभावित करने वाले तकनीकी कारण नहीं हैं, आ गयी है, तो मूल्यों को फिर से ऊँचे स्तर पर लाने के लिए हस्तक्षेप करने का वाजिब कारण हो सकता है । लेकिन, फिर भी, क्या थोक मूल्य देशनांक से किसी समय प्रकट होने वाले औसत स्तर में स्थिरता लाने के लक्ष्य में कोई खूबी है ? अगर लक्ष्य यह है कि द्रव्य संबंधी कारणों से आने वाली मूल्य-अस्थिरता को रोका जाए और वस्तुओं विशेषकर तकनीकी कारणों को पूरी आजादी से काम करने दिया जाए, तो सामान्य स्तर को अस्थिर छोड़ देना चाहिये जिससे कि औसत को स्थिर रखने के कारण ही मूल्यों विशेष को ज्यादा या कम न करना पड़े ।

इसका और भी अधिक महत्व इसलिए है कि किसी देश विशेष में कुछ मूल्य ऐसे होंगे जो किन्हीं दूसरे मूल्यों की अपेक्षा एक मात्र राष्ट्रीय आधार पर बहुत कम नियंत्रित किये जा सकेंगे । उदाहरण के लिये, संयुक्त राज्य अमेरिका में कपास जैसे बड़ी मात्रा में होने वाले निर्यातों का मूल्य मुख्यतया अन्तर्राष्ट्रीय पूर्ति और मांग के कारणों से निश्चित होता है, और राष्ट्रीय कार्यवाही से आसानी से वह प्रभावित नहीं किया जा सकता—अर्थात् तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि सरकार एक ऐसा कृत्रिम मूल्य न तय कर दे जिस पर वह उत्पादकों से खरीदने के लिए तैयार रहे और फिर विश्व-बाजार में उसे बेचने से जो भी हानि हो उसे उठाने को तैयार रहे, और लाभ हो तो उसे प्राप्त करे । यदि दुनिया की परिस्थितियों के कारण कपास और दूसरी दुनिया भर में जिनका व्यापार होता है उन सामग्रियों और खाद्य वस्तुओं की कीमतें गिरावट की ओर जाती हैं, और यदि स्वीकृत अमेरिकन नीति यह है कि संबंधित वस्तुओं को कृत्रिम मूल्य पर खरीदे बिना और फिर उनको नुकसान पर बेचे बिना मूल्यों के सामान्य स्तर को स्थिर रखा जाए, तो यह आवश्यक होगा कि उन वस्तुओं की कीमतों को जिन पर दुनिया के प्रभावों का कम असर पड़ता है कृत्रिम रूप से बढ़ाया जाए । आधारभूत सामग्रियों और खाद्यपदार्थों की कीमतों में गिरावट आने से उत्पन्न होने वाली बुराइयों को मिटाने के बजाए, इस प्रकार की नीति स्थिति को अधिक बिगाड़ देगी, क्योंकि किसानों को अपने माल के लिए तो कम मूल्य मिलेगा पर

जिन चीजों को उन्हें खरीदने की आवश्यकता होती है उनका उन्हें अधिक मूल्य देना होगा। जिसे “किसानों का अनुपात”—यानी कृषि तथा दूसरी क्रीमतों के बीच में सम्बन्ध—कहा जाता है वह किसानों के विपक्ष में बिगड़ेगा, और इसका नतीजा इस रूप में देखने को मिलेगा कि किसानों की खरीदने की शक्ति कम हो जाने से औद्योगिक बेरोज़गारी बढ़ेगी। इसके बाद संभवतः यह होगा कि किसान न केवल उनके माल की क्रीमत गिरने से बल्कि जो चीजें उन्हें खरीदनी पड़ती हैं उनकी कृत्रिम ढंग से बढ़ी हुई क्रीमतों से होने वाली अपनी हानि को पूरा करने के लिये राजसाहाय्य (सबसिडीज़) के लिये मांग करेंगे।

ग्रेट-ब्रिटेन में स्थिति कम स्पष्ट है, लेकिन नतीजा वही लागू होता है। अगर वस्तुओं विशेष की क्रीमतों को इसलिए बदलने दिया जाता है कि उनके उत्पादन की परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाता है, तो इन तमाम बदलती रहने वाली क्रीमतों के औसत को स्थिर रखने के प्रयत्न करने का कोई वाजिव कारण नहीं है।

फिर भी क्रीमतों का बदलना, इसलिए नहीं कि उत्पादन या मांग की परिस्थितियां बदल गयीं हैं, बल्कि किसी विल्कुल ही अप्रासंगिक कारण से, स्पष्टतया एक बुरी बात है। उत्पादकों की दृष्टि से यह बुरी बात है कि उन्हें उनकी उत्पादित वस्तुओं के विक्री मूल्य के बारे में अंधकार में रहना पड़े और उपभोक्ताओं के लिये यह बुरी बात है कि, वाजिव सीमाओं में भी, वे इस बात का अनुमान नहीं लगा सकते कि थोड़े समय बाद ही उनको क्या देना पड़ेगा। मूल्यों में इतना अधिक परिवर्तन जितना कि युद्धों के बीच के काल में और 1951 में हुआ, स्पष्टतया ही बुरा था, और इसलिये उन बहुत से लोगों के लिए जिन्होंने अस्थिरता की बुराइयों का अनुभव किया है मूल्यों को स्थिर करने का प्रस्ताव आकर्षक मालूम पड़ता है।

तो, मूल्यों के सामान्य औसत को न सही, लेकिन वस्तुओं के प्रकार विशेष के मूल्यों को स्थिरता देने के प्रस्तावों के बारे में क्या कहा जाए? कार्टलों के पक्ष में, जो हाल के वर्षों में इतने शक्तिशाली हो गए हैं, बताया जाने वाले लाभों में एक लाभ यह बताया जाता है कि जिन वस्तुओं पर उनका नियंत्रण रहता है उनके मूल्यों पर वे स्थिरता लाने वाला असर पैदा करते हैं। ऐसा वे करते हैं, लेकिन यह स्थिरता लाने वाला असर मूल्यों में गिरावट न आने देने के लिए ज्यादा काम में लिया जाता है वजाए उनमें आने वाली वृद्धि को रोकने के लिए। अतः युद्ध काल के मूल्य-इतिहास से यह स्पष्ट मालूम पड़ सकता है कि जहां कई उद्योगों में कार्टलों की स्थिति सुदृढ़ है वहां क्या होता है और जहां दूसरे उद्योगों में जहां उनकी स्थिति कमजोर है या उनका अस्तित्व ही नहीं वहां क्या होता है? उदाहरण के लिए जर्मनी में वीमर गणराज्य में कार्टलों द्वारा नियंत्रित वस्तुओं के औसत मूल्यों

के देशनांक अलग रखे जाते थे और अनियंत्रित वस्तुओं के अलग। दोनों देशनांकों में बड़ा अन्तर होता था, क्योंकि कार्टल अपनी वस्तुओं के मूल्यों को, तेजी के समय में उनमें वृद्धि करने की अपनी क्षमता को खोये बिना, मन्दी के समय में गिरने से काफी हद तक रोक सकते थे।

लेकिन, इससे यह सक्क नहीं लिया जा सकता कि वस्तुओं विशेष की क्रीमतों को स्थिर रखने के लिये कोई कार्यवाही करना गलत है, केवल यह अर्थ निकाला जा सकता है कि इस तरह के अधिकार कार्टलों को, जो सम्बन्धित धंधों में लाभ कमाने वाले हितार्थियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, देना गलत है। किसी भी प्रकार के नियंत्रण में किसी भी वस्तु के मूल्य को सदा के लिये या अनिश्चित रूप से लम्बे समय के लिये स्थिर करना स्पष्टतया बुद्धिहीनता होगी। लेकिन अल्पकाल के लिए मुख्य कृषि पदार्थों और शायद दूसरी वस्तुओं के मूल्यों को स्थिर रखने या कम से कम उनके अल्पकालिक परिवर्तनों की सीमाएं निश्चित करने के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यह पूरी आजादी रखते हुए कि, पूर्ति और मांग की परिस्थितियों में परिवर्तन आने के कारण, वाजिव नोटिस पर, मूल्य बदला जा सकता है, किसान को एक पक्की क्रीमत बताने के पक्ष में, जिसके आधार पर वह अपने फसल बोने के निश्चय कर सके, बहुत कुछ कहा जा सकता है। जिस बात पर आग्रह किया जाना चाहिये वह यह है कि इन आधारों पर मूल्य-निर्धारण करना केवल उत्पादन करने वालों के हाथ में नहीं छोड़ा जाना चाहिये, लेकिन यह मूल्य निर्धारण या तो उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच में या, बड़ी वस्तुओं के सम्बन्ध में, मुख्यतया उत्पादन और उपभोग करने वाले देशों के बीच में हुए समझौते के आधार पर, राज्य के हाथ में जहां उत्पादन और उपभोग करने वालों में समझौता न हो अधिकार सुरक्षित रखते हुए, किया जाना चाहिये। जहां मामला उत्पादन और उपभोग करने वाले देशों के बीच में है वहां स्थिति बहुत कठिन होती है। 1942 का अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय गेहूं समझौता उत्पादन और उपभोग के प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करने वाले एक ऐसे नियामक अभिकरण (एजेन्सी) के, जो इस प्रकार से काम कर सके, निर्माण का भ्रूण प्रयत्न था। और जब युद्ध समाप्त हो गया तो उत्पादन और उपभोग करने वाले देशों के बीच में काम चलाऊ समझौता करने के प्रयत्न फिर से शुरू किये गए। 1948 में तैयार किया गया गेहूं समझौते का मसविदा पर्याप्त स्वीकृति नहीं प्राप्त कर सका, लेकिन दूसरे वर्ष ही पहला पक्का समझौता अमल में आ गया। यह गेहूं के निर्धारित मात्रा के आधार-भूत मात्रा प्रत्याभूत मूल्यों (बेसिक गारंटी प्राइसेज) को निश्चित करने के सिद्धान्त पर, जबकि बताई गयी मूल्य सीमाओं में अमुक मात्राओं में निर्यात करने वाले देश देने और आयात करने वाले देश लेने के लिए वचनबद्ध थे, आधारित था। प्रत्याभूत (गारंटी) अधिकतम मूल्य का स्तर साल दर साल गिर रहा था।

वास्तविक मूल्य निश्चित नहीं किये गए थे, लेकिन आयात करने वाले देशों ने यह स्वीकार कर लिया था कि गेहूँ की निर्धारित मात्राएं वे उन कीमतों पर खरीदेंगे जो हर साल तय होने वाली न्यूनतम कीमत से कम नहीं होंगी, और आयात करने वाले देशों ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे उन मूल्यों पर ये मात्राएं देंगे जो तयशुदा अधिकतम से ज्यादा नहीं होंगी। यह समझौता 1953 तक चला, तब इसमें शरीक लगभग सभी देशों ने समझौता नए सिरे से किया, पर संयुक्त राज्य ने इस बिना पर अनुसमर्थन (रेटिफ़ाई) करने से इन्कार कर दिया कि प्रस्तावित न्यूनतम मूल्य बहुत ऊँचे थे। चूंकि संयुक्त राज्य सबसे बड़ा आयात करने वाला था, उसके द्वारा समझौते को अस्वीकार कर देना एक गम्भीर बात थी। ब्रिटिश सरकार का यह मानना था कि संयुक्त राज्य अमेरिका, जिसकी सरकार अपने घरेलू उत्पादकों को ऊँचे मूल्य देने के लिए वचन बद्ध थी, नावाजिव ढंग से यह प्रयत्न कर रहा है कि उसके बोझ का एक भाग गेहूँ के दुनिया के उपभोक्ताओं पर डाल दिया जाए और वह यह भी मानती थी कि दुनिया की पूर्ति और लागत की संभावनाओं की दृष्टि से, न्यूनतम मूल्य का नीचा होना वाजिव है। सामान्यतया स्वीकृत गेहूँ समझौता करने में जो कठिनाइयां अनुभव की गयीं वे इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी की समस्याओं का उदाहरण हैं। फिर भी ऐसे वस्तु समझौतों के लिए, जो या तो उत्पादन करने वालों और उपयोग करने वालों—दोनों के दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकारों द्वारा या कारगर देखरेख में काम करने वाले संघों या समूहों द्वारा विशेष प्रकार की वस्तुओं के लिये किये गए हों, बड़ा भविष्य हो सकता है।

पर मूल्यों विशेष को थोड़े समय के लिए ही स्थिर रखा जाना चाहिये, क्योंकि उत्पादन की परिस्थितियां बदलने से उत्पादन लागत बदल जाते हैं, और तकनीक बदल जाने से या बदलती हुई मांग के कारण उत्पादन के पैमाने को बढ़ाना या घटाना आवश्यक हो जाने से मूल्य जो एक समय ठीक था फिर बहुत ज्यादा या बहुत कम मालूम होने लगता है। मेरे विचार से कोई भी किसी एक वस्तु के मूल्य को स्थायी तौर पर स्थिर रखने की नीति का समर्थन नहीं करेगा : पर काफ़ी संख्या में लोग कई अलग अलग मूल्यों का जो औसत मात्रा हैं, उसको स्थायी तौर पर स्थिर रखने के पक्ष में रहते मालूम पड़ते हैं।

स्थिर 'सामान्य मूल्यों' के समर्थकों का जो वास्तव में लक्ष्य है, क्या हम उसे प्राप्त नहीं कर सकते यदि हम (अ) मूल्य-अस्थिरता की जो बहुत अधिक शिकार होती है उन महत्वपूर्ण वस्तुओं के मूल्यों के अल्पकालिक परिवर्तनों को सीमित करने के लिए सही कदम उठावें, और (ब) तमाम या अधिकांश वस्तुओं के मूल्यों में होने वाले अयुक्तिक (इररेशनल) परिवर्तनों को, जहां वे आर्थिक अस्थिरता की साधारण परिस्थितियों के कारण होते हैं, सीमित रखने के लिए कार्यवाही करें ? निश्चय ही

हमारा लक्ष्य 'मूल्यों के सामान्य स्तर' को स्थिर नहीं रखना होना चाहिये, बल्कि जहाँ तक हम कर सकें वहाँ तक, ऐसी परिस्थितियों के कारण जिनका उत्पादन के तरीकों के परिवर्तन से या, उपभोक्ताओं के कीमत देने की योग्यता से भिन्न उपभोक्ताओं की इच्छाओं के परिवर्तन से कोई संबंध नहीं है, मूल्यों में अयुक्तिक ढंग से होने वाले परिवर्तन को रोकने का होना चाहिये ।

अगर इसे वाजिव लक्ष्य मान लिया जाता है, तो एक दम प्रश्न उठता है कि इसे प्राप्त करने के लिए हमें किस प्रकार चलना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर अनिवार्यतः इस बात पर निर्भर करेगा कि जिस प्रकार के आर्थिक परिवर्तन को 'व्यापार चक्र' कहा जाता है उसके अन्तर्निहित कारण के बारे में क्या दृष्टिकोण अपनाया जाता है ? अगर ऐसा माना जाता है जैसा कि मैं समझता हूँ डा० थार० जी० हांटे द्वारा रचित, इस वाक्यांश से प्रकट है कि "व्यापार चक्र पूर्णतया एक द्रव्य सम्बन्धित घटना है," या, यही बात दूसरे शब्दों में यों कही जाती है कि साधारण आर्थिक क्रियाशीलता में आने वाले बड़े उतार चढ़ाव के कारणों को मुख्यतया या पूर्णतया द्रव्य के क्षेत्र में तलाश किया जाना चाहिए, तो निर्धारित कार्यदिशा का सम्बन्ध भी द्रव्य से होगा । अगर, दूसरी तरफ, व्यापार चक्र के कारण मुख्यतया या पूर्णतया अन्यत्र माने जाते हैं, तो कारणों के और उनको दिये जाने वाले सापेक्षिक महत्व के अनुसार प्रस्तावित उपाय भी भिन्न होंगे ।

चक्रीय परिवर्तन का वह सिद्धांत जो केवल द्रव्य पर आधारित है इस मान्यता पर खड़ा है कि द्रव्य की पूर्ति में एक 'स्वभावगत अस्थिरता' है । अगर, किसी कारण से, उत्पादन बढ़ाने से लाभ की संभावनाएं अच्छी हैं तो अधिक लोग उनका लाभ उठाने के लिए अधिक द्रव्य उधार लेना चाहेंगे । बैंकर, जिनके पास अमुक सीमाओं में द्रव्य निर्माण करने की शक्ति होती है, इन मांगों को पूरी करना चाहेंगे क्योंकि उसका असर उनके अपने लाभ को बढ़ाना होगा और प्रचलित परिस्थितियों में वे अपने भावी उधार लेने वालों की साख सम्बन्धी विश्वसनीयता के बारे में अगर लाभ की संभावनाएं कम अच्छी होतीं और वे जैसी राय बनाते उससे अधिक अच्छी राय बना सकेंगे । बैंकों का अधिक साख देने का प्रत्युत्तर उस समय तो लाभ की संभावनाओं को और अधिक अच्छा बना देगा, और इसलिए साख-निर्माण तथा व्यापारियों द्वारा उधार लेने की प्रक्रिया संचयी (क्यूमुलेटिव) होने लगेगी । लेकिन, थोड़े समय बाद ही, बैंकर अधिक साख निर्माण करने की अपनी सीमाओं तक पहुँच जायेंगे । जब देश स्वर्णमान पर होता है तो ये सीमाएं केन्द्रीय बैंक की 'नक़द' आधार को, विदेशी उत्सारण (ड्रेन्स) को पूरा करने के लिए आवश्यक सोने की पूर्ति में खतरा उत्पन्न किये बिना, बढ़ाने की क्षमता की सीमाओं से तय होती हैं : जहाँ कोई निश्चित प्रमाप (स्टैन्डर्ड) नहीं होता, केन्द्रीय बैंक की क्षमता

ऐसे कानूनी प्रतिबंधों को जो राज्य ने लगा रखे हों छोड़ दिया जाए तो, असीमित होती है, पर व्यवहार में केन्द्रीय बैंक की विदेशी विनियमों को एक निश्चित बिन्दु के बाद प्रतिकूल जाने देने की अनिच्छा के कारण वह प्रायः प्रतिबंधित रहती है। इसलिए वह स्थिति आ जाती है जब केन्द्रीय बैंक नकद आधार में, जिस पर व्यापारिक बैंक अपने साख का निर्माण करते हैं, और अधिक विस्तार करने से इन्कार कर देता है। और चूंकि इस स्थिति में केन्द्रीय बैंक प्रायः यह आवश्यक समझते हैं कि 'नकद' आधार को न केवल स्थिर रखा जाए पर वास्तव में उसका संकुचन किया जाए, इसलिए व्यापारिक बैंकों को साख नियंत्रण की विपरीत प्रक्रिया प्रारम्भ करनी होती है जो फिर संचयी हो जाती है। साख की पूर्ति में हर कमी किसी न किसी को असुविधा पहुंचाती है जिसकी कठिनाई फिर दूसरों को असुविधा पहुंचाती है। लाभ की संभावनाएं विगड़ती ही नहीं हैं पर और अधिक विगड़ती हुई दिखाई देती हैं। नये व्यवसाय के लिए भावी ऋण लेने वालों की संख्या तेजी से गिरने लगती है, और ऋण की कुल मात्रा उन ऋण लेने वालों के कारण कायम रहती है जो नये उत्पादन के लिए नहीं, पर उस स्टॉक को रखने के लिये जिसे वे लाभ पर नहीं बेच सकते, द्रव्य चाहते हैं। जिस तेजी से पहले आर्थिक प्रक्रिया बढ़ रही थी उसी तेजी से अब मंदी होने लगती है, और जब तक अपेक्षा यह रहती है कि यह और भी कम होगी, विस्तार के लिए कोई प्रेरणा नहीं होती। आय और रोजगार में कमी आने से चालू उपभोग में जो कमी आ जाती है, चालू उत्पादन का स्तर उससे भी कम हो जाता है। वस्तुओं का स्टॉक क्रमशः समाप्त होने लगता है (वर्क आउट) यहां तक कि अंत में वह ऐसे मूल्यों पर समाप्ति की स्थिति में पहुंच जाता है जिन पर उसकी लाभपूर्वक फिर से पूर्ति नहीं की जा सकती। वह स्थिति आ जाती है जब यह महसूस किया जाने लगता है कि मूल्य निम्न स्तर को छू चुके हैं और बिना अधिक समय गुजरे उत्पादन में वृद्धि होना निश्चित है। तब जल्दी करने में ही—तेजी की ओर जाते हुए बाजार में बेचने की आशा में जब लागतें कम हैं तब उत्पादन के नए साधनों को खरीदने का आदेश देने और वस्तुओं के नए स्टॉक का उत्पादन करने में—लाभ होता है। पहिया पूरा चक्कर कर चुकता है, और विस्तार की संचयी (क्यूमुलेटिव) प्रक्रिया फिर आरम्भ हो जाती है।

'व्यापार चक्र' के मार्ग का यह अत्यधिक अमूर्त (एन्स्ट्रेक्ट) और सैद्धान्तिक वर्णन है। व्यवहार में घटनाएं बिल्कुल इसी तरह से कभी नहीं घटतीं; क्योंकि न तो कोई देश सर्वथा संवृत व्यवस्था (क्लोज्ड सिस्टम) के रूप में होता है जिसमें अस्थिरता की आंतरिक शक्तियां बाकी की दुनिया में क्या हो रहा है इससे प्रभावित हुए बिना बेरोक टोक काम कर सकती हों और न समस्त संसार ही आर्थिक दृष्टि से इतना समन्वित है कि हम उसके आर्थिक इतिहास का, यह मान कर कि राष्ट्रीय राज्यों में उसका विभाजन अप्रसांगिक है, अध्ययन कर सकते हों। व्यवहार में,

साख नीति को पलटने का संकेत केवल इसी बात में नहीं होता कि केन्द्रीय बैंक को ऐसा लगने लगे कि जितना विस्तार किया जा सकता था उसकी सीमा आ चुकी है वल्कि किसी दूसरे देश में या सामान्यतया दुनिया के बाज़ार में कोई प्रतिकूल अटकल में भी हो सकता है। इसी प्रकार, विस्तार का संकेत अविक्रतिक (स्टॉक्स) में कमी आने में या इस विश्वास में कि आंतरिक मांग निम्नतम तक पहुँच चुकी है, न होकर किसी दूसरे देश में किसी अनुकूल कारण के प्रकट होने में या निर्यात मांग के सामान्य पुनरुत्थान (रिकवरी) में हो सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि इन दिनों में तेज़ी और मंदी खासकर तमाम अग्रणी पूंजीवादी देशों में देखने को मिलती हैं, पर इन तमाम देशों में वे न एक साथ आरंभ होती और न एक साथ समाप्त होती हैं, और किसी एक देश में होने वाली घटना या अपनाई जाने वाली नीति किसी दूसरे देश में मंदी या पुनरुत्थान (रिकवरी) के लिए संकेत का काम कर सकती है।

सामान्यतया पिछली दो शताब्दियों में या हर हालत में 1914 तक दुनिया की अर्थव्यवस्था में एक शक्तिशाली विस्तार की प्रवृत्ति मौजूद थी। एक तो पुराने देशों में जनसंख्या बढ़ने और वस्ती के लिए नए प्रदेशों के खुल जाने से तथा दूसरे पुराने किन्तु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों पर ऐसी नयी उत्पादन तकनीकों या यातायात के, जिनमें अधिक विकसित देश पहले करने वालों में थे, अभियान से, इन दोनों ही कारणों से, यह प्रवृत्ति बाज़ार के लगातार विस्तृत होने की ओर थी। यह अन्तर्निहित विस्तारवादी प्रवृत्ति मंदियों को काफी तेज़ी के साथ समाप्त करने के लिए एक प्रबल शक्ति थी। क्योंकि इसका अर्थ यह था कि लाभ कमाने के नए अवसर बराबर सामने आते रहते थे। 1918 के बाद ही इस सम्बन्ध की परिस्थितियों में बड़ा परिवर्तन हुआ मालूम पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, तथा चीन और भारत के कुछ भागों, लेटिन अमेरिका, और, इसमें भी क्या शक है कि, सोवियत संघ में आर्थिक विकास की प्रक्रिया देशक तेज़ी से चल रही थी। लेकिन अधिक विकसित देशों में जनसंख्या अभिवृद्धि में भारी रुकावट आ रही थी, और संयुक्त राज्य अमेरिका में अब खाली (फ्री) ज़मीन बाक़ी नहीं थी तथा आप्रवासन (इमिग्रेशन) पर प्रतिबंध लगने से जनसंख्या वृद्धि भी धीमी पड़ती जा रही थी। यह अंतिम कारण उन कम विकसित देशों में से जिनमें अब भी जनसंख्या तेज़ी से बढ़ रही है बहुतों पर, उनके सामने कृषि पर निर्भर करने वाली जनसंख्या के अविषय की उस गंभीर समस्या को उत्पन्न करके जो संयुक्त राज्य अमेरिका में उपलब्ध बहतर आर्थिक अवसरों की तलाश में किये गए आप्रवासन (माइग्रेशन) से अब हल्की नहीं हो रही थी, प्रतिक्रिया उत्पन्न कर रहा था।

इस प्रकार, दुनिया की संपूर्ण आर्थिक व्यवस्था में अन्तर्निहित प्रबल विस्तारवादी प्रवृत्तियाँ द्रव्य संबंधी अस्थिरता के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली मंदी को पहले

की तरह से रोकने का कार्य अब नहीं करती थीं। 1920 और 1930 के दशकों में सोवियत संघ के प्रथक्करण ने उसके विस्तार के कारण अन्यत्र विस्तार होने को प्रोत्साहन नहीं देने दिया। ग्रेट ब्रिटेन सहित कुछ देशों में मंदी व्यापक (एपिडेमिक) होने की जगह स्थानिक (एन्डेमिक) होने लगी। दीर्घकालिक बेरोज़गारी की औद्योगिक समस्या उत्पन्न हुई और इसके साथ ही साथ किसान देशों में 'छिपी' बेकारी—यानी भूमि पर अनावश्यक जनसंख्या—की समस्या भी उत्पन्न हुई। लेकिन यह पूछा जा सकता है कि अगर विस्तार की अन्तर्निहित प्रवृत्ति मौजूद नहीं थी तो साख व्यवस्था ने अपनी अस्थिरता क्यों बनाए रखी? फिर भी साख का विस्तार उस हद तक क्यों हुआ जहां पहुंचने पर बैंकरों ने उसका संकुचन करना ठीक समझा? वह एक स्थिर स्थिति में जाकर, जो 'बीच की' आर्थिक क्रियाशीलता की परिस्थितियों के अनुरूप हो, क्यों नहीं ठहर गयी?

इसका जवाब संयुक्त राज्य अमेरिका की जो विचित्र परिस्थितियां थीं बहुत कुछ उन्हीं में मिलता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वहां, इस अर्थ में कि कोई खाली भूमि नहीं बची थी, अब कोई "सीमा" नहीं रही थी। न जनसंख्या ही बढ़ रही थी, जैसी कि वह अनियंत्रित आप्रवासन के बाद के दिनों में बढ़ी थी। तथापि अमेरिकी अर्थव्यवस्था तब भी विस्तारोन्मुख थी क्योंकि उसके पास बहुत अधिक ऐसे साधन थे जिनका उपयोग नहीं हुआ था, उत्पादन करने की बड़ी शक्ति मौजूद थी, बड़े पैमाने के उत्पादन से होने वाली किफ़ायतों का अपने घरेलू बाज़ार में लाभ उठाने के बड़े अवसर थे और उसकी जन-संख्या का एक बड़ा भाग अब भी ऐसा निम्न जीवन स्तर बिता रहा था जो संपन्न प्रदेशों और औद्योगिक मज़दूरों के अच्छा वेतन पाने वाले वर्गों में पाए जाने वाले "अमेरिकन स्तर" से बिल्कुल ही भेल नहीं खाता था। दूसरे दशक तक में अमेरिकन मनस्थिति पूर्णतया आशावादी और विस्तारवादी थी, और प्रथम महायुद्ध में से संयुक्त राज्य अमेरिका एक निगमित (कारपोरेट) अर्थ में, इतना मज़बूत और सम्पन्न होकर निकला था कि वह दुनिया के आर्थिक मामलों के मार्ग को प्रभावित करने में अग्रणी होने के योग्य था। जब तीसरे दशक के प्रारंभ में अमेरिकन अर्थव्यवस्था अचानक ऐसी मंदी की स्थिति में पहुंच गयी कि उसकी तीव्रता और उसके सामाजिक प्रभावों की व्यापकता का कोई समानान्तर नहीं था तो उसके परिणाम अनुपात में बहुत विनाशक हुए।

इस समय इस मंदी के कारणों का विश्लेषण करना आवश्यक नहीं है। काम की बात यह है कि, 1918 के बाद, संयुक्त राज्य अमेरिका शेष पूंजीवादी दुनिया को संकट की स्थिति में, ले जाने या संकट की स्थिति से निकालने में नेतृत्व करने की स्थिति में था, और महान अमेरिकन मंदी, जिसके प्रथम संकेत 1929 के पतझड़ में स्पष्ट दिखाई पड़ने लग गए थे, संपूर्ण पूंजीवादी संसार में मंदी और आम-बेकारी

का प्रभावशाली प्रारम्भ था। अमेरिका के समवसन्न होने (कोलेप्स) की प्रतिक्रिया खासतौर से युरोप संबंधी परिस्थितियों पर हुई। शुरु में, स्वर्णमान को पूर्ववत् बनाए रखने की आशा में युरोप में बैंकों ने साख का संकुचन करना प्रारंभ किया जिससे लाभ की संभावनाएं कम होने से उत्पादन नियंत्रित हुआ और नए विनियोग को मात्रा कम हुई। जब संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिकूल परिस्थितियों के गंभीर होने से ये उपाय अपर्याप्त साबित होने लगे तो युरोपीय देशों को या तो, ग्रेट ब्रिटेन की तरह स्वर्णमान से अलग होना पड़ा, या जर्मनी की तरह, वे स्वर्णमान को, केवल नाम मात्र के लिए, वास्तविकता को छोड़कर और विदेशी विनियम की पूर्ति पर कड़े प्रतिबंध लगा कर तथा निर्यात व्यापार को सहाय्य (सबसिडाइजेशन) देने के लिये विशेष उपाय काम में लेकर, क्रायम रख सके। 1914 के पहले भी संयुक्त राज्य अमेरिका वह प्रधान केन्द्र था जहां से तेजी या मंदी लाने वाले प्रभाव विकिरण (रेडियेट) होते थे और ग्रेट ब्रिटेन समस्त दुनिया की अर्थव्यवस्था तक इन प्रभावों को ले जाने वाले मुख्य माध्यम का काम करता था। 1918 के बाद यह कुंजी-स्थान पूर्णतया संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ में आ गया, केवल इतना अंतर पड़ गया कि जहां पहले कुल मिलाकर यह अनुकूल और प्रतिकूल प्रभावों को निष्पक्षता के साथ फैलाता था जिनमें आर्थिक प्रगति की तेजगति के कारण, जो यद्यपि असतत् (डिस कंटीनुअस) थी, अनुकूल प्रभावों की प्रधानता थी, वहां 1929 के बाद यह एक ऐसी शक्ति हो गयी जो अन्यत्र समृद्धि की वजाए मंदी ज्यादा आसानी से पैदा करती थी। उत्तरी अमेरिकन प्रायद्वीप में तेजी से गिरने वाली क्रोमतों और मांग की प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का दूसरे देश मुकाबला नहीं कर पाते थे लेकिन ऊंचे अमेरिकन प्रशुल्क (टैरिफ़) और उस व्यापक क्षेत्र के कारण जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका खाद्य-पदार्थ और निर्मित वस्तुओं दोनों की पूर्ति के मामले में आत्म निर्भर था, दूसरे देशों के लिए अमेरिकन समृद्धि किसी तरह से उतना अनुकूल कारण नहीं होती थी जितनी ब्रिटिश समृद्धि होती थी। वास्तव में संयुक्त राज्य अमेरिका एक सीमान्त आयात करने वाला देश था जो जिन वस्तुओं की उसे आवश्यकता थी उनका एक बड़ा अनुपात अपने देश में उत्पन्न कर लेता था और जैसे मांग बढ़ती या घटती थी उसी के अनुसार वह अपनी आयात की मांग में बहुत अधिक परिवर्तन कर लेता था। इसलिए अमेरिकन अर्थव्यवस्था में आने वाले उतार चढ़ाव के परिणामों की अमेरिका द्वारा विदेशी माल के खरीदने पर अनुपात से (डिसप्रोपोरशनेटली) प्रतिक्रिया होती थी। इसके अलावा विदेशों में विनियोग करने की अमेरिकन इच्छा अत्यन्त परिवर्तनीय कारण थी, इसलिए अमेरिकन परिवर्तनों का दूसरे देशों को अमेरिकन वस्तुएं खरीदने के लिये जो डालर की पूर्ति उपलब्ध की जाती थी, उस पर अनर्थकारी असर पड़ता था।

1920 के दशक में जबकि ग्रेट ब्रिटेन पहले तो स्वर्णमान की फिर से स्थापना करने के लिये तैयारी कर रहा था और बाद में उसके आधार पर व्यवहार कर रहा था, ब्रिटिश उद्योग को दी जाने वाली साख के सम्बन्ध में मर्यादित करने वाला कारक (लिमिटिंग फ़ैक्टर) सोने की उपलब्ध मात्रा उतनी नहीं थी जितना कि डालर और पाँड स्टर्लिंग के बीच में अमुक सापेक्षिक मूल्य (वैल्यू) बनाए रखने की इच्छा थी, और इस इच्छा ने केवल साख के विस्तार पर ही मर्यादा नहीं लगा दी बल्कि ग्रेट ब्रिटेन में कीमतों और आमदनियों को कम करने के लिए साख संकुचन की लगभग बराबर अपनाई जाने वाली नीति का भी इसमें समावेश हो गया। इसके अलावा जब संयुक्त राज्य अमेरिका में तेज़ी की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती थीं तो उसका यह असर होने की प्रवृत्ति होती थी कि उपलब्ध द्रव्य के लिए दिये जाने वाले ऊँचे सूद की दर कम करने और स्कंध बाज़ार की परिकल्पना (स्पेकूलेशन) से होने वाले पूंजीगत लाभों में हिस्सा प्राप्त करने की दृष्टि से ब्रिटिश और विदेशी परिकल्प इस बात के लिये प्रोत्साहित हों कि वे लंदन से अमेरिका को द्रव्य ले जाएँ। इस प्रकार जहाँ अमेरिकन मंदी के असर ग्रेट ब्रिटेन तक फ़ौरन ही पहुँचा दिये जाते थे, अमेरिकन समृद्धि से, अमेरिकन स्कंध बाज़ारों की ओर द्रव्य का प्रवाह हो जाने के कारण, ब्रिटिश साख में ढिलाई आने की जगह तंगी आने की प्रवृत्ति हो जाती थी। जब तक अमेरिका निवासी युरोपियन प्रतिभूतियों में काफ़ी विनियोग करते रहते थे और इस प्रकार दरअसल उनके पहले के विनियोगों पर होने वाली आय चुकाने के लिए निवि उपलब्ध कर देते थे, युरोप का कारोबार चलता रह सकता था। लेकिन जब युरोप से अमेरिका का बहुत सा अल्पकालिक द्रव्य इसलिए हटा लिया गया कि 1928-29 की स्कंध बाज़ार की तेज़ी में उसका उपयोग किया जाए और जब नयी दीर्घकालिक पूंजी का उधार देना लगभग बंद सा हो गया तो इससे युरोप के देशों में वित्तीय अव्यवस्था आ गयी और 1931 का युरोपीय आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया।

दूसरे देशों के वित्तीय मामलों को प्रभावित कर सकने की क्षमता के अर्थ में संसार का वित्तीय नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका के पास चले जाने से संसार की वित्तीय परिस्थितियों में अस्थिरता का एक नया तत्व आ गया, क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था स्वयं में एक बड़ी सीमा तक अस्थिर थी। इसलिए न वीसियों में और न तीसियों में संसार के वित्त में स्थिरता आ सकी। संयुक्त राज्य अमेरिका के घटना चक्र और युरोप के अन्दर की शक्तियों से उत्पन्न होने वाली घटनाओं के कारण युरोप की परिस्थितियों में, जिनमें ग्रेट ब्रिटेन की परिस्थितियाँ भी शामिल थीं, बार बार उथल-पुथल होना संभव था। 'व्यापार चक्र' मुख्यतया एक अमेरिकन घटना मालूम पड़ती थी जो अमेरिका से दूसरे देशों की ओर प्रवाहित होती थी और अमेरिकन अर्थ व्यवस्था की असाधारण रूप में अनियमित (एरेटिक) गतिविधि के पीछे, पीछे शेष दुनिया को ले जाती थी।

यह विषयान्तर यह स्पष्ट करने के लिये आवश्यक था कि चक्रीय आर्थिक गतिविधि का वास्तविक मार्ग कुछ पृष्ठों पहले जो 'निदर्शन' (मॉडल) विवरण दिया गया है उससे बहुत अलग जा सकता है। लेकिन इस 'निदर्शन' (मॉडल) विवरण में हम कुछ ऐसी अन्तर्निहित प्रवृत्तियों को पहिचान सकते हैं जो दूसरी शक्तियों के अस्तर से चाहे कितनी ही विकृत या परिवर्तित क्यों न हो जाएं पर फिर भी आर्थिक घटनाओं के मार्ग निर्माण में काम करती रहती हैं। यह बात सही है कि तमाम विकसित पूंजीवादी देशों में जो साख व्यवस्था होती है उसके सम्बन्ध में एक अनिवार्य अस्थिरता पायी जाती है, लाभ की तलाश में रहने वालों के लिए सम्पन्नता की दिशा में होने वाली हर गति उसी दिशा में और अधिक गति को प्रोत्साहन देती है, और हर प्रतिकूल गति और अधिक प्रतिकूलताओं को प्रोत्साहित करती है। इसके अलावा यह भी सही है कि चढ़ाव की ओर जाने वाली गति, साख की पूर्ति में संकुचन आ जाने से प्रायः एक दम समाप्त हो जाती है।

लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि बढ़ती हुई समृद्धि क्यों हमेशा नहीं बनी रहती, इसका वास्तविक कारण साख का संकुचन है। ऐसा हो सकता है, लेकिन दूसरी तरफ सच्चाई केवल यह हो सकती है कि इसके पहले कि दूसरी शक्तियों को, जो अभिवृद्धि (बूम) का अनर्थकारी अंत ला सकती हैं, अपना पूरा प्रभाव डालने का अवसर मिले, बैंकर्स साख संकुचन लागू कर देते हैं। जो होता है उसके विषय में आम तौर से बैंकों का यही कहना है। वे अपने आपको वास्तविक आर्थिक शक्तियों की प्रवृत्ति का केवल निर्वचन (इंटरप्रेटेशन) करने वाले मानते हैं, और साख संकुचन पर वे इसलिए जोर नहीं देते हैं कि वे समृद्धि का अन्त चाहते हैं बल्कि इसलिये देते हैं कि वे यह चाहते हैं कि जो कारोबार की गिरावट अनिवार्यतः आने वाली है वह व्यवस्थित ढंग से आए और एक अनर्थकारी ढंग से नहीं। उनकी दृष्टि में एक सीमा पर जाकर अभिवृद्धि अस्वस्थकर हो जाती है और जिन सट्टे की क्रियाओं को वह जन्म देती है उन्हें तेजी से रोकना जरूरी हो जाता है। वे हस्तक्षेप करते हैं—संकट लाने के लिये नहीं, बल्कि उसकी सीमा को मर्यादित करने के लिए। तो, अभिवृद्धि के विकास में 'अस्वस्थता' के लक्षण क्या हैं? सर्वथा स्पष्ट है कि सट्टे की क्रिया का पैदा होना, जो कि सार रूप में इस बात का प्रयत्न है कि अभिवृद्धि की परिस्थितियाँ बनी रहेंगी, इस मान्यता पर अनुमानित भविष्य के संभावित लाभों को वर्तमान में ही कमा लिया जाए। इस प्रकार के सट्टे की क्रिया का एक चिन्ह यह है कि नये उत्पादन साधनों को उत्पन्न करने पर से ध्यान हटाकर जो साधन मौजूद हैं उनके स्वामित्व के अधिकारों को, तेजी से बढ़ते हुए मूल्यों पर, खरीदने और बेचने की ओर ध्यान दिया जाने लगता है। दूसरे शब्दों में, स्कंध बाजार में अभिवृद्धि (बूम) आती है—जिसके साथ साथ प्रायः भूमि अभिवृद्धि, मुख्यतया शहरी भूमि की कीमतों में, और उपज बाजारों (प्रोड्यूस मार्केट्स) में

अभिवृद्धि आती है । सट्टा करने वाले उत्पादक परिसंपद् (एसेट्स) इस मान्यता पर खरीदते रहते हैं कि भावी लाभ अधिक होने की आशा में उनके मूल्य बढ़ते जायेंगे, और वे वस्तुओं का संग्रहण इस आशा में करते हैं कि जैसे जैसे अभिवृद्धि जारी रहेगी उनकी कीमतें बढ़ेंगी ।

सट्टेवाली अभिवृद्धि का असर यह होता है कि पूंजीगत वस्तुओं के अतिरिक्त उत्पादन को प्राप्ताहित किये बिना वह मूल्यों को बढ़ाता है । आर्थिक क्रिया के आरोहरण (अपवर्ड मूवमेंट) की किसी भी अवस्था में यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है : वास्तव में, इस प्रकार की तमाम अभिवृद्धि की ओर जाने वाली क्रियाओं में एक सट्टे का तत्व रहता है, क्योंकि मूल्यों के बढ़ते रहने की संभावना समुत्थान (रिकवरी) के अत्यधिक शक्तिशाली प्रेरकों में से एक होती है । पूंजीवादी परिस्थितियों में, समुत्थान (रिकवरी) के हमेशा दो रूप होते हैं । किसी हद तक तो यह आर्थिक क्रिया के स्तर की वृद्धि होता है, और किसी हद तक मूल्यों की अभिवृद्धि होता है और एक की दूसरे पर प्रतिक्रिया होती है । और जब यह अवस्था आ जाती है कि उत्पादन के तमाम उपलब्ध साधन जिस हद तक तकनीकी और मनुष्य के लिए व्यावहारिक दृष्टि से संभव है उस हद तक पूरी तौर पर काम में आने लगे हैं ।— अर्थात् जब समाज अपने साधनों* के पूर्ण उपयोग की स्थिति में पहुँच जाता है—तो साफ़ है कि द्रव्य या साख की पूर्ति में की जाने वाली कोई वृद्धि अधिक उत्पादन बढ़ाने में कारगर नहीं हो सकती, क्योंकि उस बिन्दु के बाद किसी एक वस्तु का उत्पादन दूसरी वस्तुओं के उत्पादन को कम करके ही बढ़ाया जा सकता है । इस बिन्दु से अधिक जो भी साख दी जाएगी उसका उपयोग सट्टे में ही होगा : अन्य कोई उपाय बचा ही नहीं है लेकिन व्यवहार में सट्टे की क्रिया इस अर्थ में 'पूर्ण रोज़गार

* में 'पूर्ण उपयोग' शब्दों का यहां प्रयोग केवल इसी अर्थ में नहीं कर रहा हूँ कि काम के लिए उतने ही स्थान उपलब्ध हैं जितने, उनको भरने के लिए, काम करने वाले मौजूद हैं, बल्कि इस अर्थ में कर रहा हूँ कि भूमि, पूंजी और श्रम के रूप में कुल उत्पादक साधनों का उपयोग अधिकतम व्यावहारिक सीमा तक हो रहा है । वेशक इसका यह अर्थ नहीं है कि भूमि का हर एकड़, हर मशीन, और हर मजदूर का उपयोग हो रहा है, लेकिन इतना ही अर्थ है कि उत्पादन साधनों में से ऐसे उपयोग बिना कोई नहीं—लगभग कोई नहीं—बचा है जबकि वे लाभपूर्वक उपयोग में लिये जा सकते हैं । भूमि के ऐसे एकड़ और ऐसे कारखाने मिल जाएंगे जिनको काम में लेना लाभदायक होगा, उसका अन्यत्र ज्यादा अच्छा उपयोग हो सकता है, और कुछ ऐसे संभाव्य मजदूर भी होंगे जिनके श्रम का इसलिए उपयोग नहीं हो सकता कि जिन स्थानों में वे हैं वहां उस विशेष प्रकार के श्रम की मांग नहीं है और जिन स्थानों या धंधों में उसका लाभपूर्वक उपयोग हो सकता है वहां वह आसानी से ले जाया नहीं जा सकता । इस बाद वाली समस्या का हल दीर्घकाल में

के विन्दु तक पहुँचने के बहुत पहले ही आरम्भ हो सकती है। उस समय भी जबकि उपयोग के लिए काफ़ी उत्पादक साधन उपलब्ध हैं, और उनका उपयोग नहीं हो रहा है, जिनके पास द्रव्य हैं वे यह पसंद कर सकते हैं कि नए उत्पादक साधनों को उत्पन्न करने के बजाए मौजूदा में सट्टा किया जाए, और जैसे ही यह होता है, मूल्य आसमान में चढ़ने लगते हैं और व्यापार संतुलन तथा जिनकी आय द्रव्य में स्थिर है उनके रहन सहन के स्तर दोनों पर ही बुरा असर पड़ता है। परिणाम ये होते हैं कि एक तरफ़ तो जैसे ही आयात बढ़ते हैं और निर्यात गिरते हैं, केन्द्रीय बैंक अपने साधनों पर दबाव अनुभव करने लगता है, और दूसरी तरफ़ मूल्यों की वृद्धि के असर को मिटाने के लिए मजदूरी पाने वाले, और दूसरे भी जो ऐसा कर सकते हैं, अधिक आमदनी के लिए मांग करते हैं और इस प्रकार उत्पादन लागत को और भी बढ़ाते हैं।

यह सब हो सकता है और होता है उस समय भी जब कि बेकारी बड़ी मात्रा में होती है, जैसा कि, उदाहरण के लिये, संयुक्त राज्य अमेरिका में 1928-29 में हुआ था। यदि यह पूछा जाए कि सट्टा करने वाले मौजूदा परिसंपत् (ऐसेट्स) में लेन देन करना, नयों का निर्माण करने की बजाए, क्यों पसंद करते हैं, तो, कुछ तो, उत्तर यह है कि सट्टा लाभ कमाने का सबसे जल्दी का मार्ग है—क्योंकि किसी हिस्से को खरीदना जल्दी होने वाला और आसान काम है पर एक कार्यकुशल कारखाने के निर्माण करने में समय, दिमाग और प्रयत्न चाहिये—और कुछ यह है कि अभिवृद्धि (बूम) में उत्पादक अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंग बराबर आगे नहीं बढ़ते। उत्पादन के कुछ क्षेत्रों में बड़ा लाभ होता है जबकि कुछ फिर भी दबे रहते हैं, और उत्पादन के कुछ क्षेत्रों में साधनों और श्रम का आधिक्य हो सकता है जब

ही संभव है जबकि जिन प्रदेशों में अतिरिक्त श्रम है उन्हीं में काम के दरवाजे खोले जाएं, पर इसमें समय लगना अनिवार्य है और शायद इसके लिए सोच विचार कर योजना बनाना आवश्यक है। जहां तक ऐसे कारखानों और मशीनों का सम्बन्ध है जिनका उपयोग नहीं हो सकता है, आम तौर पर यह उन पूंजी साधनों की बात होती है जो गत प्रयोग (ओवर्सोलीट) या अप्रचलनोन्मुख (ओवर्सोलेसेट) होते हैं—यानी यह ज़्यादा लाभदायक रहता है कि साधन प्राप्त कर लिये जाएं बनिस्वत इसके कि ऊंची लागत पर पुराने साधनों का उपयोग किया जाए। काम में नहीं ली गई भूमि की बात अलग है क्योंकि भूमि की पूर्ति निश्चित है और उसकी उत्पादक क्षमता में जमीन के एक टुकड़े और दूसरे टुकड़े के बीच में भारी भिन्नता रहती है। कुछ भूमि हमेशा ऐसी होगी जो सीमा से नीची है—अर्थात् उस पर, कुल आर्थिक क्रिया चाहे कितनी ही क्यों न बढ़ जाए, श्रम और पूंजी व्यय करना लाभदायक नहीं होगा क्योंकि इन पूरक साधनों को अन्यत्र काम में लेना अधिक लाभदायक होगा।

कि किन्हीं दूसरे क्षेत्रों में बढ़ी कमी हो। संयुक्त राज्य अमेरिका में 1929 में ऐसा ही हुआ। कृषि संबंधी संपन्नता खास तौर से पिछड़ गयी और कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की उन शाखाओं में जो राष्ट्रीय आवश्यकताओं से ताल मेल नहीं रखती थी, दोनों ही में श्रम का आधिक्य था। इसलिये सट्टा करने वाले—अल्पकाल में—लाभ कमाने की दृष्टि से दुर्लभ साधनों में सट्टा करके ज्यादा अच्छे रह सकते थे इसकी अपेक्षा कि वे नए व्यवसायों में विनियोग करते, ज्यादा आशाजनक क्षेत्रों में अतिरिक्त साधनों को ले जाने में वास्तविक कठिनाईयां थीं। तदनुसार, जल्दी ही सट्टा आरंभ हो गया, और ज्यों ही सट्टा करने वाले आगे आए कि अभिवृद्धि (बूम) 'अस्वस्थकर' हो गयी, क्योंकि साधनों को उपयोग में लाने का काम नहीं कर रही थी लेकिन केवल मूल्यों को बढ़ाने और मौजूदा परिसंपत् (एसेट्स) पर आधारित भूँटे पूंजी-मूल्यों का निर्माण करने का काम कर रही थी।

सट्टे की अभिवृद्धि (स्पेकुलेटिव-बूम) के विषय में सबसे बुरी बात यह है कि एक बार जब वह शुरू हो जाता है तो फिर उसे रोकना असंभव होता है। अगर उसे रोक ही दिया जाता है तो उसका असर, उसके कारण जो मूल्यांकनों का वास्तविक रूप पैदा हो गया है, उसे प्रकट कर देने का होता है : ताकि हल्के से प्रतिसार (रिसेशन) की जगह एक विस्फोट (क्रैश) होता है। अमेरिकन बैंकों को 1929 के स्कंध बाजार के विस्फोट से पहले के समय में इस कठिन विकल्प का सामना पड़ा था। संयुक्त राज्य अमेरिका की लेनदार की सुदृढ़ स्थिति होने और सट्टे के लाभ में हिस्सा बंटाने के लिए विदेशी पूंजी को होने वाले आकर्षण के कारण, उनके सामने सोने के उत्सारण (ड्रेन) (बाहर जाने) का कोई खतरा नहीं था। "पूर्ण रोजगार" स्थापित करने की आशा में साख के अधिक विस्तार का औचित्य बताने के लिये वे ऐसे साधनों को बता सकते थे जो उपयोग में नहीं आ रहे हैं। लेकिन जब साख का विस्तार किया गया तो वह जो साधन उपयोग में नहीं आ रहे थे उनका उपयोग करने में न लगकर, सीधा सट्टे के बाजारों को गया। जल्दी या देर से, स्कंध बाजार के मूल्यों के फूले हुए बुलबुले को फूटना था और इस तरह सारी अर्थ-व्यवस्था को संकट में डालना ही था। इसे रोकने में बैंकों के अधिकारी असमर्थ थे। या तो वे उसे तब तक बढ़ने देते जब तक कि वह अपने आप फूट न जाता, या साख नियंत्रण से उसे फोड़ डालते जिससे कि, वे जानते थे, अनेकों वास्तव में ठोस व्यवसायों की और उन सट्टा करने वालों की, जिनका अब तक कारोबार ठीक था व बरवाद नहीं हुए थे, बरवादी हो जाती।

अगर उलभन पैदा करने वाला सट्टे का कारक प्रस्तुत न होता, तो बैंकिंग अधिकारियों के लिए यह बाजिव होता कि वे साख पूर्ति का विस्तार तब तक करते जाते जब तक कि साधनों के पूर्ण उपयोग की स्थिति न आ जाती जो कि अमेरिकन

जनता के हित में साफ़ तौर पर थी । किन्तु व्यवहार में सट्टे का कारक हमेशा ही उपस्थित रहता है—सबसे अधिक संयुक्त राज्य अमेरिका में, और जब तक साख को उत्पादन के विस्तार के लिये किये जाने वाले उपयोग से हटाकर सट्टे के उपयोग के लिए मोड़ा जा सकता है, अभिवृद्धियां (बूम्स), पूर्ण रोज़गार की स्थिति तक पहुँचने से बहुत पहले ही, हमेशा ही “अस्वस्थ कर” हो सकती हैं और आने वाले संकट के कीटाणुओं को हमेशा ही अपने साथ लाती रह सकती हैं । सबक, देशक, यह है कि उत्पादन के उपलब्ध साधनों का पूर्ण उपयोग करने की दृष्टि से निर्मित साख नीति के पालन करने की आवश्यक शर्त यह है कि सट्टे की क्रिया को, कम से कम उसके अधिक भयंकर रूपों में, दबाया जाए ।

अध्याय ५

द्रव्य की पूर्ति—‘क्या क्रय शक्ति में कमी आने की प्रवृत्ति है ?’

पिछले परिच्छेद के तर्क को नीचे दिए गए निष्कर्षों के रूप में सार के तौर पर लिखा जा सकता है :

(१) मूल्यों के सामान्य स्तर को, जो कि मूल्यों-विशेष का औसत मात्र होता है, स्थिर रखने के लिए प्रयत्न करने के पक्ष में कोई उचित कारण नहीं है ।

(२) किन्हीं आवश्यक मूलभूत वस्तुओं के मूल्यों को, सीमाओं के अन्तर्गत और अल्पकाल के लिए, स्थिर रखने के प्रयत्न करने के पक्ष में कारण है; पर इस तरह की स्थिरता लाने का काम उत्पादकों के समूहों पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए, बल्कि उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच में या तो एक ही देश के अन्दर या उत्पादन और उपभोग करने वाले देशों की सरकारों के द्वारा तय होना चाहिए ।

(३) मूल्यों के सामान्य स्तर में आने वाले उन परिवर्तनों को मिटाने का प्रयत्न करने के पक्ष में कहा जा सकता है जो उत्पादन की परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न न हो कर द्रव्य सम्बन्धी कारणों से उत्पन्न होते हैं ।

(४) आधुनिक पूंजीवाद की परिस्थितियों में साख की पूर्ति में अस्थिरता को एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति होती है और किसी भी दिशा में होने वाले परिवर्तन उसी दिशा में और परिवर्तन लाने की प्रवृत्ति रखते हैं और इससे अभिवृद्धियां और अव-पात (या मंदी) (डिप्रेशन) अपने स्वयं की गमता (मोमेंटम) से एक हद तक चलते रहते हैं ।

(५) उन्नीसवीं शताब्दी में नए प्रदेशों के सामने आने से और उपनिवेशन (कोलोनाइजेशन) से, विकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि से, और अधिकाधिक प्रदेशों तथा उद्योगों में नयी उत्पादन विधियों के फैलने के कारण गत प्रयोग (ओबसोलीट) विधियों के अविलंघन (सुपरसेशन) से आर्थिक विस्तार की एक निरन्तर और अन्तर्निहित या अवस्थ प्रवृत्ति काम करती थी । प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बीच के काल में अधिक विकसित पूंजीवादी देशों की जनसंख्या वृद्धि में कमी आने से, संयुक्त

राज्य अमेरिका में सरहद के बंद हो जाने से, और फलतः कृषक प्रदेशों में छिपी बेकारी के उत्पन्न होने से इस प्रवृत्ति ने बहुत कुछ काम करना बंद कर दिया ।

(६) संयुक्त राज्य अमेरिका के पूंजीवादी संसार में अभिवृद्धि और अवपात उत्पन्न करने वाले बुनियादी प्रभाव को, ग्रेट ब्रिटेन के दुनियां में वित्तीय नेतृत्व के समाप्त होने के साथ साथ, इन परिवर्तनों ने और अधिक उग्र बना दिया और इस प्रकार संसार की आर्थिक परिस्थितियों की अस्थिरता को बढ़ा दिया ।

(७) अमरीकी अर्थ व्यवस्था में सट्टे सम्बन्धी कारकों की प्रधानता ने संयुक्त राज्य अमेरिका में अभिवृद्धियों को पूर्ण रोजगार की स्थिति में पहुँचने से बहुत पहले एक अस्वस्थकर रूप दे दिया, और अमरीकी बैंकिंग अधिकारियों के समक्ष साम्य पूर्ति की संतोषजनक व्यवस्था के मार्ग में अजेय कठिनाइयां उत्पन्न कर दीं ।

(८) दो विश्व युद्धों का सम्मिलित असर यह हुआ कि दो युद्धों के बीच के समय में विश्व वित्त का केन्द्र ग्रेट ब्रिटेन से हट कर संयुक्त राज्य अमेरिका में जितना आगया था, उससे अधिक पूर्णता के साथ अब आ गया । स्वर्णमान वास्तव में डालर-मान हो गया है और बाकी की पूंजीवादी दुनियां को द्रव्य सम्बन्धी तथा आर्थिक नीतियों में डालर की कमी एक महत्वपूर्ण (स्लिंग) कारक हो गयी है ।

(९) यद्यपि 1939 से संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारी आर्थिक प्रगति की और उन्नीस से तीस (1930 वाले दशक) के जैसा और कोई संकट उसके सामने नहीं आया, फिर भी यह निष्कर्ष निकालना समय से पूर्व होगा कि अमरीकी अर्थ व्यवस्था में अस्थिरता लाने वाले कारकों को (फैक्टर्स) जीत लिया गया है । इसके अलावा, अमरीकी आर्थिक परिस्थितियों या नीति में होने वाले अपेक्षाकृत छोटे परिवर्तन भी दूसरे देशों की अर्थ व्यवस्थाओं पर अब बहुत बड़ा असर पैदा करते हैं ।

(१०) परिवर्त्य चलायों (कन्वर्टिबल करेंसीज) को सामान्यतया पुनः स्थापित करने के अमेरिकनों के दवाव के कारण उन देशों के सामने जिनके पास सोना और डालर की कमी है, यदि उन्हें अमरीकी मांगों को पूरा करना है तो, अपनी अर्थ व्यवस्थाओं को अमरीकन व्यापार और आर्थिक नीति के परिवर्तनों पर प्रायः पूरी तौर से निर्भर बना देने की संभावना उपस्थित हो जाती है ।

(११) इस प्रकार की निर्भरता, संयुक्त राज्य अमेरिका में आने वाले किसी गंभीर प्रतिसार (रसेशन) के होते हुए, दूसरे देशों के लिए पूर्ण रोजगार की नीति का पालन करना अव्यवहारिक बना देता है ।

(१२) इस बात के अलावा भी, साख का उस सीमा तक विस्तार करना जहां तक पूर्ण रोजगार स्थापित करने के लिए आवश्यक है तब तक व्यावहारिक नहीं है जब तक कि परिकल्पी प्रभावों (स्पेकुलेटिव फोरसेज) को हस्तक्षेप करने से उस समय तक के लिए नहीं रोक लिया जाता है जब तक कि ऐसे पैमाने की पूर्ण रोजगार की स्थिति आ चुकी हो जो झूठे मूल्यों (फिक्टिशस वेल्यूज) का पतन अनिवार्य कर देती है।

पिछले परिच्छेद में इनमें से कुछ प्रस्थापनाओं (प्रोपोजिशन) का सरसरे तौर पर जिक्र मात्र किया गया था। इनके विषय में आगे के परिच्छेदों* में अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा। जिस चर्चा पर से उनका उदय हुआ उसका प्रारम्भ द्रव्य सम्बन्धी स्थिरता और आर्थिक स्थिरता की परिस्थितियों को स्थापित करने के साधन के रूप में मूल्यों में स्थिरता लाने के प्रस्तावों की समीक्षा के साथ हुआ। अपने अधिक व्यापक रूपों में मूल्य-स्थायीकरण के उपाय को हमें अस्वीकार करना पड़ा; पर यह बात मान ली गई है कि मूल्यों की अस्थिरता द्रव्य सम्बन्धी प्रभावों से, जिन्हें नियंत्रण में लाना चाहिये, बहुत अधिक बढ़ गयी है। अब जो प्रश्न उठता है वह यह है कि इस नियंत्रण को कौन सा रूप लेना चाहिये।

इससे हम सीधे सुधारकों के एक दूसरे समूह तक पहुँच जाते हैं, जो यह मानते हैं कि उपाय, मूल्यों के स्थायीकरण में नहीं, बल्कि द्रव्य की पूर्ति के स्थायीकरण में है। इस विचार के लोगों के अनुसार, द्रव्य संबंधी अस्थिरता की बुराई बैंकिंग व्यवस्था—वास्तव में मुख्यतया केन्द्रीय बैंकों—के अपने इच्छानुसार केवल उन पावंदियों की मर्यादा में जो संचिति (रिजर्वज) संबंधी कानूनी आवश्यकता के कारण लगी होती हैं, द्रव्य जारी कर सकने या नष्ट कर सकने के अधिकार में है। यह बताया जाता है कि यह पावंदियां वहां सर्वथा प्रभावहीन हो सकती हैं जहां—जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में—सोने की उपलब्ध पूर्ति वास्तव में असीमित है, या जहां वह इतनी लोचदार है कि, असल में, चलार्थ की पूर्ति बैंकों द्वारा साख की पूर्ति को निर्धारित न करके उसके अनुसार रखी जाती है।

स्थायी द्रव्य पूर्ति के समर्थकों में गौण प्रश्नों पर आपस में मतभेद है। उनमें से कुछ द्रव्य की मात्रा बिलकुल ही सदा के लिए स्थिर कर देना चाहते हैं। जब कि दूसरे यह चाहते हैं कि जनसंख्या में परिवर्तन के साथ मात्रा में परिवर्तन किया जाए (प्रति व्यक्ति एक निश्चित मात्रा) या दीर्घकाल में, द्रव्य के उपयोग करने की आदतों में परिवर्तनों के साथ समय समय पर मेल बैठाया जाए। इस बात में वे सब एक मत हैं कि अल्प काल में द्रव्य की पूर्ति में परिवर्तन करने का बैंकिंग व्यवस्था के पास से सब अधिकार ले लिया जाए।

अकसर यह जानना कठिन होता है कि इन सुधारकों का द्रव्य की पूर्ति से ठीक ठीक अर्थ क्या होता है। यदि उनका अर्थ केवल सिक्के और बैंक-नोटों की मात्रा से हैं, तो क्या यह साफ नहीं है कि नकद की पूर्ति स्थायी करदी जाए तब भी बैंकों को उनको दी हुई व्यापक मर्यादाओं में साख की पूर्ति में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता तो रहेगी ही ? केवल इतना ही नतीजा निकलेगा कि बैंक-नोटों की मात्रा पर सोने के आवागमन का असर नहीं होगा। इससे केन्द्रीय बैंक को, जैसा कि अभी भी वह बहुत कुछ करता है, खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा साख की परिस्थिति का नियंत्रण करने की आजादी रहेगी। चूंकि जो चाहा जाता है साफ तौर पर वह यह नहीं है, यह मानना ही होगा कि द्रव्य की स्थायी मात्रा के समर्थक बैंक साख और चलार्थ दोनों को ही स्थायी करना चाहते हैं। पर यह किया कैसे जाए ? क्या व्यापारिक बैंकों को इस के लिए मजबूर करना है कि वे अपने ग्राहकों को, उनकी विश्वसनीयता और उधार लेने की इच्छा का विचार किये बिना, हमेशा बराबर द्रव्य उधार दें। बैंकों द्वारा दिये जाने वाले कुल ऋण पर अधिकतम सीमा लगाना काफी आसान होगा; लेकिन यह आसानी से समझ में नहीं आता कि इस अधिकतम सीमा तक उधार देने के लिये बैंकों को सदा ही कैसे मजबूर किया जा सकता है। आर्थिक क्रिया की उन्मुख (अपवर्ड) गति के समय जो अतिरिक्त वित्त वर्तमान में उपलब्ध है वह कारगर ढंग से उपलब्ध नहीं रहने दिया जाएगा; लेकिन अधोमुख गति के विरुद्ध संरक्षण आज जितना ही अर्थापत्ति रहेगा।

निस्संदेह, इस बात पर बहुत कुछ निर्भर करेगा कि द्रव्य की पूर्ति को स्थायी करने के लिए प्रारंभिक स्तर क्या माना जाता है। अगर वह स्तर माना गया जो अभिवृद्धि (वूम) में प्रचलित था, तो विस्तार पर लगायी गयी रोक अपेक्षाकृत कम होगी; किन्तु यदि पूर्ति उस स्तर पर स्थायी की गयी जो मन्दी के समय में थी, तो समुत्थान (रिकवरी) के मार्ग में बड़ी भारी रुकावट आजाएगी, और समुत्थान न केवल मूल्यों में वृद्धि लाए बिना बल्कि मूल्यों की गिरावट के साथ लाना होगा। द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त चाहे सर्वथा ठीक न हो, पर उसमें इतना सत्य अवश्य है कि यह बात अनिवार्यतः लागू होगी। अधिक मात्रा में लेन देन की वित्तीय व्यवस्था, साख की पूर्ति में वृद्धि किये बिना, गिरते हुए मूल्यों* पर ही की जा सकती है। इसमें, निस्संदेह, यह मान लिया गया है कि स्तर निश्चित करते समय साख की स्वीकृत मात्रा वास्तव में काम में ली जा रही हैं : अगर उसका कोई अंश काम में नहीं लिया जा रहा है, तो, बिना मूल्यों में गिरावट आए हुए भी, उतने विस्तार की गुंजाइश है जितने की इजाजत काम में नहीं ली जाने वाली मात्रा देती है।

* बढ़े हुए प्रवेग (विलोसिटी) से ही काम नहीं चल सकता।

यह आसानी से समझ में नहीं आता कि इन दिनों में द्रव्य संबंधी सुधारकों में द्रव्य की मात्रा के स्थायीकरण को इतना समर्थन क्यों मिलना चाहिये। अगर यह देश अनियंत्रित अभिवृद्धियों (रन अवे वूमस) से पीड़ित होता, तब तो यह समझ में आ सकता था कि सुधारक लोगों को बैंकिंग व्यवस्था के बिना किसी आधार के चुकारे के साधनों के निर्माण करने के अधिकार पर रोक लगाने की आवश्यकता के संबंध में क्यों जोर देना चाहिये। पर ऐसा होना तो दूर रहा, 1939 में युद्ध प्रारंभ होने के पहले के बीस साल के आसपास के समय में ग्रेट ब्रिटेन में कोई बड़ी अभिवृद्धि नहीं आयी और वह कभी भी पूर्ण रोजगार की स्थिति के नज़दीक नहीं पहुंचा। हर एक यह आशा करेगा कि ब्रिटिश द्रव्य संबंधी सुधारक साख की पूर्ति को नियंत्रित करने की अपेक्षा उसको बढ़ाने पर अधिक ध्यान देंगे; और वास्तव में उनमें से अधिकांश का यही ध्यान था। द्रव्य की पूर्ति को, वित्तीय नीति के प्रथम लक्ष्य के तौर पर, नियंत्रित रखने की इच्छा किसी कदर अर्थशास्त्रियों में (शरणार्थी अर्थ-शास्त्रियों सहित) देखी गयी थी जिनको अब भी प्रथम महायुद्ध के बाद कई युरोपीय देशों में जो अनियंत्रित (रन अवे) मुद्रा स्फीतियां देखने को मिली थी उनकी याद सताती थी। उन मुद्रा स्फीतियों में, स्थायी आय पर रहने वाले बहुत से लोगों ने (अर्थ शास्त्र के प्रोफेसरों सहित) देखा कि उनके रहन सहन के स्तर अचानक गिर गए। मुद्रा स्फीति की बुराई से वे इतने ज्यादा प्रभावित थे कि मुद्रा संकुचन की बुराई उनको अपेक्षाकृत कम मालूम पड़ती थी। इस भय से कि यदि द्रव्य जारी करना बैंकों या सरकारों के हाथ में छोड़ा गया तो फिर मुद्रा स्फीति हो सकती है वे सबसे अधिक एक ऐसा अनिवार्यतः लागू किया जाने वाला नियम चाहते थे जो दोनों के हाथों को बांध सके; और द्रव्य की पूर्ति को पूर्णतया स्थिर कर देना सबसे सरल उत्तर मालूम पड़ता था।

किन्तु, यह संतोषजनक उत्तर था नहीं; क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि मोटे तौर पर, जैसे जैसे उत्पादन की मात्रा बढ़े, मूल्यों में लगातार गिरावट आएगी जब तक कि द्रव्य के उपयोग में क़िफायत करने के तरीके न मालूम किये जा सकें और इस प्रकार किसी भी पूर्ति से अधिक काम न निकाल लिया जाए। निस्संदेह, यही होगा यदि स्थायीकरण चाहने वालों की इच्छानुसार काम हो सके और साख की पूर्ति बिना परिवर्तन की गुंजाइश के निश्चित कर दी जाए। जिस प्रकार 1844 के बैंक चार्टर एक्ट के द्वारा चलायें पर लगे नियंत्रणों का उपाय बैंकों ने जमा और चैक पद्धति से निकाल लिया, इसी तरह से समय बीतने के साथ वे और व्यवसायी समाज बैंक हवालगियों की मात्रा पर लगे नियंत्रण के उपाय भी सामान्यतया ढूँढ़ निकालेंगे। पर इस तरह के उपाय को ढूँढ़ निकालने में बड़ा समय लग सकता है, और इसी बीच इसके परिणाम बड़े भयंकर हो सकते हैं।

क्योंकि मानी हुई परिस्थितियों में यह आवश्यक होगा कि मूल्य इतने गिरें कि जिससे असल उत्पादन लागत में होने वाली किफायतों का ही मुकाबला केवल न किया जाए, बल्कि इससे आगे, उत्पादन में होने वाली तमाम वृद्धियों—या, वेशक प्रति व्यक्ति उत्पादन की तमाम वृद्धियों का, अगर साख की पूर्ति प्रति व्यक्ति के हिसाब से निश्चित की गयी है—वे किसी भी कारण से हों, असर समाप्त कर दिया जाए । इस प्रकार का नियम उत्पादन वृद्धि को, उत्पादन करने के प्रोत्साहनों को कम करके, रोके बिना नहीं रह सकता । यह नियन्त्रात्मक ढंग से काम करेगा मूल्यों में गिरावट लाने के हद तक ही नहीं बल्कि कम साधनों को काम में लगाने और कम माल का उत्पादन करने के हद तक भी ।

हम जिस उपाय की तलाश में हैं वह, निश्चित ही, इस प्रकार का उपाय नहीं है । हम पूर्ण रोजगार को बनाए रखने के, उसमें बाधक होने के नहीं, उपायों की तलाश में हैं; और कुल मिला कर यह बड़ी अति हो जाएगी अगर अनियंत्रित मुद्रा स्फीति और परिकल्पी (स्पेकुलेटिव) अधिकता के विरुद्ध कदम उठाने के सिलसिले में हम ऐसी कार्यवाही की ओर चले जाएं जिससे मंदी स्थानिक (एन्डेमिक) हो जाए और गंभीर बेकारी का आवर्तन (रेकर) रोकने की हमारी समस्त आशा समाप्त हो जाए । यह तो स्वीकार किया जा सकता है, कि द्रव्य जारी करने सम्बन्धी बंधों के अधिकार पर नियंत्रण किया जाना चाहिये, नियंत्रण इस अर्थ में, खास तौर पर, कि ये कदम उठाए जायें कि साख को उत्पादक क्रिया के विस्तार के स्थान पर परिकल्पी (स्पेकुलेटिव) सौदों के लिये काम में आने से रोका जा सके । पर यह बात तो सर्वथा अनुचित है, कि हम से यह कहा जाए कि चुकारे के साधनों में परिवर्तन करने का समाज तक का अधिकार भी सर्वथा त्याग दिया जाए ।

अब हम द्रव्य संबंधी सुधारकों के उन समूहों का विचार कर सकते हैं जिनका ध्यान द्रव्य विस्तार की संभावनाओं को कम करने की अपेक्षा उनको बढ़ाने पर लगा हुआ है । इस समूह में सबसे पहले विचार के वे संप्रदाय (स्कूल) आते हैं जिनका यह कहना है कि द्रव्य और साख की पूर्ति उत्पादन क्षमता की उपलब्ध पूर्ति पर निर्धारित होनी चाहिये और उत्पादक क्षमता की वृद्धि के साथ वह समान गति से बढ़नी चाहिये । इस प्रकार के सुभाव के पीछे लम्बा इतिहास है । नेपोलियन के युद्धों के बाद, जब, जैसा कि 1918 के बाद भी हुआ, गिरते हुए मूल्य बड़ी भारी मंदी का असर डाल रहे थे और बेकारी फैल रही थी, थोमस एटवुड (Thomas Attwood) और दूसरे लोगों ने जो कुछ कहा था वह बहुत कुछ इस से मिलता जुलता था । अपेक्षाकृत छोटे पैमाने के सेवायोजकों (एम्प्लोयर्स) और व्यापारियों के बड़े बड़े संगठनों में यह बात, खास तौर से मंदी के दिनों में, हमेशा मान्य रही है । ये वे संगठन हैं जिनके पास अपने सहारे के लिए अधिकांश में बहुत

थोड़ी संचिति (रिजर्व) रही है और जिनकी, अपने अधिक बड़े प्रतिद्वन्दियों में से अधिकांश की अपेक्षा, मंदी के समय में सफलता पूर्वक निकल जाने की बहुत कम शक्ति है और जो यह पूछने में सबसे जोरदार हैं, कि क्यों उपयोगी वस्तुएं उत्पन्न करने की उनकी क्षमता को जनता की उन्हीं वस्तुओं की प्रबल मांग के साथ जोड़ा नहीं जा सकता। इन छोटी फर्मों की आम तौर से यह राय है कि जब द्रव्य की तंगी होती है तो बड़े बड़ी फर्मों की तुलना में उनके साथ कम अनुकूल व्यवहार करते हैं : जब समय बुरा हो तो वे अधिक सहायता चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि बुरे और अच्छे दोनों ही समय में उनको सस्ते साख की सुविधा मिलनी चाहिये।

इस प्रस्ताव का वास्तव में क्या अर्थ है कि साख जारी करने का आधार वास्तविक उत्पादन की जगह उत्पादन क्षमता पर आधारित हो ? इसका यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि जिस किसी के पास मशीनें हैं और श्रम को लगा सकता है उसे, अधिकार के रूप में, पर्याप्त वित्त मिलना चाहिये जिससे वह अपनी मशीनों को काम में ले सके। इसका यह अर्थ इसलिये नहीं हो सकता कि उसकी मशीनें इतनी गतप्रयोग (ओवरसोलीट) हो सकती हैं कि मांग स्तर कितना ही ऊंचा हो उनको काम में लेना उचित नहीं होगा—अर्थात् बहुततर यह होगा कि पुरानी मशीनों का परित्याग कर दिया जाए और नयी मशीनों का निर्माण किया जाए—या उसकी मशीनें, अगर गतप्रयोग भी नहीं हों—इसलिए व्यर्थ हो सकती हैं कि उन वस्तुओं विशेष की पर्याप्त मांग की कोई संभावना नहीं है, जिनको उनका ठीक ठीक उपयोग करने के लिए उत्पन्न करने की उनकी क्षमता है। पूर्ण रोजगार का अर्थ मांग के संतुलन के अनुसार विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करने से मिलने वाला संतुलित रोजगार होना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि हर मशीन को काम में लेना है—या कौन सी गत प्रयोग मशीन का सर्वे ही परित्याग करना है ?

दरअसल इस विचार का कि उत्पादक शक्ति की उपलब्ध पूर्ति के हिसाब से साख उपलब्ध होना चाहिये कोई उचित अर्थ नहीं है सिवाए उत्पादन की बनायी गयी किसी ऐसी योजना के अर्थ में जो उपलब्ध साधनों का सर्वाधिक व्यावहारिक पूर्ण उपयोग करने की दृष्टि से तैयार की गयी हो। इसका फलितार्थ यह है कि किसी भी व्यक्ति और किसी भी मशीन को बेकार नहीं रहने देना है अगर उसको काम लेने से कुल सामाजिक उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि होती है और अधिक उपयोगी श्रम तथा सामग्री को नहीं हटाना पड़ता है। यह विचार किसी भी उत्पादक को साख प्राप्त करने का अधिकार नहीं देता; लेकिन यह मानता है कि योजना का लक्ष्य उन तमाम साधनों को, जिनका इस प्रकार संयोजन किया जा सकता है कि अधिकतम उत्पादन हो, पूरा काम देना है।

इस अर्थ में, तमाम कामों की वित्तीय व्यवस्था के लिए जो पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय योजना के क्षेत्र में आजाते हैं साख उपलब्ध करने का प्रस्ताव वाजिव है। पर यह एक खुला सवाल रह जाता है कि साख की इस पूर्ति का कितना बढ़ा होना आवश्यक है। यह मान कर नहीं चला जा सकता, जैसा कि प्रायः मान लिया जाता है, कि मूल्यों के वर्तमान स्तर पर और अनिश्चित काल के लिए पूर्ण रोजगार के वास्ते वित्तीय व्यवस्था करने की पूर्ति पर्याप्त होनी चाहिये। पूरी तौर से काम में लगे हुए बाजार के लिए बढ़ा हुआ उत्पादन, बहुत से उदाहरणों में, उत्पादन लागतों को कम करना संभव बना देगा; और इस तरह के उदाहरणों की संख्या बिना अधिक समय लगाए ऐसे उदाहरणों से बहुत अधिक हो जानी चाहिये जिनमें, उत्पादन की सीमा तक पर भी, उत्पादन की वृद्धि से लागतें ऊंची हो जाती हैं। यदि, निजी व्यवसाय की व्यवस्था के रहते हुए, साख अपरिवर्तित मूल्यों की मान्यता पर पूर्ण रोजगार की परिस्थितियों की दृष्टि से जारी किया जाने वाला है, तो बड़े पैमाने पर जल्दी ही अप्रत्याश लाभ (विडफाल प्रोफिट्स) सामने आजाएंगे। साख की जो पूर्ति चाहिये वह, वह है जो, कुल मिला कर, चाहे गए स्तर पर साधनों को काम में लगाए रखने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन दे। और इस पूर्ति में उत्पादन की लागतें और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तन आएगा।

तो, उन मर्यादाओं के साथ जो पहले से ही मान ली गयी हैं, हम इस विचार को स्वीकार कर सकते हैं कि साख की पूर्ति उत्पादक क्षमता की उपलब्ध पूर्ति के अनुसार होनी चाहिये, पर इस बात पर जोर देते हुए होनी चाहिये कि ऐसी नीति व्यवहार में उत्पादन की नियोजित व्यवस्था के एक तत्व के तौर पर ही लागू की जा सकती है।

इस स्थान पर, लेकिन, हमारे सामने द्रव्य सुधारकों का एक ऐसा संप्रदाय आता है, जिसका यह मानना है कि वर्तमान व्यवस्था में साख की कोई भी उपलब्ध की जा सकने वाली मात्रा पूर्ण रोजगार की परिस्थितियां उत्पन्न नहीं कर सकेगी, क्योंकि मूल्य व्यवस्था में एक घातक दोष है जो श्रम शक्ति की पूर्ति को उत्पादन लागतों के बराबर कभी भी नहीं होने देता, और इस प्रकार बराबर व्यापारिक हानियां और दिवाले पैदा करता रहता है और संतुलन ठीक करने के प्रयत्न में लोगों को बेकार कर देता है।

जो यह दृष्टिकोण पेश करते हैं उनको उत्तर देने में पहला भुकाव जो किसी का होता है वह उनको अपना पक्ष साबित करने में अतिकर देने के लिए दोषी बताने का होता है। अगर मूल्य व्यवस्था में यह दोष वास्तव में है, तो यह कैसे होता है कि हमारी स्थिति जैसी है उससे अधिक बुरी नहीं होती, या मन्दियों का कभी न कभी तो अन्त होता है? मूल्य व्यवस्था की इस आलोचना का सबसे अधिक

परिचित रूप प्रायः इस निष्कर्ष में संक्षिप्त किया गया है कि अ+ब को अ नहीं खरीद सकता—जब कि अ आय के अंतिम प्राप्तकर्ताओं के हाथ की क्रय शक्ति है, और अ+ब उत्पादन लागतों का योग है, जिन लागतों में एक और मजदूरी, वेतन, फीस, लगान, सूद, और लाभ तथा दूसरे व्यवसायों को सामान, यातायात, बीमा और बैंकिंग सेवाओं के लिए किये गए चुकारे और दूसरी और अन्य लागतें जो प्राप्तकर्ताओं के हाथों में तत्काल खर्च होने वाली आमदनी की छोटक नहीं हैं, दोनों ही, शामिल हैं।

लेकिन अ को अ+ब क्यों खरीदना चाहिये ? इसकी कोई आवश्यकता नहीं है कि ब की—अर्थात् वे लागतें जो सीधी आय के चुकारों की छोटक नहीं हैं—पूर्ति अ द्वारा की जाए। रोटी के बनने में आटा और ईंधन लगता है उनका चुकारा किसी की आय में से किया जाए, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनका मूल्य रोटी बनाने वाला चुकाता है, या तो अपनी कार्यशील पूंजी में से या बैंक हवालगी में से जो जैसे ही उसे रोटी का मूल्य मिलता है प्रतिस्थापित की जा सकती है। यह बात उस मजदूरी की है जो रोटी बनाने वाला अपने काम करने वालों को देता है, वे कार्यशील पूंजी या बैंक हवालगियों में से तब तक के लिये चुका दी जाती है जब तक कि रोटी का मूल्य नहीं आता, और रोटी का मूल्य आने पर पूंजी प्रतिस्थापित (रिप्लेस) की जा सकती है और ऋण चुकाया जा सकता है। सच है विकास करने वालों की मजदूरी उनके पाने वालों के हाथों में फौरन आय बन जाती है, जब कि आटा और ईंधन देने वालों को दिया गया द्रव्य नहीं बनता। लेकिन, अगर हम इन वाद के चुकारों के साथ क्या होता है इसका विश्लेषण करें तो देखेंगे कि उनका एक भाग मजदूरी, वेतन और लाभ, या लगान या सूद के रूप में दूसरे आय प्राप्तकर्ताओं को चुका दिया जाता है, और दूसरा भाग अनाज के व्यापारियों को या किसानों को, कोयले के खानों के मालिकों को या तेल देने वालों को या विजली के व्यवसायों को उसी तरह चुका दिया जाता है जिस तरह से रोटी बनाने वाला आटा पीसने वाले को या कोयले के व्यापारी को चुकाता है। ये रकमें अपनी वारी में फिर आय प्राप्त करने वालों को दिये गए 'अ' चुकारों और मध्यस्थों को दिये गए 'ब' चुकारों में बंट जाती हैं; और यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि हम पूर्ति के प्राथमिक साधनों तक पहुँच जाएँ। इनसे, वाद में, एक नयी श्रृंखला चलेगी; क्योंकि प्राथमिक साधनों को देने वालों को मशीन और ईंधन खरीदना होगा, और बीमा और बैंकिंग के लिये खर्च देना होगा। क्रमवार आने वाली तमाम अवस्थाओं का विश्लेषण करना एक समाप्त नहीं होने वाली प्रक्रिया होगी; पर विश्लेषण को इस हद तक ले जाना आसान होगा जिससे कि अन्तिम रूप से यह बताया जा सके (अ) कि चुकारे अन्ततोगत्वा अ चुकारों में बदल जाते हैं, और यह 'अ' चुकारे बाजार में जितना भी तैयार माल है उसे खरीदने के लिये उपलब्ध होते

हैं, और (व) यह कि 'अ' चुकारों में से तमाम 'ब' चुकारे किये जा सकते हैं, वशतः कि प्राप्तियों के आने के लिए समय मिल जाता हो ।

एक परिशिष्ट में जो इस पुस्तक के पूर्व संस्करणों में छपा था, मैंने यह बात एक तालिका के द्वारा, और मूल पुस्तक में जितना दिया जा सकता था उससे अधिक पूर्ण स्पष्टीकरण के साथ समझाने का प्रयत्न किया था । अब उसे मैंने इस आशा में छोड़ दिया है कि अब संक्षिप्त स्पष्टीकरण ही पर्याप्त होगा । लेकिन अ+ब तर्क के कुछ अधिक परिष्कृत रूपों पर विचार मुझे करना चाहिये । इस तर्क को देने वालों में से कुछ यह स्वीकार करते हैं कि आय के अंतिम प्राप्तकर्ताओं को इसकी कोई आवश्यकता नहीं है कि उनके पास क्रय शक्ति अंतिम और अन्तर्वर्ती दोनों ही वस्तुओं को खरीदने जितनी हो—जिसका अर्थ होगा एक ही प्रकार की वस्तुओं को कई बार, उत्पादन और वितरण की उत्तरोत्तर अवस्थाओं पर, खरीदना—पर फिर भी वे यह कहते हैं कि कुछ 'ब' चुकारे कमी भी 'अ' चुकारों में नहीं बदलते, और इसका नतीजा यह होता है कि आय प्राप्त कर्ताओं के पास बाजार में उपलब्ध तमाम वस्तुओं को लाभकारी मूल्यों पर खरीदने के लिये पर्याप्त द्रव्य नहीं रहता क्योंकि अगर अंतिम वस्तुओं को लाभकारी मूल्यों पर वेचना है तो ब चुकारों को समाविष्ट करना होगा । जिन ब चुकारों के बारे में यह शिकायत प्रायः अधिकतर की जाती है उनमें बैंकिंग के खर्च और व्यवसायों द्वारा जो रकम अवमूल्यन (डिप्रिसियेशन) और लाभ संचित खातों में जमा की जाती है वह आती है ।

पहले बैंकिंग के खर्चों को ही लें । बैंक, और हम बीमा कंपनियों को भी शामिल कर सकते हैं, वे इस बात में अन्तर्वर्ती वस्तुओं और सेवाओं के दूसरे प्रदायकों (सप्लायर्स) जैसी ही हैं जिन्हें लागतें उठानी पड़ती हैं और लाभांश (डिविडेंड) देना पड़ता है । उनकी सेवाओं के लिये दी गयी रकम का एक भाग सीधे तौर से मजदूरी, वेतन और लाभांश में चला जाता है, और दूसरे किसी भी उद्योग में किए गए ऐसे ही चुकारे जितना प्रयत्न आय का रूप लेते हैं उतना ही यह ले लेता है । यह निस्संदेह सही है कि, इन आय चुकारों के अलावा, बैंक और बीमा कंपनियां, दोनों ही अपनी सेवाओं के लिए आम तौर पर इतना अधिक वसूल कर लेती हैं कि जिससे वे संचितियों में अच्छी रकमें ले जा सकें । लेकिन इन संचितियों की ठीक वही स्थिति है जो दूसरे व्यवसायों में संचितियों की होती है, और उस अधिक सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत उनका विचार किया जा सकता है ।

घिसावट तथा अप्रचलन (ओवर्सोलिसेन्स) खातों के लिये निर्धारित रकमें सामान्यतया नई और आधुनिकतम मशीनरी तथा प्लांट के खरीदने में खर्च की जाती हैं । रकम निर्धारण के बाद जल्दी ही यदि ये रकमें खर्च कर दी जाएं, तो इनमें और दूसरी रकमों में जो पूंजीगत वस्तुओं के विनियोग में खर्च की जाती हैं, तत्त्वतः

कोई अंतर नहीं रह जाता है। उपभोक्ता वस्तुओं की तरह अपने तैयार रूप में पूंजीगत वस्तुओं के वास्ते भी खर्च करने के लिए उपलब्ध द्रव्य चाहिये। फर्म अपने घिसावट (डिप्रीसियेशन) और अप्रचलन (ओवसोलिसेन्स) खातों में जो द्रव्य जमा करती हैं वह प्रतिस्थापन के लिए आवश्यक पूंजीगत वस्तुओं को खरीदने के वास्ते होता है। इन रकमों का एकमात्र विशेष लक्षण यह है कि फर्मों के लिए यह कोई अनिवार्यता नहीं है कि किसी समय विशेष पर वे उन्हें खर्च ही कर दें। उनका आसंच्य (होर्ड) कर लिया जाता है तो वर्तमान में उत्पादित वस्तुओं पर होने वाले चालू खर्च में से उतना कम हो जाता है और क्रय शक्ति की कमी सामने आजाती है। पर यह घिसावट (डिप्रीसियेशन) खातों में जमा की गयी रकमों की कोई खास बात नहीं है। 'अ' चुकारे, यानी सीधी आय, भी आसंचित (होर्ड) की जा सकती है; और जब उनका आसंचय (होर्डिंग) होता है, तो ठीक उसी तरह की कमी पैदा होती है। इसलिये इस प्रश्न पर विचार करना सबसे अच्छा तब होगा जब एक व्यापक क्षेत्र पर आसंचय (होर्डिंग) के असर के बारे में विचार कर रहे होंगे।

तो संचितियां (रिजर्व्ज) के लिए निर्धारित रकमों के—यानी उन लाभों के जो लाभांश के रूप में नहीं दे दिये जाते हैं, लेकिन व्यवसाय में ही रख लिये जाते हैं—वारे में क्या? जब मूल्यों में वृद्धि हो रही होती है तो इन संचितियों के कुछ अंशों की विशेष घिसावट या अप्रचलन (डिप्रीसियेशन) या (ओवसोलिसेन्स) खातों में लिखी गयी रकमों के अलावा, बढ़ा हुआ उत्पादन करने वाले अतिरिक्त या सुधरे हुए साधनों से भिन्न, धिसे हुए या अप्रचलित साधनों का प्रतिस्थापन करने में होने वाली ऊंची लागतों की पूर्ति करने के लिए आवश्यकता पड़ जाती है। इस प्रकार काम में ली गयी रकमों वास्तव में प्रतिस्थापन के लिए किये गए निर्धारण (एलो-केशन्स) हैं, और इसलिये पिछले पेराग्राफ का तर्क इनको भी समाविष्ट कर लेता है। उनको कम कर देने के बाद, हमारे पास वे संचितियां बच जाती हैं जो नए विनियोग के लिये उपलब्ध हैं—अर्थात् अतिरिक्त उत्पादक साधनों की व्यवस्था के लिए। इस तरह की रकमों का फर्म के अपने साधनों के विस्तार में, या दूसरे व्यवसायों के नए हिस्सों या ऋण पूंजी में, या किसी भी प्रकार के मौजूदा हिस्सों या दूसरी प्रतिभूतियों में, विनियोग किया जा सकता है। अगर उपरोक्त किसी भी रूप में उनका विनियोग होता है तो उनमें और उन रकमों में जो लाभांश के रूप में चुका दी जाती हैं, और प्राप्त करने वालों द्वारा इसी तरह से विनियोग के काम में ले ली जाती हैं, कोई विशेष अंतर नहीं रह जाता। निस्संदेह उनका आसंचय (होर्डिंग) किया जा सकता है और यह हो सकता है कि उनका बिलकुल ही विनियोग न किया जाए; पर, जैसा कि हम लिख चुके हैं, ऐसा तो उन रकमों का भी हो सकता है जो आय के रूप में दी गयी हैं। जब तक कि उनका आसंचय

(होडिंग) ही न किया जाय, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उनको संचित कोषों (रिजर्व फण्ड्स) में जमा करने का परिणाम चालू क्रय शक्ति में किसी प्रकार की कमी लाने का आयागा। अगर उनका आसंचय (होर्ड) किया जाता है, तो इस तरह कमी उत्पन्न होगी पर यह कमी खर्च की जाने वाली दूसरे किसी प्रकार की प्राप्ति को आसंचय (होर्ड) करने से जो कमियां उत्पन्न होंगी उनसे किसी भिन्न रूप से उत्पन्न नहीं होगी। यह निष्कर्ष बैंक और बीमा संचितियों पर दूसरी संचितियों के सामान ही लागू होता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि जितना दूसरे व्यापारी करते हैं उससे ज्यादा बैंक अपने काम में नहीं आ रही संचितियों को उनसे कोई आय न हो इस प्रकार से आसंचय (होर्ड) करेंगे। इसका यह आशय नहीं है कि कभी कभी संचितियों का आसंचय ही नहीं किया जाएगा जैसा कि साधारण आयों का किया जाता है, पर केवल यह है कि बैंकों में अपनी संचितियों का आसंचय करने की कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं होती। आसंचय करने और उसके परिणामों संबंधी सामान्य प्रश्न पर मैं बाद में फिर विचार करूंगा।

उपरोक्त तर्क के प्रकाश में ऐसा लगता है कि यह धारणा कि मूल्य व्यवस्था में कोई दोष है, जिससे क्रय शक्ति की लगातार प्रवृत्ति कमी की ओर रहती है, एक भ्रांति पर आधारित है। इस तरह की कोई निरन्तर प्रवृत्ति नहीं है। पर यह बिल्कुल ठीक है कि इस बात का कोई आश्वासन नहीं दिया जा सकता कि क्रय शक्ति वास्तव में खर्च कर दी जायेगी, या किसी भी हिसाबी समय, जैसे एक साल में होने वाले उत्पादन से उत्पन्न होने वाली आयों पर आधारित नयी क्रय शक्ति उसी समय में लगी कुल लागत (लाभ सहित) के तदनुरूप होगी। इस बात के दर्जनों कारण हैं कि इस तरह की तदनुरूपता क्यों नहीं मानी जा सकती। पहली बात तो यह है कि ऐसे किसी समय के प्रारंभ में स्टॉक में और उत्पादन प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं में माल होगा, और उस समय में स्टॉक काम में भी लिया जायगा और नया भी आयेगा। किसी भी समय के अन्त में जो स्टॉक होगा वह उसके प्रारंभ में जो कुल स्टॉक था उसके बराबर न हो यह हो सकता है; और उस समय में बने माल में ऐसी सामग्री और संघटक (कम्पोनेन्ट्स) हो सकते हैं जो उस समय बने हों जब लागतें बाद में जो कुछ हो गयीं उनसे बहुत भिन्न हों। दूसरे, जैसा कि हम लिख चुके हैं, कोई कारण नहीं है कि घिसावट (डिप्रीसियेशन) और अप्रचलन (ओवर्सोलिसेन्स) खातों में जमा और नाम होने वाले चुकारे किसी हिसाबी समय में बराबर हों; न इसका कोई कारण है कि किसी समय में संचितियों में ले जाई जाने वाली रकमों संचितियों से किये जाने वाले विनियोगों के बराबर हों। इसलिए किसी भी हिसाबी समय में पूरी संभावना है कि उस समय में बिक्री के लिये लायी गयीं वस्तुओं और सेवाओं के लागत और लाभ आधारित मूल्यों और उन्हें खरीदने के लिए आय प्राप्त करने वालों को, उपलब्ध की गयी व उसी समय में खर्च की

जाने वाली आय में फर्क रहे। पर यह मानने का कि यह फर्क एक दिशा की अपेक्षा दूसरी दिशा में अधिक रहेगा, या किसी बनी रहने वाली कमी की तरफ ले जाएगा, तब तक कोई उचित आधार नहीं है जब तक चालू उत्पादन को खरीदने के लिए आवश्यक द्रव्य का, न केवल थोड़े समय के लिए वस्तुस्थायी तौर पर, आसंचय (होडिंग) किया जाता हो। इस प्रकार के आसंचयन (होडिंग) के अलावा, जो फर्क हैं वे दीर्घकाल में एक दूसरे को रद्द कर देंगे; और यदि, अन्तरिम काल में, अस्थायी कमियों को पूरी करने के लिये बैंक ऋण उपलब्ध हो सकता है, तो कोई कारण नहीं है कि इस कारण से कोई बड़ी कमी पैदा होने की आशंका की जाए, जब तक कि आसंचय (होडिंग) बड़ी मात्रा में ही न होने लगे—जैसी कि संभावना है, जिसके बारे में हम बाद में विचार करेंगे।

तो क्या फिर हमें उसी पुरानी और परम्परागत मान्यता पर आना है कि उत्पादन की हर क्रिया अपने आप उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार पैदा करती है, जिससे कि कमी भी क्रय शक्ति की कमी होने का डर रखने की आवश्यकता ही न रहे? यह एक शताब्दी से अधिक तक आर्थिक परम्परा निष्ठता (ओरथोडोक्सी) का मान्य सिद्धान्त रहा है जिसे जे० बी० से का बाजार सिद्धान्त कहते हैं और जिसका कई अवसरों पर उन लोगों को गलत साबित करने के लिए उपयोग किया गया है जो आर्थिक संकटों के विकास का कारण अति-उत्पादन को मानते हैं। से के अनुसार आम तौर पर अति-उत्पादन होना असंभव है, यद्यपि यह हो सकता है कि कुछ वस्तुओं का दूसरी वस्तुओं की सापेक्षिकता में अति-उत्पादन हो। यह असंभव इसलिए है कि उत्पादन की प्रक्रिया में आय उत्पन्न होती है जो वास्तव में उत्पादन में हिस्सा है और साथ ही वस्तुओं को उत्पन्न करने की लागत भी है। अन्ततोगत्वा हर लागत आय और लागत दोनों ही है; और इसलिए वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिए उपलब्ध आय हमेशा ही उन वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने वालों के हाथों में पहुँचाने की लागत के बराबर होती है। यह, वेशक, माना हुआ है कि जब उत्पादन या वितरण के किसी एक अवस्था पर बाकी सबसे अलग करके ध्यान दिया जाए तो लागत में एक बड़ी संख्या ऐसे तत्वों की मिलेगी जिनके मुकाबले में ऐसी कोई आय नहीं मालूम पड़ती जो उन लोगों को चुकायी गयी है जिन्हें उत्पादन या सेवा की इस विशेष अवस्था की कीमत (प्रोसीड्ज) में हिस्सा पाने का अधिकार है। किसी भी श्रेणी की वस्तुओं के निर्माताओं की आय हमेशा उस रकम से बहुत कम होगी जो उन्हें उत्पादित वस्तुओं को खरीदने के लिए, चाहिये क्योंकि उत्पादन लागत का एक बड़ा भाग ऐसे चुकारों का होगा जो कच्चे माल, ईंधन, यातायात और उत्पादन की क्रिया में काम में आयी दूसरी वस्तुओं के लिए किये गये हैं। पर, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, इससे से का नियम भूटा नहीं पड़ता; क्योंकि यह देखने के लिए कि ये 'ब' चुकारे संपूर्ण उत्पादक और वितरणात्मक

प्रयत्न की अवस्थाओं में 'अ' चुकारों में बदल जाते हैं, हमें इस विश्लेषण को केवल थोड़ा आगे ले जाना होगा। अगर हम इस तलाश को आखिर तक जारी रखें तो देखेंगे कि तमाम लागतें किसी न किसी अवस्था पर उन प्राप्त करने वालों को चुका दी गयी हैं जो या तो पूंजीगत या उपभोक्ता वस्तुओं या सेवाओं पर खर्च कर सकते हैं। इन प्राप्त करने वालों में राज्य तथा अन्य सार्वजनिक अधिकारी (पब्लिक आथोरिटीज) भी होंगे जिनको आर्थिक क्रियाओं या वस्तुओं पर लगाये गये उपशुल्क (रेट्स) और कर प्राप्त होते हैं और जो उनको मिलने वाली रकम को सार्वजनिक सेवाओं पर खर्च कर सकते हैं। वास्तव में, हर चुकारा अन्ततोगत्वा किसी न किसी व्यक्ति की निर्वर्त्य (डिस्पोजेबल) आय का रूप ले लेता है—या तो किसी व्यक्ति की या किसी निगम निकाय (कोरपोरेट बोडी) या सामूहिक निकाय की, जिसे उसे किन्हीं ऐसी वस्तुओं पर खर्च करना होगा जिनकी लागत में इसका योगदान रहा है।

निस्संदेह, यह कहना कि अन्ततोगत्वा ये तमाम लागत संबंधी चुकारे निर्वर्त्य (डिस्पोजेबल) रकमों का रूप ले लेते हैं जो अत्यंत व्यापक अर्थ में उद्योग के उत्पादन को खरीदने के लिये उपलब्ध रहते हैं, इस बात से इनकार करना नहीं है कि जिन सौदों की वित्तीय व्यवस्था की जानी है उन सबका द्रव्य में जोड़ निर्वर्त्य (डिस्पोजेबल) आय की रकम से बहुत अधिक होगा। सर्वथा ठीक अर्थ में जो सारा मुख्यतया चाहिये वह इस आधिक्य के लिए वित्तीय व्यवस्था करने के वास्ते ही चाहिये, पर इस काम में आने वाली साख अपने चुकाने का साधन स्वयं उत्पन्न करने वाली होती है। इससे एक सीमित समय के लिए चुकारे के साधनों का उपयोग करने को मिल जाता है और उसके बाद हवालगी चुका दी जाती है : वह साख इस प्रकार काम में ली गयी शक्ति को नष्ट नहीं करती, उसे केवल हस्तांतरित करती है। तमाम लेन देन—अन्तर्वर्ती और अंतिम—की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए कितना द्रव्य चाहिये, यह प्रश्न इस प्रश्न से सर्वथा अलग है कि अंतिम उत्पादन की कुल मात्रा को ऐसे मूल्य पर जो उसकी लागत चुकाने के लिए पर्याप्त है, खरीदने के लिये कितनी श्राय चाहिये।

से के सिद्धान्त का दोष यह नहीं है कि वह यथा नियम (फोरमली) गलत है—क्योंकि यथानियम (फोरमल) अर्थ में वह गलत नहीं है—बल्कि यह है कि उसका बहुत आसानी से गलत उपयोग किया जा सकता है। एक तो, उत्पादन की किसी एक अवस्था में वह ठीक उतना ही सही है जितना कि किसी दूसरी अवस्था में। जब आधा राष्ट्र बेकार है। तब भी यह उतना ही सही है जितना उस समय है जब सब उपलब्ध साधन पूरी तौर से काम में आ रहे हैं। अगर कोई भी रोजगार से न लगा हो और कुछ भी उत्पादन न हो रहा हो तब भी यह उतना ही सही

रहेगा। किसी वंद (क्लोज्ड) अर्थ व्यवस्था में आम तौर से अति-उत्पादन होने की असंभावना को वह, वेशक, प्रदर्शित करता है; पर आम तौर से न्यून-उत्पादन की असंभावना को प्रदर्शित करने में वह सर्वथा असमर्थ रहता है। वह यह प्रमाणित करता है कि अति-उत्पादन के कारण बेरोजगारी नहीं हो सकती; लेकिन वह यह सावित करने में असमर्थ रहता है कि बेकारी होगी ही नहीं। वास्तव में वह ऐसी कोई बात सावित कर ही कैसे सकता है जब कि साफ तौर पर तमाम पूंजीवादी देशों में इतनी बार बेकारी, गंभीर रूप में, रही है और कभी कभी अनर्थकारी सीमाओं तक पहुंच गयी है।

से का नियम यह स्थापित नहीं करता कि हर उत्पादक को जो वस्तुएं और सेवाएं उपलब्ध करता है स्वतः उन वस्तुओं और सेवाओं को, ऐसे मूल्यों पर जो लागतों से कम नहीं होंगे, खरीदने वाले मिल जाएंगे। किसी पूंजीवादी फर्म को वह यह प्रमाणित नहीं करता कि उसकी उत्पादक क्षमता को पूरी तौर से उपयोग में लेना उसके लिये लाभप्रद होगा—उसके कुछ भाग को उपयोग में न लेने के अधिमान (प्रिफरेंस) में वह यह प्रमाणित नहीं करता कि कुछ लोग अधिक की अपेक्षा कम उत्पादन करके अधिक लाभ नहीं कमा सकते। वह जो कुछ प्रमाणित करता है (उन बातों को छोड़ कर जिनका मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूं और कुछ दूसरी बातों को छोड़ कर जिनकी ओर मैं बाद में ध्यान आकर्षित करूंगा), वह यह है, कि यदि तमाम उत्पादक साधनों को पूरी तौर पर काम में लगा लिया जाए, तो उत्पादित वस्तुओं को खरीदने के लिए उपलब्ध क्रय शक्ति की पूर्ति में कोई कमी आने की आवश्यकता नहीं है। वेशक, से के नियम की यह मान्यता है कि वह तमाम क्रय शक्ति, जो उपलब्ध की जाती है वास्तव में खर्च कर दी जायेगी। वह आसंचय (होडिंग) के असर का विचार नहीं करती, पर केवल उन रकमों का विचार करती है जो उत्पादक प्रक्रिया के दौरान में खर्च करने के लिये उपलब्ध की जाती हैं। इन मर्यादाओं में वह सही है।

से के नियम का गलत उपयोग किये जाने का एक कारण यह है कि जिन क्लासिकल अर्थ-शास्त्रियों ने इसे प्रस्तुत किया उनकी, इससे विल्कुल अलग, पूर्ण रोजगार की स्थिति को मान कर चलने की आदत थी। अपने सैद्धान्तिक विश्लेषण को वे श्रम और पूंजी दोनों साधनों की पूर्ण प्रवाहिता (फ्लुइडिटी) मान कर शुरू करते हैं, जिससे कि किसी का भी कोई तत्व जरूरत पड़ने पर फौरन ही एक उपयोग से दूसरे उपयोग में लगाया जा सके। उनका यह मानना था कि मजदूर और पूंजीपति हमेशा जो भी प्रतिफल उन्हें मिल सकेगा उसे वे ले लेंगे, इसकी अपेक्षा कि वे उत्पादन करने से अपने आपको रोकें, उनमें अवाध प्रतियोगिता होगी, और, हर वस्तु की इस पूर्ण प्रवाहिता के फलस्वरूप, कोई बेकारी नहीं हो सकेगी। वेशक, वे कोई

ऐसे मूर्ख नहीं थे जो यह नहीं जानते हों कि बेकारी वास्तव में पाई जाती थी; पर वे यह मानना अधिक पसंद करते थे कि यह परिणाम था एक सैद्धान्तिक रूप से पूर्ण व्यवस्था के व्यावहारिक कार्यकरण के रास्ते में बाधा उपस्थित करने वाले संघर्ष का। उन्होंने यह नहीं समझा, यद्यपि वास्तव में ऐसा होता है, कि अक्सर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं जब श्रम की मजदूरी और पूँजी के व्याज की कल्पना में आने वाली ऐसी कोई दर नहीं होती जो पूर्ण रोजगार की स्थिति ले आएगी। ऐसा अधिकतर इसलिये था कि, यद्यपि उन्होंने बारंबार इस बात को कहा कि लागतें आय हैं और आय लागतें हैं, पर उन्होंने इस बात को अच्छी तरह नहीं समझा कि जब किसी साधन के काम से हट जाने के कारण जो आय उसको पहले होती थी वह समाप्त हो जाती है, तो उस मात्रा में क्रय शक्ति के कम हो जाने से उत्पादन के नीचे स्तर पर एक नए संतुलन लाने की प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे कि जब तक कम हुई आय फिर से न होने लगे उत्पादन बढ़ने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती, और जब तक उत्पादन न बढ़े आय का पुनः स्थापन नहीं होता। से का नियम वास्तव में किस स्तर पर रोजगार बना रहेगा इस बारे में हमें कुछ नहीं कहता; और पूर्ण रोजगार संबंधी क्लासिकल मान्यता का इसमें किसी प्रकार का समर्थन नहीं है।

इस परिच्छेद में जो कुछ लिखा गया है उसका यह प्रबल सुभाव है कि वे द्रव्य संबंधी सुधारक जो यह कहते हैं कि क्रय शक्ति में कमी आने की निरंतर प्रवृत्ति रहती है इसलिये गलत हो जाते हैं कि वे जो खर्च के लिए उपलब्ध है उसकी कमी को जो कुछ वास्तव में खर्च किया जाता है उसकी कमी के साथ मिला देते हैं। इससे यह बात सामने आती है कि हमें बेकारी और मंदी के संभावी कारण के रूप में आसंचय (होर्डिंग) के विषय पर ज्यादा ध्यान देना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि यह कहीं अधिक आशाजनक दृष्टि है, क्योंकि यदि वास्तव में क्रय शक्ति में कमी आने की बराबर बनी रहने वाली प्रवृत्ति होती है, तो यह आसानी से गमभ में नहीं आता कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था बहुत पहले ही क्यों नहीं समाप्त हो गयी।

कमी सिद्धान्त को मानने वाले, वेशक, यह उत्तर देंगे कि पूँजीवादी व्यवस्था अवश्य ही समाप्त हो गयी होती, यदि कमी की पूर्ति बैंकों द्वारा क्रय शक्ति का निर्माण करके पूरी न करदी जाती। वे यह तर्क देंगे कि अन्तर्वर्ती सौदों की एक बड़ी मात्रा के लिए वित्त व्यवस्था करने के अलावा, उत्पादन साधनों की खरीदने के लिये और, कभी कभी, सरकारों को करों की आय से जो कुछ मिलता है उससे अधिक चुकारा कर सकने में समर्थ करने के लिए हवालगी दे कर बैंक गारंटी का अंतिम क्रय शक्ति की कमी को पूरा करने के लिए उपयोग किया जाता है। निस्मंदेह, यह बिल्कुल ठीक है कि बैंक साख्त का इस प्रकार उपयोग किया जा सकता है और

किया जाता है—सर्वोपरि, युद्ध काल में सरकारों द्वारा । लेकिन, इसको, इस प्रकार काम में लेने का नियम वत् असर यह नहीं है कि जहां अन्यथा संतुलन नहीं होता वहां उससे संतुलन आ जाता है, वल्कि संतुलन को बिगाड़ देने और लागतों से अधिक विक्री मूल्यों को बढ़ा देने का होता है । सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण जिसे अन्तराल (दीगैप) कहा जाता है उसका है, जो युद्धकाल में सरकारी चुकारों और करों तथा ऋण से सरकारी प्राप्तियों के बीच में उत्पन्न हुआ, जो बैंक उधार से पूरा किया गया, और जिसके विषय में आम तौर से यह माना गया कि मूल्य-स्फीति में यह एक कारण है । वेशक यह आवश्यक नहीं है कि अंतिम वस्तुओं को खरीदने के काम में लिये गये बैंक साख का यह असर हो, जब कि वह आसंचय (होर्डिंग) के कारण किसी तात्कालिक असंतुलन को ठीक करने मात्र का काम करता है; लेकिन, यदि नए तैयार माल को खरीदने के लिए जो रकमें निर्वर्त्य (डिसपोजेबल) क्रय शक्ति के मालिकों ने दूसरे रूपों में रोक ली हैं उनकी पूर्ति करने के लिए जितनी जरूरत है उससे अधिक हवालागी बैंक देते हैं, तो उसका अवश्य ही लागतों के ऊपर क्रय शक्ति का आधिक्य पैदा करने का असर होना चाहिये, और इस प्रकार कहीं न कहीं अप्रत्यांश (बिडफाल) लाभ उत्पन्न होंगे ।

उत्पादन की पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ऐसा होना बुरा है या नहीं, इस बारे में दरअसल हम पहले ही उस समय जांच कर चुके हैं जब हम इन प्रस्तावों पर कि बैंक साख की कुल मात्रा का स्थायीकरण किया जाना चाहिये विचार कर रहे थे । अप्रत्याश (बिडफाल) लाभ हों तब भी यह जरूरी नहीं है कि यह कोई बुरी बात ही हो, अगर साथ ही साथ इसके कारण अतिरिक्त उत्पादक साधन काम में लग जाते हों । पूर्ण रोजगार स्थापित करने के तैयार माल की खरीद में लगे विस्तृत बैंक साख के तरीके से ज्यादा अच्छे तरीके हो सकते हैं; पर इन तरीकों के अभाव में, साख का विस्तार करने का कोई तरीका न हो, उससे तो यह बहुत अच्छा है । किसी भी हालत में बैंकों द्वारा दी गयी साख से अलग उपलब्ध क्रय शक्ति की पूर्ति में बताई जाने वाली कमी के प्रश्न से यह प्रश्न सर्वथा भिन्न है; और इस राय में कोई सत्यता नहीं है कि ऐसी किसी कमी को दूर करने के लिए बैंक साख का निरंतर उपयोग किया जाता है ।

कमी सिद्धान्त के व्याख्याताओं का कहना है—ओह ! नहीं ! बैंक साख का इस प्रकार निरंतर उपयोग नहीं किया जाता है । इसका उपयोग एक एक कर किया जाता है; और जिस क्षण वह रोक लिया जाता है, मंदी आ जाती है । निश्चय ही इससे हमारी राय सही साबित होती है ? ऐसी कोई बात नहीं है । वेशक, बैंक साख के संकुचन के फलस्वरूप क्रय शक्ति की चालू पूर्ति में कमी आने से मंदी आ सकती है; लेकिन जब अंतिम वस्तुओं को खरीदने वाली अंतिम आय में कमी आने की

प्रवृत्ति नहीं हो तब भी यह असर उतना ही होगा जितना कि उस समय जब ऐसी कोई प्रवृत्ति हो । वेशक, चुकारे के साधनों में अचानक संकुचन आने से मंदी आने की प्रवृत्ति होगी । मैं सोचता हूँ, इससे तो कोई भी इन्कार नहीं करता : पर यह इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि, बैंक की पूर्ति से अलग, उत्पादक व्यवस्था से जारी होने वाली क्रय शक्ति की मात्रा में कोई स्थायी कमी है ।

अध्याय ६

वचत, विनियोग और उपभोग

इस विचार को, कि पूँजीवादी द्रव्य सम्बन्धी व्यवस्था में क्रय शक्ति में कमी आने की विनाशक प्रवृत्ति है अस्वीकार कर देने का अर्थ यह नहीं है कि उस व्यवस्था में सब कुछ ठीक है। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि यदि ऐसी कोई प्रवृत्ति न हो तब भी अनेक बार मांग की कमी आई है ? क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने क्रय शक्ति को मांग समझ लेने का तरीका ही डाल लिया था, क्योंकि वे यह मान कर चलते थे कि लोगों के पास जितनी क्रय शक्ति होगी वह सब या तो उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं पर, या पूँजीगत वस्तुओं में विनियोग के रूप में, जिसमें सब तरह के स्टॉकों में की जाने वाली वृद्धि भी आ गयी, वास्तव में खर्च कर दी जाएगी। वे यह मानते थे कि कोई भी अपने पास प्राप्त द्रव्य को, उसे सर्वथा बिना खर्च किये, केवल पड़ा नहीं रखेगा, और जिस हद तक उन्होंने किसानों, भारतीय राजाओं, और द्रव्य बेकार पड़ा रखने वाले दूसरे प्राणियों का विचार किया, उन्होंने यह मान लिया कि आसंचित वस्तुएं मूल्यवान् धातुओं और ऐसी ही अन्य चीजों के खजाने के रूप में होंगी, और सामान्यतया उनका आसंचय दूसरी मूल्यवान् वस्तुओं को उदाहरण के लिये चित्रों को—रखने के लिये न कि दुबारा बेचने के लिये खरीदने जैसा होगा। इस प्रकार आसंचित (होरडेड) मूल्यवान् वस्तुएं, श्रम और व्यवसायिक साहस का परिणाम होने से, अपने उत्पादन के सिलसिले में आय उत्पन्न कर चुकी होंगी। इनको आसंचित करने वालों ने, इन्हें बाजार से खरीद कर, इन आयों के बराबर द्रव्य को इनके मुकाबले में रद्द कर दिया और उत्पादन लागतों तथा उपलब्ध क्रय-शक्ति की मात्रा में संतुलन के अभाव से कोई समस्याएं उत्पन्न नहीं हुईं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मूल्यवान् धातु के, जो परिचलन (सर्कुलेशन) की पुनरावृत्त (रिपीटेड) क्रियाओं में सिक्के के रूप में ढले हुए द्रव्य के तौर पर काम में आ सकता था, लोप हो जाने का, उसके असर को समाप्त करने वाले उपायों के अभाव में, किसी हद तक कीमतों को उस बिन्दु से, जिस पर वे अन्यथा होती, नीचे लाने का कुछ असर तो होगा। लेकिन यह सिर्फ ऐसा ही असर होगा जैसा मूल्यवान् धातुओं की द्रव्य से असंबंधित मांग के बढ़ने से होता, ठीक ऐसा असर जैसा शादी की अंगूठियों या सोने के पट्ट की मांग बढ़ जाने से हो। इससे क्रय शक्ति की पूर्ति में कोई कमी नहीं आएगी, सिवाए इसके कि आसंचयन (होर्डिंग)

की अचानक वृद्धि से मूल्यों में गिरावट लाकर या अचानक कमी या आसंचयन विपरीत व्यवहार (डिसहोडिंग) से मूल्यों में वृद्धि करके कुछ अस्त-व्यस्तता पैदा कर दी जाये ।

लेकिन जो कुछ आसंचयित (होडिंग) किया जाता है अगर वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका अन्तर्निहित (इन्ट्रिन्जिक) मूल्य उसके द्रव्य मूल्य के बराबर है, बल्कि वह कागज या बैंक जमा के रूप में सांकेतिक (टोकन) द्रव्य है, तो उसके असर दूसरे होंगे । तब आसंचय करने वाला (होर्डर) ऐसी कोई चीज खरीद नहीं रहा है और अपने पास रख नहीं रहा है जिसके उत्पादन में लागत लगती है और न इस प्रकार बाज़ार से अपने खर्च की मात्रा के बराबर के मूल्य की वस्तुओं को ही हटा रहा है । बेचने के लिये अब भी उतनी ही वस्तुएं और सेवाएं हैं जितनी पहले थीं । पर उनको खरीदने के लिए कम मात्रा में द्रव्य का उपयोग किया जा रहा है । फलतः, आसंचयन या तो वस्तुओं और सेवाओं को कम मूल्यों पर विक्रय होगा या फिर, दूसरा विकल्प यह है कि, उनमें से कुछ बिना बिके रह जाएंगीं । सेवाओं का स्वभाव ही ऐसा है कि उनका संग्रह नहीं किया जा सकता, अगर उनका तत्काल उपयोग नहीं होता है तो फिर उनका बिल्कुल ही उपयोग नहीं हो सकता । बहुत सी वस्तुओं को बिना उनमें कोई विशेष खराबी आए संग्रह किया जा सकता है, पर उनका संग्रह करने की लागत के अधिक होने की संभावना रहती है जिसमें दोनों ही लागतें, वस्तुओं को रखने और हिफाजत करने की वास्तविक लागतें और बीमा की तथा जो पूंजी उनमें लगी हुई है उसके रुके रहने की लागतें, शामिल रहती हैं । इसलिये गिरते हुए मूल्य पर न बेच कर वस्तुओं का संग्रह करने में अधिकांशतः मालिक को मूल्य की हानि होती है और उसे इन दो विकल्पों में चुनाव करना पड़ता है कि या तो वह उन्हें तत्काल कम कीमत पर बेच दे या फिर ऊँचे कुल मूल्य की, जिसमें से संग्रह व्यय कम करना होगा, आशा में उन्हें रोक रके ।

इसलिये वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने में क्रय-शक्ति का वास्तविक उपयोग न करने से कहीं न कहीं हानियां होती हैं—इस अर्थ में कि इसका परिणाम यह होता है कि वस्तुओं और सेवाओं की चालू पूर्ति के मूल्य में उससे कमी आती है जो कि आसंचयन (होडिंग) नहीं होने की हालत में होता । कम से कम, जब तक कि इस प्रकार आसंचयन (होडिंग) के लिये रोक रखी गयी क्रय-शक्ति का नई निर्मित क्रय-शक्ति से तत्काल प्रतिस्थापन नहीं हो जाता और वह वास्तव में खर्च नहीं कर दी जाती, इस प्रकार की हानियां होती हैं । यदि, जिन व्यक्तियों के पास खर्च करने की शक्ति है वे उसका असंचयन (होडिंग) करने के लिये जिस गति से उसे हटा लेते हैं उसी गति से बैंक या दूसरे कोई अधिकारी (ओथोറിटीज़) जिन्हें 'द्रव्य' निर्माण करने का अधिकार है उसी मात्रा की स्वनापन्न प्रयत्नशक्ति से उसका प्रतिस्थापन कर दें और इसका विश्वास दिला दें कि नवनिर्मित क्रय-शक्ति

वास्तव में तत्काल उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च कर दी जाएगी, तो माँग की कोई कमी उत्पन्न नहीं होगी। वास्तव में माँग का संभाव्य आधिक्य होगा, क्योंकि क्रय शक्ति का आसंचयन करने वाले (होर्डर्स) किसी भी समय उसे वापिस बाजार में ला सकेंगे। इसलिये स्थानापन्न क्रय-शक्ति के निर्माताओं के लिये यह आवश्यक होगा कि वे किसी भी क्षण उतनी मात्रा में क्रय-शक्ति को वापिस लौटा लेने के लिए तैयार रहें जितनी मात्रा में आसंचयनकर्ताओं (होर्डर्स) द्वारा रोकी गयी रकमों का प्रतिस्थापन करने की आगे कोई आवश्यकता नहीं है। और यदि स्थानापन्न चुकारे के साधनों का निर्माण करने और उन्हें वापिस हटा लेने की क्रियाओं का आसंचयन (होर्डिंग) और आसंचयन समाप्त (डिसहोर्डिंग) करने की क्रियाओं के साथ संकालन (सिंक्रोनाइज) कर लिया जाए, तो आसंचयन (होर्डिंग) के प्रभाव सर्वथा निष्फल हो जाएंगे।

एक बड़ी हद तक जो कुछ वास्तव में होता है, वह यही है। किसी भी समय कुल उपलब्ध क्रय शक्ति का एक बड़ा भाग इस तरह से या उस तरह से बिना काम में लिये रखा रहता है। जब भी मुझे कुछ द्रव्य खर्च करना होता है तभी मैं अपने बैंक को नहीं जाता। सिक्कों और नोटों की शकल में थोड़ा सा द्रव्य मैं अपने पास रखता हूँ, और जब मेरे पास का द्रव्य कम हो जाता है तभी और द्रव्य लाने के लिए मैं बैंक के पास जाता हूँ। वह तमाम द्रव्य जो मैं अपने बैंक में जमा करा देता हूँ उसे फ़ौरन ही व्याज या लाभ देने वाली प्रतिभूतियों में मैं नहीं लगाता : उसमें से कुछ द्रव्य मैं चालू खाते में इसलिए रहने देता हूँ कि उनमें से मेरे नियमित चुकारे उसमें किये जा सकें, और शायद कुछ द्रव्य, जब मैं उपयुक्त विनियोग की तलाश में रहता हूँ, सावधि जमा (टाइम डिपोजिट) के रूप में पड़ा रहता है। मजदूर परिवार का बैंक में खाता नहीं होता और उसे मजदूरी के रूप में जो कुछ प्राप्त होता है वह सब तुरन्त ही और एक बार में खर्च नहीं कर देता : वह कुछ द्रव्य किराया चुकाने के लिए और बहुत करके कुछ द्रव्य दूसरे खर्चों के लिए, जो नियमित रूप से हफ्ते दर हफ्ते नहीं होते, अपने पास रख लेता है। कुल मिलाकर और वर्गों की अपेक्षा मजदूर वर्ग के पास जो द्रव्य होता है उसे वे ज्यादा तेज़ गति से लेते देते हैं, पर कुल मिलाकर किसी भी क्षण क्रय-शक्ति की एक बड़ी मात्रा उनके पास बेकार पड़ी रहती है। इस प्रकार से रखा हुआ तमाम द्रव्य एक व्यापक अर्थ में, 'आसंचयन' (होर्डिंग) है : आसंचयन द्रव्य को एक से दूसरे के पास परिचलन करने के बजाय बेकार पड़ा रखता है, फिर 'नक़द' का रखना चाहे अपने पास रखे सिक्कों और नोटों के रूप में हो और चाहे बैंक में चालू या सावधि जमा के रूप में हो।

'नक़द' को इन तरीकोंसे अपने पास रखना, लॉर्ड केन्स (Lord Keynes) जिसे 'तरलता अधिमान' (लिक्विडिटी प्रिफ़रेंस) कहते थे उसी का चरम रूप है।

परिसंपत् (एसेट्स) की 'तरलता' (लिक्विडिटी) उतनी ही मानी जाती है जितनी जल्दी और आसानी से वे सामान्य क्रय-शक्ति के रूप में उपलब्ध हो सकें। सिक्के, नोट और बैंक जमा, इन सभी में यह 'तरलता' (लिक्विडिटी) पूरी तौर पर होती है (व्यवहार में चालू जमा से सावधि जमा कोई कम नहीं होते)। दूसरे परिसंपत् (एसेट्स) जिस आसानी से बिना मूल्य-ह्रास के 'नक़द' में बदले जा सकते हैं उसी हिसाब से वे तरल माने जाते हैं। 'आसंचयन' (होडिंग) का अर्थ वास्तव में कम तरल परिसंपत् रखने की अपेक्षा 'नक़द' या 'लगभग-नक़द' रखने का अधिमान (प्रिफरेंस) है।

इसमें, वेशक, अन्तर है कि एक तो द्रव्य इसलिये रखा जाए कि वह खर्च करने के लिए उपलब्ध है और दूसरे उसे काम में नहीं लेने के लिये, निकट भविष्य में उसे खर्च करने का कोई इरादा न होते हुए, रखा जाये। लेकिन यह अन्तर आर्थिक नहीं मनोवैज्ञानिक है। जिस हद तक क्रय-शक्ति को तत्समय (फॉर दी टाइम वींग) काम में नहीं लिया जाता, फिर उसके पीछे कारण या प्रयोजन जो भी हो, उसका असर तो एक सा ही होता है।

अब बात यह है कि बैंक और टकसालें जो सिक्के ढालती हैं यह तय करने के लिये कि कितनी मात्रा में द्रव्य की पूर्ति होनी चाहिये स्वभावतः जनता की 'तरलता अधिमान' (लिक्विडिटी प्रिफरेंस) का विचार करेंगी। और अगर वे जानबूझ कर ऐसा नहीं करतीं, तो समाज की इस सम्बन्ध में जो स्थिर आदत होगी उससे मूल्यों का स्तर अपना मेल बिठा लेगा। सारी बात को अगर अपरिष्कृत रूप से कहा जाए तो यों कहना होगा कि यदि द्रव्य की मात्रा एकस है, और जनता नियमित रूप से हर समय बार्ड मात्रा उपयोग से बाहर रखती है, तो मूल्यों का स्तर एकस-बार्ड के वास्तविक परिचलन के साथ अपना मेल बैठा लेगा। लेकिन वास्तव में बात यह है कि जनता की तरलता अधिमानता (लिक्विडिटी प्रिफरेंस) में अपेक्षाकृत अस्थिर और स्थिर दोनों प्रकार के ही तत्व होते हैं। अधिकांश लोगों की, एक सीमा तक, नक़द द्रव्य रखने की आदत ही होती है और इस कारण से बिना उपयोग के रहे रहने के लिए जो द्रव्य की मांग होती है उसमें एक स्थिरता का तत्व आ जाता है। लेकिन लोग जब वे संपन्नता की स्थिति में हैं तब और जब वे कठिनाई में हैं तब समान मात्रा में 'द्रव्य' अपने पास नहीं रखते, और जब बहुत कम बेकारी है और व्यापारियों का कारोबार अच्छा चल रहा है तो कुछ क्षेत्रों में नक़द की तरल रूप में रखे रहने की मांग बहुत अधिक होगी। ऐसी परिस्थितियों में, जब खर्च के रूप में रखे जाने वाले 'नक़द' की मात्रा में तेज़ी से वृद्धि हो जाएगी।

लेकिन इसके खिलाफ़, व्यापारिक क्रमों द्वारा रखी जाने वाली तरल रोकड़ सर्वथा दूसरी दिशा में जा सकती है। आर्थिक तेज़ी के समय में अधिकांश क्रम

अपने चालू कारोबार की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए जितना प्राप्त करना उनके लिए शक्य हो उतने ही द्रव्य साधन (फंड्ज) चाहती हैं। इसलिए इसकी अपेक्षा कि उनके पास बेकार द्रव्य जमा रहने दें, उनकी यह प्रवृत्ति कहीं ज्यादा होगी कि वे बैंकों से अत्यधिक मात्रा में उधार लें। इसके मुकाबले में मंदी के समय में उनके पास काफ़ी बड़ी मात्रा में रकम हो सकती है जिसकी उनको न तो अपने स्वयं के कारोबार के लिए आवश्यकता है और न ही जिसे तत्समय (फ़ार दी टाइम वीइंग) अन्यत्र विनियोग करने की उनकी इच्छा है। फलतः बुरे समय में व्यापार में लगी निधि (फंड्ज) की प्रायः यह प्रवृत्ति होगी कि वह बैंकों में सावधि जमा के रूप में इक्कड़ी होते रहे। और चूंकि फ़र्मों की बैंक हवालगियां लेने की कम तैयारी होगी इसलिए चालू खातों में कमी आने की प्रवृत्ति होगी। जमा की कुल मात्रा में कमी आए या न आए, लेकिन यह काफ़ी निश्चित है कि चालू और सावधि-जमाओं के बीच में स्थानान्तरण होगा। बड़ी भारी मंदी के समय जमा की कुल मात्रा में कमी आएगी, लेकिन चूंकि सावधि जमा की बढ़ने की प्रवृत्ति होगी इसलिए बैंक हवालगियों में जितनी कमी होगी उससे कम मात्रा से जमा की कुल मात्रा में कमी आएगी।

इसलिये, कुल मिलाकर, तरल निधि (लिक्विड फंड्ज) के लिए जनता की मांग एक अस्थिर मांग होती है। इसमें जो अपेक्षाकृत स्थिर तत्व होते हैं और सर्वथा अल्पकालिक अस्थिरता के जो नियमित रूप से आवर्तक तत्व होते हैं, जैसे क्रिसमस और ग्रीष्मावकाश में होने वाली अधिक नक़्द की मांगें, वे दोनों ही, जहां वे मूल्यों की सामान्य रचना के अंग नहीं हो जाते, आसानी से बैंक की कार्यवाही के द्वारा निष्प्रभावित किये जा सकते हैं। लेकिन जो तत्व ज्यादा अस्थिरता वाले हैं और जो चालू सम्पन्नता और रोज़गार पर निर्भर करते हैं वे इतनी आसानी से निष्प्रभावित नहीं किये जा सकते। अगर व्यापारियों द्वारा द्रव्य साधनों को अपने पास रखे रहने से बड़ा भारी आसंचय (होर्डिंग) होता है, तो इस प्रकार के आसंचयन का स्थानापन्न द्रव्य का निर्माण करके बैंक आसानी से प्रतिविधान (काउन्टर एक्ट) नहीं कर सकते। विलकुल आसानी से ऐसा क्यों नहीं हो सकता यह हम पहले के एक परिच्छेद में लिख चुके हैं। वे उसी हद तक हवालगियां दे सकते हैं और इस प्रकार द्रव्य का निर्माण कर सकते हैं जिस हद तक उनको ऐसे ऋण लेने वाले मिल जाएं जिन्हें वे साख़ देने योग्य मानते हों। मंदी के समय में, इस तरह के उधार लेने वाले मुश्किल से ही मिलते हैं और इसलिये सक्रिय परिचलन में अतिरिक्त द्रव्य डालने के वास्ते केन्द्रीय बैंक नीति के बहुत बड़े उपायों की आवश्यकता होती है, और अगर मंदी भारी हुई, तो यह काम व्यवहार में केन्द्रीय बैंक की शक्ति के बराबर ही हो सकता है।

यह गंभीर प्रकार का आसंचय (होर्डिंग) जिस रूप में मुख्यतया प्रकट होता है वह विनियोग करने से इन्कार करने का है। संतोषजनक आर्थिक स्थिति में, समाज और उसके सदस्यों को खर्च करने की शक्ति के रूप में जो कुल रकम मिलती है वह उसके धारकों (पज्जेसर्स) द्वारा दो धाराओं में बांट दी जाती है, जिनसे एक उपभोग की चालू लागतों को पूरी करती है और दूसरी विनियोग की चालू लागतों को। लोग—शासनेतर (प्राइवेट) लोग—अपनी आय का एक भाग उन वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करते हैं जिनका या तो वे उपभोग की एक ही क्रिया में उपभोग कर लेते हैं, उदाहरण के लिए, भोजन या नाटक के टिकट—या उपभोग की अनेक क्रियाओं की एक ऐसी श्रृंखला में जो समय की अमुक अवधि में (इन ए पीरियड ओफ़ टाइम) फैली हुई है, उदाहरण के लिये, पियानों या मोटर गाड़ी। उनमें से सबके पास नहीं लेकिन कुछ के पास चालू जीवन-निर्वाह के इन खर्चों को कर चुकने के बाद, कुछ आय बची रहती है जिसे वे बचा लेते हैं। इस बचायी हुई आय का या तो वे आसंचय (होर्ड) कर सकते हैं (संभवतः इस विचार से, जब तक कि वे नरुद का आसंचय करने वाले कृपण ही न हों, कि बाद में वह किसी काम में खर्च की जाएगी) या विनियोग, चाहे तो उत्पादन के नए साधनों में या मौजूदा साधनों में कोई हिस्सा खरीद करके या कोई ऐसी प्रतिभूति खरीद करके जिससे उन्हें भविष्य में आय प्राप्त करने का अधिकार मिल जाए। अगर वे अपनी वचत उत्पादन के नए साधनों पर खर्च करते हैं तो वे चालू उत्पादन में से कुछ वस्तुएं बाजार से सीधी उठा लेते हैं और इस प्रकार उनके उत्पादन की लागत की पूर्ति कर देते हैं। अगर वे मौजूदा परिसंपत् (एसेट्स) खरीदते हैं तो वे अपनी क्रय शक्ति किसी दूसरे को हस्तांतरित कर देते हैं जिसको तब वह खर्च कर सकता है। वह फिर या तो नए या मौजूदा परिसंपत् (एसेट्स) पर खर्च करता है, और जो कुछ वह मौजूदा परिसंपत् (एसेट्स) पर खर्च करता है वह तीसरे आदमी को हस्तांतरित हो जाता है। जिने परिसंपत् (एसेट्स) का चालू समय में उत्पादन नहीं हुआ है उनको खरीदने से इस प्रकार खर्च की गयी क्रयशक्ति कभी रह नहीं होती, बल्कि किसी दूसरे को हस्तांतरित हो जाती है। स्वस्थ रूप में काम करने वाली पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में, इस प्रकार हस्तांतरित तमाम रकमों अन्ततोगत्वा या तो नए पूंजीगत पदार्थों पर या नई उपभोक्ता वस्तुओं पर या सेवाओं पर खर्च हो जाएंगी और इस प्रकार खरीददारी से चालू उत्पादन को उत्पन्न करने की संपूर्ण लागत की पूर्ति हो जाएगी।

इस पूर्ति होने में, वेशक, हमें उन रकमों के खर्च को भी शामिल कर देना चाहिये जो राज्य को और स्थानीय सार्वजनिक प्राधिकारियों (नोकल पब्लिक ओथोरिटीज़) को और अन्य सार्वजनिक तथा अर्द्ध-सार्वजनिक संस्थाओं को मिलती हैं। ये रकमों मुख्यतया प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों से मिलती हैं। मोटे रूप में प्रत्यक्षकर

वैयक्तिक आयों में से खर्च करने की क्षमता का सार्वजनिक प्राधिकारियों को सीधा हस्तांतरण है, जब कि अप्रत्यक्ष कर भी इसी प्रकार का अप्रत्यक्ष हस्तांतरण है जो विक्री के लिए उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में वृद्धि करके किया जाता है। दोनों उन रकमों को प्रकट करते हैं जो उद्योगों के चालू उत्पादन पर खर्च होनी चाहियें, अगर लागतों को पूरी तौर से वसूल करना है। अब, सार्वजनिक प्राधिकारी-वर्ग अपनी प्राप्तियों को मोटे रूप में चार तरह से खर्च करते हैं : सब तरह के सार्वजनिक कर्मचारियों की सेवाओं के लिए किये गए चुकारे के रूप में, वृद्धावस्था के कारण पेंशन पाने वालों, बेकारों, बीमारों या विकलांगों आदि को सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी चुकारों के रूप में, सार्वजनिक ऋण पर व्याज तथा ऋण-निवारण-निधि (सिंकिंग फंड) संबंधी चुकारों के रूप में, और उन प्रदत्त (सप्लाइड) वस्तुओं के लिए किए गए चुकारे के रूप में जिनमें उपभोक्ता वस्तुएं (उदाहरणतः शस्त्र सैनिकों, अस्पतालों और दूसरी संस्थाओं के लिये) और पूंजीगत वस्तुएं (उदाहरणतः शस्त्रास्त्र, सड़कें, पुलें, विजलीघर, टाउन हाल, और अन्य सार्वजनिक पूंजीगत कर्मान्त (केपीटल वर्क्स) दोनों ही शामिल हैं।

वैयक्तिक खर्च के साथ साथ समान रूप से ये सार्वजनिक खर्च भी या तो उद्योग के चालू उत्पादन के खरीदने के काम में आएगा, या दूसरों को इस योग्य बनाने के काम आएगा जिससे कि वे उसे खरीद सकें, या मौजूदा परिसंपत् (एसेट्स) के लिए किये गए चुकारे के काम में आएगा (उदाहरणतः ऋण-ह्रास (रिडक्शन) जो सार्वजनिक प्राधिकारी अपनी स्वयं की पूंजीगत देनदारी खरीद करके करता है)। अगर वे चालू उत्पादन को खरीदने के काम आते हैं तो ठीक वैसा ही असर होगा जैसा शासनेतर व्यक्तियों (प्राइवेट पर्सन्स) द्वारा इन उत्पादित वस्तुओं के खरीदने का होता है। अगर वे मौजूदा परिसंपत् (एसेट्स) खरीदने में लगते हैं तो ठीक वैसा ही असर होगा जैसा शासनेतर (प्राइवेट) व्यक्तियों द्वारा इन परिसंपत् (एसेट्स) को खरीदने से होगा—संबंधी क्रयशक्ति का हस्तांतरण। सार्वजनिक संस्थाओं की आय उसी तरह से खर्च में जाती है जैसे शासनेतर (प्राइवेट) व्यक्तियों की आय। मौजूदा तर्क के लिए इससे कोई विशेष समस्याएं पैदा नहीं होतीं।

तो जहां तक लागतों और क्रय-शक्ति के संतुलन का प्रश्न है सब कुछ ठीक है जब तक कि चालू उपभोग के खर्चों के लिए जो आय काम में नहीं आती है वह सब की अन्ततोगत्वा नए पूंजीगत पदार्थों के खरीदने में खर्च कर दी जाती है। लेकिन सब कुछ उस दशा में ठीक नहीं होता जब चालू उत्पादन की वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग में इस रकम का जो भाग खर्च नहीं हुआ है वह नए पूंजीगत पदार्थों पर खर्च नहीं किया जाता है, या तो इसलिये कि वह विल्कुल खर्च किया ही नहीं जाता और उसका आसंचयन (होडिंग) किया जाता है, या इसलिये कि वह

पुराने पूंजीगत पदार्थों संबंधी परिकल्पी (स्पेकुलेटिव) लेन-देन की श्रृंखला में परिचालित होता रहता है और नए विनियोग की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए उसका हस्तांतरण नहीं होता ।

परिकल्पना (स्पेकुलेशन) के विषय में हम एक पूर्व परिच्छेद में विचार कर चुके हैं, और अब हम उसे संक्षेप में विचार करके समाप्त कर सकते हैं । मौजूदा परिसंपत् (ऐसेट्स) में परिकल्पना (स्पेकुलेशन) क्रय-शक्ति को रद्द नहीं करती, उसका केवल हस्तांतरण करती है । लेकिन, अगर द्रव्य एक परिकल्पी (स्पेकुलेटर) से दूसरे परिकल्पी के पास जाता है, तो द्रव्य की पूर्ति का एक उल्लेखनीय अंग इसके कारण ऐसे सौदों में रुका रह सकता है जो चालू उत्पादन के किन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को बाजार से नहीं उठाते, और ऐसी स्थिति में इसका असर चालू आय के एक भाग को उद्योग के चालू उत्पादन पर खर्च होने से हटा लेने का होगा, और चालू पूर्ति और मांग के संतुलन पर उसकी प्रतिक्रियाएं ऐसी ही होंगी जैसे द्रव्य का आसंचय (होर्ड) किया गया है और विल्कुल ही खर्च नहीं किया गया है ।

यह लेकिन गौण बात है । मुख्य बात यह है कि नई पूंजी परिसंपत् (ऐसेट्स) पर होने वाला खर्च उपभोग पर होने वाले खर्च से बहुत कम स्थिर होता है । लॉर्ड केन्स (Keynes) के समय तक के अर्थशास्त्री प्रायः इस तरह से बात कर थे जैसे वचन करना (अर्थात् उपभोग पर खर्च नहीं करना) नए पूंजी वस्तुओं में विनियोग करने के समान ही है । दूसरे शब्दों में, वे यह मानकर चलते थे कि अपनी आय में से जो द्रव्य लोग वचाते हैं वह अपने आप नए उत्पादित पूंजी परिसंपत् (ऐसेट्स) में लग जाता है । किन्तु, स्पष्ट है कि ऐसा होता नहीं । हमारे जैसी उन्नत अर्थव्यवस्था में, वचन करने वाला अधिकतर विनियोग अपने प्रयोग के लिये उत्पादन साधन खरीद कर नहीं करता—जैसे कि किसान बचाई हुई आय में से ट्रैक्टर, या कटया-बन्धक (रीपर-वाइन्डर), या नयी दूध निकालने की मशीन खरीद सकता है । निस्संदेह, इस तरह का विनियोग भी होता है, लेकिन अधिकतर यह होता है कि वचाने वाला अपने द्रव्य का विनियोग किसी दूसरे को उसे ऋण पर देकर करता है जो उसके उपयोग के लिए व्याज देने को तैयार रहता है, या लाभांश प्राप्त करने की आशा में किसी कंपनी के हिस्से खरीद कर करता है, या बीमा कराकर करता है ताकि द्रव्य का विनियोग करने का काम बीमा कंपनी का हो जाता है ।

अब, जो द्रव्य इस प्रकार वचा लिया जाता है उसका क्या किया जा सकता है, यह बाहिर है कि सिर्फ वचाने वालों की इच्छा पर ही निर्भर नहीं करता अपितु इस बात पर भी निर्भर करता है कि नए विनियोग के लिये किस प्रकार के और किस हद तक अवसर उपलब्ध हैं । ऋण देने वाला तब तक ऋण नहीं दे सकता या

नए हिस्से नहीं खरीद सकता जब तक कि उसे ऐसा कोई व्यक्ति न मिल जाए जो उधार लेने को तैयार हो, या कंपनी बनाने को तैयार हो या विक्री के लिये नए हिस्से उपलब्ध करके किसी मौजूदा कंपनी की पूंजी बढ़ाने को तैयार हो। व्यापारियों की ऋण लेने की, या कंपनियों की हिस्सा पूंजी के लिये देयता (लाइविलिटीज) स्वीकार करने की इच्छा से नए विनियोग के उपलब्ध परिमाण का निश्चय होता है। वास्तव में मामला किसी क्रूर इससे भी अधिक पेचीदा है, क्योंकि विक्रेता के लिये जो नए दिखने वाले वंध (वॉइज) और हिस्से आते हैं उनमें से कई, जांच करने से, मालूम पड़ता है कि केवल दुवारा जारी किये हुए हैं जिनका प्रयोजन मौजूदा पूंजी परिसंपत् (एसेट्स) को बेचने का है न कि नए परिसंपत् (एसेट्स) के निर्माण करने का (लेकिन फ़िलहाल हम इस पेचीदगी को भुला सकते हैं और केवल इस आवश्यक बात पर ही जोर दें कि वचत करने वाले, जिनके पास विनियोग करने को द्रव्य है, जब तक अपने स्वयं के उपयोग के लिये पूंजी परिसंपत् (एसेट्स) खरीदने को तैयार न हो जाएं, उन नये पूंजी परिसंपत् (एसेट्स) की मात्रा को प्रभावित नहीं कर सकते जिनका निर्माण करने के लिये व्यापारी तैयार हैं। नए पूंजी परिसंपत् (एसेट्स) का निर्माण करने न करने के विषय में व्यापारी उनसे मिलने वाले लाभ की आशा से प्रभावित होते हैं। जब वे लाभ की अच्छी संभावनाएं मानते हैं तो वे बड़ी रकम उधार, या हिस्से पूंजी के रूप में, लेने को तैयार हो जाते हैं जिनको नयी पूंजी वस्तुओं को खरीदने के लिये काम में लिया जाएगा। लेकिन जब उन्हें लाभ की संभावना कम अच्छी लगती है तो वे नयी कंपनियों का निर्माण करने, या पुरानी का विस्तार करने से इन्कार कर देते हैं और नए उत्पादन परिसंपत् (एसेट्स) में बहुत ही कम मात्रा में विनियोग करने की गुंजाइश रहती है।

पुराने अर्थशास्त्री इस तर्क का यह उत्तर देते हैं कि विनियोग के लिए नयी पूंजी की पूर्ति और मांग में संतुलन लाने का काम सूद की दर करेगी। पर इस विचार के सही होने का कोई वास्तविक आधार नहीं है। यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि नीची सूद की दर वचत करने वालों को हतोत्साहित करेगी और इससे विनियोग के लिये उपलब्ध रकम में कमी आएगी और इसके विपरीत लाभ की संभावित सीमा को विस्तृत करके वह उधार लेने वालों को प्रोत्साहित करेगी। आज यह मान्यता, मुख्यतया, सही नहीं है। सूद की नीची दर वास्तव में कुछ लोगों को अधिक बचाने के लिए प्रोत्साहित करेगी क्योंकि भविष्य में अमुक आय प्राप्त हो सके इसके लिए जितनी रकम बचायी जानी चाहिये उसकी मात्रा बढ़ जायगी। मान लो अपने बुढ़ापे के वर्षों के लिये 500 पाँड की आय प्राप्त करने की दृष्टि से कोई व्यक्ति वचत करता है, तो अगर सूद की दर कम है तो उसे अधिक बचाना पड़ेगा उस स्थिति की अपेक्षा जब कि सूद की दर ऊंची होगी। सामान्यतया, वैयक्तिक वचत की मात्रा पर सूद की दर का संभवतः कम असर होता है।

इसके अलावा, दूसरी ओर, क्या सूद की दर में कमी आने से उधार लेने वाले प्रोत्साहित होंगे ? और सब स्थितियां पूर्ववत् रहें, तो कोई संदेह नहीं कि वे प्रोत्साहित होंगे, पर अन्य सब स्थितियां कभी एक सी रहती नहीं हैं। अधिकांश उत्पादक कार्यों में, कुल लागत की सूद दर इतनी थोड़ी होती है, कि व्यापारी सूद की दर से प्रभावित न होकर संभावित बाजार मूल्यों, और मांग के जो उनके अनुमान होते हैं, उनसे बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। इसके अलावा, जब पूंजी सूद पर उधार नहीं ली जाती है, बल्कि हिस्सों में लगायी जाती * हैं, तो सूद की दर का कोई प्रश्न ही नहीं आता। साधारण हिस्सों में होने वाले विनियोग की मात्रा का निर्णायक कारण लाभ की अपेक्षा होता है, और सूद की दरों संबंधी प्रश्न का कोई लेना देना नहीं रहता। व्यवहार में, किसी भी प्रकार के नए विनियोग के सिलसिले में प्रायः सवाल यह नहीं होता कि लाभ जैसे ५ प्रतिशत होगा या ७ प्रतिशत होगा, बल्कि यह होता है कि लाभ होगा या बिल्कुल हानि ही होगी।

वेशक, जो उधार लेकर या हिस्से जारी करके विनियोग की हुई पूंजी का नियंत्रण करने न करने की वांछनीयता के बारे में विचार करते हैं वे तत्काल भविष्य में होने वाले लाभ की संभावना को नहीं देखते। वे दीर्घकाल में होने वाले लाभ की संभावना पर कुछ ध्यान देते हैं। पर किसी भी समय में चाहे वह मंदी का हो और चाहे समृद्धि का, उनके निर्णयों को प्रभावित करने में तत्काल की परिस्थितियों का बड़ा हाथ रहता है, सिवाय इसके कि जब वे यह सोचते हैं कि अभिवृद्धि (बूम) या अवपात (स्लम्प) का अन्त निकट है तो वे प्रायः दीर्घ दृष्टि लेने लगते हैं। इन समयों के अलावा, सूद की दरों से उनके बहुत प्रभावित होने की संभावना कम रहती है : वे जिस मात्रा में विनियोग करते हैं वह बहुत कुछ प्रायः निकट भविष्य में संभावित मांग के उनके अनुमानों पर कहीं अधिक निर्भर करता है।

इन परिस्थितियों में, पूंजीवादी संसार में विनियोग की प्रक्रियाएं बहुत अस्थिर होती हैं। जब परिस्थितियां सुधार की दिशा में जा रही होती हैं तो पूंजी विस्तार में द्रव्य के विनियोग की योजनाओं की बाहुल्यता रहती है, और जब बुरा समय होता है तो नया विनियोग करने की व्यापक मनाही देखी जाती है। हमें यह देखना चाहिये, कि उस समय क्या होता है जब आय प्राप्त करने वाले अपनी आय में से उससे अधिक बचा लेते हैं जितना कि वे उत्पादन साधनों की प्रत्यक्ष ख़रीद के लिए स्वयं काम में ले सकते हैं, या, इसी प्रयोजन से, जितना कि उनसे उधार लेने के लिये या हिस्सा पूंजी प्राप्त करने के लिये व्यापारी तैयार रहते हैं।

* अधिमान हिस्सों (प्रिफ़रेंस शेयर्स)

यह साफ है कि यदि 'वचाया' हुआ द्रव्य या तो सीधा बचाने वालों द्वारा या अप्रत्यक्ष रूप में नए पूंजीगत पदार्थों पर खर्च नहीं किया जाता है तो संपूर्ण समाज की दृष्टि से वास्तव में वह वचाया हुआ नहीं है। क्योंकि समाज की वचत उन पूंजीगत वस्तुओं के रूप में ही होती है जो या तो उसके नागरिकों के या समष्टि रूप में स्वयं के अपने वचाए हुए द्रव्य से खरीदी गयी हैं। समाज की दृष्टि से वह 'वचाया' हुआ द्रव्य जो नए पूंजी परिसंपत् (एसेट्स) में नहीं 'लगाया गया' है, बेकार गया है। व्यक्तियों की तरह से समाज कागजी द्रव्य का आसंचयन (होडिंग) करके या बैंक में जमा रखकर वचत नहीं कर सकता। जो व्यक्ति बैंक में अपना द्रव्य छोड़ता है वह वांद में उसे वापिस ले सकता है और खर्च कर सकता है। उसकी दृष्टि से, वास्तविक वचत हो गयी है, यद्यपि जब तक उसका द्रव्य बिना उपयोग के पड़ा रहता है उसे उससे कोई आय नहीं हो सकती। समाज की दृष्टि से स्थिति कहीं अधिक बुरी है। व्यक्ति का बैंक शेप (बैलेंस) बैंक का उससे जमा करने वाले (डिपोज़िटर) के प्रति ऋण मात्र है : वह कोई वास्तविक धन का द्योतक नहीं है। अगर वह लोप हो जाए तब भी समाज कोई अधिक गरीब नहीं हो जाएगा, यद्यपि व्यक्ति होगा।

लेकिन, बात इतनी ही नहीं है। अगर कोई व्यक्ति अपने द्रव्य को बिना उपयोग में लिये और उसे किसी वस्तु पर बिना खर्च किये भी उसके मूल्य (वैल्यू) को भविष्य के खर्च के लिए सुरक्षित रख सकता है, तो यह किसी न किसी व्यक्ति की क्रीमत पर होना चाहिये। चालू उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने में द्रव्य का उपयोग न करने का असर, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह होता है कि कुल चालू उत्पादन, यदि सब का सब बेचा जाना है तो, कम द्रव्य में बिकना चाहिये। इसलिए जब तक कि समान मात्रा बाज़ार से हटा नहीं ली जाती और बतौर संग्रह (स्टॉक) के नहीं रख ली जाती, मूल्यों को अवश्य गिरना चाहिये और खर्च से जितना द्रव्य हटा लिया गया है उसके बराबर का नुकसान किसी प्रकार प्रदायकों के सारे समाज में बाटना चाहिये। इस प्रकार के नुकसान, जो, वेशक, व्यवहार में सर्वथा असमान रूप से बटेंगे, कुछ उत्पादकों को बाज़ार से हटा देंगे और उससे कहीं अधिक संख्या में उत्पादक, इस कारण से, अपना उत्पादन कम कर देंगे। इसके विपरीत, अगर वस्तुएं संग्रह (स्टॉक) के रूप में जमा कर ली जाती हैं, तो असर यह होगा कि जिन व्यापारियों के पास यह संग्रह (स्टॉक्स) है उनकी ओर से उत्पादकों को वस्तुओं के लिये आने दिये जाने वाले आदेशों का प्रवाह कम हो जायेगा। दोनों में से किसी भी अवस्था में बेकारी पैदा होगी, उत्पादक साधनों का पूरी तौर से उपयोग नहीं होगा, और समाज की आय गिर जायेगी। इन नुकसानों और उत्पादन तथा बेकारी में होने वाली कमी से जिसे 'वचत' माना गया है वह रद्द हो जायेगी और संभवतः रद्द से भी ज्यादा हो जायेगी। 'बचाने वालों' के पास भी अब भी बैंकों

में उनका द्रव्य होगा, पर वास्तव में यह ऐसा द्रव्य होगा जैसे दूसरों से चुराया हुआ हो। कुल मिला कर समाज काम में नहीं ली गयी क्रय-शक्ति के कारण पहले से अधिक गरीब ही होगी।

इन प्रक्रियाओं का वर्णन करने में केन्स (Keynes) ने जो शब्दावली काम में ली, उससे उसने अपनी लिखी हुई सामग्री के बहुत से विद्यार्थियों को किसी हद तक भ्रम में डाल दिया। जब उसने पहले पहल इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि वैयक्तिक 'वचत' और विनियोग दो सर्वथा अलग अलग चीजें हैं, तो उसने कहा कि इस बात का, वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत, कोई भरोसा नहीं है कि वचत विनियोग के बराबर होगी। वाद में उसने कहा कि वचत को हमेशा ही विनियोग के बराबर होना चाहिये। दोनों कथन वास्तव में एक दूसरे की काट नहीं करते, पर उनमें समान शब्द विभिन्न अर्थों में काम में लिये गए हैं। जब केन्स (Keynes) ने यह कहा कि वचत विनियोग के बराबर न भी हो, तो उसका अर्थ यह था कि उसका कोई भरोसा नहीं है कि जो रकम लोगों ने अपनी आय में से वचाने की कोशिश की और अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से जो उन्होंने वचायी, वह उस रकम के बराबर होगी जो व्यापारी उधार के लिए या हिस्सा पूंजी के रूप में प्राप्त करने के लिये इसलिये तैयार हैं कि उसका वे पूंजी वस्तुओं के चालू उत्पादन के खरीदने में उपयोग करें। जब उसने यह कहा कि वचत को हमेशा विनियोग के बराबर होना चाहिये तो उसका अर्थ यह था कि समाज के दृष्टिकोण से उस वैयक्तिक 'वचत' को, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नए पूंजी विनियोग में फलीभूत नहीं हुई, वास्तव में वचत नहीं माना जा सकता, बल्कि वह अन्यत्र हुए नुकसान से रद्द हो जाएगी। यह दुर्भाग्य की बात है कि केन्स (Keynes) ने समान अर्थ में शब्दावली का उपयोग नहीं किया, लेकिन उसका तर्क भ्रम पैदा करने वाले ढंग से प्रस्तुत किये जाने पर भी सही है।

पूंजीवादी समाजों में विनियोग की जो अस्थिरता पायी जाती है उसके प्रभावों का केन्स के द्वारा किया गया विश्लेषण इस परिणाम तक ले जाने के काम में लिया गया है कि राज्य तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं को नए पूंजी वस्तुओं में किये जाने वाले कुल विनियोग की मात्रा को वाजिव तौर पर स्थिर रखने के लिये कदम उठाना चाहिये। यह प्रायः सुझाया जाता है कि ऐसा तब किया जा सकता है जब इस प्रकार की संस्थाएं अपने स्वयं के विनियोग में निजी क्रमों द्वारा किये गए विनियोग से विपरीत दिशा में परिवर्तन करें, जिससे बुरे समय में 'सार्वजनिक निर्माण' की अधिक प्रयोजनाएं जारी की जाएं और अच्छे समय में काम की जाएं ताकि समाज के सदस्यों की वचाने की इच्छा के साथ पूंजीगत वस्तुओं की कुल मांग का संतुलन रखा जा सके। इन पूंजी कार्यों को करने के लिये जो द्रव्य चाहिये

वह राज्य तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाएं उधार लेंगी और इस प्रकार 'वचत करने वालों' से उनकी वचत का वह शेष जो निजी व्यापारी उनसे लेने के इच्छुक नहीं है ले लेंगी। इसका अर्थ यह नहीं होगा कि 'सार्वजनिक कामों' की मात्रा को, बिना उनकी आवश्यकता का विचार किये हुए, स्थिर रखना होगा। इसमें, जहां तक इसकी अर्थ-व्यवस्था उधार के द्रव्य से की गयी है, दो बातों का विचार करके परिवर्तन करना होगा, एक तो आय के प्राप्त करने वाले जिस परिणाम में वचाना पसंद करें उसका और दूसरे व्यापारी जितनी रकम नये विनियोग में लगाना चाहें उसका। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस 'संतुलन रखने' के काम के अलावा, राज्य और अन्य सार्वजनिक संस्थाएं जिस पैमाने पर वे उचित समझें उसी पर विनियोग का एक नियमित बुनियादी कार्यक्रम भी जारी रख सकती हैं। जितने अधिक उद्योगों का संचालन राज्य या उसके आधीन काम करने वाली सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है, साधारण विनियोग बाजार में उतना ही बड़ा सार्वजनिक व्यवसाय क्षेत्र होगा। जबकि सार्वजनिक संस्थाएं इस प्रकार काम करती हैं, तो विनियोग में लगने वाली कुल मांग निजी और सार्वजनिक ऋण के योग के बराबर होगी, और सार्वजनिक संस्थाओं को अतिरिक्त विनियोग की प्रयोजनाओं के साथ तैयार रहना होगा ताकि निजी विनियोग बाजार की क्रियाशीलता के अनुसार उनका समय या तो जल्दी किया जा सके या आगे बढ़ाया जा सके।

लेकिन राज्य के लिये यह संभव है कि स्वयं अतिरिक्त विनियोग न करके ऐसे क्रम में उठाए जो निजी विनियोग की मात्रा में, उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मांग को प्रोत्साहन देकर, वांछित हद तक वृद्धि करे। आय प्राप्त करने वालों के हाथ में अधिक द्रव्य छोड़ कर ऐसा किया जा सकता है—यानी, आय कर कम करके, या व्यापार पर लगने वाले करों को हटाकर—विशेषतया उन लाभ संचितियों (रिजर्वज्) पर से जिनका नयी पूंजी वस्तुओं में विनियोग किया जाता है—या अमुक्त प्रकार के विनियोग को साहाय्य (सबसिडाइज्) देकर—जैसे मकान निर्माण में—या दूसरे नाना प्रकार से। अतिरिक्त विनियोग का रोजगार पर जो प्रभाव पड़ता है वह बदलता नहीं है चाहे विनियोग राज्य की ओर से किये जाने की जगह निजी व्यवसाय की ओर से किया जाय, यद्यपि किस प्रकार के विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है यह जिस प्रकार के तरीके काम में लिये गये हैं उस पर निर्भर करेगा। अगर राज्य उपभोक्ताओं के मुख्य समूह के हाथ में अधिक शक्ति छोड़ता है, तो उसका मुख्य प्रभाव उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं सम्बन्धी उद्योगों में विनियोग को प्रोत्साहन देने का होगा। अगर वह उन लाभों पर से कर हटा लेता है जो पूंजीगत वस्तुओं को खरीदने के काम में आते हैं, तो क्या असर होगा यह बहुत कम निश्चितता से कहा जा सकता है, क्योंकि उपभोक्ता मांग को सीधा प्रोत्साहन तो बहुत कम मिलेगा और मुख्य प्रोत्साहन नई फैक्टरियों का निर्माण करके या ज्यादा आधुनिक प्लांट लगा

करके उत्पादन साधनों में सुधार करने से मिलेगा, और किसी क्रूर इसका परिणाम यह आ सकता है कि मौजूदा पूंजीगत वस्तुओं को ज्यादा तेज गति से रद्द कर दिया जाए, इसकी अपेक्षा कि कुल उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो। फिर भी नयी पूंजीगत वस्तुओं सम्बन्धी उद्योग मन्दी की स्थिति में है, तो उद्योग के इस क्षेत्र में पुनरुत्थान (रिवाइवल) होने से मजदूरी और दूसरी आय में, जो उद्योग चुकायेगे, वृद्धि होगी और इससे अप्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ताओं की मांग उत्पन्न होगी। किन्हीं उद्योगों को जैसे गृह निर्माण को साहाय्य (सवसिडीज) देने के भी इसी प्रकार के अप्रत्यक्ष असर होंगे।

इसलिये यह बात स्वीकार की जानी चाहिये कि केन्स के तर्क का अनिवार्य परिणाम यह नहीं है कि राज्य को अपना विनियोग बढ़ा कर ही कुल विनियोग की कमी को ठीक करना चाहिये। लेकिन यह ठीक है कि जहां भी राज्य इस प्रकार कुछ करता है उसके परिणामों के विषय में वह अधिक निश्चित हो सकता है वजाय तब के जब कि वह विनियोग को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करता है। ऐसा दो कारणों से, एक तो इसलिये कि निजी व्यवसायी प्रतिचार (रिसर्पोस) करने को या आय प्राप्त करने वाले उनके हाथों में जो अतिरिक्त रकम दी जाए उसे खर्च करने को इच्छुक न हों और दूसरे इसलिये कि राज्य मन्दी के सबसे गम्भीर स्थलों पर ज्यादा आसानी से अपना विनियोग कर सकता है और ऐसा वह कर सकता है उस रकम के एक बड़े भाग को खर्च किये बिना जो वह साहाय्य (सवसिडीज) के रूप में उनको देता है जिन्हें न तो उसकी आवश्यकता है और न जो कुल उत्पादन को बढ़ाने में उसका कोई कारगर उपयोग करते हैं।

असुविचार लगने का खतरा उठाकर भी, मुझे फिर यह कहना चाहिये कि इस परिच्छेद में, मैं जिस 'विनियोग' की बात कर रहा हूँ वह साद्यंत नये उत्पादित पूंजी वस्तुओं में किया गया वास्तविक विनियोग है। और इसमें पूर्व स्वामी से केवल मौजूदा पूंजी परिसंपत् (एसेट्स) खरीदना शामिल नहीं है। निजी बचाने वाले की दृष्टि से यह बात असंगत है कि जो परिसंपत् (एसेट्स) वह प्राप्त करता है वे नये हैं या पुराने, लेकिन समाज की दृष्टि से केवल वही विनियोग है जो नये पूंजी परिसंपत् (एसेट्स) का निर्माण करता है। दूसरा तो केवल स्वामित्व का हस्तांतरण है, रचनात्मक विनियोग की प्रक्रिया नहीं है।

वेशक, इस राय का कि राज्य और दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं की विनियोग की कुल मात्रा को ठीक स्तर पर बनाये रखने के लिये हस्तक्षेप करना चाहिये, इस राय के साथ निकट सम्बन्ध है कि पूर्ण-रोजगार को बनाये रखना राज्य की जिम्मेदारी है। इस सम्बन्ध में राज्य का कर्तव्य अत्यन्त आसानी से उस समय पूरा हो सकता है जब पूंजी विकास का एक बड़ा क्षेत्र सीधे सार्वजनिक नियंत्रण में हो। अगर राज्य

और स्थानीय प्राधिकारी (ओयोरिटीज़) न केवल सड़कों और पुलों, स्कूलों और अस्पतालों, शस्त्राशस्त्र और डाक के साधनों का लेकिन घरों, जलदाय घरों (वाटर वर्क्स), बिजली के स्टेशनों और तन्तु पथों (ट्रान्स-मिशन लाइन्स), पत्तनों और बन्दरगाहों और दूसरे आवश्यक सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं का नियमित रूप से निर्माण-कार्य करते रहें तो विनियोग को तीव्र या मंद बनाने की उनकी क्षमता स्पष्टतः कहीं अधिक और व्यवहार में लाने में अधिक आसान होगी उस स्थिति की अपेक्षा जब कि उनके सामान्य पूंजी संबंधी कार्य एक संकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं । यदि अर्थव्यवस्था के 'सार्वजनिक क्षेत्र' में यातायात के मुख्य साधनों और शायद बड़े बुनियादी उद्योगों में से कुछ को जोड़ दिया जाय, तो स्पष्ट है कि राज्य का काम और भी अधिक आसान हो जायगा, क्योंकि सार्वजनिक नियंत्रण में रहने वाली पूंजी का उपयोग करने वाली सेवाओं का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, उतना ही उन प्रयोजनाओं को चुन लेना आसान होगा जिन्हें वांछित 'संतुलन' लाने की दृष्टि से कुछ जल्दी या कुछ देर से कार्यान्वित करना पड़ सकता है ।

इस प्रकार जहां सार्वजनिक संस्थाएं अतिरिक्त पूंजी प्रयोजनाओं के साथ कार्य क्षेत्र में प्रवेश करती हैं, तो उसका असर उनसे सीधे तौर पर उत्पन्न रोजगार तक ही सीमित नहीं रहता । दर असल प्रभावों की एक पूरी श्रृंखला चालू हो जाती है । सार्वजनिक कार्य कुछ श्रम और दूसरे उत्पादन साधनों का सीधे तौर पर उपयोग करते हैं, उनके लिए निजी फ़र्मों से सामान और अन्य आवश्यक साधन खरीदने होते हैं, और ये फ़र्मों और अधिक श्रम काम में लगाती हैं और अधिक सामान तथा शायद नयी मशीनों के लिये भी आदेश देती हैं । और इस प्रकार अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों को एक नहीं समाप्त होने वाली श्रृंखला में प्रोत्साहन मिलने लगता है । साथ ही साथ वे तमाम मजदूर जो पहले बेकार थे इन तमाम अवस्थाओं में काम में लग जाते हैं और उनकी आय बढ़ जाती है और वे अधिक उपभोक्ता वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने के योग्य हो जाते हैं । सार्वजनिक विनियोग की नीति के इन तमाम अप्रत्यक्ष प्रभावों को अर्थशास्त्री 'गुणक प्रभाव' (मल्टीप्लायर इफ़ेक्ट्स) कहते हैं । यदि तमाम प्रत्यक्ष प्रभाव मिलकर उतना रोजगार उत्पन्न कर देते हैं जितना सार्वजनिक विनियोग के कारण प्रत्यक्ष रूप में होता है, तो 'गुणक' (मल्टीप्लायर) २ है, अगर उससे दुगुना उत्पन्न कर देते हैं तो 'गुणक' ३ है, और इसी प्रकार हम चलते जा सकते हैं । वेशक सार्वजनिक विनियोग का यह कोई जादू का सा लक्षण नहीं है कि इस प्रकार प्रभाव उत्पन्न होते हैं । कोई भी विनियोग ये प्रभाव उत्पन्न करेगा । समझने की बात यह है कि निजी व्यवसायियों की पूंजी कार्यों के लिये उधार लेने की या ऐसे कार्यों में द्रव्य जोन्मि में टालने की कम इच्छा की पूर्ति करने के लिये जब सार्वजनिक संस्थाएं अतिरिक्त विनियोग के साथ सामने आती हैं, तो ये प्रभाव उत्पन्न होते हैं ।

पर ऐसा नहीं मानना चाहिये राज्य का काम अनिवार्यतः उन्हीं उद्योगों और सेवाओं में विनियोग को प्रोत्साहन देने तक सीमित है जिन पर सार्वजनिक स्वामित्व है और जो सार्वजनिक संचालन में हैं । ठीक इसी प्रकार के प्रभाव उस समय भी होंगे जब राज्य, स्वयं या स्थानीय प्राधिकारियों जैसी सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा विनियोग करने की जगह, निजी विनियोग की वृद्धि को प्रोत्साहित कर सके । ऐसा करने के अनेक संभव तरीके हैं । एक तरीका ये है कि जो लोग किन्हीं अनुमोदित (एप्रूव्ड) प्रकार के व्यक्तिगत व्यवसाय में विनियोग करें उन्हें सूद, और यदि आवश्यक हो तो मूल की भी, प्रत्याभूति (गारंटी) दी जाए । प्रथम महायुद्ध के बाद के 'व्यापार सुविधाएं कानून', (ट्रेड फेसिलिटीज़ एक्ट) के अन्तर्गत, छोटे पैमाने पर ऐसा किया गया था । निजी व्यवसाय को साहाय्य (सवसिडीज़) देकर भी राज्य ऐसा कर सकता है । उदाहरणतः 1923 के 'मकान कानून' (हाउसिंग एक्ट) के अन्तर्गत उसने ऐसा किया । इस कानून ने हर एक को जिसने मकान बनाया, और केवल म्यूनिसिपैल्टियों को ही नहीं, साहाय्य (सवसिडी) देकर मकान निर्माण में विनियोग करने को प्रोत्साहन देना चाहा था ।

लेकिन साहाय्य (सवसिडीज़) इस कठिनाई के लिये चदनाम है कि बिना अपव्यय के उनका उपयोग नहीं हो सकता । क्योंकि यह मुश्किल है कि वे उन्हीं को दी जाएं जिन्हें विनियोग करने को प्रोत्साहित करने के लिये देना आवश्यक है और बराबर की मात्रा में उन व्यक्तियों को न दी जाएं जिनको उनकी आवश्यकता नहीं है और जो अगर कोई साहाय्य (सवसिडी) न मिले तब भी विनियोग करने को तैयार हैं । और जो अगर कोई सहाय्य (सवसिडीज़) के बारे में जितनी लागू होती है उससे बहुत कम प्रत्याभूतियों (गारंटीज़) के बारे में लागू होती है । लेकिन और आपत्तियां भी हैं । अगर कार्यकुशलता का ध्यान रखे बिना ही प्रतिफल के बारे में निश्चितता हो जाए, तो जिन रकमों का विनियोग किया गया है उनका कारगर रूप में उपयोग करने के लिए कौन से प्रोत्साहन होंगे ? अगर विनियोग का ऊंचा स्तर प्राप्त करने के लिये अधिक लागत और कम कुशलता के प्रशासित देना पड़े, तो एक प्रकार से पूर्ण रोजगार को क्रायम तो रखा जा सकता है, पर रहन सहन का स्तर नीचा होगा और कार्य-अक्षमता के रोग के फैलने की संभावना होगी । राज्य प्रत्याभूत (गारंटीड) निजी व्यवसाय में दोनों प्रणालियों की हानियां मिल जाती हैं । इसलिये, यद्यपि सिद्धान्ततः राज्य को, उसके विनियोग दर में स्थिरता लाने के वांछित कर्तव्य को पूरा करने से, अगर उसके नियंत्रण में कोई उद्योग या सेवाएं नहीं हों तब भी, कोई रोकने वाला नहीं होगा, पर इन परिस्थितियों में ऐसी किसी 'संतुलन' की नीति को व्यवहार में लाना बहुत कठिन होगा । लेकिन इसका अर्थ यह सुझाना नहीं है कि कुल विनियोग को क्रायम रखने की नीति का पालन करने के लिये उद्योग के

संपूर्ण क्षेत्र के एक छोटे से भाग से अधिक पर राज्य के स्वामित्व को स्थापित करने की आवश्यकता है ।*

केन्स के मत को मानने वाले अर्थशास्त्रियों ने, इस विचार को अपना आधार बना कर कि अन्तर-युद्ध काल में पूंजीवादी समाजों में आने वाले घातक आर्थिक उतार-चढ़ाव का मुख्य कारण विनियोग की अस्थिरता होता है, और यही अस्थिरता साख की अस्थिरता के मूल में होती है, अपने सुभाव के प्रस्तावों में खास जोर राज्य द्वारा कुल विनियोग को ऐसे ऊँचे स्तर पर बनाए रखने की जिम्मेदारी उठाने पर दिया जो पूर्ण रोजगार कायम रखने के लिये पर्याप्त हो । उनका कहना था कि संकीर्ण अर्थ में द्रव्य संबंधी नीति का गौण महत्व होता है और उसका इस प्रकार समायोजन किया जाना चाहिये जिससे कि सही विनियोग नीति की आवश्यकताओं के साथ उसका मेल बैठ जाए ।

साफ़ है कि केन्सवादी यह मानते थे कि 1930 के दशक के पूंजीवादी समाजों में पूर्ण रोजगार के लिये जितनी आवश्यकता हो उससे विनियोग के वास्तविक स्तर के कम रहने की तीव्र प्रवृत्ति होती थी । इस कमी का उन्होंने इलाज बताया, लेकिन, उनकी राय में, यह कमी थी क्यों ? आय प्राप्त करने वाले जो वचत करने का प्रयत्न करते थे वह बाज़ार से उठ जाए—इतना विनियोग का स्तर ऊँचा रह सके, इसको सुनिश्चित करने के लिये राज्य को कुछ करने की आवश्यकता क्यों होनी चाहिये ? प्रायः इस प्रश्न का उत्तर, मुख्यतया, जिन्हें केन्स ने 'उपभोग की प्रवृत्ति' और 'वचत की प्रवृत्ति' कहा, उनमें दिया गया है । सामान्यतया, यह तर्क दिया जाता है कि जिनकी आय थोड़ी होती है उनकी 'उपभोग की प्रवृत्ति' ज्यादा और ऊँची आय स्तरों पर प्रवृत्तियाँ उलट जाती हैं । इसलिये, जिस समाज में समस्त विन्दुओं पर धन का सामान्य स्तर बढ़ रहा है वह अपनी कुल आय का अधिक अनुपात वचाने की इच्छा रखेगा, और ऐसा ही उस समाज में भी होगा जिसमें धनिक वर्गों के पक्ष में आय का पुनः वितरण हो रहा हो । इस सामान्यीकरण के व्यवहार में कई अपवाद होंगे । सर्वाधिक धनिक वर्ग अनिवार्यतः सर्वाधिक 'वचाने वाले' नहीं होते : ग्रेट ब्रिटेन में 1939 तक शायद मध्यम वर्गों ने कुल मिलाकर अपनी आय का सर्वोच्च अनुपात वचाया था । इसके अलावा, आजकल के पूंजीवादी समाजों में अधिकांश वचत और नये पूंजीगत वस्तुओं में विनियोग, व्यक्तियों द्वारा उनकी आमदनी में से नहीं बल्कि व्यापारिक फ़र्मों द्वारा किया जाता है, जो अपने लाभ का एक भाग, कुल लाभ हिस्सेदारों में लाभांश के रूप में बाँट देने की जगह,

* मेरी पुस्तक 'पूर्ण रोजगार के साधन' (मीन्स टू फुल एम्प्लोयमेंट) (गोर्लेज, 1943), में मैंने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है । यहां सरसरी तौर पर उसका उल्लेख कर देने मात्र से ज्यादा के लिये स्थान नहीं है ।

संचित खातों (रिजर्व अकाउन्ट्स) में जमा करते हैं। फिर भी मोटे रूप में यह सही है कि निर्धन वर्ग बिना कठिनाइयों को उठाए, जिन्हें उठाना वे साधारणतया नहीं स्वीकार करेंगे, बहुत बचाना संभव नहीं कर सकते, और तदनुसार अधिकांश वचत या तो उन व्यक्तियों से आती है जो 'निर्धनता को रखा' से काफ़ी ऊपर हैं या ऐसे व्यक्तियों का जिन पर स्वामित्व है उन व्यापारिक फ़र्मों से आती है। एक मात्र दूसरा बड़ा साधन बीमा का है, जिसमें पेन्शन योजनाएं शामिल हैं।

1930 के दशक में यह दलील दी जाती थी कि आधुनिक समाजों में ऐसे लोगों की बढ़ी हुई संख्या होने का, जिनके पास जीवन की आवश्यकताओं से अधिक है, यह परिणाम आया कि 'वचत की प्रवृत्ति' बढ़ गयी। लेकिन इस वृद्धि की व्यापारियों की विनियोग करने की इच्छा में हुई वृद्धि ने पूरी तौर से और लगातार बराबरी नहीं की। ऐसा क्यों होना चाहिये था? एक सम्बन्धित कारण यह है कि अधिकांश पूंजीगत वस्तुओं का एक मात्र उपयोग उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होना होता है : इसलिये विनियोग की मांग अन्ततोगत्वा उपभोक्ता वस्तुओं की संभावित मांग पर निर्भर करती है—अर्थात् 'उपभोग की प्रवृत्ति के बने रहने पर'। नयी पूंजी वस्तुओं का उससे अधिक उत्पादन, जो उपभोक्ताओं की मांग को पूरा करने वाली वस्तुओं का उत्पादन करने के लिये चाहिये, कहीं न कहीं केवल हानियां कर सकता है—या तो नयी पूंजी वस्तुओं का लाभ पूर्वक उपयोग न कर सकने से या उन पुरानी पूंजी वस्तुओं को उत्पादन से हटा देने से जो नये उत्पादन साधनों की प्रतिस्पर्धा में अपना स्थान बनाए रखने के लिये पर्याप्त रूप में कार्यक्षम नहीं है। तदनुसार, यदि 'वचत की प्रवृत्ति' अत्यधिक हो जाती है, तो उपभोक्ता वस्तुओं के बाज़ार को सीमित बना करके, वह अपने आपको प्रभावहीन बना लेगी, जब तक कि सरकार यह ज़िम्मेदारी न ले ले कि वचत का उपयोग कर लेने के लिये जितनी आवश्यकता हो वास्तविक विनियोग की मात्रा उतनी ऊंची रखी जाएगी। निस्संदेह यह बहुत ठीक और उचित है कि गत प्रयोग (ओबसोलिसेंट) और घिसे हुए उत्पादन के साधनों को नए और अधिक कार्यक्षम साधनों द्वारा बराबर बाज़ार से हटाने की प्रक्रिया चलती रहे। लेकिन अगर यह प्रक्रिया एक सीमा से अधिक गति वाली हो जाती है तो वह मशीनों को उनकी सहायता से उत्पन्न वस्तुओं के मूल्य में से उनका मूल्य चुकाने के बहुत पहले ही पूरी तौर से रद्द कराकर विनाश और बरबादी कराने वाली हो जाती है। निस्संदेह, यह आवश्यक है कि नए व्यवसायों में से कुछ असफल हों, लेकिन अगर असफलता व्यापक हो जाए, तो परिणाम यह होगा कि उत्पादक विनियोग की जोखिम उठाने के लिए कम लोग इच्छुक होंगे।

इसलिये सारे समाज में 'उपभोग की प्रवृत्ति' को पर्याप्त रूप में कायम रखना स्वस्थ आर्थिक स्थिति के बने रहने के लिये सामान्यतया अनिवार्य है। मैं

‘सामान्यतया’ इसलिये कहता हूँ कि जब कोई देश तेज उद्योगीकरण की प्रक्रिया में से गुजर रहा हो, खासतौर से जब कि सोची हुई नीति के तौर पर सरकार इस प्रक्रिया को चला रही हो, तो ‘उपभोग की प्रवृत्ति जितनी कम होगी, उद्योगीकरण उतना ही तेजी से आगे बढ़ सकता है—एक हद तक। पर इस हालत में भी, जब तक कि संपूर्ण प्रक्रिया हथियारों या अन्य ‘सार्वजनिक निर्माण कार्यों’ के उत्पादन में ही न लगी हो जिनके लिये कोई निजी बाजार नहीं होता (जैसे, सड़कें, या स्कूल या अस्पताल), औद्योगिक विकास दीर्घकाल में या तो उपभोक्ता पदार्थों के अधिक उत्पादन की दिशा में जाएगा, या फिर उत्पादित वस्तुओं की मांग के अभाव में रुक जाएगा। इन विशेष और अस्थायी परिस्थितियों को छोड़ करके, वचत की मांग अन्ततोगत्वा उपभोक्ता वस्तुओं की मांग से मर्यादित रहती है। और जहां ‘वचत की प्रवृत्ति’ अनुचित रूप में वृद्धि की ओर जाती है वहां मंदी और संकट को रोकने के लिये कुछ करना आवश्यक होता है। ऐसा अनेक प्रकार से किया जा सकता है। राज्य कुछ कदम उठा सकता है, उदाहरण के लिये न्यूनतम मजदूरी कानून के द्वारा कम मजदूरी पाने वाले वर्गों की आय बढ़ाकर, वह कर व्यवस्था को आय के पुनः वितरण के साधन के तौर पर काम में ले सकता है जैसा कि वह समाज सेवाओं के सम्बन्ध में करता है जिनका कि अर्थ प्रबन्ध ऊंची आमदनियों पर ज्यादा भार डालने वाली कर-प्रणाली से मिलने वाली आय से किया जाता है—जैसे परिवार को मिलने वाले भत्ते। वह कुल करों को कम कर सकता है जिससे कि करदाताओं के पास अधिक मात्रा में असल आय बच रहे, और इस प्रकार होने वाले घाटे को उधार लेकर पूरा कर सकता है। उधार लिये हुए द्रव्य में से वह उपभोग को सीधा साहाय्य (सबसिडीज) दे सकता है, जो कि ‘घाटे द्वारा अर्थ प्रबंध करने’ का एक दूसरा प्रकार है। इसकी जगह वह घाटा रख सकता है जिसे वह पूरा करे, उधार लेकर नहीं, बल्कि चलायं या बैंक द्रव्य के रूप में सीधी तौर पर अतिरिक्त क्रय-शक्ति का निर्माण करके, या, जैसा कि हम देख चुके हैं, वह ‘सार्वजनिक निर्माण कार्य’ के ऐसे रूपों का विकास कर सकता है जो सामूहिक उपभोग को ऊंचे स्तर की ओर ले जाएं—जैसे सड़कों, पाकों, खेल मैदानों, तैरने के होजों, म्यूनिसिपल थ्येट्रों और ऐसी ही दूसरी निःशुल्क सेवाओं की (या हथियारों की) व्यवस्था करके अंतिम तरीके के अलावा ये तमाम तरीके निजी उपभोग को प्रोत्साहन देंगे, अंतिम तरीका सार्वजनिक क्षेत्र के विनियोग के एक भाग को ऐसी दिशाओं में ले जाएगा जो टिकाऊ उपभोग वस्तुओं के सामूहिक उपयोग की मात्रा को बढ़ाने वाली होंगी।*

*पूँजी वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं के बीच में जो अंतर इस समस्त परिच्छेद में मने किया है, वह कुछ स्थानों पर असंतोषजनक मालूम पड़ता है, और कुछ दृष्टियों से यह ज्यादा पसंद करने लायक है कि वस्तुओं को तीन श्रेणियों में बांटा जाय—उत्पादन वस्तुएं, तत्काल उपभोग वस्तुएं और टिकाऊ उपभोग वस्तुएं।

तो व्यापारियों द्वारा विनियोग के लिये द्रव्य स्वीकार करने की इच्छा से 'वचन की प्रवृत्ति' की आगे बढ़ जाने की प्रवृत्ति का एक संभव स्पष्टीकरण यह है कि 'उपभोग की प्रवृत्ति' में कमी आ जाती है। लेकिन, एक दूसरा स्पष्टीकरण भी है, जो पहले से असंगत नहीं है बल्कि उसका अनुपूरक (सप्लीमेंटरी) है। जहां एकाधिकार होता है वहां एकाधिकारियों के सर्वाधिक अनुकूल यह हो सकता है कि उत्पादन की मात्रा को कम रखा जाये ताकि कीमतों को ऊँचे स्तर पर रखा जा सके और इस प्रकार कुल लाभ अधिक मात्रा में प्राप्त किया जाये। जहां ऐसा होता है वहां यह दोनों काम करेगा, विनियोग के मार्गों को प्रत्यक्ष ढंग से सीमित करेगा, और, रोजगार को सीमित करके तथा लाभ को बढ़ा करके, आय की असमानता को उग्र करेगा और इस प्रकार 'वचन की प्रवृत्ति' में अपने आपको निरर्थक बनाने वाली वृद्धि और अधिक लायेगा। इस प्रकार एक तो एकाधिकार और दूसरे ऊँची आयों में वृद्धि आने से 'वचन की प्रवृत्ति' की वृद्धि, ये दो स्वतंत्र कारण नहीं हैं बल्कि समान असर उत्पन्न करने के लिये दोनों साथ साथ काम कर सकते हैं।*

वैशक, यह गिरती हुई 'उपभोग की प्रवृत्ति' बहुत पुराने विचार का-न्यून-उपभोग के विचार का-केवल महज एक नये ढंग का नाम है। गैर-परम्परावादी (हेटेरोडोक्स) अर्थशास्त्रियों की अनेक पीढ़ियों द्वारा यह तर्क दिया गया है कि आधिक संकटों की जड़ में गरीबों और अमीरों के बीच में आमदनी का असमान वितरण है, जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की मांग सीमित होती है और साथ ही साथ उत्पादन की क्षमता बढ़ती है। लेकिन, इस विचार के पुराने मानने वाले आम तौर से ऐसे कहा करते थे जैसे 'न्यून-उपभोग' का सहसंबंधी अति-विनियोग है जिससे उपभोक्ता वस्तुओं

एक मकान, मकान मालिक की दृष्टि से पूंजी वस्तु है, पर किरायेदार की दृष्टि से उपभोग है जो क्रमशः उसे काम में लेकर उसके पूंजी मूल्य को समाप्त करता है। वास्तव में यह एक टिकाऊ उपभोग वस्तु है जो पूंजी वस्तु के रूप में भी काम करती है। कुछ ऐसी वस्तुएं, जैसे मकान, प्रायः द्रव्य के एवज में किराये पर दिये जा सकते हैं और दिये जाते हैं : दूसरी वस्तुएं, जैसे सड़कें, अब किराये पर नहीं दी जाती हैं—सिवाय उन स्थानों के जहां 'टर्नपाइक' वे सड़कें जिनके उपयोग के लिये शुल्क लिया जाता था। अनुवादक—सड़कें अब भी हैं—पर उनका सामूहिक रूप में उपभोग किया जाता है और सार्वजनिक खजाने से उनका खर्च उठाया जाता है। ऐसी ही स्थिति हथियारोंकी है।

*में यह नहीं कह रहा हूँ कि एकाधिकार हमेशा ऐसा ही असर पैदा करता है। सबसे ज्यादा इसका यह असर तब होता है जबकि मन्दी की साधारण स्थिति होती है, पर इस स्थिति में भी किसी ऐसे उद्योग में, जिसमें तकनीकी परिवर्तन के कारण तेजी से विस्तार हो रहा है यह असर होना आवश्यक है—क्योंकि मन्दीकाल में भी

का अतिप्रदाय (ग्लट) हो जाता है और उनको उत्पन्न करने वालों के लिए उनको बेचना असंभव हो जाता है। उन्होंने यह पूरी तौर से नहीं समझा था कि समाज में आय के असमान वितरण से वास्तव में विनियोग और उपभोग दोनों में ही कमी आ सकती है क्योंकि व्यापारी अतिरिक्त पूंजी साधनों का निर्माण करने के लिये अनिच्छुक हो सकते हैं और मौजूदा साधनों के स्वामियों में एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ मजबूत हो सकती हैं। जहाँ ऐसा होता है वहाँ भी संकट उतना उत्पन्न होगा जितना पूंजी वस्तुओं में अति विनियोग से उत्पन्न होता है। क्योंकि पूंजी वस्तुओं के नहीं खरीदे जाने से उन वस्तुओं के उत्पादक बेकार हो जाएंगे और फलतः जिनको इन वस्तुओं के उत्पादन में काम मिलता उनके पास क्रय-शक्ति का अभाव हो जाने से उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में कमी आ जायगी। संकट दोनों ही कारणों से उत्पन्न हो सकता है, अति-विनियोग से या अल्प-विनियोग से : एकाधिकार का जितना अधिक प्रभाव होगा उतनी ही वास्तव में अल्प-विनियोग की संभावना होगी। क्योंकि एकाधिकारियों के मुख्य-उद्देश्यों में से एक यह है कि जिन क्षेत्रों में उनका नियंत्रण है उनमें नए पूंजी के अनियंत्रित प्रवेश को रोका जाय, और कुल विनियोग ऐसे स्तर पर रखा जाय जिससे कि एकाधिकारी जिसे 'निरर्थक क्षमता' समझते हैं वह अपवर्जित (एक्सक्लूडेड) रहे और इस प्रकार उत्पादन को उस स्तर तक सीमित रखना आसान हो जाए जो अत्यधिक कुल लाभ को सुनिश्चित कर सके।

अब तक इस परिच्छेद में मैंने इस बात कि चर्चा की है कि उस समय क्या होता है जब जितनी वचत की गई है उस सबका पूंजी परिसंपत् (एसेट्स) में विनियोग करने की दृष्टि से, जब तक कि राज्य स्वयं ही वचत को 'सार्वजनिक निर्माण कार्य' में न लगा दे या करों की छूट या साहाय्य (सबसिडीज़) देकर रोजगार को बढ़ाने के किसी दूसरे उपाय को काम में न ले ले, 'वचत की प्रवृत्ति' जितनी होनी चाहिये उससे अधिक है—या, जो कि एक ही बात है, उपभोग की प्रवृत्ति जितनी चाहिये उससे कम है। तीसरे दशक में, जब केन्स ने अपने विचारों का निर्माण किया था, अधिकांश पूंजीवादी देशों को इसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा था। पर 1945 से इन देशों में से अधिकांश की परिस्थिति विल्कुल भिन्न रही है। ग्रेट ब्रिटेन में,

ऐसे उद्योग का बाज़ार अत्यंत लोचदार हो सकता है। वास्तव में ऐसे उदाहरण हैं जब कि एक एकाधिकारी संगठन जिसका बाज़ार पर नियंत्रण है उत्पादन बढ़ाने के लिये अधिक तैयार होता है वनिस्वतः ऐसे उद्योग के जिसमें मुश्किल से अपने आपको जीवित रखने वाली फ़र्मों की एक बड़ी संख्या, अपनी कार्य कुशलता बढ़ाने के लिए नयी पूंजी एकत्रित करने में असमर्थ होने से, निराशा में एक आयंत्रित (रेस्ट्रिक्टेड) कार्टल का निर्माण करने को तैयार हो जाती है। सामान्यतया मूल (टैक्सर) में किया गया परिवर्तन एकाधिकारी अकेली फ़र्मों की अपेक्षा कार्टल पर ज्यादा लाभ होता है।

उदाहरण के तौर पर, अब ऊंची आमदनियों पर कर दरें इतनी अधिक हैं कि धनिक वर्गों के व्यक्तियों द्वारा बहुत थोड़ी वचत की जाती है (हालांकि मध्यम वर्ग का एक बड़ा भाग अब भी वीमा-लेखों के रूपों में काफ़ी वचत करते हैं।) इस ऊंची कर प्रणाली से होने वाली आय का एक भाग तो सामाजिक सेवाओं के द्वारा, नक़द लाभ और सेवाओं दोनों प्रकार से, पुनर्वितरित हो जाता है। दूसरा भाग सार्वजनिक ऋण के—जो बहुत बढ़ गये हैं—सूद को चुकाने में जाता है। दूसरा बड़ा हिस्सा हथियारों पर और उनसे सम्बन्धित खोज पर खर्च होता है, क्योंकि शस्त्रीकरण हमेशा से कहीं ज्यादा खर्चीला हो गया है। इन ऊँचे करों के होते हुए, निजी वचत का अधिकांश भाग, पहले से कहीं ज्यादा, अब व्यवसायों के बिना बंटे लाभ से प्राप्त किया जाता है।

तो, वर्तमान में निरंतर अति-वचत होना संभव नहीं है, क्योंकि व्यापारिक संस्थाएं जितना विनियोग करने की वे आशा कर सकती हैं उससे अधिक संचितियां (रिज़र्वज़) वे मुश्किल से इकट्ठा कर पाएंगी। वास्तव में वे, किसी अपेक्षित या वास्तविक मंदी, या जो पूंजी वस्तुएं वे चाहती हैं, उनकी कमी का विचार करके, कुछ समय के लिये अपनी संचितियों (रिज़र्वज़) का, उन्हें तुरंत खर्च करने की जगह, आसंचय (होडिंग) कर सकती हैं, और यदि इस प्रकार से आसंचय (होडिंग) किया गया तो वह मंदी को तीव्र बनाएगा। पर वास्तव में, 1945 से, ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की स्थिति ऐसी हो रही है कि विनियोग और उपभोक्ता वस्तुएं दोनों की मांग, अधिकतर, पूर्ति से ज्यादा रही है। पूर्ण रोज़गार या लगभग पूर्ण रोज़गार की स्थिति रही है, यद्यपि उद्योगों विशेष में उतार चढ़ाव आये हैं—जैसे सूती वस्त्र में। तदनुसार 1930 के दशक में, जब रोज़गार बढ़ाने के लिए कुछ करने की ज़रूरत थी, जो नीतियां सर्वोत्तम थीं उचित नीतियां उनसे भिन्न नहीं है।

1930 के दशक में अर्थशास्त्रियों के सामने प्रश्न था कि बेरोज़गारी कम करने का और अधिक उत्पादन को प्रोत्साहन देने का, और समस्त केन्सवादी दृष्टिकोण का उदय ही उस वास्तविक स्थिति में से हुआ जिसमें साधनों का अधिक अल्प-उपयोग हो रहा था। आज भी कुछ देशों में खास तौर से इटली में जिसकी जनसंख्या तेज़ी से बढ़ रही है और जहाँ दूसरे उत्पादक साधनों की कमी है, किसी हद तक यह परिस्थिति पाई जाती है। पर अधिकांश पूंजीवादी देशों में 1945 से 1954 के बीच में समस्या, अल्प बेरोज़गारी की नहीं, बल्कि, किसी कदर चालू मांग की पूर्ति करने के लिए आवश्यक उत्पादक साधनों के कमी की रही है, जिससे कई फर्मों की आदेश-पुस्तकें आगे से आगे काफ़ी समय पहले से भरी रही हैं और कई भावी ख़रीददारों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये काफ़ी लम्बे समय तक इन्तज़ार करना पड़ा है। वेशक, आदेशों को पूरा करने में होने वाली देरी सब

प्रकार की वस्तुओं के विषय में लागू नहीं होती। मुख्यतया यह स्थिति या तो किन्हीं खास चीजों की कमी के कारण उत्पन्न हुई है या किसी खास वस्तु की बहुत अधिक प्रतिस्पर्द्धी मांगों के इकट्ठा हो जाने से हुई है। उदाहरण के लिये, अमुक प्रकार के इस्पात की कमी से इंजीनियरिंग की किन्हीं शाखाओं के उत्पादन की वृद्धि में कमी आयी, और लकड़ी की कमी का इमारत पर भी ऐसा ही असर पड़ा। फिर हथियारों की मांग का उद्योग में काम आने के लिये मशीनरी की मांग से संघर्ष हुआ है, और दूध की मांग और मांस की मांग में प्रतिस्पर्द्धा रही है। इस तरह के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। सबसे ज्वलंत उदाहरण निर्माण उद्योग का है जिस पर की जाने वाली मकानों, फ़ैक्टरियों, स्कूलों, अस्पतालों और बहुत से दूसरे प्रकार के निर्माण कार्यों की मांगों में संघर्ष रहा है।

मांग के इस प्रकार संघर्षों और किन्हीं वस्तुओं की कमी के कारण होने वाली देर के अलावा, बड़ा सवाल यह है कि क्या 1945 से कुल मांग का अन्तरा-युद्धकाल की कमी के मुकाबले में, आधिक्य रहा है? क्या खरीददार उपलब्ध उत्पादन साधन की जितनी पूर्ति कर सकते हैं उससे कुल मिलाकर अधिक खरीदने का प्रयत्न करते रहे हैं? क्या क्रय शक्ति की कभी अधिकता नहीं रही है? इस तरह के आधिक्य को अर्थशास्त्री 'मांग-स्फीति' कहते हैं, और बहुतों ने सुझाया है कि युद्धोत्तर संसार में ऐसी स्थिति रही है और इससे पूर्ण रोजगार की नहीं 'अति-रोजगार' की स्थिति पैदा हुई है।

जैसा लगता है वैसा सहज मामला यह नहीं है। बेशक, युद्ध समाप्त होने पर जिन मांगों का युद्धकाल में संतोष करना असंभव था, वे अचानक प्रकट हुईं। जिन प्रदेशों का विनाश हो चुका था उनके प्रत्यास्थापन (रेस्टोरेशन) की मांगें थीं, जिन उद्योगों को युद्धकाल में रोक रखा गया था उनकी ओर से पुरानी कमी पूरी करने के लिये नए साधनों की मांगें थीं, निजी उपभोक्ताओं की मांगें थीं जिनके कपड़े और दूसरी चीजें (फ़र्निशिंग्ज़) फट गयीं थीं और जो फिर से उन वस्तुओं को चाहते थे जिनसे युद्धकालीन मितोपभोग (आस्टेरिटी) के कारण वे वंचित कर दिये गये थे। मांग के इन अवशेषों ने कुछ समय के लिये विक्रेताओं का बाजार पैदा कर दिया। इस मांग के पीछे जो द्रव्य था उसका बहुत सा भाग युद्धकाल में व्यक्तियों की नहीं खर्च होने वाली वचत के रूप में जमा हो गया था, और व्यापारिक संस्थाओं की वचत के रूप में और भी ज्यादा जमा हो गया था, और बैंक से उधार लेने का एक और जरिया था—क्योंकि उत्पादक कार्यकुशलता के प्रत्यास्थापित (रेस्टोर) करने के लिये बैंक तैयार थे और उन्हें प्रोत्साहित भी किया जाता है।

युद्ध के तत्काल बाद के समय में ब्रिटिश सरकार ने, जिसका बैंक आव इंग्लैंड पर नियंत्रण था, आर्थिक समुत्थान (रिकवरी) को प्रोत्साहित करने की

दृष्टि से सूद की दरों को नीची और साख को प्रचुर मात्रा में रखने के लिये जान बूझ कर अपने प्रभाव को काम में लिया। इस नीति से जो बढ़ी हुई आय हुई उससे गंभीर मुद्रा स्फीति की स्थिति पैदा हो गयी होती यदि आय के रूप में वितरित द्रव्य का एक बड़ा भाग, न सिर्फ़ वनिकों बल्कि तमाम वर्गों पर लगाए गए भारी करों के द्वारा, वापिस नहीं कर लिया जाता। नियंत्रण में नहीं रखी जा सकने वाली मुद्रा स्फीति को रोकने के लिये सरकार के लिये यह आवश्यक था कि वह मजदूरी, वेतन, नक़द लाभ और सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं और सेवाओं के रूप में जितना खर्च करती थी उससे कहीं अधिक करों के रूप में वसूल करे, इस सोचे हुए प्रयोजन से कि निजी व्यक्तियों के हाथ की क्रय शक्ति सीमित हो जाए। अर्थमंत्री (चैन्सलर ऑफ़ एक्सचेंजर) को वजट में आगम वचत (रेवेन्यू सरप्लस) दिखाने की आवश्यकता थी, जैसा कि 1948 में वास्तव में किया गया था। वाद में, पूर्ण रोज़गार की स्थिति होने के कारण, मजदूर सरकार ने, अत्यधिक ऋण लेने को हतोत्साहित करने के उद्देश्य से सूद की दरों में हल्की सी वृद्धि होने देकर, अपनी नीति में संशोधन किया, लेकिन आसानी से मिलने वाली साख और ऊँचे कर लगाकर अतिरिक्त क्रय शक्ति का परिसमापन (मोप अप) करने की नीति जारी रखी। 1951 के संकट के बाद, कंज़रवेटिव सरकार ने सूद की दरों को और भी बढ़ने दिया और इस प्रकार राष्ट्रीय ऋण के व्यय में काफी वृद्धि हो गयी, और साथ ही साथ उसने वचत के वजट बनाना बंद कर दिया और उसकी एवज़ में कुल मांग को सीमित करने के लिये बैंक साख को आयंत्रित (रेस्ट्रिक्ट) करने और खाद्य साहाय्य (सवसिडीज़) को हटाने पर भरोसा किया।

इसके अलावा, कुल द्रव्य आय पर रोक लगाने के उद्देश्य से, सरकार ने युद्धोत्तर काल में बराबर मजदूर संघों को आग्रह पूर्वक कहा कि वे 'मजदूरी—नियंत्रणों' की नीति अपनाएं—अर्थात्, रोज़गार का ऊँचा स्तर होने से जो सौदा करने की शक्ति उनके पास आ गयी थी उसका वे पूरा पूरा लाभ न उठावें। 1950 तक मजदूर संघों ने यह बात मानी, क्योंकि वे इस बात को समझते थे कि अधिक ऊँची द्रव्य मजदूरी पर अनावश्यक जोर देना अपने आप को निष्फल करने वाला होगा क्योंकि उपभोक्ताओं द्वारा खरीदी जाने के लिए उपलब्ध वस्तुओं की कमी के कारण क्रीमतों का और ऊँचा जाना अनिवार्य होगा। लेकिन शर्त के तौर पर उन्होंने यह आग्रह किया कि व्यवसायियों को अपने हिस्सेदारों के लाभांश देने पर मर्यादा लगाने को कहा जाना चाहिये, और सामान्यतया लाभ पर भारी कर लगाया जाना चाहिये। विशेष लाभकर लगाये गए, और अधिकांश (हालांकि सब नहीं) बड़े बड़े व्यवसाय गृहों ने लाभांश को सीमित रखने की नीति स्वीकार करली—जिसका, वेशक, अर्थ यह था कि कुल लाभ का ज्यादा बड़ा हिस्सा संचिति (रज़र्व) में जमा किया जाए। पर 1950 के बाद यह दुहरी नीति धीरे धीरे समाप्त हो गयी;

और अधिक समय होने से पहिले ही मुद्रास्फीति की प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये ज्यादा सख्त साख नीति अपनायी गयी और खाद्य पर दी जाने वाली साहाय्य (सवसिडीज़) का, जो नियंत्रण काल में रहन सहन के खर्च को कम रखने के लिये दी जाती थी, अधिकांश हटा कर के उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति को आयंत्रित किया जाने लगा ।

1945 के बाद ग्रेट ब्रिटेन में जो स्थिति थी—और उसके समान स्थितियां दूसरे कई देशों में थीं—इसको 'नियंत्रित मुद्रा' स्फीति कहा गया है । नियंत्रणों ने अनेक प्रकार के रूप लिये—दुर्लभ वस्तुओं का और कुछ उपभोक्ता वस्तुओं का समभाजन (राशनिंग), कुछ प्रकार के कामों को करने के लिये अनुज्ञप्ति (लाइसेन्सिस) की आवश्यकता, जैसे मकान निर्माण, विशेष प्रकार के कामों के लिये बैंकरों को साख देने में धीमे होने की सलाह, 'मजदूरी प्रतिबन्ध' के द्वारा मजदूरी वृद्धि को धीमी करना, लाभांश वितरण को रोकने के प्रयत्न, अत्यधिक लाभ और अनेक प्रकार की वस्तुओं के खरीदने पर विशेष कर, उपभोक्ताओं की जेब से द्रव्य निकालने के लिये ऊंचे सामान्य कर, और इसी प्रकार की दूसरी चीजें । एक बड़ी हद तक ये नीतियां प्रभावशाली हुयीं, लेकिन उनके होते हुये भी क्रय-शक्ति का निरन्तर आधिक्य बना रहा ।

कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मानना था कि मुद्रा स्फीति की इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण मजदूरी का ऊंचा स्तर था, वावजूद इसके कि उस स्तर को मजदूर संघ यदि अपनी शक्ति का पूरा इस्तमाल करते, और फिर जो मजदूरी का स्तर होता उससे काफी नीचे रखने में 'मजदूरी-नियंत्रण' को बहुत सफलता मिली । लेकिन वास्तव में सबसे अधिक दबाव ऊंचे लाभ के कारण आया, और इस दबाव ने पूंजी साधन के मांग का रूप लिया जो कि एक तो निर्यात को बढ़ाने की आवश्यकता और दूसरे, 1947 के बाद, सरकार की पुनः शस्त्रीकरण की मांग, इन दोनों बातों के तीव्र विरोध में जाती थी । युद्धकाल में और उसके बाद अधिकांश बड़ी और बहुत सी छोटी फ़र्मों ने बड़ी लाभसंचितियों (प्रोफ़िट-रिजर्व्स) का निर्माण कर लिया था जिन्हें वे खर्च कर डालने के लिये उत्सुक थीं यदि उनकी इच्छानुसार पूंजी वस्तुएं उन्हें मिल जातीं, और यदि नहीं मिलतीं तो वे उन्हें फ़िलहाल अपने पास रखने के लिये तैयार थीं । और इन संचितियों के रूप में खर्च करने की एक बड़ी मात्रा मौजूद थी जो यदि वस्तुएं उपलब्ध हों तो फौरन खर्च के लिये तैयार थीं, और जब तक वस्तुएं उपलब्ध न हों तब तक वे बाज़ार में अस्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ती थीं । इसके अलावा जब तक ऊंची लागत और नीची लागत वाली फ़र्मों की कार्यक्षमता में पर्याप्त अन्तर बना रहा, और जब तक ऊंची लागत के उत्पादकों को, उन्हें बाज़ार से हटाने के लिये पर्याप्त नये पूंजी

साधनों की पूर्ति करके, प्रथम करना अव्यवहारिक था, लाभ का अधिक होते रहना और इस प्रकार क्रय-शक्ति के इस स्रोत को बराबर बनाए रखना अवश्यम्भावी था ।

इस सबके बाद, एक दूसरा प्रश्न यह था कि क्या मजदूरी-प्रतिबन्ध के बावजूद मजदूरियां अत्यधिक ऊंची थीं । जिनका तर्क यह था, कि मजदूरियां अत्यधिक ऊंची थीं उन्होंने मुख्यतया इस तर्क का उपयोग किया कि ऊंची मजदूरियों का असर यह हुआ कि आयात की हुई उपभोक्ता वस्तुओं की मांग देश की अर्थ-व्यवस्था निर्यात के द्वारा जितना चुका सकती थी उससे अधिक हो गयी और इस मत के समर्थन में एक तो उन्होंने यह बताया कि 1945 के बाद ब्रिटिश चुकारे संतुलन में भारी कमी आ गयी और दूसरे यह कि ब्रिटिश उपभोग को बनाए रखने के लिये 1946 के अमेरिकन ऋण को काम में लेना पड़ा । लेकिन 'मजदूरी-प्रतिबंध' की सामान्य प्रभावकता को देखते हुए इस तर्क का बहुत अर्थ नहीं माना जा सकता था, जब तक कि यही न कहा जा रहा हो कि शेष दुनिया के सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन की बदली हुई स्थिति के कारण ब्रिटिश रहन-सहन के स्तरों को बहुत कम करने की आवश्यकता थी ।

1945 के बाद ग्रेट ब्रिटेन और बहुत से दूसरे देशों के सम्बन्ध में सही स्थिति यह थी कि सीमित कुल उत्पादक क्षमता पर एक साथ कई तरफ से दबाव पड़ रहे थे और यदि गंभीर मुद्रा स्फीति को रोकना था तो इस दबाव को काबू में रखना था । इस प्रकार का दबाव पैदा इसलिए हुआ कि ग्रेट ब्रिटेन और उसी तरह से प्रभावित दूसरे देश एक ही समय ऐसी कम से कम पांच बातें करने का प्रयत्न कर रहे थे जिनका कई स्थानों पर आपस में टकराना अनिवार्य था । ये पांच बातें ये थीं, : (ए) समुद्रपार की सेनाओं और हथियारों के उत्पादन तथा सशस्त्र-सेनाओं में मानव-शक्ति के उपयोग । इन दोनों ही पर होने वाले सैनिक व्यय का एक ऊंचा स्तर कायम रखना, (बी) निर्यात में खास तौर से उन वस्तुओं के निर्यात में जिनकी देश में बड़ी मांग थी, वृद्धि, (सी) युद्ध के समय की जिन उद्योगों और सेवाओं में कमी पूरी करनी थी उनको फिर से साधन संपन्न करना, (डी) स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में बहुत ज्यादा उन्नत सार्वजनिक सेवाओं का और जिनमें चुकारों का प्रश्न आता है ऐसी बहतर सामाजिक सेवाओं का विकास, और (ई) मकान निर्माण का एक बड़ा कार्यक्रम । इन परस्पर विरोधी दबावों के होते हुए, कई क्षेत्रों में कुल मांग का पूर्ति से अधिक हो जाना अनिवार्य था, और बैंकों से की जाने वाली साख की मांग का अनिवार्य असर द्रव्य के उत्सारण (एमिशन) में होने वाला था जो मूल्यों में भारी वृद्धि करने से तभी रोका जा सकता था जबकि सरकार इस प्रकार के प्रत्युपाय (काउन्टर मैजर्स), जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है, काम में लेती ।

इस समय इन घटनाओं के द्रव्य संबंधी पक्ष का पूर्ण विवेचन करने की ओर मैं नहीं जाना चाहता। यहां मुझे उनका केवल उल्लेख मात्र करना है क्योंकि वे ऐसी समस्याओं का निदर्शन करती हैं (इलेस्ट्रेट) जो उस समय पैदा होती हैं जब किसी सरकार को, बाज़ार में अतिरिक्त क्रय शक्ति डालने की आवश्यकता होने की जगह, चालू मूल्यों पर क्रय शक्ति के वास्तविक और सैद्धान्तिक आधिक्य या संभावित मुद्रा स्फीति की स्थिति का सामना करना पड़ता है। 1945 के बाद ग्रेट ब्रिटेन में चुकारे संतुलन में भारी घाटा होने से स्थिति पेचीदा हो गयी थी। इसकी चर्चा बाद के परिच्छेद में करना होगी, और तब संपूर्ण समस्या पर ज्यादा ध्यान पूर्वक विचार करना संभव होगा वनिस्वत उस समय के जब कि द्रव्य नीति के उन पहलुओं के बिना विचार किया जाता जिनका इस समय विचार करना समय से पूर्व होगा।

इस परिच्छेद में, हमने यह देखा है कि ग्रेट ब्रिटेन को—और दरअसल अधिकांश पूंजीवादी देशों को—पिछली चतुर्थ शताब्दी में दो सर्वथा भिन्न आर्थिक स्थितियों का सामना करना पड़ा है। 1939 तक समस्या यह थी कि पुरुषों और स्त्रियों तथा अन्य उत्पादक साधनों में बेकारी रोकने के उपाय ढूँढ निकाले जाएं। अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों दोनों की बढ़ती हुई संख्या को ऐसा लगा कि इस समस्या के उत्तर के अनिवार्य तत्व केन्स (Keynes) ने प्रस्तुत कर दिये हैं। 1945 से समस्या सर्वथा दूसरी रही है, समस्या यह नहीं रही है कि तत्समय (फॉर दी टाइम बीइंग) पूर्ण रोज़गार को सुनिश्चित कैसे किया जाए बल्कि यह रही है कि मांग पूर्ति से अधिक होने की निरंतर प्रवृत्ति को कैसे रोककर रखा जाए। 1930 के दशक के अर्थशास्त्री इस दूसरे प्रकार की परिस्थिति से अनभिज्ञ से रहते थे और पूर्ण रोज़गार के साधनों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज जो पूर्ण रोज़गार की स्थिति है वह किसी हद तक पूंजीवादी संसार के एक बड़े हिस्से में केन्स (Keynes) ने जिन उपायों की सिफ़ारिश की थी उन्हीं को सफलता पूर्वक काम में लाने का परिणाम है, लेकिन मुख्यतया यह स्थिति सर्वथा दूसरे कारणों से उत्पन्न हुई है—अर्थ व्यवस्थाओं का प्रत्यास्थापन (रेस्टोरेशन) और पुनर्निर्माण करने की तीव्र आवश्यकता, अमरीकी सहायता का प्रचुरता से मिलना, और पुनः शस्त्रीकरण का दबाव। इन कारणों का उल्लेख करने का अर्थ यह स्पष्ट करना है कि इस बात का कोई आश्वासन नहीं हो सकता कि ये कारण काम करते रहना, जारी रखेंगे। पूंजीवादी संसार किसी समय वापिस अपने आप को ऐसी स्थिति में पा सकता है जबकि रोज़गार क़ायम रखने की समस्या में फिर उसे संलग्न होना पड़े। सिर्फ़ तब, जब कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, या उत्पन्न होने की गंभीर आशंका हो जाती है, यह जानना संभव होगा कि युद्धोत्तर संसार में केन्स (Keynes) के तरीके कितनी कार्यकुशलता से काम करते हैं। मुख्यतया विनियोग के स्तर को क़ायम रखने के राष्ट्रीय उपाय के तौर पर उन

तरीकों का विचार किया गया था। और संभावित अमेरिकन मंदी का नामना करने के उचित साधनों के तौर पर उनका काम में आना आज भी संभव लगता है— वशत कि, ऐसी परिस्थिति में, अमेरिकन लोग पूरी तौर से उनका उपयोग करने को तैयार हों। लेकिन वे ग्रेट ब्रिटेन या किसी दूसरे देश के काम के कितने होंगे, जिसमें मंदी किसी आंतरिक असंतुलन से उत्पन्न नहीं होती, बल्कि अमेरिकन संकट और, साथ ही पूरी संभावना है कि, अमेरिकन सहायता को यथायक हटा लेने से उत्पन्न होती है? आज की दुनिया में संपूर्ण पूंजीवादी संसार का एक अनिवार्य आधार संयुक्त राज्य अमेरिका की संपन्नता है। भारी अमेरिकन प्रतिभार (रिसेशन) न केवल हर ऐसे देश के लिये विनाश का कारण होगा जो अमरीकी सहायता पर निर्भर करता है, पर हर उस देश के लिए भी विनाशकारी होगा जो अपने निर्यात के साधनों के लिए अधिकतर निर्यात पर निर्भर करता है। उसने प्राथमिक उत्पादक संकट में पड़ जायेंगे और निर्मित उद्योग वाले देशों के निर्यात खरीदने की उनकी शक्ति नष्ट हो जाएगी, उससे चुकारा संतुलन अस्तव्यस्त हो जाएगा और वह एक के बाद दूसरे देश को आयात में कटौती करने के लिए अग्रसर करेगा, और दुनिया के बहुत से हिस्सों में वह भय उत्पन्न करने वाली राजनैतिक तथा आर्थिक गड़बड़ियाँ उत्पन्न करेगा। चूंकि इसके विषय में जानकारी है इसलिये इस बात की कम संभावना है कि इस तरह की विनाशकारी घटना घटने दी जाएगी बनिस्वत तब जब कि परिणाम सर्वथा अप्रत्याशित होते। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इस तरह की घटना घटने का कोई डर ही न हो। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, अमरीकनों ने पूर्ण रोजगार को कायम रखने के लिए किसी मिलकर निश्चित की गयी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का पालन करने के लिये अपने आपको बांधने से दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मंड (इन्टरनेशनल ट्रेड और गेनाइजेशन) के विधान के मसविदे को इसीलिये अस्वीकार कर दिया कारण कि उन प्रकार के उपायों को उसमें शामिल करने का प्रयत्न किया गया था। और पूर्ण रोजगार के लिये राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय उपायों पर संयुक्त राष्ट्र विशेषज्ञ दल की जो रिपोर्ट 1949 में जारी हुई थी, और जिसने एक विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय योजना के निर्माण करने का प्रयत्न किया था, इसलिये मृतजात (स्टिन-वोन) हुई कि अमेरिकनों ने इसके अनुसार जिन दायित्वों को स्वीकार करना चाहिये था उनको स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। तब भी यह स्पष्ट है कि पूर्ण रोजगार को बनाए रखना प्राथमिकतया अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय समस्या है और यह समस्या इनी रूप में कम से कम (एट ऐनी रेट) तब तक बनी रहेगी जब तक कि दोष पूंजीवादी दुनिया का संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ असंतुलन, और उसकी उस पर निर्भरता, बनी रहती है।

किसी एक देश में केन्स (Keynes) के तरीकों को लागू करने से अब भी अवपात (स्लम्प) आ सकता है, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका के अलावा अन्यत्र कहीं वे केवल राष्ट्रीय साधनों के द्वारा उसे रोक या पूरी तौर पर उसका संशोधन नहीं कर सकते। इस समस्या पर हमें वाद में विचार करना होगा। इस समय तो हमें इतना ही लिखना है कि यद्यपि युद्धोत्तर द्रव्य संबंधी प्रश्नों का आधार मुख्यतया उन तरीकों पर रहा है जिनका उपयोग मुद्रा स्फीति की प्रवृत्तियों को रोकने के लिये करना है, परन्तु हम फिर से जल्दी ही ऐसी स्थिति में पहुँच सकते हैं जिसमें कि समस्या फिर से मांग के आविर्भाव की नहीं बल्कि बाजार में एक दम गिरावट और विनियोग करने की इच्छा में काफ़ी कमी आ जाने की होगी।

अध्याय ७

आय के पुनः वितरण के तरीके

जैसाकि हम पिछले परिच्छेद में देख चुके हैं केन्स ने अपने सामान्य सिद्धान्त (जनरल थ्योरी) नामक पुस्तक में मुख्यतया उन तरीकों का विचार किया है जो न्यून विनियोग की प्रवृत्ति को उस समय ठीक करने के लिए काम में लिए जा सकते हैं जबकि जो वचत करने का प्रयत्न किया जाता है उसका स्तर व्यापारियों की नये उत्पादक साधनों को खरीदने का जोखिम उठाने की इच्छा को ध्यान में रखते हुए, अत्यधिक ऊँचा है। मुख्य उपाय यही सुझाया गया था कि चाहे तो सार्वजनिक विनियोग को बढ़ाकर या निजी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए प्रोत्साहन देकर ऐसे उपाय काम में लिए जायं जो विनियोग को इतना बढ़ा सकें कि जिससे जितनी वचत करने का प्रयत्न किया गया है वह सब काम में आ जाय। इस विफल्य की ओर कि उपभोक्ताओं की कुल क्रय-शक्ति बढ़ाई जाय और इस प्रकार, उपभोक्ता वस्तुओं को उनकी मांग को बढ़ाकर उत्पन्न करने के साधनों में विनियोग करना व्यापारियों के लिए अधिक लाभप्रद बनाया जाय, बहुत कम ध्यान दिया गया था। इस विफल्य का थोड़ा विचार तो हुआ था, पर प्रवृत्ति इसको पीछे रखने की ही रही। यह मामला केवल कुल क्रय-शक्ति को बढ़ाने का नहीं था बल्कि उन आय वालों की क्रय-शक्ति को बढ़ाने का था। जिनकी उपभोग की प्रवृत्ति सबसे अधिक थी। इसलिए आयों की कुल मात्रा में वृद्धि के साथ साथ आयों के पुनः वितरण करने का सवाल भी था।

आयों के पुनः वितरण करने का पहला और सबसे स्पष्ट तरीका यही है कि कानून से यह तय किया जाय कि मजदूरी के न्यूनतम दर अमुक अमुक हैं जिससे कम पर कोई काम देने की इजाजत नहीं है। इस तरह का कानून सामान्य, विधेय, या दोनों प्रकार का हो सकता है। यह भी हो सकता है कि यह कानून कुछ आधारभूत न्यूनतम निर्धारित करदे जो हर व्यापार या धन्ये में लागू हो और जो सर्वश्रेष्ठ लगे उसी हिसाब से उसमें आयु तथा लिंग के आधार पर अन्तर करदें, या यह भी हो सकता है कि किन्हीं उद्योगों या धन्यों विधेय में काम करने वाले लोगों के लिए निश्चित न्यूनतम दरें निर्धारित करदी जायें अथवा मजदूरी के मान निर्धारित कर दिये जायं, या इस कानून में दोनों प्रणालियों का सम्मिश्रण हो सकता है। सामान्य न्यूनतम दरें निर्धारित करदी जायं जो जहाँ के लिए कोई मान दरें निर्धारित न हों

वहां लागू हों। ग्रेट-ब्रिटेन में न्यूनतम मजदूरी के लिए कोई सामान्य व्यवस्था नहीं है। कई उद्योगों में, खास तौर से उनमें जिनमें स्त्रियां प्रधानतया काम करती हैं, मजदूरी का नियंत्रण "मजदूरी परिषद् कानून" (वेजेज कौंसिल एक्ट) के अन्तर्गत कानून से बनी परिषदों के द्वारा किया जाता है। और कृषि में तथा आहार प्रदान (फेडरिंग) धन्धों में काम करने वालों के लिए न्यूनतम दर निर्धारित करने वाला एक खास कानून है। ये कानून सिद्धान्तः केवल न्यूनतम का निर्धारण करते हैं और किसी काम में लेने वाले को अधिक देने से और मजदूरी के किसी भी संगठन को अधिक मांगने से रोकते नहीं, लेकिन व्यवहार में सम्बन्धित धन्धों में काम करने वाले अधिकांश मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरियों की ही प्रमाण मजदूरियां (स्टैन्डर्ड वेजेज) हो जाने की प्रवृत्ति हो जाती है। कुछ देश खास तौर से आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड संपूर्ण उद्योग के सम्बन्ध में न्यूनतम दरों को निर्धारण करने और मजदूर कानून को एक बुनयादी रहन सहन के स्तर की मान्यता को लागू करने के लिए इरादतन साधन के तौर पर काम में लेने में ग्रेट-ब्रिटेन से भी बहुत आगे निकल गये हैं। जब तक कि 1944 का मजदूरी परिषद् कानून (वेजेज कौंसिल एक्ट) पास नहीं हुआ था ? ग्रेट-ब्रिटेन में जहां कि बहुत थोड़े से उद्योग ऐसी किसी व्यवस्था के अन्तर्गत आते थे, यह प्रभाव बहुत ही सीमित रहा था। कानून से मजदूरी नियन्त्रण का इसलिए उपयोग किया गया है कि किन्हीं उद्योगों विशेष में असाधारण रूप से कम मजदूरी देने पर रोक लगायी जा सके। और अब भी मजदूर वर्गों के रहन सहन के सामान्य स्तर को ऊंचा उठाने के लिए उसको काम में लेने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। आमदनी के साधारण वितरण पर इसका असर कम हुआ है।

मजदूरी कानून को आय के पुनः वितरण के एक मुख्य साधन के रूप में काम में लेने के मार्ग में सबसे साफ़ दिखाने वाली कठिनाई यह है कि जिन उद्योगों पर यह लागू होगा उनकी दुनिया के बाजार में प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति प्रभावित होगी। स्पष्ट है कि उन देशों की अपेक्षा जिनमें विदेशी माल बिना किसी या बहुत थोड़े प्रतिबन्ध के साथ आयात होता है ऐसे देशों में यह ज्यादा आसान होगा जो उन उद्योगों के घरेलू बाजारों की, जिन पर ऊंची मजदूरी दरों के कारण विदेशी प्रतिस्पर्धा का बड़ा असर है, आयात करें या दूसरे प्रतिबन्धों से रक्षा करने को तैयार हैं। खासतौर से आस्ट्रेलिया के कानून के साथ पूरक के रूप में ऊंचा प्रशुल्क (टैरिफ़) लगाया गया था जो उन औद्योगिक आयात वस्तुओं पर था जो घरेलू माल की प्रतिस्पर्धा करती थीं। इस प्रकार का संरक्षण स्पष्ट है कि निर्यात व्यापार की सहायता नहीं कर सकता, और ग्रेट-ब्रिटेन में न्यूनतम मजदूरी कानून लागू करने और जिन उद्योगों पर लागू हो उनमें मजदूरी बढ़ाने के मार्ग में निर्यात उद्योगों की कठिनाइयां सबसे बड़ी रुकावट रही हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ ऐसे उदाहरण भी हो सकते हैं जहां कानून से मजदूरी बढ़ाने से संबंधित उद्योगों में

इतनी कार्य कुशलता बढ़ जाये—दोनों तरह से, एक तो काम करने वाले श्रमिकों की कार्य कुशलता में सुधार करके और दूसरे फर्मों को ज्यादा बंशीकृत या और तरह से ज्यादा कुशल उत्पादन साधनों को काम में लेने के लिए प्रेरित करके—कि उनकी प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति कम होने की वजह से बढ़ जाए। पर यह बात एक सीमित क्षेत्र के लिए और एक सीमित हद तक ही ठीक होगी। न्यूनतम मजदूरी की कोई भी नीति जो राष्ट्रीय आय का मजदूरों के पक्ष में पर्याप्त पुनः वितरण करने का लक्ष्य रखती है निस्संदेह कम से कम अल्प काल में उत्पादन लागतों को बढ़ायेगी और इसलिए अगर घरेलू बाजार में संरक्षण दिया गया है तब भी कुछ निर्यात उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति पर असर डालेगी। निर्यात करने वालों को साहाय्य (सबसिडीज) देकर इन प्रभावों को मिटाना संभव होगा, पर इन नीति से इस बात की बड़ी सम्भावना है कि दूसरे देशों में जिनमें निर्यात के राशिपातन (डंपिंग) की आवाज उठाई जायगी, इस बात की बड़ी सम्भावना है कि बदला लेने की भावना जाग्रत हो और कुछ मामलों में यह नीति अन्तराष्ट्रीय समझौतों के विरुद्ध होगी। इन प्रभावों से जैसी कि सोवियत संघ में है वैसी पूर्णतया राज्य नियंत्रित अर्थ व्यवस्था ही अपने आपको अलग कर सकती है। जहां समस्त विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार होता है, जैसा कि सोवियत संघ में है, वहां उत्पादकों के लाभ को ध्यान में रखकर नहीं बरन् सार्वजनिक नीति के आधार पर निर्यात तय किये जाते हैं। राज्य को इसमें लाभ दिखाई दे सकता है कि उन आयातों के बदले में माल का निर्यात किया जाए अगर निर्यात लागत ने कम पर बेचे जाते हैं तब भी जिन का देश में उत्पादन करने में, जिन निर्यात से उनका विनिमय किया जाता है उनसे अधिक लागत आयेगी। निर्यात नीति इन पर से न कि निर्यात को बेचने से होने वाले लाभ की सम्भावना पर से निर्धारित होती है। लेकिन साफ़ है कि उन देशों में जहां लाभ के लिए उत्पादन होता है, निर्यात गर्वया भिन्न तरीके से तय होते हैं और निर्यात उद्योगों की विक्री और उनमें मिलने वाले काम की मात्रा को प्रभावित किये बिना मजदूरी बढ़ाने की राज्य की क्षमता बहुत अधिक सीमित होती है। अगर हम आयात की समस्या को छोड़ भी दें तब भी यह साफ़ है कि किसी भी मजदूरी नीति की जो उत्पादन लागत को बढ़ाती हो अन्य बातें समान होते हुए, विक्री को कम करने की प्रवृत्ति होगी। क्योंकि अगर उपभोक्ताओं के पास की आय में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो जितने मूल्य ज्यादा होंगे उतना ही कम खरीदा जायगा। पर क्या उपभोक्ताओं के पास की घाय अपरिवर्तित रहेगी? क्या मजदूरों के पक्ष में आय का पुनः वितरण होने ने उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ेगी नहीं, और इस प्रकार उपभोक्ता वस्तुओं के बाजार को इतना विस्तृत नहीं बनाएगी कि जिससे लागत में जो भी वृद्धि हो वह बराबर हो जाए? यह हो सकता है लेकिन बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर होगा कि मजदूरी लागत के बढ़ने के प्रति व्यापार जगत की प्रतिक्रिया किस तरह से होगी है। सामान्य निम्न

में इस प्रकार की वृद्धियों की जबरदस्त प्रवृत्ति उपभोक्ताओं के बाजार में लागत में होने वाली वास्तविक वृद्धियों से कहीं अधिक वृद्धियाँ करने की होती है। बहुत सी वस्तुएँ उपभोक्ताओं तक पहुँचते-पहुँचते कई हाथों में से गुजरती हैं, और हर बार पिछली बार की कीमत में जिसे वास्तविक प्रतिशत मार्जिन समझा जाता है वह जोड़ दिया जाता है। इसलिए वस्तु निर्माण में मजदूरी बढ़ने का असर सँचयी प्रभाव के (क्यूमुलेटिव इफ़ेक्ट्स) साथ वाद की अवस्थाओं तक पहुँच जाता है। और जब किसी अवस्था में किसी प्रकार का एकाधिकार या गुट होता है तो यह प्रवृत्ति स्वभावतः सबसे अधिक देखी जाती है। नीचे वर्गों में अधिक आमदनी होने से जो अधिक उपभोग की प्रवृत्ति होती है वह इस प्रकार उत्पादन और वितरण की वाद की अवस्थाओं में लाभों में वृद्धि होने से बराबर हो जाती है। जिसका परिणाम यह हो सकता है कि अधिक मूल्यों पर कम बेचा जाए और रोज़गार में कमी आ जाए। पूंजीवादी व्यवस्था में ऊँची मजदूरी की नीतियों को इस हद तक ले जाने में कि जिससे आय के वितरण पर पर्याप्त असर पड़े, मुख्य बाधा दरअसल रोज़गार पर, खासतौर से निर्यात उद्योगों में मिलने वाले रोज़गार पर होने वाली प्रतिक्रियाएँ हैं। इसका क़तई यह अर्थ नहीं है कि जहाँ तक बिना ख़तरे के इन नीतियों का पालन किया जा सकता हो वहाँ तक भी उनका पालन न किया जाए। लेकिन इनसे राष्ट्रीय आय के सामान्य वितरण पर बहुत असर पड़ेगा, ऐसी आशा न रखने का यह कारण है।

आमदनियों के पुनः वितरण करने के प्रयत्न करने का दूसरा जाहिर तरीका ऐसे कर हैं जिनका लगाने का असर मुख्यतया अमीरों पर पड़े और उनसे होने वाली आय का गरीबों की आय बढ़ाने में उपयोग किया जाय। इसका एक तरीका यह है कि बिना मूल्य के या लागत मूल्य से कम पर या तो केवल कम आय वाले लोगों को या जो चाहें उन सभी को क्योंकि गरीब अमीरों से इतने अधिक हैं कि सामूहिक सेवा का लाभ हर एक को जो उनसे लाभ उठाना चाहते हैं, देने में अपेक्षाकृत थोड़ा सा अधिक खर्च लगेगा—वस्तुएँ या सेवाएँ दी जाएँ। उन सामाजिक सेवाओं में जिनके अन्तर्गत नक़द लाभ नहीं बल्कि वस्तुएँ और सेवाएँ दी जाती हैं, सस्ता दूध, स्कूल में भोजन, राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा (नेशनल हैल्थ सर्विस) के अन्तर्गत डाक्टरों की सेवा आदि। यही तरीका अपनाया जाता है। ठीक है कि इस समय इन सेवाओं में से अधिकांश न तो निशुल्क दी जाती हैं और न हर एक को दी जाती हैं पर कम से कम उन पर साहाय्य (सवसिडी) अवश्य दी जाती है जिससे कि उनको प्राप्त करने वालों को पूरी लागत से कम देना पड़ता है, और राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा (नेशनल हैल्थ सर्विस) का यह एक अनिवार्य अंग है कि तमाम आने वालों को निशुल्क डाक्टरों की सेवाएँ—हालांकि बिल्कुल मुफ्त दवाएँ या उपकरण अब नहीं देते हैं—दी जाती हैं। युद्ध और युद्धोत्तर काल में जो साहाय्य (सवसिडीज) किन्हीं आवश्यक खाद्य पदार्थों की लागत कम करने के लिए दी गई थी, वे भी इसी श्रेणी

में आती हैं। ये साहाय्य (सबसिडीज) सबको दी गई थीं, अपनी साहाय्य प्राप्त रोटी या मांस के टुकड़े के लिए अमीर आदमी उतना ही देता था जितना कि एक गरीब आदमी। इसी प्रकार सामान्य परिस्थितियों में राष्ट्र ने जो स्कूल और अन्य शिक्षण संस्थाओं की व्यवस्था की है वे सबके लिए खुले हैं। या तो सर्वथा निमुक्त आधार पर जो आधार प्रारंभिक और सार्वजनिक माध्यमिक स्कूलों का है या साहाय्य प्राप्त दर पर जैसा कि राज्य से सहायता प्राप्त शिक्षा की जो अधिकांश दूसरी व्यवस्थाएं हैं उनके विषय में लागू होता है। यह सही है कि प्रायः धनिक वर्ग अपने बच्चों को तथा कथित सार्वजनिक या राज्य की व्यवस्था के बाहर के गैर सरकारी स्कूलों में भेजना पसन्द करता है। पर यह उनके पसन्द की बात है। यदि वे चाहें तो सार्वजनिक शिक्षण सेवाओं का उपयोग करने के लिए वे स्वतन्त्र हैं।

सामाजिक सेवाओं के द्वारा आमदनियों का पुनः वितरण करने का एक दूसरा तरीका किन्हीं जहरतमंद नागरिकों को नक़द लाभ देने का है—परिवार भत्ते, वृद्धावस्था पेंशन, बेकारी, चोट और बीमारी लाभ, और जिसे पूअर रिलीफ (गरीबों को राहत) कहा जाता है पर जिसे राष्ट्रीय सहायता (नेशनल असिस्टेंस) का नया नाम दे दिया गया है वह इनसे कुछ चुकारे साधन संबन्धी जांच को देखकर किये जाते हैं जैसे, सहायता मंडल (असिस्टेंस वॉर्ड) के चुकारे, दूसरे अंशदायी (कन्ट्रीव्यूटरी) आधार पर होते रहे हैं। राज्य से केवल एक अंश भिन्नता है जो काम में लगे हुए लोगों के और उनको काम देने वालों के अंश को जोड़कर लागत को पूरा करता है। स्पष्ट है कि इन योजनाओं के अन्तर्गत मजदूरों के द्वारा दिए गये अंशदान (कन्ट्रीव्यूशन्स) अधिकतर अमीरों और गरीबों के बीच में आय के पुनः वितरण को प्रकट नहीं करते हैं यद्यपि वे गरीब वर्गों के विभिन्न समुदायों के बीच में हुए आय के पुनः वितरण को प्रकट करते हैं। जिन लोगों के लिए बीमारी या बेकारी की सम्भावना कम है उन्होंने उनके लिए सम्भावना ज्यादा है उनकी तरफ से देने में सहायता की है। और इन विभिन्न योजनाओं की अर्थव्यवस्था करने में सहायता पहुंचाने के लिए राज्य की ओर से किये गये चुकारों में जो धनिक वर्ग का हिस्सा है, केवल वही उन पर लगाया गया अंशदान है। मालिकों के अंशदान को धनिक वर्गों पर लगाया गया अंशदान नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह मालिकों की निजी आय में से नहीं दिया जाता है, बल्कि व्यवसाय की निधि में से उत्पादन लागत के हिस्से के तौर पर दिया जाता है। इस प्रकार वह विप्री मूल्यों में शामिल हो जाता है और अमीर तथा गरीब जिस अनुपात में वे मान गरीबते हैं उसी अनुपात में उसको चुकाते हैं।

राज्य के अंशदान का जहां तक सवाल है उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह केवल अमीरों से गरीबों को आय का हस्तांतरण मात्र है। क्योंकि कर गरीब और अमीर दोनों ही देते हैं और अप्रत्यक्ष करों का एक बड़ा अनुपात

खासतौर से अपेक्षकृत गरीबों पर पड़ता है। इसके अलावा, इन दिनों में जबकि मजदूर वर्ग के एक बड़े भाग पर आय कर लगता है, सामाजिक सेवाओं का अर्थ-प्रवन्ध करने के लिए काम में लिए गये प्रत्यक्ष कर किस हद तक पुनः वितरण करने वाले हैं। यह केवल इस बात पर निर्भर नहीं करता कि वे प्रत्यक्ष कर हैं बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि आय पर लगाये गये करों की प्रगतिशीलता कितनी है।

यह कारण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि क्यों हाल की दशाब्दियों में सामाजिक सेवाओं का जो विस्तार हुआ है उससे अमीरों और गरीबों में आय के समान पुनः वितरण जैसी कोई चीज नहीं हुई है। युद्ध सम्बन्धी उद्योगों की कमाई में वृद्धि और युद्धकाल में आयकरों की अत्यधिक प्रगतिशीलता ने निस्संदेह एक पुनः वितरण का असर पैदा किया जो किसी हद तक बहुत से मजदूरों तक आयकर का विस्तार होने से और वियर तथा तम्बाकू पर अत्यधिक करों के बढ़ने से मिट गया। लेकिन युद्ध के पहिले सामाजिक सेवाओं का खर्च अधिकतर स्वयं मजदूरों पर जो अंशदान लगाया जाता था उससे और अप्रत्यक्ष करों से और मालिक से प्राप्त अंशदानों से जो अधिकतर गरीबों द्वारा उपयोग किये जाने वाली वस्तुओं के लागत खर्च को बढ़ाते थे, निकलता था। इसी से इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण होता है कि मृत्यु करों को वसूल करने की दृष्टि से जो मृत्यु के समय संपत्ति के वितरण को वताने वाले विवरण तैयार किये गये थे, उनसे दो राष्ट्रों के बीच में धन के वितरण में केवल नहीं के बराबर परिवर्तन प्रकट होता था। वेशक यह प्रवृत्ति देखने को मिलती थी कि मध्यम के नजदीक के समूह अत्यन्त धनिक और अत्यधिक निर्धन दोनों सीमा के समूहों को हानि पहुंचाकर कुछ लाभ उठाते हैं, लेकिन यह प्रवृत्ति भी बहुत ज्यादा नहीं दिखती थी। इस समस्या के विवेचन के लिये देखें, 'ब्रिटेन की स्थिति' (दी कंडीशन आफ ब्रिटेन) लेखक : जी० डी० एच० और मारगरेट कोल (गोलांज १९३७)। यह स्वीकार करना होगा कि मौजूदा अर्थ व्यवस्था में कर व्यवस्था के द्वारा बहुत हद तक आमदनियों के पुनः वितरण करने में कठिनाइयां हैं, यद्यपि मैं किसी भी तरह से उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो यह कहते हैं कि युद्ध के समय से बड़ी आमदनियों पर भारी कराधान (टेक्सेशन) के जारी रहने से उत्पादक प्रयत्नों पर प्रतिकूल असर पड़ा है। जैसा कि कभी कभी कहा जाता है फिर भी यह सही नहीं है कि आमदनियों पर भारी कराधान अपने आप में ही उत्पादन के लिये रुकावट पैदा करता है, किसी भी हालत में उस समय जबकि कर बड़ी आमदनियों पर प्रत्यक्ष रूप में लगाये जाते हैं व्यक्तिगत आयकर और उपरि कर (सर टैक्स), और मृत्युकर उत्पादन लागत पर नहीं पड़ते, वे निजी आमदनियों पर लाभ का विभाजन होने के बाद लगाये जाते हैं और फर्म को उत्पादन से मिलने वाली संभावित लाभप्रदता को प्रभावित नहीं करते। वेशक उनके कारण यह हो सकता है कि पूंजी को कुछ स्वामी ऐसे देशों में रखना पसंद करें जहाँ कराधान कम है और वहीं उत्पादन

करना पसंद करें। पर पूंजी का स्वामी अपने व्यापार को विदेश में ले जाने से ही कराधान से नहीं बच सकता जब तक कि वह स्वयं भी विदेश में नहीं जा बसता है। उल्टा उसके लिये दुहरा कर लगने का खतरा पैदा हो सकता है, दोनों ही देश, जिसमें वह रहता है और जिसमें वह लाभ कमाता है कराधान कर सकते हैं। जो देश भारी प्रत्यक्षकर लगाते हैं उनसे पूंजी पलायन होने का हो-हल्ला (बोगी) वास्तव में हो हल्ला ही है। और उससे ज्यादा कुछ नहीं।

फिर भी, अप्रत्यक्ष तरीकों से भारी प्रत्यक्ष कराधान पूंजीवादी अव्यवस्था के कार्यकारण पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया पैदा कर सकता है। आखिरकार उत्पादन करने और रोजगार देने के लिए पूंजीपति को प्रोत्साहन जो असल प्रतिफल पाने की वश आशा रखता है उसी से मिलता है। और अगर यह असल प्रतिफल कम कर दिया जाय तो नयी पूंजी लगाने के लिए वह कम इच्छुक हो सकता है। इस प्रकार भारी कराधान का कुछ असर यह हो सकता है कि आय प्राप्त करने वालों के अपनी आय में से बचत करने के प्रयत्नों और इन बचतों का नए उत्पादक परिसंपत् (एसेट्स) में वास्तविक विनियोग करने के लिए काम में लेने की व्यापारियों की इच्छा में जो अंतर रहता हो उस अंतर को रहने की प्रवृत्ति को उग्र बनावे। लेकिन इस असर के खिलाफ उस दूसरे असर को भी देखना होगा जो कि उस समय होता है जब राज्य अत्यन्त प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर से प्राप्त द्रव्य का उपयोग इस प्रकार करता है कि जिससे अपेक्षाकृत निर्धन लोगों के उपभोग में वृद्धि हो और उससे वस्तुओं और सेवाओं के लिए मांग बढ़े। जब वस्तुएं और सेवाएं सीधी उपभोग के लिए उपलब्ध की जाती हैं ऐसी सेवाओं के रूप में जैसे निःशुल्क शिक्षा, स्कूल में दिये जाने वाले भोजन और दूध, मनोरंजन-स्थल और रहन सहन की अन्य सुविधायें या जैसे साक्ष्य प्राप्त मकान या टकसाली आवश्यकताओं की वस्तुएं तो उपभोग को भिन्न बनाना प्रोत्साहन बिना किसी शर्त के मिलता है। जब श्रमीरों से कराधान द्वारा प्राप्त द्रव्य गरीबों को बिना किसी बाधा के खर्च की जा सकने वाली आय के रूप में दिया जाता है तो भी अधिकतर वही असर होगा, और उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ जायगी। जिस हद तक एकाधिकारियों को मूल्य उंचे रखने दिये जाते हैं उस हद तक द्रव्य के अनुकूल हस्तान्तरण के प्रभाव क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि द्रव्य मांग में वृद्धि हो जाने से उनको जैसा कि दूसरों को, उनके माल के लिए अधिक मूल्य बगूल करने का एक साधन मिल जायगा। लेकिन कुल मिला कर हस्तान्तरणों का जब उपभोग प्रगति अनुचित हद तक कम है अच्छा असर ही होगा पर ऐसे मामलों में भी उनका महत्व कर प्रणाली का वास्तव में ऐसा भार होने पर निर्भर करेगा कि श्रमीर वर्गों को लागत देनी ही पड़े और उनके बोझ को गरीबों पर वे न गिस्तक सकें।

जाहिर है कि पुनः वितरण करने वाली कर व्यवस्था और नाव्यवस्था गरीबों संबंधी उपाय अपना घीपित आयोजन सिद्ध करने में जितनी सफलता प्राप्त करने

की सम्भावना रखेंगे उतना ही सम्पत्ति संबंधी दावों के मालिकों द्वारा उनका विरोध किया जायगा। व्यवहार में आधुनिक राज्यों को एकाधिकारियों के विकास को रोकना या सिवाय युद्ध के परिणाम के रूप में अमीरों पर कराधान का भारी बोझ सफलता पूर्वक डालना आसान नहीं मालूम पड़ता। उदाहरण के तौर पर जब प्रथम महायुद्ध के बाद एक सार्वजनिक मकान निर्माण का आन्दोलन चला तो उसके तुरन्त बाद ही बहुत से मकान निर्माण के काम में आने वाले ऐसे सामान की जो किन्हीं संवृत (क्लोज़) गुट्टों या संघों के नियंत्रण में थे कीमतें तेजी से बढ़ गईं और एक के बाद दूसरे मामले में वजट के द्वारा अमीर लोगों पर जो अधिक ऊंचा कराधान लगाया गया वह अधिक ऊंचे अप्रत्यक्ष करों को वसूल करके या वजट के बाहर गरीब वर्गों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में पड़ने वाले वीमा अंशदानों की और बड़ी रकमों को वसूल करके बराबर कर दिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कराधान कर द्वारा आमदनियों का वास्तविक पुनः वितरण अव्यवहारिक है, लेकिन केवल यह अर्थ है कि इसको जब तक कि इसके साथ सार्वजनिक नियंत्रण के अन्य सख्त उपाय काम में न लिए जाएं कारगर बनाने के लिए युद्ध जैसी असामान्य परिस्थिति की आवश्यकता होती है। फ्रांस में धनिक वर्गों पर कर लगाने के जो प्रयत्न किये गये उन्हें खासतौर से नगन्य सफलता मिली।

समाज में आमदनियों का और अच्छा वितरण करने के लिए न्यूनतम मजदूरी नियम और पुनः वितरण करने वाले कराधान के अलावा और क्या तरीक़े हैं? एक तीसरा तरीक़ा यह है कि लाभ वितरण होने के बाद कराधान लगाकर केवल असल प्राप्ति को कम करने का प्रयत्न करने के बजाय पूंजी पर मिलने वाले कुल प्रतिफल को कम करने का प्रयत्न किया जाय। यह सूद की दरों के साथ इस प्रकार व्यवहार करके किया जा सकता है कि जिससे वे सुविधा पूर्वक जितनी कम रखी जाना संभव हो रखी जाए। तीसरे दशक की महान मंदी में और फिर 1945 और 1951 के बीच में कुल मिलाकर ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य इस आशा में कि नये पूंजी वस्तुओं में विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा, सस्ते द्रव्य का राज्य क़ायम रखना था। इस नीति का सीधा लक्ष्य यह नहीं था कि आमदनियों का पुनः वितरण किया जाए लेकिन यह जाहिर है कि जिस हद तक पूंजी के उपयोग के लिये कम देना पड़ता था उसी हद तक कुल मिलाकर कुल उत्पादन का ज़्यादा बढ़ा अनुपात दूसरे उत्पादन साधनों को जिनमें मजदूरी पर काम करने वाला श्रम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है देने के लिए बच जाता था। इसलिए सस्ते द्रव्य की नीति यदि वह सफल हो जाय तो पूंजी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में जिन मजदूरों को काम मिलेगा उन के उपभोग में वृद्धि होगी और इस प्रकार खर्च किये गये द्रव्य

के दूसरे प्राप्त कर्ताओं को हस्तान्तरित होने से (अर्थात् जिसे गुणक* (मल्टीप्लायर) कहा जाता है) जिस हद तक मांग में अधिक वृद्धि होगी उस हद तक उपभोग शक्ति को ही नहीं बढ़ावेगी वल्कि उत्पादित मूल्य (वैल्यू) के एक अंश तक पूंजी के दावे को कम करके उद्योग के उत्पादन का अधिक अनुकूल वितरण करने की भी उसकी प्रवृत्ति होगी।

वेशक, यह बात इस मान्यता पर आधारित है कि सस्ता द्रव्य संपूर्ण अर्थ व्यवस्था में व्याप्त हो जाता है। प्रथमतः सस्ता द्रव्य केवल वह बैंक सारा है जो उधार लेने के लिये उपलब्ध है। यानि वह द्रव्य जो अल्पकालिक ऋणों के लिए ही उपलब्ध है और दीर्घकालिक पूंजी निर्माण के कामों के लिए नहीं है। यदि केन्द्रीय बैंक साख के आधार के तौर पर नक़द को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध करके और व्यापारिक बैंक सस्ते द्रव्य की नीति को अपनाने में उसके नेतृत्व का अनुसरण करें तो दीर्घकालिक सूद की दरों पर प्रतिक्रियाएं होंगी। और इन दरों की प्रवृत्ति भी जब तक कि कृत्रिम रूप से इनको ऊंचा न रखा जाए, नीचे गिरने की ओर होनी चाहिये। लेकिन यह प्रतिक्रिया निश्चित रूप से होगी और स्वतः होगी, यह नहीं कहा जा सकता। दीर्घकालिक दरों का उस समय भी ऊंचा होना संभव है जबकि अल्पकालिक दरें नीची हों, क्योंकि यद्यपि एक सीमित हद तक यह संभव है कि उधार देने वाले एक बाज़ार से दूसरे बाज़ार में चले जाएं पर ऐसा वे एक सीमा से आगे नहीं कर सकते। राज्य के लिए दीर्घकालिक दर को प्रभावित करना उस समय सबसे अधिक आसान होता है जब उसकी इच्छा पर सार्वजनिक ऋणों का चुकारा किया जा सकता है क्योंकि तब राज्य यह कर सकता है कि ऐसे ऋणों को नई अवधि के लिए कम सूद की दर वाले ऋणों में बदल दे। यदि ऋण देने वाले इन्कार कर दें तो राज्य अल्पकालिक बाज़ार से कम दरों पर द्रव्य उधार लेकर, जैसे कोषागार विपन्न (ट्रेजरी-बिल्स) अल्पकालिक कोषागारबन्ध (ट्रेजरी-बेन्डेज) को चुका सकता है, और इस प्रकार उनके हाथों में ऐसी परिस्थितियों में फिर से विनियोग करने के लिए द्रव्य रह जायगा जो कि उन्हें संभवतः नीची दीर्घकालिक दरें मंजूर करने के

* गुणक से यहां अर्थ जो लोग प्रत्यक्ष रूप में काम में लगे हुए हैं उनकी मजदूरी से होने वाली आमदनियों में वृद्धि होने से उपभोक्ताओं की मांग पर जो गौण असर होता है उससे है। उन आमदनियों को खर्च करने से मांग बढ़ती है और इस प्रकार अधिक श्रमिकों को काम मिलता है। इसकी फिर इसी तरह की अनुकूल प्रतिक्रिया होती है। गुणक इन अनुकूल प्रभावों के योग को प्रकट करता है। इन प्रकार यदि मूल में 100 व्यक्तियों को रोजगार मिलने से जब तमाम घटप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओं का असर हो जाए तो 100 और व्यक्तियों को रोजगार मिल जाना है तो गुणक कहा जायगा।

(देखें पृष्ठ 140 मूल पुस्तक)

लिए वाध्य कर देगा । 1932 में यही स्थिति थी जब सरकार 5 प्रतिशत सूद वाले 200 करोड़ पाँड के परिपक्व होने वाले ऋण को चुकाने की स्थिति में थी । इस बड़े भारी ऋण को बदलने और चुकाने संबंधी कार्यवाही ने दीर्घकालिक सूद की दरों को प्रभावशाली ढंग से कम कर दिया और मकान निर्माण उद्योग में आने वाली अभिवृद्धि (बूम) को जो कि दीर्घकालिक सूद की दरों के स्तर से बहुत प्रभावित होती है, प्रोत्साहन देने में इसका बड़ा हाथ था । लेकिन ऐसा बहुत कम होता है कि दीर्घकालिक दरों को प्रभावित करने की दृष्टि से राज्यों की स्थिति ऐसी मजबूत हो । तदनुसार सस्ते द्रव्य की नीति ऐसी दरों को कम करने में एक लंबे अर्से तक अप्रभावशाली रहे, यह हो सकता है । जहाँ ऐसा होता है वहाँ वेशक पूर्व पैराग्राफ में बताया गया परिणाम नहीं आते है । सस्ते द्रव्य को पुनः वितरण लाने वाले प्रभाव पैदा करने के लिये दीर्घकालिक दरों तक पहुंचना चाहिये ।

यदि सस्ते द्रव्य का असर इस प्रकार दीर्घकालिक दरों तक पहुंचता है तब भी जहाँ कहीं एकाधिकार है वहाँ उसका असर किसी हद तक नहीं होगा । साधारणतया उधार लिए हुए द्रव्य की सूद की दरों के और व्यापारी लोग तथा विनियोग करने वाले अपनी पूंजी का उपयोग करने से उसका बन्ध पत्रों (बॉण्ड्स) या ऋणपत्रों (डिबैंचर्स) से भिन्न कंपनी के हिस्सों में विनियोग करने से जो अपेक्षाएं लाभ की करते हैं उनके बीच में अन्तः क्रिया (इन्टर एक्शन) होती है । जिस व्यक्ति के पास विनियोग के लिए द्रव्य है वह उसे सूद पर उधार देने और लाभ की आशा में उसका विनियोग करने के बीच में अपनी पसंद कर सकता है । यदि दी जाने वाली सूद की दरें नीची हैं तो उधार देने वालों में जितना लाभ वे तब चाहते जब सूद की दरें ऊंची होतीं उससे कम लाभ की अपेक्षा में भी लाभ देने वाले विनियोग की ओर जाने की प्रवृत्ति होगी । लेकिन जहाँ एकाधिकार है वहाँ एकाधिकारी यह पसंद कर सकते हैं कि ऐसी नयी पूंजी न लें जिसे लाभ में हिस्सा बंटाने का अधिकार हो । बल्कि उनको जितनी आवश्यकता हो उतना सूद पर उधार ले लें और लाभ अपने लिये ही रखें । अर्थात् बदलते हुए लाभान्श वाले हिस्सों के रूप में साधारण (इक्विटी) पूंजी के वर्तमान मालिकों के लिए । इससे उधार देने वालों की कम लाभ की अपेक्षा का वर्तमान पूंजी से मिलने वाले लाभों पर प्रतिकूल असर पड़ने से बचेगा । यह केवल इस बात का एक उदाहरण है कि एकाधिकार की सामान्य प्रवृत्ति यह होती है कि आय के वितरण को एकाधिकारियों के पक्ष में और बाकी के समाज के खिलाफ कर दें । इस प्रकार के एकाधिकारी प्रभावों के न होने पर सूद की नीची दरों से विश्वास-पूर्वक यह अपेक्षा रखी जा सकती है कि वे परिवर्तनीय प्रतिफल वाले हिस्सों में विनियोग को आकर्षित करने के लिए जो लाभ की संभावनाएँ होनी चाहिए उनको कम करेंगी ।

इसलिए सस्ते द्रव्य की नीति की आमदनियों के पुनः वितरण करने की प्रभाविकता जो सर्वोत्तम स्थिति में भी सीमित है इस बात पर भी निर्भर करती है कि एकाधिकारी प्रभाव इतने प्रबल नहीं हों कि वे उसके कार्यकरण को बहुत विगाड़ कर अपने पक्ष में कर लें। जिस हद तक यह कार्यकरण (वकिंग) विगड़ेगा उसी हद तक अप्रत्याशित लाभ (विडफाल प्रोफिट्स) बढ़ने का परिणाम आयेगा जिससे आमदनियों का वितरण सुधरना तो बहुत दूर की बात है, अधिक विगड़ेगा ही।

आय वितरण को बदलने का चौथा तरीका है करों में छूट देना जो नए करों को लगाने से जिसका हम पहिले ही विचार कर चुके हैं, भिन्न है। औद्योगिक क्रिया को प्रोत्साहन देने के तरीकों के रूप में कुछ अर्थशास्त्री मन्दी काल में कर छूट की नीति का समर्थन करते हैं। लेकिन इस नीति के दोनों पक्ष हैं जो इस बात पर निर्भर करते हैं कि छूट दिये गये करों का भार प्रधानतया ग्रामीरों पर है या गरीबों पर। मंदी के समय में जो एक प्रस्ताव अक्सर रखा जाता है वह यह है कि इस गत पर कि संचितियां नये पूंजी विनियोग पर खर्च की जायेंगी राज्य को उन कम्पनी लागों पर जो संचिति (रिज़र्व) में जमा किये जाते हैं करों की छूट देनी चाहिये और शायद पिछले वर्षों की संचितियों पर चुकाये गये करों को भी लौटा देना चाहिए। स्पष्ट है कि इस तरह की नीति पूंजी विनियोग को उस समय प्रोत्साहन दे सकती है जब उसका स्तर नीचा हो पर उसका पुनः वितरण सम्बन्धी प्रभाव तो ग्रामीरों को ही अधिक देने का होगा। साधारण (इक्विटी) हिस्सों के मालिक मुख्यतया संपन्न वर्ग के होते हैं (वैशक छोटे हिस्सेदारों की संख्या किन्हीं व्यापारिक संस्थाओं में काफी होती है)* और इस प्रकार के कर छूट का असर यह होगा कि जितनी रकम की छूट दी जायगी वह हिस्सों के मूल्य में जुड़ जायगी और इस प्रकार सावजनिक द्रव्य की एक भारी भेंट हिस्सा रखने वाले वर्ग की हो जायगी। इसी प्रकार यदि आय करों में छूट इस तरह से दी जाय कि जिस से खास तौर से प्रगतिशीलता में कमी आए तो धनिक वर्गों के पक्ष में आमदनियों के पुनः वितरण का असर आयेगा। ऐसा तब भी होता है जबकि छूट दिये गये करों की जगह राज्य ऐसे दूसरे कर नहीं लगाता जिनका भार सम्पूर्ण समाज पर उन्हीं अनुपातों में गिरता है जो छूट के पूर्व सम्पूर्ण कर व्यवस्था के थे। जैसी कि प्रायः सिफारिश की जाती है कि अगर राज्यकर छूट में होने वाले वजट के घाटे की पूर्ति उधार लेकर करे तब भी जब तक कि यह व्यवस्था नयी

*बड़ी व्यापारिक संस्थाओं में छोटे हिस्सेदारों की बड़ी संख्या के विषय में बहुत कुछ अर्थहीन चर्चाएँ की गई हैं। चूंकि बड़े और छोटे अधिकतर हिस्सेदार अपने विनियोग का कई व्यवसायों में विभाजन करके अपनी जोखिम को फैला देने हैं, अक्सर जो बड़ी बड़ी संस्थाएँ दी जाती हैं वे एक ही व्यक्ति को कई बार गिन कर लगाई जाती हैं।

जाए कि उतनी ही रकम और सूद जिन वर्गों ने कर छूट से लाभ उठाया था उनसे ही वाद के वर्षों में वापस वसूल कर ली जायगी, अमीरों के पक्ष में पुनः वितरण के असर वने रहेंगे। तीसरे दशक में स्वीडन की सरकार ने लगभग इसी तरह की नीति पर अमल किया, और उस नीति ने ठीक ठीक काम किया मालूम पड़ता है। लेकिन यदि यह कार्यक्रम बनाया जाय कि जो रकम छूट में दी गयी थी वह वाद के वर्षों में वसूल करली जाय, और ऐसा उन वर्गों से ही किया जाय जिनको छूट से लाभ मिला था तो स्पष्ट है कि व्यापारी वर्ग में इस कार्यक्रम का उस कार्यक्रम की अपेक्षा जो छूट की रकम वास्तव में एक उपहार की तरह साधारणतः दे देता है, कम उत्साह-पूर्वक स्वागत किया जायगा।

ऐसा प्रस्ताव तो बहुत कम किया जाता है कि मन्दी की स्थिति का मुकाबला गरीब वर्गों पर पड़ने वाले कराधान में छूट देकर किया जाए। लेकिन करने की बात स्पष्टतः यही है अगर सीधा प्रयोजन विनियोग की जगह उपभोग को प्रोत्साहन देने का है। युद्ध के बाद की सामाजिक बीमा योजना (सोशल इन्शोरेंस स्कीम) का एक गुण यह है कि इसके अनुसार बुरे समय में लाभ (वैनीफिट्स) के रूप में जो कुछ दिया जाता है वह सामाजिक बीमा निधि (सोशल इन्शोरेंस फंड) में वर्तमान में जो कुछ जमा किया जा रहा है उससे अधिक होता है। जब कि अच्छे समय में निधि की प्राप्तियां निधि से निकलने वाले द्रव्य से अधिक होती हैं। वेशक यह आर्थिक विचार में थोड़ी प्रगति होने का लक्षण है कि अधिकतर अब इस बात को गुण माना जाता है जहां कि 1931 में जब वेकारी निधि (अनएम्प्लायमेंट फंड) में जो कुछ जमा हो रहा था उससे बहुत अधिक उसमें से चुकाया जा रहा था तो प्रतिक्रिया वादी आलोचक जोर से यह घोषणा करते थे कि यह बात आसन्न (इम्पेंडिंग) राष्ट्रीय दिवालियापन का लक्षण है। अपेक्षाकृत गरीब करदाताओं को (या वेशक अनिवार्य बीमा अंशदान, जो कि वास्तव में कर ही है देने वालों को) बुरे समय में कर की छूट देना उपभोग के स्तर को बनाए रखने का एक मूल्यवान तरीका है। उन्हें अच्छे समय में अधिक कर लगाकर वापिस वसूल कर लेना चाहिये या नहीं—यह अधिक विचार का विषय है।

कर में छूट क्रय शक्ति की उनको की गयी भेंट से जिनको उनमें लाभ हो—किसी तरह से भिन्न नहीं है, लेकिन वेशक लाभ उन्हीं को होगा जिन पर छोड़े हुए करों का भार पड़ता है। मंदी के समय में समान्यतया कर छूट की नीतियां अप्रत्यक्षतः कराधान की अपेक्षा प्रत्यक्ष कराधान पर अधिक आसानी से लागू की जा सकती हैं, क्योंकि अप्रत्यक्ष कराधान (क्रय करों के अलावा) प्रायः अधिकतर संरक्षणात्मक या नैतिक प्रेरकों और साथ ही साथ आय की दृष्टि से शासित होता है और जब वेकारी अधिक होती है तब भी शराब या तम्बाकू पर लगे आयात शुल्क

या उत्पादन शुल्क में कोई कमी की जाए इसके खिलाफ कड़ा विरोध होता है। बुरे समय में जब वीमा निधियों से जितना उनमें जमा हो रहा है, उससे ज्यादा चुकाया जा रहा है वीमा अंशदानों को कम करने के मार्ग में राजनैतिक कठिनाइयाँ भी होती हैं। तदनुसार क्रय करों के अलावा वे कर जो कम होने के लिए राजनैतिक दृष्टि से अधिक से अधिक खुले हुए हैं—आय पर लगने वाले कर हैं। लेकिन वे कर जनसंख्या के सबसे गरीब वर्गों द्वारा नहीं दिये जाते हैं और उस हालत में भी जबकि मजदूरों के बड़े समूहों तक उनका विस्तार कर दिया जाता है, वे अपनी प्रगतिशीलता के कारण अधिकांश में बड़ी आमदनियों वालों पर ही पड़ते हैं। इसका परिणाम यह है कि कराधान में छूट देने की नीतियाँ गरीब की अपेक्षा अमीर करदाताओं को राहत पहुँचाने के उपायों का रूप ले लेती हैं। और इसका मतलब यह कि कुल उपभोक्ताओं की मांग को बढ़ाने में छूट का जितना असर अन्यथा होता उगने कम ही होता है।

आमदनियों के वितरण को सुधारने का एक प्रस्ताव और रह जाता है कि सर्व सामान्य उपभोक्ताओं को जो द्रव्य का सीधा चुकाया किया जाता है उसकी रकम बढ़ा दी जाए और इस वृद्धि की अर्थ व्यवस्था बजट का घाटा पूरा करने के लिए लगाये गये कराधान या लिये गये ऋण से न की जाकर सीधी अतिरिक्त शक्ति जारी करके की जाये। इस प्रकार के प्रस्ताव प्रायः इस विचार के साथ जिसकी हम पहिले ही चर्चा कर चुके हैं, जुड़े रहते हैं कि मौजूदा द्रव्य व्यवस्था में यह एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति है कि उसमें श्रयशक्ति की कमी सामाजिक लाभों (सोशल डिविडेंड्ज) की नीति द्वारा ही दूर की जा सकती है और इन सामाजिक लाभों का अर्थ प्रबंध उधार या कराधान से होने वाली वर्तमान आय में से नहीं बल्कि इसी प्रयोजन से जारी किये गए नए द्रव्य में से किया जाना चाहिये।

इस विचार को कि यह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि आर्थिक व्यवस्था में जो श्रय-शक्ति की कुल मात्रा उत्पन्न होती है वह चालू उत्पादन को उनकी लागत का समावेश (कवर) करने वाले मूल्य पर खरीदने के लिए कम पड़ती है, क्यों अस्वीकार किया जाना चाहिये—उसके कारणों को बताने का मैं प्रयत्न कर चुका हूँ। साथ ही साथ इस विचार को मैंने स्वीकार किया है कि श्रय-शक्ति की प्रत्यायी कमी या आधिक्य हो सकता है और यह विचार भी स्वीकार किया है कि आगमनचयन (होमिंग) या विनियोग प्रयोजनाओं की कमी के कारण खरीदने वाले चालू उत्पादन के लिए जो रकम वास्तव में देने को तैयार होते हैं वे उसकी लागत से बहुत कम हो सकती है। यदि ये निष्कर्ष सही हैं तो इस का मतलब यह है कि शून्य में से श्रय शक्ति के अतिरिक्त निर्माण से चालू उत्पादन के लागत से अधिक खर्च की जा सकने वाली आय में वचत रह जायगी, और जब तक कि वह बराबर के आगमनचयन से देकर

नहीं करदी जाती, उससे मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति होगी या, अगर मूल्यों को उनके पूर्ववत् स्तर पर स्थिर कर दिया गया है तो खर्च की जा सकने वाली आय में ऐसी वचत रह जायगी जो वर्तमान में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने में काम नहीं आ सकेगी। वेशक यह विल्कुल सही है कि यह अतिरिक्त खर्च करने की शक्ति ऐसे समय जब उत्पादक साधन काम में आये बिना पड़े हैं लोगों की जेबों में रखदी जाए तो उससे अतिरिक्त उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा। लेकिन इस उत्पादन के काम से ही उत्पादकों के हाथ में अतिरिक्त आय का निर्माण होगा, और क्रय-शक्ति की खासतौर से जारी की गई मात्राओं के अलावा ये आमदनियां भी खर्च करने के लिए उपलब्ध होगी। तदनुसार मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति होगी क्योंकि खर्च करने की कुल उपलब्ध शक्ति में—वस्तुओं और सेवाओं की कुल पूर्ति में जिस तेजी से वृद्धि हुई है उससे अधिक तेजी से वृद्धि हुई है। इसलिए जब अतिरिक्त क्रय-शक्ति अतिरिक्त उत्पादन को प्रोत्साहित करने के अपने काम को पूरा करदे तो उसे वापिस कर लेना चाहिये सिवाय उस स्थिति के जब मूल्यों को ऊँचे स्तर पर बने रहने देना वांछनीय या हानि नहीं करने वाला माना जाता हो। यह वांछनीय तब हो सकता है जब नया द्रव्य जारी करने के समय उद्योग के बड़े क्षेत्र में मूल्य लागत से भी (जिसमें वाजिव मुनाफा शामिल है) नीचे कृत्रिम रूप से गिरे हुए हों। ऐसी हालत में केवल यह आवश्यक होगा कि क्रयशक्ति का अतिरिक्त निर्माण केवल उस रकम की हद तक किया जाय जो मूल्यों को उतना ही बढ़ावे जितना बढ़ाना ठीक माना जाता हो, और इस प्रकार जारी किये गये द्रव्य को फिर से चुकाने की व्यवस्था करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन अगर प्रारंभ में मूल्यों के वांछित स्तर को बनाये रखने के लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता है उससे अधिक द्रव्य जारी किया गया है, तो ऐसे साधनों की व्यवस्था करनी होगी जिससे कि अधिक द्रव्य को, जैसे ही उसने अपना मूल प्रयोजन पूरा कर दिया, रद्द किया जा सके। वेशक, यह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि कुछ द्रव्य सम्बन्धी सुधारक, ताज्जुब है कि इस बात को दर गुजर करने की तरफ भुके रहते हैं—खर्च करने की शक्ति जब एक बार उत्पन्न कर दी जाती है तो उसी समय समाप्त नहीं हो जाती जब उसके पहले प्राप्तकर्ता ने उसे खर्च करदी है, लेकिन जब तक कि उसे रद्द करने की कोई व्यवस्था न करदी गई हो उसका एक दूसरे के पास अनिश्चित काल तक परिचलन होता रहता है, जिससे हर अतिरिक्त इकाई जो जारी की जाती है किन्हीं पहिली वाली इकाइयों का स्थान न लेकर उनमें वृद्धि करती है। बैंक वालों की साख के साथ ऐसा नहीं होता, क्योंकि वह साख तो बैंकों को वापस चुकानी ही पड़ती है, पर राज्य द्वारा दिये गये नहीं वापस चुकाये जाने वाले आय के उन अनुदानों के बारे में जिनका अर्थ प्रवन्ध खासतौर से जारी किये गये द्रव्य में से किया गया हो, यह बात लागू होगी।

जो कुछ लिखा जा चुका है उससे यह परिणाम निकलता है कि अगर धारण में ही पूर्ण रोजगार की परिस्थितियां हों तो शून्य में से उत्पन्न होने वाले ऐसे सामाजिक लाभों के लिए कोई स्थान नहीं है जिनका अर्थ प्रदग्ध या तो कर लगाकर या उधार लेकर क्रयशक्ति के मौजूदा मालिकों से क्रयशक्ति को वापस लेकर न किया गया हो। इसके विपरीत जहां बेकारी है और ऐसे बेकार पड़े हुए उत्पादक साधन हैं जो काम में लिए जा सकते हैं वहां ऐसी नीति के लिए गुंजाइश है, पर तब भी, बिना मूल्यों को बढ़ने दिये उसे कार्यान्वित करना संभव नहीं है।

वैशक, सामाजिक लाभों की नीति का एक विशेष रूप—जिस रूप में मैंने स्वयं उनका कई वर्षों तक प्रतिपादन किया है, जिसके विरुद्ध जो आपत्ति अभी उठाई गई थी वह नहीं है। उचित सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं के होने पर यह पूर्णतया व्यावहारिक है कि वजाय इसके कि उत्पादन के सिलसिले में जो असल आगम (रेवेन्यू) उत्पन्न होती है, वह सबकी सब लगान, मूद, मजदूरी, वेतन और लाभ में दे दी जाय; उस आगम का एक भाग उद्गम पर ही कम कर लिया जाय और वह उत्पादन साधनों के मालिकों को उनके प्रतिफल के रूप में न दिया जाकर समाज के तमाम सदस्यों को अर्थ व्यवस्था की सामूहिक उत्पादक क्षमता में उनके सबके समान जन्म सिद्ध अधिकार के रूप में सामाजिक लाभों के तौर पर दे दिया जाए। वर्तमान उत्पादक शक्ति वास्तव में वर्तमान प्रयत्न और उत्पादन की कलाओं में जो विकास और शिक्षा की अवस्था प्राप्त हो चुकी है उसमें जो आविष्कारिता और कौशल शामिल है उनके सामाजिक विरासत का सम्मिलित परिणाम है, और मुझे हमेशा यह सही लगा है कि इस सबकी समान विरासत की उपज में सब नागरिकों को हिस्सा मिलना चाहिए।* पारिवारिक भत्ते वाजिव तौर पर इस नीति की पहली किश्त समझे जा सकते हैं। और इस विभाजन के बाद जो कुछ उत्पादन बचे उगोया उत्पादन में लगी चालू सेवा के रूप में बंटवारा होना चाहिए।

वास्तव में, इससे बहुत कुछ मिलता जुलता आज सोवियत संघ में होता है, हालांकि चुकारे द्रव्य लाभों (मनी डिवीडेंड्स) के रूप में नहीं होते हैं। सोवियत संघ अपनी सरकारी आय का एक बड़ा हिस्सा उद्योग से की गयी उगाहियों से प्राप्त करता है। ये उगाहियां, इससे पहिले कि आमदनियां उत्पादकों में बांट दी जाए या औद्योगिक संस्थानों के द्वारा संचितियां इकट्ठी की जाएं, पूर्व लागत के रूप में राज्य को दी जाती हैं। उद्योग से जो रकमें इस प्रकार उगाही जाती हैं उन्हीं से सरकार का खर्च चलता है। और इस खर्च में वे सामाजिक सेवाएँ भी शामिल हैं जो सोवियत नागरिकों के वास्तविक आय के एक खासे हिस्से को प्रकट करती हैं। इस प्रकार वास्तव

*पारिवारिक भत्ते वाजिव तौर पर इस नीति की पहली किश्त समझे जा सकते हैं।

में सोवियत संघ वस्तुओं और सेवाओं के रूप में सामाजिक लाभांश देती हैं। और इन सामाजिक लाभांशों के लिए अर्थ प्रवन्ध औद्योगिक संस्थानों के व्यापारावर्त (टर्न ओवर) पर लगाये गये शुल्क से किया जाता है। इस प्रकार आगम का एक भाग उत्पादकों के पास जाने से बचा लिया जाता है। और वह वापस समस्त नागरिक समाज को दे दिया जाता है। इस प्रकार के सामाजिक लाभांश जैसे कि उस प्रकार के जिनका पिछले पैराग्राफ में उल्लेख किया गया है वास्तव में जिसे एक प्रकार का कराधान कहा जाए, उसी में से चुकाये जाते हैं और खास तौर से जारी किये गये द्रव्य में से नहीं। वेशक यह कह कर मैं इस बात से इन्कार नहीं कर रहा हूँ कि अतीत में सोवियत संघ ने घाटों की पूर्ति खास तौर से द्रव्य जारी करके की हो। मैं जानता हूँ कि उसने ऐसा किया है, पर उसके ऐसा करने का असर मूल्यों को बढ़ाना हुआ और अवश्य होता ही, जबकि जो सामाजिक लाभांश पूर्णतया उद्योग की उपज पर लगाये गये शुल्क (लेवीज) में से चुकाये जाते हैं वे ऐसा कोई असर पैदा नहीं करते, अगर मजदूरी और पूंजी के प्रतिफल के रूप में दी गयी आमदनियों में तदनुरूप कमी करके उनको वेअसर कर दिया जाता है।

जिस नीति का वर्णन किया गया है उसके एक अंग के रूप में, वेशक, यह आवश्यक है कि उत्पादकों को जो आमदनियाँ दी गयीं हैं और औद्योगिक संस्थानों ने जो रकमें संचितियों में जमा की हैं (सोवियत संघ में उद्योगों की उपज में से सूद या लाभांशों को सीधे प्राप्त करने वाले कोई नहीं हैं) वे उस रकम तक सीमित की जायें जो सरकारी कामों के लिए आवश्यक रकमों को ले लेने के वाद बच जाती हैं। यदि इस बिन्दु के आगे मजदूरी और अन्य आय चुकारों को बढ़ने दिया जाता है तो उसका असर मूल्यों को बढ़ाना ही होगा, और इस वृद्धि का कारण इच्छानुसार या तो आमदनियों में वृद्धि या व्यापारावर्त (टर्न ओवर) कर का भार कुछ भी माना जा सकता है। जिस प्रकार के सामाजिक लाभांशों का यहां विचार किया गया है उनसे सम्बन्धित नीति का आवश्यक सहसम्बन्ध उत्पादकों को दी गयी आमदनियों का नियन्त्रण है और मैं सोचता हूँ कि इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि इस तरह की नीति किसी ऐसी ही समाज व्यवस्था में अपनायी जा सकती है जो राज्य को यह अन्तिम अधिकार देती है कि वह आमदनियों और मूल्यों का नियन्त्रण कर सके और साथ ही साथ कराधान भी लगा सके—दूसरे शब्दों में एक सामाजीकृत अर्थ व्यवस्था में। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी अर्थ व्यवस्था में जो प्रधानतः निजी व्यवसाय पर निर्भर है, सिद्धान्त रूप में यह सम्भव हो सकता है कि समस्त व्यवस्था में आमदनियों और तमाम प्रकार के मूल्यों को इतनी अच्छी तरह से नियंत्रित किया जाय कि सामाजिक लाभांशों की नीति सम्भव हो सके। पर क्या व्यवहार में यह सम्भव हो सकेगा—इसमें मुझे बड़ी शंका है। यह दावा किया जा सकता है कि युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व भी नाज़ी जर्मनी में एक बड़ी हद तक इस तरह के नियन्त्रण लागू किये जाते

थे । यद्यपि, इसमें संदेह नहीं कि किसी सामाजिक नीति की तीर पर जो दूर से भी सामाजिक लाभांशों से मिलती हो ऐसा नहीं होता था । मैं स्वीकार करता हूँ कि पूर्ण फासिस्ट अधिनायकवाद के किसी स्वरूप के अन्तर्गत आवश्यक नियन्त्रण लागू किये जा सकते हैं पर मैं कल्पना नहीं कर सकता कि कोई फासिस्टी अधिनायकवाद सामाजिक न्याय की दृष्टि से उसको लागू करने को तैयार होगा ।

अब इस परिच्छेद में जिन सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचा जा चुका है उनको संक्षेप में कहने का हम प्रयत्न कर सकते हैं । ऐसे कम से कम सात तरीके हैं जिनको कोई सरकार जो समाज में आय वितरण में सुधार करना चाहती है अपना कर अपने काम का प्रारम्भ कर सकती है (ए) वह न्यूनतम मजदूरी कानून पास कर सकती है और मजदूरी नियंत्रण के द्वारा अपने तमाम काम करने वाले नागरिकों के लिए रहन सहन का एक संतोषजनक न्यूनतम स्तर स्थापित करने का प्रयत्न कर सकती है । (बी) वह आमदनियों के पुनः वितरण के साधन के तीर पर कराधान का उपयोग कर सकती है और करों से होने वाली आय का उपयोग या तो सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करने में, या समाज के जरूरत मंद सदस्यों को द्रव्य में सामाजिक सेवा चुकारे करने में, या गरीब लोगों की वास्तविक आय को बढ़ाने की दृष्टि से आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं को साहाय्य (सबसिडी) देने में किया जा सकता है, (सी) उद्योग की जो आय पूँजी के स्वामियों को होती है उसके अनुपात को, मूँद की दरों को, व्यावहारिक दृष्टि से जितना कम से कम रखा जा सकता हो उतना कम रख कर और मायद लाभ पर सीधा प्रतिबन्ध लगाकर भी कम करने का कदम वह उठा सकती है, (डी) यह वह भी कर सकती है कि मंदी के समय में होने वाली गरीबी को कम करने के लिए उन करों को हटा ले जो गरीब वर्गों पर काफी भारी पड़ते हैं और इस प्रकार होने वाली आय की हानि की पूर्ति सम्पन्न समय से भारी कराधान के द्वारा चाहे करे या न करे, (ई) यह गरीब उपभोक्ताओं को या तमाम नागरिकों को बतौर अधिनार के क्रय शक्ति के सीधे अनुदान दे सकती है । और इन चुकारों के लिए अर्थ की व्यवस्था अपने नागरिकों से उधार लेकर कर सकती है । (एफ) वह इस प्रकार के नीचे ऐसे अनुदान भी दे सकती है जिनके लिए अर्थ की व्यवस्था उधार लेकर न की जाय बल्कि अतिरिक्त क्रय शक्ति को नए सिरे से सार्वजनिक रूप में जारी करके की जाए (हम देख चुके हैं कि यह प्रस्ताव प्रायः उन लोगों की ओर से रखा जाता है जिनका यह विश्वास है कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में यह प्रवृत्ति है कि क्रयशक्ति में स्थानिक (एन्डेमिक) या कम से कम बार बार होने वाली कमी आए) । (जी) वह सामाजिक लाभांश की नीति अपना सकती है । इन सामाजिक लाभांशों के लिए आवश्यक अर्थ की व्यवस्था न तो नई क्रयशक्ति जारी करके, न उधार लेकर के, न साधारण अर्थ में कराधान द्वारा की जाय बल्कि तमाम औद्योगिक व्यापारवर्ग (टर्न ओवर) पर पहिले से ही शुल्क (लेवी) लगा कर की जाए जिससे कि आमदनियां जो

उत्पादन के प्रतिफल या उसके लिए प्रोत्साहन के रूप में वांटें जाएँ वे उस रकम तक ही सीमित रहें—राज्य द्वारा सामाजिक लाभांश के लिए आवश्यक हिस्सा ले लेने के वाद उपलब्ध रह सकें ।

मैंने इन तमाम पुनः वितरण करने वाली नीतियों के असर और उनकी मर्यादाएँ तथा उनके अपनाने के मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ दोनों बताने की कोशिश की है । वेशक, ये नीतियाँ आपस में अपवर्जी (एक्सक्लूजिव) नहीं हैं: कोई समाज उनमें से कई का एक ही समय उपयोग करना चाहे तो इसमें कोई रुकावट नहीं है । अंतिम नीति के विरुद्ध और किसी हद तक सभी के विरुद्ध यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय आय के एक बड़े हिस्से को, किए गए काम के आर्थिक प्रतिफल के रूप में नहीं बल्कि आवश्यकताओं या नागरिक अधिकारों पर आधारित सामाजिक चुकारों के रूप में वांटने से उत्पादन पर प्रतिकूल असर होगा क्योंकि उससे उत्पादन के साधनों के उपयोग के लिए मजदूरी, लाभ, और दूसरी आमदनियों के रूप में दिये जाने वाले प्रोत्साहनों में कमी आयेगी । मुझे विश्वास है कि यह तर्क सही नहीं है । उत्पादन के लिए प्रोत्साहन मुख्यतया दिये जाने प्रतिफलों की निरपेक्ष मात्रा पर नहीं, बल्कि आपस में एक का दूसरे के साथ जो सम्बन्ध है उस पर निर्भर करता है । किसी एक सामाजिक व्यवस्था में प्रति वर्ष कई हजार देने का प्रस्ताव भी दूसरी सामाजिक व्यवस्था में दिये जाने वाले सैकड़ों से ज्यादा प्रोत्साहन नहीं देंगे । जिन समाजों में वन और आय की बड़ी असमानताएं पाई जाती हैं जैसा कि सामंतवादी और पूंजीवादी समाजों में होता है जो कि सम्पत्ति के अत्यधिक संग्रह को प्रोत्साहन देती हैं, उनमें अच्छी श्रेणी के काम के लिए बड़ी मात्रा में द्रव्य में प्रोत्साहन देना आवश्यक होता है । जहाँ किन्हीं पेशों में जाने वालों पर शिक्षा और प्रशिक्षण के भारी खर्च पड़ते हैं और जिनमें प्रवेश उन्हीं के लिए खुला होता है जिनके पास बड़ी मात्रा में पूंजी है, वहाँ भी बड़ी मात्रा में लाभ की संभावनाओं को प्रस्तुत करना आवश्यक है । पर कोई समाज जितना ज्यादा सामाजिक समानता की स्थिति में पहुँचेगा उतना ही कम आमदनियों का अंतर प्रयत्न के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन देने के वास्ते काफी होगा ।

अगर यह तय किया जाता है कि ऐसे सामाजिक लाभांशों की नीति लागू की जाए जो तमाम नागरिकों को व्यक्तिगत श्रम के लिए मिलने वाले प्रतिफलों से सर्वथा अलग सबकी समान विरासत में उनके हिस्सों के तौर पर दिये जायेंगे तो इसमें कोई संदेह नहीं कि इस नीति को छोटे पैमाने पर प्रारंभ करना होगा—ऐसे चुकारों से प्रारम्भ करना होगा जो विभिन्न प्रकार की उत्पादक सेवा से मिलने वाली आमदनियों के सम्पूर्ण ढाँचे को अचानक अस्त व्यस्त न करदे । पर जब एक बार व्यवस्था आरंभ हो जाय तो उसे धीरे धीरे फैलाया जा सकता है, और जैसे

जैसे समाज अधिक समानता के विचार से और इस विचार से अन्वित होगा कि लाभार्थी को पाने का अधिकार पूँजी के स्वामियों की हँसियत से न होकर तमाम नागरिकों को सबके समान जन्माधिकार में उनके हिस्से के तौर पर है वैसे वैसे कार्य करवाने के लिये द्रव्य के रूप में दिये जाने वाले प्रोत्साहनों में कमी आयेगी ।

मेरे किन्हीं पाठकों को इस प्रकार के विचार विमर्श वैशक काल्पनिक और इस जैसी किताब के लिए अनुपयुक्त मालूम पड़ेंगे । पर क्या सामाजिक लाभार्थ का विचार जिस युद्धोत्तर सामाजिक कार्यक्रम का—ऐसे कार्य का जिसमें व्यापक निःशुल्क डाक्टरी सेवाओं और व्यापक निःशुल्क शिक्षा के विचार निश्चित रूप से प्रकट और स्वीकृत किए गये थे—ब्रिटिश मतदाताओं ने 1945 में समर्थन किया और जिसे बाद में कार्यरूप में परिणित किया उसके एक अंग की भावना से इतना दूर हैं ? अगर राज्य अपने पर यह जिम्मेदारी लेता है कि उसके तमाम नागरिकों को निःशुल्क स्वास्थ्य सेवाओं का और माध्यमिक तथा प्राथमिक स्तर पर निःशुल्क शिक्षा का अवसर मिले—अगर वह इससे भी आगे जाता है और अभाव से मुक्ति के वेयरिज नारे के फलितार्थों को स्वीकार करता है—तो इस सुभाव में खालीपन क्या है कि उद्योग के उत्पादन में एक हिस्सा हर नागरिक को द्रव्य में मिलना चाहिये, जो वह आजादी से खर्च कर सके, और किन्हीं निःशुल्क दी जाने वाली सेवाओं के रूप में भी मिलना चाहिए ? मैं मानता हूँ कि यह और आगे का कदम है, पर यह एक ऐसी गढ़क पर कदम है जिस पर काफी रास्ता तय करने के लिए हम पहले ही सहमत हो चुके हैं ।

इस परिच्छेद में मैंने आमदनियों के पुनर्वितरण पर जो विचार किया है वह मुख्यतया एक सामाजिक नीति के रूप में जो उसके गुण हैं उन्हीं से संबंधित नहीं है, पर इस बात से भी संबंधित है कि आर्थिक अस्थिरता को ठीक करने के साधन के रूप में उसका उपयोग क्या है । पर, वैशक, इसको इस दृष्टि से काम में लेने की सम्भावना इसे अपनाने की इच्छा रखने का मुख्य कारण नहीं है । यह अपने आप में ही या बल्कि मानवीय सुख और कल्याण की अभिवृद्धि की दृष्टि से—अधिक में अधिक उस हद तक वांछनीय है कि जिस हद तक इसका उत्पादन के निम्ने पर्याप्त प्रोत्साहनों को कायम रखने से मेल बैठकाया जा सकता है । वर्ग असमानता एक सामाजिक बुराई है जिसे जिस हद तक हम हिम्मत कर सकें, उन्नी हद तक मिटाने के लिए हमें कार्यरत हो जाना चाहिये, और यह एक भीषण आघात होगा अगर हम उन भारी असमानताओं से जो उत्पादन के साधनों का निजी तौर पर उपयोग करने से उत्पन्न होती हैं, तभी छुटकारा पा सकते हैं जब एक ऐसी व्यवस्था सम्बन्धी क्रान्ति हो जो, एक दूसरी शकल में कोई कम भारी असमानताओं की स्थापना नहीं करेगी ।

अध्याय ८

पूँजी की मांग—सार्वजनिक निर्माण और विनियोग का नियंत्रण

पिछले परिच्छेद में केवल पद्धतियों के सम्बंध में विचार किया गया था। उसमें इस बारे में चर्चा की गयी थी कि यदि सरकारें यही चाहती हों कि निर्धन वर्गों के पक्ष में समाज में आमदनियों का वंटवारा बदला जाय तो इसके लिये वे क्या कार्रवाई आरंभ कर सकती हैं। अब, आमदनियों के वंटवारे को कम असमान बनाने की इच्छा का आधार या तो सामाजिक न्याय का विचार हो सकता है या यह विश्वास हो सकता है कि असमान वितरण आर्थिक असंतुलन और मंदी का कारण होता है, या वेशक दोनों ही विचार एक साथ हो सकते हैं। सामाजिक न्याय के तर्क को यह प्रदर्शित करके आर्थिक स्वरूप दिया जा सकता है कि द्रव्य के क्रमागत ह्रास उपयोगिता नियम* के कारण कम समान वितरण की अपेक्षा अधिक समान वितरण से अधिक कुल उपयोगिता या उपयोग में मूल्य (वैल्यू इन यूज) प्राप्त करने की संभावना होती है। अगर मूल्य (वैल्यू) कोई भावगत (सबजेक्टिव) वस्तु है जो किन्हीं वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति से प्राप्त होती है, तो कुल उत्पन्न मूल्य अधिकतम तभी होगा जब वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्ध मात्रा, इस बात का ध्यान रखते हुए कि संतोषजनक मात्रा में उत्पादन होने के लिये आवश्यक प्रोत्साहन बने रहें, जितनी समानता के साथ बांटी जा सके उतनी समानता से बांटी जाए।

*द्रव्य की क्रमागत ह्रास सीमांत उपयोगिता से अर्थ यह है कि, चूंकि यह मान कर चलना चाहिये कि उपभोक्ता अपनी अधिक आवश्यक आवश्यकताएं कम आवश्यक आवश्यकताओं से पहले संतुष्ट करेंगे इसलिये, जितनी अधिक क्रय-शक्ति उनके पास होगी उतना ही अधिक वे कम आवश्यकताओं को पूरी कर सकेंगे। इसलिये जब उनके पास की क्रय शक्ति में कमी आ जाती है तो जिन मांगों को वे पहले छोड़ देते हैं उनके कारण होने वाला हर शिल्लिंग की एवज में उपयोगिता में त्याग उन मांगों को छोड़ देने के कारण होने वाले त्याग से कम होगा जो वे उस समय करते रहते हैं जब वे कुल मिलाकर कम खरीद सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि व्यवहार में उपभोक्ताओं की वास्तविक आय में कमी हो जाए तब भी वे अपने द्रव्य का कुछ भाग, ऐसी वस्तुओं का त्याग करके भी जिन्हें सामाजिक नैतिकता-

इन दोनों ही मामलों में, वेशक, राय की भिन्नता हो सकती है कि कितनी असमानता श्रम के लिये प्रोत्साहन बनाए रखने के लिये आवश्यक और श्रम-शक्ति का अधिक समान वितरण करने के लिये उत्पादन की कितनी मात्रा की कमी की जोखिम (अगर ऐसी कोई जोखिम है) उठाने लायक है। यह हो सकता है कि अभी तक जितनी आर्थिक समानता स्थापित की जा सकी है उससे अधिक आर्थिक समानता लाने से अधिकतम कुल उत्पादन को प्रोत्साहन मिल सके; या यह भी हो सकता है कि ऐसा न हो। यह हो सकता है, जैसा कि मेरा मानना है, कि पर्याप्त प्रोत्साहन देने के लिए किस हद तक असमानता चाहिए यह सामाजिक व्यवस्था की नामान्य रूपरेखा कैसी है, इस बात पर निर्भर करे और जिन सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत प्रोत्साहन दिये जाने वाले हैं वे किस प्रकार की हैं इसका विचार किये बिना उसका निश्चय नहीं हो सकता। जिस हद तक अधिक समानता कुल उत्पादन को बढ़ाती है, उस हद तक आर्थिक आधार पर अधिक समानता स्पष्टतया वांछनीय है। जिस हद तक (यदि ऐसी कोई हद है) अधिक समानता कुल उत्पादन पर प्रतिफल प्रतिश्रिया पैदा किये बिना नहीं लाई जा सकती उस हद तक तक आर्थिक निर्णय करने का कोई तरीका नहीं है। समाज को अपने लिये यह निर्णय करना पड़ेगा, और उनके निर्णयों को निर्धारित करने के लिए किसी आर्थिक नियम के बिना, कि वह किसको अधिक महत्व देता है—अधिक कुल उत्पादन या अधिक समान वितरण—और वह अपनी पसंद को किसी भी दिशा में किस हद तक ले जाना ठीक समझता है।

द्रव्य की क्रमागत ह्रास सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति उस स्थिति को पहुँच गया है जहाँ उसकी आय उसे और उस पर निर्भर रहने वाले जो भी हों उनको काम चलाऊ रहन सहन के साधन उपलब्ध करने के लिये पर्याप्त है, तो द्रव्य में मिलने वाले नतीप में द्रव्य की हर इकाई जो उसकी आय में बढ़ती है पूर्व इकाइयों की तुलना में उसके लिये कम महत्व की होने लगती है। स्पष्ट है कि किसी करोड़पति के लिये एक अतिरिक्त शिल्पि का बहुत थोड़ा महत्व है, लेकिन किसी गरीब आदमी के लिये,

वादी अनिवार्यताएं मानते हैं ऐसी वस्तुओं पर रसचं करें जिन्हें वे सामाजिक नैतिकतावादी विलासितायें मानते हैं, पर यह मानना चाहिये कि उपभोक्ता ऐसा व्यवहार इसलिये करते हैं कि उनको विलासिताओं का अनिवार्यताओं की प्रपेक्षा ज्यादा महत्व मालूम पड़ता है। किसी हद तक विलासिता पर रसचं करने में अत्यन्त नीच मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। उपभोक्ता को द्रव्य की उपयोगिता का विचार नैतिकतावादियों को राय पर कि उसे सबसे अधिक क्या आवश्यकता अनुभव करनी चाहिये निर्भर नहीं करके इस बात पर निर्भर करता है कि जब उसके सामने विकल्प उपस्थित होता है तो वह वास्तव में क्या पसंद करता है।

जिसके पास जीवन की केवल अनिवार्यताओं से अधिक बहुत थोड़ा है, उसका वड़ा भारी महत्व है ।

यह स्पष्ट सहज बुद्धि की बात है; और कोई भी व्यक्ति जो होश में है इसकी सच्चाई के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठाएगा जब तक कि वह बेईमान ही न बन रहा हो । यह विल्कुल ठीक है, जैसा कि कई अर्थ-शास्त्रियों ने कहा है, कि किसी एक व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति से एक अतिरिक्त शिल्प कितना अधिक संतोष देता है इसे विल्कुल ठीक ठीक नापने का कोई उपाय नहीं है, और यह भी सही है कि समान आर्थिक स्थिति वाले भिन्न भिन्न व्यक्तियों को एकसा या समान संतोष ही मिलता हो सो भी आवश्यक नहीं है । संतोष एक मनोवैज्ञानिक स्थिति है, अनेक गैर-आर्थिक बातों से वह प्रभावित होता है । और वह ठीक ठीक नापा नहीं जा सकता । पर यह सुझाना अर्थहीन है कि चूंकि हम संतोष को नाप नहीं सकते इसलिये यह कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है कि एक अतिरिक्त शिल्प एक गरीब आदमी को, एक ऐसे अमीर आदमी की अपेक्षा जो पहले से ही वे तमाम संतोष जिनका वह वास्तव में आनन्द उठा सकता है, खरीद सकने की स्थिति में है, अधिक संतोष देगा । इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ अपवाद हो सकते हैं । जैसे, एक पागल कंजूस को उसे संसार का अंतिम शिल्प मिलने पर अत्यधिक आनन्द मिल सकता है या कोई अत्यधिक गरीब आदमी एक एक शिल्प मात्र मिलने पर उसे वेकार समझ कर सनक में खाई में फेंक सकता है । लेकिन यह नहीं कहा जा रहा है कि हर बार ही अपने अतिरिक्त शिल्प से किसी अमीर आदमी को जितना संतोष मिलेगा उससे अधिक संतोष गरीब आदमी को मिलेगा । कहना केवल यह है कि साधारणतया हम इस आधार पर बिना झिझक के चल सकते हैं कि लोगों की जितनी कम आमदनी होगी उतना ही उन्हें उनकी आय में एक शिल्प या पौंड बढ़ने से अधिक संतोष मिलने की संभावना होगी ।

सामाजिक न्याय और अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के सिद्धान्त पर आधारित तर्क से हम सीधे इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि किसी संतोषजनक स्तर पर कुल उत्पादन बनाये रखने के लिये जितनी कम आर्थिक असमानता हमें वर्दाश करनी पड़े उतनी ही अच्छी हमारी स्थिति होगी । लेकिन इस परिणाम पर ले जाने वाला तर्क इस तर्क से सर्वथा भिन्न है कि जब तक हम आज के पूंजीवादी समाजों में जितनी समानता स्थापित हो चुकी है उससे अधिक समानता न स्थापित कर लें, हम देखेंगे कि न्यून-उपभोग के बार बार आने वाले संकटों से उत्पादन में अव्यवस्था आती है और इस प्रकार आर्थिक समानता से जिस अधिक उत्पादन को प्रोत्साहन मिलने की बात समझी जाती है उसके लाभ से वास्तव में हम वंचित रहेंगे ।

न्यून उपभोग संबंधी इस तर्क के दो रूप हैं, जिसमें से एक के विषय में हम पहले ही विचार कर चुके हैं। जैसा कि केन्स ने किया, न्यून विनियोग की बात पर जोर दिया जा सकता है, या जैसा कि जे० ए० होवसन ने किया, सीधा उपभोक्ता वस्तुओं के न्यून-उपभोग पर जोर दिया जा सकता है। प्रथम दृष्टि पर दोनों धारणाएं एक दूसरे से अत्यन्त विरोधी मालूम होती हैं। लेकिन जब उनकी समीक्षा करते हैं तो मालूम होता है कि उनमें बहुत सी समानता है। क्योंकि, न्यून-विनियोग होता क्यों है? स्पष्ट है कि इसलिये कि व्यवसायी वर्ग उत्पादन के बढ़ाने से होने वाले लाभ की संभावनाओं के बारे में प्रतिकूल विचार रखते हैं। वे इस प्रकार का विचार क्यों रखते हैं? स्पष्ट है कि इसलिये कि अतिरिक्त उत्पादन के नये लाभकारी मूल्य पर खरीदने वालों को तलाश कर लेने की अपनी धमत्ता में उनकी शंका है। दूसरे शब्दों में, उन्हें इस बात में शंका है कि उत्पादन व्यवस्था जितने माल की पूर्ति करने की स्थिति में अपने आप को ला सकती है उतना माल उपभोक्ता खरीद सकेंगे और खरीदने को तैयार होंगे या नहीं।* पूंजी वस्तुओं का एक मात्र अंतिम प्रयोजन उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करना है, और उत्पादन साधनों और उनको खरीदने के लिये आवश्यक पूंजी की उपलब्ध मात्रा की सीमाओं में पूंजी वस्तुओं की मांग को एक मात्र मर्यादित करने वाला कारण उन उपभोक्ता वस्तुओं के बाजार का विस्तार है जिनके उत्पादन में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में पूंजी वस्तुओं का उपयोग हो सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि व्यवसायी वर्ग नए पूंजी विनियोग पर इतना द्रव्य खर्च करने में असमर्थ रहते हैं जितना कि उनके हाथों में भावी-व्यक्त करने वाले देने को तैयार हैं, तो कारण यह है कि उन्हें उपभोक्ता वस्तुओं के बाजार की मर्यादाओं का डर है।

इस प्रकार 'न्यून-विनियोग' 'न्यून-उपभोग' या यों कहें कि व्यापारियों के दिमाग में इस न्यून उपभोग की आशंका होने पर निर्भर करता है। तब, उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं के अपर्याप्त बाजार के संकीर्ण अर्थ में स्वयं न्यून उपभोग किस पर निर्भर करता है? होवसन का कहना था कि यह कुल फ्रय-जक्ति की कमी की किसी निरंतर प्रवृत्ति पर नहीं निर्भर करता बल्कि आय के असमान वितरण पर निर्भर करता है जिससे कि कुल मिला कर समाज में कुल आय के अत्यधिक अनुपात को बचाने का प्रयत्न किया जाता है। उनका कहना था कि इस नापेक्षिक अनिव्यक्त का यह नतीजा होता था कि उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं की खरीद में जितनी आय लगती थी वह समाज, खास तौर से अपने अधिक अमीर सदस्यों द्वारा, जो द्रव्य बचाने का प्रयत्न करता था उसके लाभकारी विनियोग की गुंजायन की

*वैशेष, उनको भी शामिल करके जो सामूहिक रूप में दी जाती है और उपभोग की जाती है—जैसे सड़कें और स्कूल—और सम्पत्ति।

दृष्टि से बहुत कम थी। इस तमाम द्रव्य को नए उत्पादक साधनों में लगाने से अवश्य ही उपभोक्ता वस्तुओं का आधिक्य होगा और इसका परिणाम यह होगा कि कम कुशल व्यवसायों में से कई दिवालिये हो जाएंगे और जैसे जैसे कुछ व्यवसायों के दिवालिया होने से वे दूसरे व्यवसाय, जिनका द्रव्य उन्हें उधार देना था, दिवालिये हो जाएंगे, यह क्रम अव्यवस्था और बेकारी के एक बढ़ते हुए क्षेत्र का रूप ले लेगा और इस प्रकार एक फैलता हुआ संकट पैदा हो जाएगा।

इस दलील के मूलभूत भाग के बारे में केन्स ने कोई प्रश्न उठाया ही ऐसा मालूम नहीं होता, हालांकि उसने स्थिति का वर्णन दूसरे ढंग से किया। जैसा कि हम देख चुके हैं, उसने इस बात पर जोर दिया कि आर्थिक मंदी के समय लोग जो वचत करने का प्रयत्न करते हैं उसका एक अच्छा हिस्सा उत्पादन के नए साधनों में विनियोग करने के काम में नहीं आता है और इसलिये व्यापारिक हानियों के रूप में समाप्त हो जाता है। ये व्यापारिक हानियां इसलिये अनिवार्यतः होती हैं कि चालू आय का एक हिस्सा या तो वर्तमान में उत्पादित पूंजी वस्तुओं या उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करने से रोक लिया जाता है। स्पष्ट है कि वास्तव में इनमें से कोई एक या ये दोनों स्थितियां पैदा हो सकती हैं। या तो, जैसा कि होवसन ने कहा, यह हो सकता है कि उपभोक्ताओं की मांग की तुलना में उत्पादक साधनों का आधिक्य हो (वह स्थिति जिसे व्यापारी अतिरिक्त क्षमता कहते हैं) या यह हो सकता है कि नयी पूंजी वस्तुओं में विनियोग न किया जाए जिससे कि संपूर्ण व्यापारिक जगत में नुकसान दिखायी पड़ने लगे और पूंजी वस्तुओं के उद्योग से शुरु हो कर उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों तक भारी बेकारी फैल जाए।

होवसन के तर्क से यह निष्कर्ष निकलता मालूम पड़ता था कि आर्थिक मंदी का उपयुक्त उपाय आमदनियों के ज्यादा अच्छे वितरण में है जिससे राष्ट्रीय आय का एक बड़ा अनुपात उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च हो और वचत की दर में कमी आये। केन्स ने प्रथम दृष्टि पर यह सुझाव दिया कि दर असल उपाय पूंजी वस्तुओं की मांग को बढ़ाना है जो दोनों प्रकार से बढ़ायी जा सकती है। उपयुक्त द्रव्य सम्बंधी उपायों से और निजी तौर पर किये जाने वाले विनियोग में कोई कमी आ रही हो तो उसे पूरा करने लिये राज्य के हस्तक्षेप के द्वारा समाज के पूंजी साधनों को बढ़ा करके, यह सार्वजनिक निर्माण कार्य में विस्तार करके किया जा सकता है, यह विस्तार या तो सीधे तौर पर किया जा सकता है या राज्य के प्रभाव और नियंत्रण में काम करने वाले स्थानीय प्राधिकारियों या सार्वजनिक निगमों द्वारा किया जा सकता है।* लेकिन केन्स ने पूर्ण रोजगार का उपभोग

*निस्संदेह, इस सार्वजनिक विनियोग द्वारा मकानों जैसी टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है और जो सीमित अर्थ में पूंजी वस्तुएं हैं उनकी पूर्ति भी बढ़ाई जा सकती है।

कायम रखने पर जो असर होता है और कम मूद की दरों का उपभोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने में जो असर होता है उस पर भी जोर दिया, और इस विचार का विरोध किया कि द्रव्य मजदूरी को कम करके आर्थिक क्रियाशीलता को बढ़ाया जा सकता है ।

जैसा कि होव्सन का तर्क बतलाता है, अगर आमदनियों का ग़ुनत वितरण होने से पूंजीवादी व्यवस्था की प्रवृत्ति अति वचत की ओर होती है या जिसे केन्स प्रयत्न से की गयी अति वचत कहना पसंद करता है, उसकी ओर रहती है, तो प्रथम दृष्टि पर यही ज्यादा ठीक मालूम पड़ता है कि जब मंदी का डर हो तो ऐसे उपायों को अपनाया जाए जो वचत की वजाय उपभोग का सीधा विस्तार करें वनिस्वतः इनको कि इस विचार से कि वह तमाम द्रव्य जो लोग वचाते हैं विनियोग में आ जाये और पूंजी वस्तुओं के विनियोग को कृत्रिम प्रोत्साहन दिया जाए । फिर भी बहुत ने लोग इस निष्कर्ष को मानने से इसलिए भिन्नकतें हैं कि वे इस विचार का समर्थन नहीं करना चाहते कि समाज अत्यधिक वचाने का प्रयत्न कर सकता है । किफायत वृत्ति को एक गुण के रूप में इतना ऊंचा चढ़ाया जा चुका है कि कोई दलील जो इस मान्यता में शंका पैदा करती है, उसको तीव्र मनोवैज्ञानिक विरोधों का सामना करना पड़ता है । इसके अलावा यह साफ सहज बुद्धि की बात मालूम पड़ती है कि समाज जितनी अधिक पूंजी एकत्रित कर सकता है उतना ही ज्यादा वह अपने नागरिकों को अधिक अमीर बना सकता है । आखिरकार, लोगों के एक बहुत बड़े बहुमत की ध्वज भी अत्यन्त अपर्याप्त आमदनियां हैं; और यह स्पष्ट ही मालूम पड़ता है कि अधिक विनियोग से, फिर वह विनियोग कितना ही बढ़ा क्यों न हो, जो अधिक उत्पादन होगा उसे उपयोगी ढंग से काम में लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए ।

फिर भी यह भी स्पष्ट तौर पर सही है कि जब तक उपभोक्ताओं की मांग में इतना विस्तार नहीं होता है कि जैसे जैसे अतिरिक्त उत्पत्ति बाज़ार में आये वैसे वैसे वह खरीद ली जाए, विनियोग लाभकर नहीं हो सकता । समाज आज उपभोग न करके और उसकी वजाए विनियोग करके अपने आपको कल अधिक मालदार बना सकता है; ये वह ऐसा इसी शर्त पर कर सकता है कि जब कल आये तो जो बीते हुए कल के विनियोग ने उसे अतिरिक्त वस्तुएं उपलब्ध कर दी हैं उनका वह उपभोग कर ले । यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो विनियोग निष्फल हो जायगा । कोई भी समाज आने वाले कल के लिए अनिश्चित काल तक फलपाक (बैम) का संग्रह करता नहीं रह सकता : कभी न कभी उसे अपना फलपाक आज काम में लेना ही चाहिये ।*

*या, देशक, उन देशों के निवासियों को जिनकी आवश्यकता अधिक है उसे दे दे ।

लेकिन वास्तव में समस्या इतनी सरल नहीं है जितनी इससे मालुम होती है। विभिन्न प्रकार के विनियोगों को फलीभूत होने में भिन्न भिन्न समय लगते हैं। उदाहरण के लिए पेड़ लगाने में जो विनियोग किया जाता है उसे उपभोग के योग्य कोई वस्तु उत्पन्न करने में बहुत लम्बा समय लगता है। अगर किसी ऐसे देश में अधिकतर जहाँ वस्ती नहीं है, यद्यपि भविष्य में उसके उत्पादक प्रदेश होने की संभावना है, रेल का निर्माण किया जाता है तो नई भूमि के बसने और उपयोग में लेने के लिए जितना समय चाहिए उतना समय निकल जाने के बाद ही वह लाभप्रद होगा। सोवियत विकास के प्रारंभिक वर्षों में सोवियत योजनाकारों ने ऐसी क्षमता और आकार के बिजली घर बनाए जिनका पूरा उपयोग करने की आशा उन्हें तभी थी जब कि वे उन उद्योगों के विकास में, जिनके काम ये बिजली घर आने वाले थे, काफी आगे बढ़ चुके हों। इस प्रकार के विनियोग से लम्बे समय तक चालू उपभोग से वंचित रहना होता है। दूसरी तरफ, एक भूकान में जैसे ही वह बन कर तैयार हो जाए, रहना शुरू किया जा सकता है; और उपभोक्ता वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली मशीनें जैसे ही वे लगा दी जाएं उत्पादन करना शुरू कर सकती हैं। इस प्रकार के विनियोग का असर भी चालू उपभोग से वंचित करना होता है, क्योंकि वे उस मानव-शक्ति और उन दूसरे साधनों को काम में ले लेते हैं जो उन उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पन्न करने के काम में आ सकते थे जो ज्यादा जल्दी उपलब्ध हो जातीं। लेकिन आस्थगित करने का समय बहुत कम होता है। हर हालत में जब वस्तुएं तैयार हों तो उन्हें ले लिया जाना चाहिये, अन्यथा विनियोग का अपव्यय होगा; लेकिन लेना जल्दी या देर से हो सकता है।

क्या इसका यह अर्थ है कि इस आशा में कि भविष्य में उपभोक्ता वस्तुओं की बढ़ी हुई पूर्ति उससे मिल जाएगी समाज अपने आपको उपभोग से जो वंचित करता है वह कहां तक कर सकता है, उसकी सीमाएं हैं? हां, इसका यह अर्थ है, वहां जहां कि समाज स्व-पूर्ति (सेल्फ-कन्टेन्ड) है। लेकिन जहां विना किसी सीमा के पूंजी निर्यात की संभावना होती है वहां भावी लाभ की आशा में चालू उपभोग से बहुत अधिक हद तक वंचित रहा जा सकता है उसकी अपेक्षा जो कि उस दशा में संभव है जब कि कोई अर्थ व्यवस्था अपने आप पर ही निर्भर करती है, या अपना विदेशी व्यापार पारस्परिक विनिमय के आधार पर ही चलाती है। यदि जिनके पास विनियोग किये जाने वाली पूंजी है वे उसका विदेश में विनियोग कर सकते हैं और उनकी पूंजी तथा उसकी सहायता से विदेश में उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं, दोनों के लिए बाजार मिल सकता है, तो वे अपनी आमदनियों का चाहे जितना बड़ा अनुपात विनियोग में लगाते रह सकते हैं विना इस कारण से विवश हुए कि अपनी पूंजी वस्तुओं की उपज के उपभोक्ता अपने ही देश में मिलना आवश्यक हैं।

वेशक, विदेशी विनियोग की इसी प्रक्रिया से, उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में, उन ब्रिटिश संपत्ति स्वामियों को एक रास्ता मिल गया जिन्होंने अपने देश के उपभोक्ताओं की मांगों को पूरा करने के लिये आवश्यक उद्योग का विस्तार करने के वास्ते जितना बचाना आवश्यक था उससे अधिक बचाना पसंद किया। इस विदेशी विनियोग से पूंजी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में रोजगार का एक बड़ा हिस्सा संभव हो गया और उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में भी इससे कुछ रोजगार मिला; क्योंकि निर्यात की गयी पूंजी का एक हिस्सा उन उपभोक्ता वस्तुओं की शकल में बाहर गया जो, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर, उस मजदूरी और दूसरी आमदनियों से खरीदी गयीं थीं जो उन लोगों को दी गयीं थीं जो ब्रिटिश द्रव्य से वित्तीय साधन प्राप्त करने वाले विदेशी पूंजी उद्योग में काम में लगे हुए थे। इसमें कोई शक नहीं कि इन इकट्ठे होने वाले विनियोगों का सूद और लाभांश ब्रिटिश स्वामियों का था; लेकिन मुख्यतया जो रकम इस प्रकार प्राप्त हुई उनका फिर विदेश में विनियोग कर दिया गया, इसलिये उनके एगज में ग्रेट-ब्रिटेन में उपभोक्ता वस्तुओं की कोई असल पूर्ति नहीं आयी। जब तक ये परिस्थितियां बनी रहें ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था, अपने उपभोग के स्तर को ऊंचा उठाने की आवश्यकता के बिना जिससे कि अपने विनियोग से उत्पादित वस्तुओं को जैसे वे बाजार में आए खरीद ली जाएं, कितनी मात्रा में बचत और विनियोग कर सकता है, इसकी कोई सीमा नहीं थी। वेशक, ग्रेट-ब्रिटेन में उपभोग के स्तर अवश्य बढ़े; लेकिन तमाम दुनिया में उत्पादन प्रणालियों में जो तकनीकी विकास हुआ उसके कारण ऐसा हुआ और इसकी कोई आवश्यकता नहीं हुई कि विदेशी विनियोग के कारण बढ़ते हुए उत्पादन का जवाब देने के लिये देश के उपभोग को खास तौर से बढ़ाया जाये।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इन परिस्थितियों में, देश के अन्दर पूंजी की दुर्लभता, जो औद्योगिक क्रान्ति के प्रारंभिक अवस्थाओं में पायी जाती थी, नमाया हो जाने के काफी समय बाद तक, उन्नीसवीं शताब्दी के अर्थशास्त्री मितव्ययी बचन को आर्थिक गुणों में प्रथम गुण और प्रगति की कुंजी के रूप में देना करते थे। हमारे दादों और पड़दादों के मन में इस बारे में कोई शंका नहीं थी कि जो व्यक्ति अपनी आय का एक भाग चालू उपभोग पर खर्च करने से अलग रख लेता है और इस प्रकार बचत कर लेता है वह समाज का हितपी है या इस तरीके से पूंजी का यथासंभव अधिकतम पैमाने पर संचय भविष्य में रहन सहन के अधिक ऊंचे स्तरों को स्थापित करने का सही ढंग है। स्पष्ट है कि यह बात तो ठीक थी कि जो व्यक्ति बचाता था वह प्रायः उसका लाभ अपने बच्चों को दे सकता था; और इन निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक लगता था कि जो बात व्यक्ति के लिये सही है वह ग़रब समाज के लिये भी सही होगी—क्योंकि समाज क्या था सिवाय उन व्यक्तियों के

समूह के जिससे वह बना था ? क्लासिकल अर्थशास्त्री यह मान कर चलते थे कि सामान्य परिस्थितियों में व्यक्ति जो रकमें बचा कर अलग रख लेते हैं उन सबका वास्तविक उत्पादक परिसंपत्त (एसेट्स) में विनियोग हो जाता है—जब तक कि वे राज्य द्वारा युद्ध में नष्ट न करदी गयी हों—और वे यह मान कर भी चलते थे कि विनियोग की इस प्रक्रिया से उत्पादन के सुधरे हुए तकनीकी तरीके बराबर व्यवहारिक होते रहेंगे और इस प्रकार उत्पादन बराबर सस्ता होता रहेगा तथा राष्ट्रीय धन में लगातार वृद्धि होती रहेगी । केवल उनके गैर-परम्परावादी आलोचक इन मान्यताओं के बारे में आपत्ति करते थे और अति-उत्पादन या न्यून उपभोग की बात पर जोर देते थे—दोनों में से किस पक्ष पर वे जोर देते थे यह इस पर निर्भर करता था कि आर्थिक संकटों को वे किस पक्ष से देखते थे । क्लासिकल आर्थिक सिद्धान्त की मुख्य धारा ऐसी आलोचनाओं पर ध्यान नहीं देती थी और संकटों को ऐसी असाधारण घटनाएं मानती थी जिनके आधार पर आर्थिक प्रक्रियाओं के किसी सामान्य सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया जा सकता । आखिरकार, कुल मिला कर, समाज मालदार हो रहे थे और उस बढ़ती हुई विपन्नता के प्रारंभ का, जिस के लिए पूंजीवाद के आलोचकों ने भविष्यवाणी की थी, कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ रहा था । उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश समय में, केवल अल्पकालिक विघ्नों के अलावा, रहन सहन के स्तर तमाम विकसित पूंजीवादी देशों में बड़े ही : मजदूरी कोप सिद्धान्त के परम्परावादी मानने वालों को पूंजी की वृद्धि में अधिक मजदूरों को काम देने का साधन दिखाई पड़ता था और जब उत्पादक सिद्धान्तों के पक्ष में उस सिद्धान्त को अमान्य कर दिया गया तब भी वचत की अधिकतम संभव दर, पूंजी के अधिक गहन उपयोग के द्वारा उत्पादन को सस्ता करके, तेज आर्थिक प्रगति का सबसे अधिक आश्वासन दे सकने वाली मालूम पड़ती थी ।

यह दृष्टि व्यापक रूप में मान्य थी क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, पूंजी की अतिरिक्त पूर्ति के लिये उन्नीसवीं शताब्दी की भूख नहीं तृप्त हो सकने वाली मालूम पड़ती थी । कुल मिला कर सारी शताब्दी में पूंजी निर्माण की प्रक्रिया यद्यपि बार-बार होने वाले संकटों और मंदियों से उसमें विघ्न आते रहे, उससे पहले दुनिया ने जो कुछ भी देखा था उसकी तुलना में आश्चर्यजनक तेज गति से चलती रही । इस निर्माण के एक बड़े भाग ने अधिक विकसित देशों के आंतरिक उद्योगों में विनियोग का रूप लिया; परन्तु एक काफ़ी बड़ा और बढ़ता हुआ हिस्सा विदेशों के विकास में लगा । समुद्र पार विनियोग, वास्तव में पूंजी वस्तुओं का निर्माण करने वाले उद्योगों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मांग को बनाए रखने का उस समय एक महत्वपूर्ण साधन था जब किसी प्रकार की वस्तु की घरेलू मांग गिर जाती थी । उदाहरण के तौर पर, जब ब्रिटिश-रेल-मार्गों के निर्माण का काम मुख्यतया समाप्त हो गया और, चूंकि इस्पात लोहे की अपेक्षा अधिक टिकाऊ था इसलिये, नवीनकरण

की मांग कम हो गयी तो पहले तो अधिक जनसंख्या वाले विदेशों में और बाद में सारी दुनिया में रेलमार्गों के निर्माण से रेल्वे इंजीनियरों और ठेकेदारों की बड़ी-बड़ी फर्मों के साधनों का वैकल्पिक उपयोग किया जा सका और उसी घत्ताब्दी में कुछ वाद में जिन फर्मों ने ग्रेट ब्रिटेन में पुलों, जल-गृहों, गैस के कारखानों और दूसरे सार्वजनिक उपयोगिता के कारखानों के निर्माण से प्रारंभ किया था उनको दूसरे देशों में—जिनमें वैश्व ब्रिटिश साम्राज्य के देश शामिल हैं—इसी प्रकार के निर्माण कार्य करने में अपने साहस के लिये नए रास्ते मिल गए। ब्रिटिश-निर्मित पूंजी वस्तुओं और ब्रिटिश इंजीनियरिंग कौशल के निर्यात के साथ साथ विदेशों में किये जाने वाले विनियोग को, देश के अन्दर के उद्योगों की तुलना में, जो अपनी अत्यंत व्यवस्था अपने लाभ संचितियों में से अधिकाधिक करने लगे थे, लंदन के पूंजी बाजार में अधिकाधिक पूर्वंता (प्रिसिडेंस) मिलने लगी।

यह हम देख चुके हैं कि ब्रिटिश पूंजी के इस निर्यात से न केवल पूंजी वस्तुओं के वलिक उपभोक्ता वस्तुओं के निर्यात की मांग को भी प्रोत्साहन मिला। ब्रिटिश विनियोग करने वालों के द्वारा दिये गये ऋणों का उपयोग न केवल ब्रिटिश उत्पात और इंजीनियरिंग उद्योगों की उन वस्तुओं के लिये, जिनका अभी तक भी मुकाबला नहीं किया जा सकता था, किया जाता था पर उधार देने वाले देशों में मजदूरी और दूसरे खर्च चुकाने में भी किया जाता था। इसका नतीजा यह होता था कि प्राप्त करने वाले अपनी प्राप्तियों का एक अच्छा हिस्सा ब्रिटिश वस्तुओं और दूसरे ब्रिटिश द्वारा तैयार उपभोक्ता वस्तुओं पर खर्च करते थे। ब्रिटिश विनियोग करने वाले समुद्रपार आर्थिक विकास के लिये पर्याप्त मात्रा में चालू तथा स्थायी पूंजी देने थे। और जब तक ये परिस्थितियां बनी रहीं ब्रिटिश पूंजी और ब्रिटिश निमित्त वस्तुओं का निर्यात साथ साथ बढ़ता रहा। सिर्फ जब दूसरे देशों ने प्रतिस्पर्द्धा करने वाली अपनी खुद की उपभोक्ता वस्तुओं और पूंजी वस्तुओं दोनों के निर्माण का विकास किया तो यह बात सही नहीं रही कि समुद्र पार दिये गए ब्रिटिश पूंजी के ऋणों के साथ इस बात का भी एक व्यवहारिक आश्वासन था कि ब्रिटिश निर्यात के लिए बाजार दिये जाएंगे और विदेशी खरीददार ब्रिटिश माल न केवल ब्रिटिश बाजार में बेचे जाने वाले उनके माल के एवज में खरीदेंगे बल्कि उस ब्रिटिश द्रव्य से भी खरीदेंगे जो उनको, अपनी इच्छानुसार उसे खर्च करने के उनके अधिकार पर बिना किसी कायदे का प्रतिबंध लगाए, उधार दिया गया है।

तालिका ६

दीर्घकालिक ब्रिटिश समुद्रपार विनियोग, 1870-1913

(फीज की युरूप, दुनिया का बैंकर से आंकड़े)

वार्षिक औसत दस लाख पाँड		विदेशी विनिमय से कुल आय दस लाख पाँड	
1870-74	61	—	—
1875-79	2	—	—
1880-84	24	1883	50
1885-89	61	—	—
1890-94	46	1891	100
1895-99	27	—	—
1900-04	21	1903	115
1905-09	110	1907	140
1910-13	185	1913	205-210

ये आंकड़े केवल काम चलाऊ अनुमान हैं ।

तालिका १०

1913 में ब्रिटिश समुद्रपार दीर्घकालिक विनियोग का भौगोलिक बटवारा

साम्राज्य	१० लाख पाँड	विदेश	दस लाख पाँड
कैनेडा और न्यूफाउन्लैंड	515	सं० रा० अ०	755
आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड	416	अरजैन्टीना	320
दक्षिण अफ्रिका	370	ब्राजील	148
भारत और लंका	379	मेक्सिको	99
पश्चिम अफ्रीका	37	शेष लैटिन अमेरिका	190
मलाया	27	रूस	110
शेष साम्राज्य	35	शेष यूरुप	109
		जापान	63
		चीन	44
		मिश्र	45
		तुर्की	24
		शेष विदेशी दुनिया	78
	1779		1985

महायोग 3764 दस लाख पौंड; जिससे 205 से 210 दस लाख पौंड आय होती थी ।

ग्रेट-ब्रिटेन से बड़ी मात्रा में पूंजी निर्यात की यह प्रक्रिया ठीक 1914 तक चली । प्रथम महायुद्ध के कारण देश से विदेशी विनियोग का एक खासा हिस्सा खर्च हो गया । बहुत विदेशी विनियोगों को युद्ध सम्बंधी आयातों का बिल चुकाने के लिये बेचना पड़ा । अनिवार्यतः युद्ध की परिस्थितियों में निर्यात व्यापार कम हो गया; और यद्यपि, जब युद्ध समाप्त हो गया, तो समुद्रपार पूंजी विनियोग की प्रक्रिया किसी हद तक फिर से जारी हो गयी, पर जिस पैमाने पर वह दुबारा जारी हुई वह 1914 के पहले के पैमाने से बहुत छोटा था । और न पहले की तरह अब इस बात का कोई आश्वासन था कि विदेशी उधार लेने वालों के लिये जिन द्रव्य ऋणों की व्यवस्था लंदन में हुई है वे ब्रिटिश उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं पर ही खर्च होंगे. और उनसे इस प्रकार ब्रिटिश उद्योगों को सीधा रोजगार मिलेगा । इसके खिलाफ, अधिकांश वार विदेशियों का बहुत सा द्रव्य ग्रेट-ब्रिटेन में जमा होता था जो ग्रेट-ब्रिटेन को स्थायी तौर पर दिये गए ऋण के जैसा होता था । इस द्रव्य की उपस्थिति से लंदन में जो समुद्रपार ऋण स्वीकार किये जाते थे उतना विदेशी विनिमय पर अन्यथा जितना दबाव पड़ना चाहिये था उतना दबाव नहीं पड़ पाता था । पर अल्प-कालिक उधार या जमा के आधार पर दीर्घकालिक ऋणों को देने का व्यापार बड़ा अनिश्चित होता है । और 1918 के बाद की ब्रिटिश प्रणाली कितनी जोखिम भरी थी, यह 1931 के संकट में प्रकट हुआ जब कि देश से अल्प-कालिक द्रव्य (दोनों ब्रिटिश और विदेशों का) के बाहर जाने से विनिमय संकट उत्पन्न हो गया और स्वर्णमान का त्याग करना पड़ा तथा पौंड-स्टर्लिंग के बाहरी मूल्य में बहुत गिरावट आ गयी ।

1931 के संकट के बाद ग्रेट-ब्रिटेन बड़ी मात्रा में पूंजी का निर्यात करने वाला देश नहीं रहा । जब तक विश्व-व्यापी मंदी बनी रही, विनियोग करने वालों को विदेशी व्यवसायों में अपना द्रव्य जोखिम में डालने का कोई प्रलोभन नहीं था; और तीसरे दशक के मध्य में समुत्थान (रिकवरी) के समय में भी समुद्रपार ऋण छोटे पैमाने पर ही रहे, और वजाय इसके कि ग्रेट ब्रिटेन के पास विदेश में विनियोग करने के लिये काफी द्रव्य होता, वास्तव में वह पूंजी का पुनः आयात कर रहा था क्योंकि पुराने समुद्रपार ऋणों का प्रतिस्थापन न किया जा कर चुकारा किया जा रहा था । बावजूद इसके कि 1931-32 में जो प्रभुत्व (टैरिफ) लगाया गया था उसके कारण निमित्त वस्तुओं के आयात में कमी आगयी थी, और इसके बावजूद भी कि निमित्त वस्तुओं में प्राथमिक उत्पादन के मूल्यों में कमी आगयी थी, विदेशी विनिमय की जितनी भी पूर्ति उपलब्ध थी वह सब ब्रिटिश आयात के लिए पुकारा

करने के वास्ते आवश्यक थी। बाकी की दुनिया से ग्रेट-ब्रिटेन के आयात बहुत अनुकूल शर्तों पर मिल रहे थे; क्योंकि ब्रिटिश निर्यात के मूल्य ब्रिटिश आयात के मूल्यों की अपेक्षा बहुत कम गिरे थे। लेकिन इसके बावजूद, असल समुद्रपार विनियोग समाप्त हो गए थे, इसलिए नहीं कि ब्रिटिश निर्माण क्षमता की कोई कमी थी, लेकिन इसलिये कि मांग कम हो गयी थी।

इस प्रक्रिया में कारण और परिणाम को अलग अलग करना मुश्किल है। निर्यात में गिरावट विदेशी विनियोग में कमी आने का न कारण था और न परिणाम। निर्यात की गिरावट विदेशी विनियोग की वास्तविक रूप में व्यक्त वह कमी ही थी। अगर विदेशी खरीदार अधिक ब्रिटिश वस्तुएं खरीदना चाहते, तो उनके खरीदने की इच्छा ने पूंजी के उस निर्यात को उत्पन्न किया होता जो खरीददारियों की वित्तीय व्यवस्था करने के लिये आवश्यक था; क्योंकि अगर निर्यात के लिये निश्चित आदेश होते तो उनके लिये वित्तीय व्यवस्था करना कठिन नहीं होता। विदेशी विनिमय की पूर्ति में किसी असल वृद्धि की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि जो वस्तुएं निर्यात की जातीं वही आवश्यक वित्त-व्यवस्था कर सकती थीं। साथ ही साथ, अनुकूल विनिमय सँतुलन के अभाव में निर्यात को खरीदने के लिए आवश्यक वित्त की पहले से व्यवस्था करके निर्यात को बढ़ाना अधिक कठिन हो गया। और सरकार की सलाह से बैंक ऑफ इंग्लैंड को विश्व बाजार में स्टर्लिंग के मूल्य की रक्षा करने के लिये विदेशी ऋणों पर, सिवाए उन थोड़े से ऋणों को छोड़कर जो किन्हीं विशेष कारणों से मंजूर किये गये थे, वास्तव में अधिरोध (एम्बार्गो) लगाने के लिये विवश होना पड़ा। पूंजी वस्तुएं उत्पन्न करने वाले ब्रिटिश उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के लिये समुद्रपार बाजारों में इतनी मांग नहीं रही थी जितनी पहले थी; और इस कारण से मंदी के समय में, जब कुल विनियोग की मात्रा उस रकम से भी कम हो जाती थी जो आय प्राप्त कर्ता बचाने का प्रयत्न करते थे और इस प्रकार जिस वंचत को करने की कोशिश की जाती थी उसमें तथा वास्तविक विनियोग में अन्तर पैदा हो जाता था, यह स्थिति और भी जल्दी आजाती थी।

तब प्रश्न यह खड़ा हो गया कि जो रकम समुद्रपार विनियोग में काम में नहीं आ रही थीं उनको किसी प्रकार के गृह विनियोग की ओर मोड़ा जाये, या द्रव्य के रूप में की जाने वाली वंचत में कमी की जाये जिससे कि विनियोग की घटी हुई मांग के साथ उस वंचत का मेल बैठ जाये। इनमें से पहली नीति का अर्थ यह होता था कि जिन विनियोगों को व्यापारी अधिकतम लाभ कमाने की दृष्टि से स्वतः करते थे उनके अलावा और वास्तविक विनियोगों के प्रकारों का पता लगाया जाये। विनियोग के लिए उपलब्ध निधि को काम में लेने की दृष्टि से सार्वजनिक

निर्माण कार्यों का लाभ यह था कि, एक बड़ी हद तक, ऐसे कार्यों की ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि जिससे वे निजी स्वामित्व वाले उद्योग से प्रतिस्पर्धा में न आवें, और दरअसल निर्माण उद्योगों के क्षेत्र में निजी व्यवसायों को रोजगार दें। सार्वजनिक निर्माण कार्यों के तौर पर राज्य और स्थानीय प्राधिकारी पूंजी निर्माण की ऐसी योजनाएं कार्यान्वित कर सकते हैं जो निजी व्यवसाय कमी नहीं करते और इन कार्यों में वे ठेकेदारों की निजी फर्मों की सेवाओं का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार जो पूंजी वस्तुएं उत्पन्न होंगी वे ऐसी होंगी जिनकी उन बाजारों में जिनमें निजी उद्योग अपनी विक्री की अपेक्षा रखते हैं निजी उद्योग से प्रतिस्पर्धा या तो बहुत थोड़ी या बिल्कुल नहीं होगी। और किन्हीं हालतों में ये पूंजी वस्तुएं निजी उद्योग के लिये निश्चित लाभ पहुंचाने वाली साबित होंगी क्योंकि वे विनियोग के नये क्षेत्र खोलने वाली होंगी और निर्माण की लागत का एक अंश वे निजी व्यवसायिकों या साहसियों के ऊपर से हटा लेंगी।

उदाहरण के लिये, जब राज्य या स्थानीय प्राधिकारी सड़कों का निर्माण करते हैं तो निजी सड़क करने वालों के लिये मकानों का निर्माण करना या सड़क-यातायात का व्यापार चलाना आसान और सस्ता हो जाता है। वास्तव में, सार्वजनिक सड़क-निर्माण का असर रिबन डेवलपमेंट के उस प्रकार को प्रोत्साहन देने का हुआ जो दोनों युद्धों के बीच के समय में परिकल्पी इमारत बनाने वालों के व्यवसाय का एक बड़ा स्पष्ट लक्षण था। सामाजिक हानियां गंभीर थीं; लेकिन परिकल्पी इमारत बनाने वाले को आधिक प्रोत्साहन मिले यह एक साफ बात थी। फिर, राज्य ने विजली के संपादिका (ग्रिड) के सार्वजनिक निगम के तत्वाधान में में जो निर्माण को प्रोत्साहन दिया उससे तमाम तरह के विजली के सामान का उत्पादन करने वाले उद्योगों को बहुत ही वांछित प्रोत्साहन मिला : और सार्वजनिक गृह निर्माण से इमारत बनाने वालों की जल्दतर पर सामान फर्निचर और दूसरे प्रकार की पूर्तियों की मांग बढ़ी।

गृह विनियोग के लिए, बिना निजी स्वामित्व वाले उद्योगों से प्रतिस्पर्धा में आए, मार्ग प्रशस्त करने के प्रयत्न का एक परिणाम यह हुआ कि टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को—सबसे अधिक मकानों को—बड़ा प्रोत्साहन मिला। इन क्षेत्र में सार्वजनिक साहस ने निजी इमारत बनाने वाली फर्मों की सेवाओं का उपयोग किया; और, इसके अलावा, मूद की दरों में कमी आने से और विनियोग की तलाश में रहने वाली बड़ी बड़ी निधियों के उपलब्ध होने से इमारत निर्माण समितियों का (बिल्डिंग सोसाइटीज) बड़ा विस्तार हुआ जो बड़े पैमाने पर संपदा (एस्टेट) विकास के लिए वित्त की व्यवस्था करती थीं। मकान निर्माण ने, राम और पर अब निजी निर्माण करने वाले, जिनके लिये इमारत निर्माण समितियां राज्य के महाम्य के

विना वित्तीय व्यवस्था करती थीं; इस मकान निर्माण कार्य को करते थे, आर्थिक क्रिया की स्थिति को समाप्त करने का एक बहुत सुविधाजनक साधन मिल जाता था। हानि यह थी कि इस तरीके से जो मकान बने थे वे मजदूर वर्ग के ऊँचे तबके के सिवाए किसी के लिये भी बड़े खर्चीले थे। और 1939 के पहले बहुत से ऐसे लक्षण थे जिनसे यह मालूम पड़ता था कि थोड़े से क्षेत्रों के अलावा, उन मकानों की मांग, जो किश्त के आधार पर इमारत निर्माण समितियों के द्वारा चालू लागत पर प्राप्त किये जा रहे थे, समाप्त होने पर आ रही थी और जब तक राज्य फिर से साहाय्य दे कर विकास की बड़ी प्रयोजनाओं को शुरू न करे इस बात की आशंका हो रही थी कि मकान निर्माण के काम में तेजी से गिरावट आवे। लेकिन, 1930 की दशाब्दी में कम सूद की दरों के और इमारत निर्माण समितियों के द्वारा उनके पास की उन बड़ी रकमों को जो बचाने वाले उनके हाथों में सुपुर्द करने के लिये उत्सुक थे काम में लेने के उपाय तलाश करने के वास्ते जो भारी प्रयत्न किये गये उन के कारण मकान निर्माण के काम को प्रोत्साहन मिला। इस प्रोत्साहन से निजी व्यवसाय में तेज प्रगति हुई और उसके फलस्वरूप राज्य बहुत कुछ उस दबाव से मुक्त हो गया जो उस पर सार्वजनिक निर्माण के कार्य हाथ में लेने के लिये पड़ रहा था।*

सरकार (ट्रेजरी) ने, जहां तक उसका सम्बंध था, सार्वजनिक निर्माण नीति के बारे में पहले तो बड़ा प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाया, जब कि उसने 1929 के सरकारी स्मरण पत्र (ट्रेजरी मेमोरैंडम) में यह दलील दी कि किसी भी प्रकार का सार्वजनिक विनियोग हो, उसका असर अवश्य ही उसी हद तक निजी विनियोग में कमी आकर समाप्त हो जाए। यह बिल्कुल ही अर्थहीन बात थी जो श्रमिक और उदार दलों की बेकारी का मुकाबिला करने के लिये बनायी गयीं विस्तृत सार्वजनिक निर्माण कार्य की योजनाओं के विरुद्ध कही गयी थी। ऐसे निर्माण कार्य, जिनके कि मैंने उदाहरण दिये हैं—और बहुत से और उदाहरण देना आसान होगा, यह तो दूर रहा कि निजी विनियोग की रकम को वे कम करेंगे, अवश्य ही इससे ठीक उलटा असर पैदा करेंगे।

लेकिन यह बात सही है कि इस तरह के सार्वजनिक निर्माण कार्य भी होते हैं जो, यदि वे किन्हीं विशेष प्रकार के निजी विनियोग पर अनुकूल असर पैदा करते हैं, तो भी किन्हीं दूसरे प्रकार के निजी विनियोग पर उनका प्रतिकूल असर होता है। मिसाल के तौर पर, मकानों के बारे में यह है कि जब तक राज्य अपने आपको ऐसे मकानों के निर्माण तक ही सीमित रखता है जिनमें निजी परिकल्पना को संतोषजनक लाभ की कोई आशा नहीं दिखाई पड़ती और इसलिये वह मकानों का निर्माण नहीं

*इमारत निर्माण समितियों में इस समय जो विनियोग हुआ उसके लिये पृष्ठ 220 (मूल पुस्तक) की तालिका देखें।

करता तब तक सार्वजनिक आधार पर मकानों की व्यवस्था करने के विरुद्ध कोई विशेष आपत्ति उठने की संभावना नहीं है; पर जैसे ही राज्य ऐसे मकानों का निर्माण करने लगता है जिनको बनाने की बात निजी परिकल्पी भी सोचना चाहता है तो संघर्ष शुरू हो जाता है। जो वास्तव में निर्माण का कार्य करते हैं उनके लिये इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि मकानों का निर्माण सार्वजनिक रूप से कराया जाता है या निजी रूप से; क्योंकि राज्य और स्थानीय अधिकारी अधिकांश मामलों में काम कराने के लिये निजी निर्माण कराने वाले ठेकेदारों का ही उपयोग करेंगे। पर परिकल्पी वित्तीय संस्थाओं के लिये जो निजी मकान की संपत्ति के विकास पर निर्भर करती हैं, और इमारत निर्माण समितियों और बीमा कंपनियों के लिये जो परिकल्पी निर्माण कार्य के लिये पूंजी की व्यवस्था करती हैं, इस अंतर का महत्व है। इसलिये, अधिक मकान बनवाने की प्रयोजनाओं के संबंध में, 1930 में आरंभ होने वाली दशान्वदी में ये संस्थाएं इस बात के लिये उत्सुक थीं कि सार्वजनिक निर्माण कार्य एक सीमित क्षेत्र तक ही मर्यादित रहे—मजदूरों के लिए उन सरत मकानों का निर्माण जो साप्ताहिक आधार पर किराये दिये जाते हैं और मकान संपदा दिक्कत का मुख्य क्षेत्र, जिसमें बिल्कुल कम किराये या कर योग्य अर्धा (रेटेंडुल वेल्थ) के मकानों के अलावा तमाम मकानों की व्यवस्था शामिल है, उनके हाथों में ही बना रहे।

मैंने यह उदाहरण यह बतलाने के लिए दिया है कि निजी व्यवसाय के समर्थकों की बहुत साफ तौर से यह इच्छा रहती है कि तमाम सार्वजनिक निर्माण कार्य का विरोध वे न करें और राज्य के हस्तक्षेप के क्षेत्र को पूंजी निर्माण की उन्नीस प्रयोजनाओं तक सीमित रखा जाए जो उनकी अपनी क्रियाओं से किसी तरह भी प्रतिस्पर्द्धा करने वाली नहीं हों। यह स्पष्ट होना चाहिये कि अगर राज्य का कार्य क्षेत्र इस प्रकार सीमित कर दिया जाए, तो उसके लिए किसी वास्तव में दृढ़ सार्वजनिक निर्माण नीति के वास्ते उपयुक्त प्रयोजनाओं का मिलना बड़ा कठिन होगा, और इस बात का डर रहेगा कि, रोजगार को बढ़ाने के उसके प्रयत्न के निमित्त में, राज्य को ऐसी प्रयोजनाओं को हाथ में लेने के लिए विवश होना पड़े जो असमर्थ प्रयोजनाओं में सबसे उपयोगी या उत्पादक न हो कर सबसे कम विरोध पैदा करने की संभावना रखने वाली हों। अगर ऐसा होने दिया जाता है तो उनका असर सार्वजनिक निर्माण नीति को अश्रेय (टिसफ्रेडिट) की स्थिति में डालने का होगा। या सार्वजनिक निर्माण नीति इस दशा में भी अतिरिक्त रोजगार देने का अपना सामान्य लक्ष्य पूरा करेगी, पर जो रक्तमें खूब होंगी उनके एवज में जनता को उचित मूल्य देने में वह असमर्थ रहेगी।

राज्य जिस क्षेत्र में सार्वजनिक निर्माण को कार्यान्वित करने के लिए प्रयोजनाएं चुनने को स्वतंत्र है वह क्षेत्र जितना व्यापक होगा समाज के पूंजी माध्यम का सुधार

करने की दृष्टि से परिणाम उतने ही संतोषजनक होंगे । इस बात को किसी हद तक स्वीकार करते हुए, सार्वजनिक व्यवसाय के विरुद्ध निजी व्यवसाय के समर्थक इस बात पर अपना आधार रखने को तैयार हो जाते हैं कि जहाँ राज्य सीमा रेखा को पार करके उस क्षेत्र में जाना चाहता है जो निजी पूंजीपति अपना मानते हैं वहाँ उसे सार्वजनिक निर्माण कार्य को सीधा अपने हाथ में लेने की वजाय साहाय्य (सबसिडी) के रास्ते से आगे बढ़ना चाहिये, यानी, उसे निजी व्यवसाय को काम की लागत का एक हिस्सा देना चाहिये और उसके बाद तैयार वस्तु को सार्वजनिक स्वामित्व के वजाए निजी स्वामित्व में छोड़ देना चाहिये । एक बार फिर इसका एक स्पष्ट उदाहरण मकान निर्माण मिलता है । 1923 के चैम्बरलेन मकान कानून (हाउसिंग एक्ट) द्वारा किसी को भी जो मकान बनवाने को तैयार हो जाए साहाय्य दिया जा सकता था। जब कि 1924 के व्हिटले मकान कानून के अन्तर्गत स्थानीय प्राधिकारियों को ही सहायता दी जा सकती थी जो कि इस कानून के अनुसार बने मकानों के मालिक हो जाते थे ।

साहाय्य के विषय में सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि जिनको उसकी आवश्यकता है केवल उन्हीं को वह दी जाए, यह प्रायः नामुमकिन होता है । अगर वे उस विनियोग को प्रोत्साहित करने तक सीमित की जाती हैं जो उनके बिना किया नहीं जाएगा, तो असर यह होगा कि इस प्रकार के व्यवसाय जिनसे लाभ नहीं होने वाला है उन व्यवसायों से अधिक लाभ देने वाले हो जायेंगे जो अगर कोई साहाय्य न दिया जाए तो भी काफ़ी लाभदायक होते । इससे अनुचित प्रतिस्पर्धा का इलजाम लगता है, कम कार्यकुशल और ऊँची लागत पर उत्पादन करने वाले को, कुशल उत्पादक को नुकसान पहुँचा कर, सहायता मिलती है और साधारण मूल्य-सम्बन्धों में अव्यवस्था आ जाती है । तदनुसार, अधिक अच्छी स्थिति वाले और अधिक कुशल उत्पादक कम अच्छी स्थिति वाले और कम कुशल उत्पादकों के बराबर ही साहाय्य की मांग करते हैं; और आम तौर पर राज्य को झुकने के लिए विवश होना पड़ता है और अपनी साहाय्य सबको बराबरी के आधार पर देना पड़ता है । इससे साहाय्य की नीति अत्यन्त खर्चीली बन जाती है और उसके कारण अच्छी स्थिति वाले उत्पादकों को अप्रत्याश (डिडफाल) लाभ होते हैं । असल में, राज्य से दिये जाने वाले द्रव्य का एक बड़ा हिस्सा अतिरिक्त विनियोग और रोज़गार को प्रोत्साहन देने में न लग कर ऐसे लोगों को, जिनको उनकी आवश्यकता नहीं है, सर्वथा अनुत्पादक उपहार देने में खर्च होता है ।

परिणाम यह है कि अगर राज्य किसी विस्तृत सार्वजनिक निर्माण नीति को क़िफ़ायत और कुशलता के साथ चलाना चाहता है, तो उसके पास विनियोग प्रयोजनाओं का एक ऐसा विस्तृत क्षेत्र होना चाहिए जिसे वह इस प्रकार कार्यान्वित

कर सके कि जनता को सीधा लाभ प्राप्त हो। यह शर्त तभी पूरी हो सकती है जब राज्य के नियंत्रण में ऐसे बहुत से उद्योग हों जिनमें पूँजी वस्तुओं का बड़ी मात्रा में उपयोग होता है। एक जाहिर उदाहरण मकान निर्माण का है, और घेराक, नदकों, पुलों, पानी के कारखानों, हवाई अड्डों और अन्य अनिवार्य सामाजिक उपयोगिताओं से सम्बन्ध रखने वाले सिविल इंजीनियरिंग का दूसरा उदाहरण है। पर इन सबके अलावा, किसी बड़े पैमाने के सार्वजनिक निर्माण नीति का कुशल संचालन ज्यादा आसानी से वहीं चल सकता है जहाँ उद्योगों और सेवाओं का एक व्यापक क्षेत्र सार्वजनिक स्वामित्व में है।

किसी भी देश में घरेलू विनियोग की कितनी दर आवश्यक है यह कई कारणों से निर्धारित होता है। यदि उसकी जन संख्या बढ़ रही है, तो बढ़ती हुई मांग को पूरी करने के लिये उत्पादन की वृद्धि की व्यवस्था उसे करनी होती है। और इसका अर्थ यह है कि विनियोग बढ़ते हुए पैमाने पर हो। जब तकनीकी प्रगति तेज होती है, तो उत्पादन के साधनों को वे बेकार हो जाएँ उसके पहले ही रह कर देने पड़ते हैं; और इसका भी अर्थ यह है कि नयी पूँजी वस्तुओं में काफी विनियोग होना चाहिये। देश और विदेश के बाजारों में बदलती हुई रचियों के कारण ऐसे नये उत्पादन साधनों की व्यवस्था करनी होती है जो नयी मांगों के अनुरूप हों। इन कारणों के खिलाफ, जिन देशों की जनसंख्या स्थिर है या कम होती रहती है वे कम पूँजी निर्माण से काम चला सकते हैं वनिस्वत तब के जब कि उनकी जनसंख्या बढ़ रही हो; और तकनीकी विकास की धीमी गति या नहीं बढ़ने वाली बाजार की मांग का भी यही असर होता है। युद्ध की परिस्थितियों में कुछ उद्योग बहुत तेजी से विकास करते हैं, पर चूँकि मुख्य प्रयत्न तो हर उस उद्योग पर केन्द्रित रहता है जिसकी सैनिक सफलता के लिये सबसे अधिक आवश्यकता होती है। इसलिये अधिकांश उपभोक्ता उद्योगों को पूँजी की कमी रहती है और कुशलता से वे पिछड़े जाते हैं। इसके अलावा युद्ध के कारण इमारतों और साधनों की भारी नुकसान हो सकता है, और किसी भी देश में वह बड़े अवशिष्ट पूरा करने की छोड़ सकता है। किसी बड़े युद्ध के बाद, नष्ट हुए और पुराने पड़ गए गहरी इमारतों का दुबारा निर्माण करने के लिये, और बदलती हुई आवश्यकताओं और विश्व बाजार की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उद्योगों का पूरी तौर से नवीनीकरण और उनको फिर से व्यवस्थित करने के लिए, तथा उत्पादन की कई शान्ताओं के सन्तुलन पिछड़ेपन को मिटाने के लिये आमतौर से नयी पूँजी निर्माण की ऊँची दर बनाने रखना वांछनीय होता है। जब पुनः निर्माण के ये समय समाप्त हो जाते हैं तो पूँजी निर्माण के नीचे दर को लौटना मुमकिन हो सकता है। पर ऐसा करना वांछनीय है या नहीं, यह केवल किसी एक देश की परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता है। यदि पूर्वी युरोप, एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों में—जिनमें, चीन, विभिन्न

तालिका ११

वाज़ार मूल्यों पर पूंजी निर्माण—यू. के. यू. एस. ए. 1938 और 1947-52

कुल	कुल पूंजी निर्माण			घिसावट (2)	असल पूंजी निर्माण	
	निर्माण	साधन	स्कंध (1)			
सं० रा० पौंड दस लाख :						
यू. के.						
1938	845	—	—	—	457	388
1947	1489	545	656	249	500	989
1948	1611	630	790	145	569	1042
1949	1634	664	886	35	724	910
1950	1472	688	958	—225	816	656
1951	2327	732	1077	465	902	1425
1952	1900	—	—	—100	822	1078
2000						

सं० रा० अ० पौंड दस लाख :

यू. एस. ए.

1939	9982	6980	3975	-973	7992	1990
1947	32910	16627	17080	-797	14845	18065
1948	46549	21572	19948	5029	17612	28937
1949	39004	22789	18697	-2482	19371	19633
1950	59542	29733	22299	7510	21604	37938
1951	67911	32463	24580	10868	24217	43694
1952	63370	34254	25393	3723	26961	36409

(१) जोड़ना (+) या बाकी निकालना (—)

(२) संयुक्त राज्य के लिये, मुख्यतया कानून से निर्धारित रकमों ।

साम्राज्यों के साथ जो उपनिवेश अब लगे हुए हैं वे भी शामिल हैं—तेज़ी से और निरंतर औद्योगीकरण होता है, तो इसके साथ ही साथ न केवल पूंजी वस्तुओं के लिये बल्कि उनकी जनता के चालू रहन सहन के स्तर को कम किये बिना उन पूंजी वस्तुओं को प्राप्त करने के वास्ते ऋण और दान के लिये क्रियाशील मांग उत्पन्न होगी । सोवियत संघ को औद्योगीकरण के क्षेत्र में अपनी असाधारण सफलताएं, मुख्यतया विदेशी पूंजी की सहायता के बिना ही, प्राप्त करनी पड़ी, और इसलिये उसे अपने साधनों का एक बड़ा हिस्सा उपभोक्ता वस्तुओं के निर्माण से पूंजी निर्माण के कामों की ओर मोड़ना पड़ा । जब ऐसा हो रहा था, तो इसका असर यह हुआ कि सोवियत जनता का रहन सहन का स्तर अत्यन्त नीचा बना रहा; और जिस पैमाने पर यह हुआ वह इसलिये संभव हो सका कि सोवियत संघ में जनसंख्या कम

थी। पूर्वी युरोप, भारत और चीन में, जहाँ अत्यधिक कृषक जनसंख्या है, औद्योगीकरण करने का अर्थ यह होगा कि भारी अन्तःकालीन कष्ट उठाने पड़ेंगे फिर दीर्घकाल में चाहे कितना ही सुधार रहन सहन के स्तरों में क्यों न हो जाये दरबख्त, पूर्वी युरोप में तेजी से औद्योगीकरण करने के जो प्रयत्न किये गये उन्हें इसलिये धोका करना पड़ा कि संबंधित लोगों के तात्कालिक रहन सहन के स्तर पर उनका प्रतिकूल असर पड़ा। यदि बिना बड़ा कष्ट उठाए अधिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश बड़ी विकास प्रयोजनाएं कार्यान्वित करना चाहते हैं तो उन्हें विदेशी पूंजी की सहायता की आवश्यकता होगी; और साफ तौर से यह ब्रिटेन की अनिवार्य जिम्मेदारी है कि आवश्यक पूंजी की व्यवस्था करने में, न्यासतौर से उन औपनिवेशिक प्रदेशों में जो ब्रिटिश-राष्ट्र-मंडल से संबंधित हैं, वह अपना योग प्रदान करे।

लेकिन ग्रेट-ब्रिटेन ऐसा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उसको, उपहार या ऋण के तौर पर जो वस्तुएं निर्यात की जाती हैं उनके अलावा, अपने उत्पादन के पर्याप्त भाग को निर्यात करने के साधन नहीं मिल जाते जिससे कि वह खाद्य पदार्थ और दूसरे सामान के—जिसमें आयात किया हुआ वह मान भी शामिल होगा जो उपहार या ऋण के रूप में निर्यात की गयी वस्तुओं के मूल्य में शामिल रहेगा—आवश्यक आयात की लागत चुका सके। यह बड़ा कठिन कार्य है; क्योंकि आयात का संतुलन करने के लिये पूंजी वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं का बड़ी मात्रा में निर्यात आवश्यक है। जब तक ब्रिटिश उद्योग कुमानता के बहुत ऊँचे स्तर तक नहीं पहुँचा दिया जाता और निरंतर पूर्ण रोजगार की स्थिति में नहीं बना रहता, ऐसा करना विल्कुल संभव नहीं होगा। पूंजी वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं के ब्रिटिश निर्यातों को अत्यन्त प्रतिस्पर्धी दुनिया के बाजार में अपना स्थान बनाना होगा; और पिछड़े हुए देशों के लिये न तो यह संभव होगा कि उनको बेचे जाने वाली वस्तुओं के ऊँचे मूल्य वे दें और न उनकी खरीददारी के लिये वित्तीय व्यवस्था करने की दृष्टि से दिये गए ऋणों पर वे मूल की ऊँची दरें दे सकेंगे। इन बातों को पूरा करने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि ब्रिटिश औद्योगिक साधनों का व्यापक तौर पर सुधार किया जाय जिससे कि वे पूरी तौर से आधुनिकतम हो जाएं और यह भी आवश्यक है कि दोनों दृष्टियों से, एक तो उन निर्यातों का स्थान लेने के लिये जिनका कम विकसित देश अपने लिये स्वयं उत्पादन करने लगे और दूसरे घर के और बाहर के समान रूप में दोनों ही बाजारों में बदलती हुई मांगों के अनुसार ब्रिटिश उत्पादन को बनाए रखने के लिये, उत्पादन की नयी दिशाओं का पता लगाने में निरंतर काम में लगे। इसके अलावा, अगर दुनिया के विकास की यह प्रक्रिया आरंभ हो जानी है तो इसका असर यह होगा कि इस देश में बुद्धोत्तर पुनर्निर्माण के समय के समान हो जाने के काफी बाद तक पूंजी विनियोग की मांग ऊँची रहेगी।

युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार पर काफी बड़ी मात्रा में अल्प-कालिक ऋण हो गया था जिससे यह समस्या अधिक कठिन हो गई। जब कि उधार पट्टा (लीज-लैंड) के शुरू होने तक ग्रेट-ब्रिटेन को संयुक्त राज्य अमेरिका को प्राप्त माल के लिये नक़द चुकाना पड़ता था, बहुत से दूसरे देशों ने—और सबसे ऊपर भारत ने—बड़ी मात्रा में उधार माल दिया। युद्ध का जो खर्च सीधा भारत पर पड़ा वह किन अनुपातों में ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश भारतीय सरकार के बीच में बँटे इसका आपसी समझौते से निश्चय होने वाला था।* लेकिन ब्रिटिश हिस्से का चुकाना बाकी रहने वाला था क्योंकि शीघ्र ही वस्तुओं में या द्रव्य में चुकारा करने का कोई साधन नहीं था। परिणाम यह हुआ कि भारतीय बैंकों के खातों में लंदन में स्टर्लिंग पावना के रूप में बड़ी रक़म जमा हो गयी। और इसी तरह से यद्यपि कम मात्रा में, उन दूसरे देशों के खातों में रक़म जमा हो गयीं जिन्होंने ग्रेट-ब्रिटेन को युद्ध स्थल पर ब्रिटिश सेनाओं के उपयोग के लिये सामान दिया था। ये रक़म लंदन में अवरुद्ध हो गयीं, दोनों ही अर्थों में, एक तो इस अर्थ में कि उनका ब्रिटिश माल खरीदने में उपयोग नहीं किया जा सकता था और दूसरे, इस अर्थ में कि उनके बदले डालर जैसा दूसरा चलार्थ, जिससे अन्यत्र माल खरीदा जा सके, नहीं प्राप्त किया जा सकता था। युद्ध समाप्त होने पर इस अवरोध को बना रहना पड़ा; क्योंकि अभी भी ग्रेट-ब्रिटेन इस स्थिति में नहीं था कि या तो वह स्टर्लिंग ऋणों का निपटारा ब्रिटिश वस्तुओं में कर दे या उनके बदले में दूसरे चलार्थ दे दे। लेकिन उधार देने वाले देश उन खरीददारियों को करने के लिये जिनकी उन्हें बड़ी आवश्यकता थी इस अवरुद्ध द्रव्य को वापिस चाहते थे। उदाहरण के तौर पर, भारत को अपने आर्थिक विकास के लिये पूँजी उधार लेने की बड़ी आवश्यकता थी। यह स्पष्ट हो गया कि इन ऋणों के एक भाग को निवीयन करने (फंडिंग) के लिये समझौते करने होंगे जिससे कि कई वर्षों के लम्बे समय में उन्हें किस्तों में चुकाया जा सके और इसी के साथ उनका कुछ भाग दे देने के लिये भी समझौते करने होंगे ताकि ग्रेट-ब्रिटेन में या अन्यत्र तत्काल खरीददारियाँ करने के लिये उनका उपयोग किया जा सके।

लेकिन किस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन, जिसके सामने निर्यात व्यापार की घटी हुई आय में से आवश्यक चालू आयातों को चुकाने की उसकी क्षमता में भारी कमी आजाने का प्रश्न था, इस अतिरिक्त बोझ को, जो इन संचित स्टर्लिंग ऋणों के एक अंश को भी चुकाने में पड़ेगा, उठाने वाला था? एक उपाय यह था कि आवश्यक रक़म संयुक्त-राज्य अमेरिका से उधार लेली जाये, और इस मात्रा में उधार ली जाये कि दोनों ही काम हो जायें, विदेशी व्यापार के चालू घाटे की पूर्ति भी हो जाए और उसके बाद भारत और दूसरे देशों को चुकाये जाने वाले अल्पकालिक स्टर्लिंग ऋणों

* तथापि, यह ध्यान रहना चाहिये कि समझौता भारत का, जो कि उस समय स्वतंत्र देश नहीं था, ब्रिटिश सरकार के साथ हुआ था।

के एक भाग को चुकाने के लिये भी कुछ वच जाये। लेकिन, जैसा कि हम देखेंगे, जब संयुक्तराज्य अमेरिका के द्वारा ग्रेट-ब्रिटेन को ऋण देने की बात चीत चली, तो अमरीकियों ने एक यह स्पष्ट शर्त लगा दी कि ऐसे ऋण का कोई भी भाग ग्रेट-ब्रिटेन के स्टर्लिंग ऋण को चुकाने के काम में नहीं लिया जायगा और यह शर्त भी लगा दी कि ग्रेट ब्रिटेन को इन ऋणों का फँसला करने के लिये अपने ऋणदाताओं से बातचीत करनी चाहिये। अमरीकी ऋण के पूरे प्रश्न पर ही इस पुस्तक के वाद के परिच्छेद में विचार किया जायगा, और यहां उसकी चर्चा नहीं की जा सकती। यहां तो यह बताना मात्र संगत है कि इतने बड़े स्टर्लिंग ऋण के मौजूद होने से ग्रेट-ब्रिटेन के लिये यह लगभग पर्याप्त नहीं था कि वह अपने निर्यात को इतना बढ़ा ले जिससे कि चालू आयातों का चुकारा किया जा सके। इसके अलावा यह आवश्यक था कि आयात से निर्यात कुछ अधिक हों जिससे कि उस शेष का क्रमशः दोनों ही ऋणों को स्टर्लिंग ऋणों को यानी और उन दूसरे ऋणों को जो संयुक्त-राज्य अमेरिका, या कनाडा या किसी दूसरे देश से उधार लेने के कारण देने हों, चुकाने के वास्ते उपयोग किया जा सके। इन दायित्वों के होते हुए, ग्रेट-ब्रिटेन के सामने, युद्ध के बाद कुछ समय के लिये, यह सवाल ही नहीं था कि समुद्रपार खाते में कोई असल वचत रहे जिसका ब्रिटिश साम्राज्य में या अन्यत्र पूंजी विनियोग करने में उपयोग किया जा सके। पहला सवाल संतुलन स्थापित करने का था, जब तक यह सवाल हल नहीं होता था, वास्तविक विनियोग के लिए वचत का सवाल उठता ही नहीं था।

वास्तव में, युद्ध के बाद के कुछ वर्षों में, ग्रेट-ब्रिटेन ने किश्तों में स्टर्लिंग पावने का जो भारत को और कुछ दूसरे देशों को देने थे, एक बड़ा भाग चुकाया और दान तथा ऋण के रूप में औपनिवेशिक आर्थिक विकास के लिये सीमित मात्राओं में पूंजी भी दी। लेकिन यह संभव इसीलिये हो सका कि संयुक्त राज्य अमेरिका और केनेडा से उधार लिया गया और बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका से मार्शल सहायता मिल सकी। इसके अलावा, कहीं कहीं उपनिवेशों को असल में पूंजी निर्यात करने की वजाय ग्रेट-ब्रिटेन वास्तव में उनसे उधार ले रहा था। ऐसा इसलिये करना पड़ा कि कोरिया युद्ध शुरू होने के बाद औपनिवेशिक कच्चे पदार्थों के, जैसे टिन और रबर के, मूल्य कल्पनातीत हद तक बढ़ गये और जो उपनिवेश इन पदार्थों को उत्पन्न करते थे उनके पास स्टर्लिंग बड़ी मात्रा में जमा हो गया जिसे वे फौरन खर्च नहीं कर सकते थे (या किसी हद तक उन्हें खर्च नहीं करने दिया गया था)। औपनिवेशिक पदार्थों के खरीदने वालों ने यह रकम अधिकतर डालर में चुकाई; और वे ब्रिटिश स्वर्ण तथा डालर संचिति का अंग बन गए। लेकिन फिर भी वे रकम उपनिवेशों को देनी तो थी हीं और इसलिए इस संचिति का एक भाग भविष्य में उपनिवेशों को चुकारा करने के वास्ते रखा जाना था। वे रकम इस बात का संकेत नहीं करती थीं कि ग्रेट-ब्रिटेन अतिरिक्त समुद्रपार विनियोग करने की कोई क्षमता रखता है।

आज की दुनिया में आर्थिक दृष्टि से अविकसित देशों में पूँजी की बड़ी आवश्यकता है; और इस पूँजी के कुछ हिस्से की व्यवस्था करने का जिम्मा ग्रेट-ब्रिटेन को लेना होगा। पर यह अनिवार्य है कि इसमें ग्रेट-ब्रिटेन का हिस्सा जितना पहले था उससे बहुत कम हो। और कुछ समय के लिये इस पूँजी का प्रधान स्रोत संयुक्त राज्य अमेरिका ही रहने वाला है। फिर भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में चलने वाली पूँजी निर्माण की सक्रिय प्रक्रिया का ब्रिटिश उद्योग के ढाँचे को और नयी परिस्थितियों के अनुरूप वचत और विनियोग के स्तर को निश्चित करने में महत्वपूर्ण हाथ रहेगा। यह स्पष्ट है कि यदि बड़े पैमाने पर विदेशी विनियोग फिर से नहीं किये जाने लगते हैं और इस प्रकार पूँजी वस्तुओं के लिये विश्व बाजार नहीं पैदा होता है, तो ग्रेट-ब्रिटेन में होने वाले पूँजी विनियोग के अधिकाधिक महत्वपूर्ण अंश ब्रिटिश कृषि में, जिन्हें गौण उद्योग (टरशियरी इन्डस्ट्रीज) कहते हैं उनमें और प्रत्यक्ष रूप से जो आर्थिक सेवाएँ नहीं हैं उनके विकास में रहेंगे। नए विनियोग की निर्मित उद्योग से हट कर इन ऊपर बताए क्षेत्रों में लगने की प्रवृत्ति युद्धों के बीच के समय में ही स्पष्ट रूप से देखी जा रही थी, जब कि उत्पादक रोजगार में मंदी आने से यह बढ़ गयी थी; और इसका यह अर्थ भी था कि कुल नए विनियोग के एक बढ़ते हुए भाग का जिम्मा या तो सीधे सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा लिया जाता था या उन संस्थाओं द्वारा लिया जाता था जो सार्वजनिक प्रभाव के मातहत काम करती थीं और किसी हद तक सार्वजनिक नियंत्रण में थी। जितनी कुल नयी पूँजी का विनियोग किया गया उसका एक बड़ा भाग मकान निर्माण और सड़कों में लगा; और दूसरे बड़े बड़े व्यवसायों जैसे विजली संपत्तिका (ग्रिड) का निर्माण और गौण (टरशियरी) क्षेत्र के बाहर, लंदन यात्रीयातायात व्यवस्था का विकास १९३० में प्रारंभ होने वाले दशक में इन कामों के लिये पार्लियामेंट के कानूनों के अनुसार बने सार्वजनिक निगमों द्वारा किया गया।

चुकारे संतुलन पर बहुत दबाव पड़ने से ग्रेट-ब्रिटेन के सामने इसके अलावा और कोई विकल्प नहीं था कि आयात किये जाने वाले खाद्य पदार्थों पर कम निर्भर रहा जाय, ठीक उसी तरह से जैसे 1931 के बाद निमित्त आयतों में कमी की गयी थी। यह नीति अनिवार्य हो गयी थी चाहे देश में अधिक अन्न उत्पादन करने में बाहर से खरीदने की अपेक्षा अधिक ही लागत क्यों न आये; क्योंकि विदेशी खरीददारियों को केवल सापेक्षिक मूल्यों के आधार पर ही नहीं पर विदेशी विनिमय की, खास तौर से डालरों की, पूर्ति के हिसाब से भी, जो ब्रिटिश निर्यात को विदेशियों द्वारा खरीदने की तैयारी से उपलब्ध होती थी, सीमित करना होता था। निर्यात को बढ़ाने में कितनी सफलता मिलती है, अधिकतर इसी बात से यह तय होता था कि खाद्यान्नों को देश के अन्दर ही अधिक उत्पन्न करने की नीति का कहाँ तक पालन करना होगा; संयुक्त राज्य अमेरिका से ऋण और दान न मिलने की

हालत में इस नीति का कहीं अधिक पालन करना होता। देश के अन्दर अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करने की इस आवश्यकता से यह अनिवार्य हो गया कि ब्रिटिश कृषि की कुशलता बढ़ाने के लिए जो भी संभव हो किया जाए जिससे कि ब्रिटिश रहन सहन का खर्च न बढ़े; और इसका अर्थ यह था कि भूमि के विकास में, खेतों पर बनी इमारतों को सुधारने में, कृषि के काम में आने वाले यांत्रिक साधन को सुधारने में, पशुओं की अच्छी नसल पैदा करने में, और कृषक मजदूरों की असल उपज बढ़ाने में पर्याप्त मात्रा में पूंजी लगायी जाये। ये आवश्यकताएं अब भी बनी हुई हैं; और इस अपेक्षा का कि देश के अन्दर के विनियोग को कई वर्षों तक ऊंचे स्तर पर बनाए रखना आवश्यक होगा यह अतिरिक्त कारण है और मुख्यतया इस प्रकार के विनियोग को परम्परागत विदेशी ऋणों को फिर से बड़े पैमाने पर देना शुरू करने के मुकाबले में तरजीह देना अनिवार्य होगा।

जैसा कि अत्यन्त वांछनीय मालूम होता है, अगर समुद्रपार विनियोग जिस तरह से अतीत में सर्वथा अनियोजित ढंग से व्यक्तिगत साहसियों द्वारा अपेक्षित लाभ के अनुसार किए जाते थे भविष्य में उसी तरह से न किये जा कर, उधार लेने वाले और उधार देने वाले देशों की सरकारों ने जो नियोजित व्यवस्थाएं की हैं बहुत कुछ उनके अनुसार किये जाते हैं—एक ऐसा तरीका जिसके ब्रिटिश औपनिवेशिक विकास कानून अग्रणी माने जा सकते हैं और जिसका पहला विश्वस्तर का प्रयोग युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय बैंक माना जा सकता है—तो विनियोग नीति पर राज्य का प्रभाव स्पष्टतया और बढ़ जायेगा और सामाजिक दृष्टि से पूंजी निर्माण की कौन सी दर वांछनीय है उसका निर्णय अधिकतर सरकारों और उनके तत्वावधान में काम करने वाली आर्थिक संस्थाओं द्वारा किया जाने लगेगा।* अगर फिर

*लेकिन वह बात ध्यान में रहनी चाहिये कि विदेशी विनियोग का एक विशेष प्रकार, जिसका महत्व बढ़ता जा रहा है, ऐसा है जिसका नियंत्रण सरकार के बड़े पैमाने के व्यक्तिगत व्यवसाय के नियंत्रण पर निर्भर करता है। यह उन निधियों का विनियोग है जो इस प्रकार के व्यवसाय विदेशों में उप-व्यवसाय स्थापित करने के लिये करते हैं जिससे कि आयात करें या प्रतिबंधों के कारण बन्द या प्रतिबंधित बाजारों में प्रवेश किया जा सके। वर्तमान में, ऐसे विनियोग पर कुछ नियंत्रण रखा जाता है जो कि विदेशी विनिमय की पूर्ति पर लगे साधारण प्रतिबंध का अंग है; पर ब्रिटिश कंपनियों की मौजूदा उप-कंपनियों के लाभों का विदेश में विनियोग नियंत्रित करना बहुत आसान नहीं है। वेशक, इस तरह का विनियोग आवश्यक हो सकता है; लेकिन वह होता है या नहीं वह, उस नियंत्रण के अलावा जो इस समय लागू है, उसकी ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के लिये वांछनीयता पर निर्भर न करके इस बात पर निर्भर करता है कि वह संबंधित कंपनियों को लाभ की क्या संभावनाएं उपस्थित करता है।

से समुद्रपार विनियोग का विस्तार वहीं होता है, तो यह साफ ही दिखता है कि, विदेशी ऋणों के कारण जो कुछ चुकाना है उसके अलावा, दीर्घकाल में ग्रेट-ब्रिटेन में पूंजी निर्माण की अनुकूलतम दर के अतीत में जो कुछ आम तौर से वह थी उससे कम होने की संभावना माननी होगी, और, एक बार यदि इन ऋणों का फैसला कर दिया जाये, तो यह मुमकिन होगा कि कुल उत्पादक साधनों का एक बड़ा भाग चालू उपभोक्ता आवश्यकताओं के संतोष के लिये काम में लिया जाये। लेकिन यह दृष्टि कम विकसित देशों की उनकी उत्पादकता में सुधार के लिये जो विनियोग की प्रायः असीमित आवश्यकताएँ हैं उनकी अवहेलना करती है—ऐसी आवश्यकता जिसका कोई अंत इस समय नहीं देखा जा सकता और जिसको पूरा करने में ब्रिटिश जनता को, जिनका रहन सहन का स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा है, साफ तौर से अपना योग देना चाहिये। इस दृष्टि के अलावा भी, यदि उत्पादक क्षमता का थोड़ा अनुपात विनियोग के रूप में लगाया जाये तो भी उसका अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं होगा कि पूंजी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों का ह्रास हो; क्योंकि अनिवार्य आयात के बदले में भेजे जाने वाले ब्रिटिश निर्यात के तौर पे ये वस्तुएँ सबसे अधिक स्वीकार्य हो सकती हैं। पूंजी का निर्यात और पूंजी वस्तुओं का निर्यात समवर्ती नहीं होता है; यद्यपि यह स्पष्ट है कि पूंजी के निर्यात से पूंजी वस्तुओं के निर्यात की मांग का प्रोत्साहन अवश्य मिलता है। पूंजी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में ह्रास होने की अपेक्षा तभी की जानी चाहिये जब कि कुल मिला कर निर्यात में कमी आए—जिनके साथ साथ आयात में तीव्र ह्रास होना भी अनिवार्य है। ऐसा उस समय हो सकता है जब दुनियाँ वस्तुओं के विनिमय और पिछड़े हुए देशों के विकास इन दोनों बातों के लिए सम्मिलित व्यवस्था करने की जगह काफी समय के लिए आर्थिक राष्ट्रवाद की स्थिति में अपने आपको डाल दे। यह संभावना यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन के लिए घातक होगी, पर, न हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। राजनैतिक राष्ट्रवाद के सहगामी के तौर पर या विदेशी व्यापार और द्रव्य संबंधी विनिमयों के नियंत्रण के लिए की जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं के विगड़वाने के फलस्वरूप ऐसा हो सकता है। इन अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्याओं पर मैं बाद के परिच्छेद में विचार करूँगा : इस समय तो मैं केवल इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि जब तक हम इस बारे में कोई ठीक ठीक स्पष्ट विचार न बना सकें कि—दीर्घकाल और अल्पकाल दोनों में—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक और द्रव्य सम्बंधी नीतियों के किस मार्ग के अपनाये जाने की संभावना है तब तक ग्रेट-ब्रिटेन में चालू उपभोग की तुलना में विनियोग का भावी स्तर क्या रहने वाला है, इस बारे में हम अत्यन्त अनिश्चितता में रहेंगे।

इस परिच्छेद में जो कुछ लिखा जा चुका है उससे यह सामान्य निष्कर्ष हम निकाल सकते हैं कि उपभोग और विनियोग में सही संतुलन परिस्थितियों पर निर्भर

करता है और समय समय पर बदलता रहता है। चूंकि तमाम पूंजी संचय का प्रयोजन, या ऐसे पूंजी संचय का न्यायोचित प्रयोजन, उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह में वृद्धि करना है, इससे यह नतीजा निकलता है कि वर्तमान में किये गये पूंजी संचय का अर्थ ही यह है कि बाद में, जब विनियोग की नयी पूंजी की सहायता से उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति बढ़ेगी, उपभोग के विस्तार करने का निर्णय है। किसी एक देश में यह हो सकता है कि अगर विकास के लिये दूसरे देशों को पूंजी उधार दी जा रही है तो उपभोग में वृद्धि टाली जा सकती है; पर सारे संसार की दृष्टि से यही बात सही रहती है कि अगर विनियोग को निष्प्रभाव नहीं करना है तो कहीं न कहीं उपभोग में वृद्धि होनी ही चाहिये।

यह भी स्पष्ट ही है कि भूतकाल में निजी तौर पर व्यक्ति अपनी ग्राम-दनियों में से जिस हिसाब से वचाते हैं उसका नये पूंजी वस्तुओं में जिस हिसाब से विनियोग किया जाता रहा है उसके साथ किसी प्रकार का समन्वय नहीं रहा है। पुराने ग्रंथशास्त्रियों का मानना था कि सूद की दरों में परिवर्तन के द्वारा इन दोनों बातों में संतुलन स्थापित हो जाता है। लेकिन, जैसा कि केन्स ने बताया, ऐसा होता नहीं है। अधिकांश क्षेत्रों में औद्योगिक विकास के लिए जो वित्तीय व्यवस्था करने वाले हैं, वे वास्तव में कितना विनियोग उन्हें करना है, इसका निर्णय करने में सूद की दरों से प्रायः प्रभावित नहीं होते, वे मुख्यतया प्रभावित होते हैं इससे कि उनको लाभ की अपेक्षाएं क्या हैं, वे अपेक्षाएं जिन्हें केन्स ने किसी कदर भ्रम उत्पन्न करने वाला पूंजी की सीमान्त क्षमता का नाम दिया है—पूंजी की सीमान्त क्षमता एक ऐसा वाक्यांश है जो इस बात को छिपाता है कि निर्णायक जो कुछ होता है वह नहीं है पर जिसके होने की व्यवसायी वर्ग अपेक्षा करता है, वह है। इसके अलावा, पूंजी बाजार में भाव ताव करने के दौरान में उत्पन्न होने वाले प्रभावों के अलावा दूसरे अनेक प्रभावों का सूद की दरों पर असर पड़ता है। वास्तव में, किस हिसाब से वचत की जाती है इसका कोई लिहाज किये बिना, विनियोग की दर का निश्चय व्यापारी वर्ग और सरकारों के द्वारा किया जाता है—सरकारें उस हद तक इस निश्चय को प्रभावित करती हैं जिस हद तक वे पूंजी की मांग के विषय में हस्तक्षेप करती हैं। और इस बात का भी कोई वाजिव कारण नहीं है कि किस हिसाब से विनियोग किया जाय, भविष्य में इसका निर्णय किस हिसाब से वचाने का प्रयत्न किया जाता है, उसके आचार पर किया जाय वजाय इसके कि निर्णय का क्रम इससे ठीक उलटा हो। वास्तव में समझदारी की बात यही है कि पूंजी विस्तार की सार्वजनिक आवश्यकता के अनुसार विनियोग के कार्य-क्रम का प्रारंभ में निश्चय कर लिया जाये, और तब, अब तक जो व्यवहार में लिये गए हैं उनसे कम कष्टदायक तरीकों से, इस कार्य-क्रम के साथ वचत की दर का मेन बैठाया जाये जिसे केन्स ने वचत और विनियोग की अनिवार्य समानता कहा है। उसे

लाने का यह बड़ा विचित्र तरीका होगा कि जब कभी जो वचत करने का प्रयत्न किया गया है उससे विनियोग कम हो तो इस जोखिम पर कि आर्थिक क्रिया में और अधिक खतरनाक मन्दी आ सकती है संपूर्ण समाज को नुकसान दे कर, उस संतुलन को ठीक होने दिया जाये। और यह कोई कम विचित्र बात नहीं है कि इस बात पर आग्रह किया जाये कि सही उपाय यही है कि जिस स्तर तक वचत करने का प्रयत्न किया गया है उसी स्तर तक विनियोग को बढ़ाया जाये, और इस बात का कोई ध्यान न किया जाये कि समाज का हित कम बचाने और अधिक उपभोग में तो नहीं है। निकट भविष्य में, व्यवहारिक दृष्टि से इस बात का कोई महत्व नहीं होगा क्योंकि संसार भर में रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये देश के अन्दर पुनः निर्माण करने के वास्ते और अधिक पिछड़े हुए देशों के विकास के वास्ते कुछ समय तक बड़ी मात्रा में नये पूँजी व्यय की आवश्यकता होती रहेगी। वाद में, जनता के हित की दृष्टि से यह बात बहुत महत्व की हो सकती है।

वेशक, सोवियत संघ में आज भी सिद्धान्तः किस दर से वचत करने का प्रयत्न किया जाये इसको विनियोग नीति निर्धारित करती है। हालांकि आय में से निजी तौर पर वचत की जाती है पर उस वचत का कुल पूँजी संचय में बहुत थोड़ा योग है और पूँजी संचय की मात्रा का निर्णय करने में उस वचत का कोई प्रभाव नहीं है। जिस समय जो पंच वर्षीय योजना चालू होती है वही यह निश्चय करती है कि राष्ट्रीय उत्पादक शक्ति का कितना अंश पूँजी वस्तुओं के उत्पादक में और कितना उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में लगने वाला है, कि कितने निर्यात की वस्तुओं के उत्पादन में लगने वाला है और किस प्रकार आयातों का पूँजी वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं में वटवारा होने वाला है। ये ही वे कार्य शील निर्णय हैं जो विनियोग की मात्रा को निर्धारित करते हैं; और तब इसी आधार पर राष्ट्रीय वजट और बैंकिंग व्यवस्था के द्वारा आवश्यक वित्त की व्यवस्था की जाती है। जहाँ उत्पादन क्षेत्र का अधिकांश भाग निजी व्यवसाय के हाथ में हो, वहाँ यह व्यवस्था पूरी तौर पर नहीं चल सकती, और न ही सोवियत संघ में वास्तव में हर चीज योजना के अनुसार ही होती है; पर राष्ट्रीय विनियोग मंडल जैसी संस्था के द्वारा, जिसके पास पर्याप्त रचनात्मक शक्ति हो, और उस साख-पूर्ति की व्यवस्था के द्वारा जो राज्य द्वारा निर्धारित सामान्य आर्थिक और वित्तीय नीतियों के अनुसार चलने वाला केन्द्रीय बैंक करता है, विनियोग का नियंत्रण करके इस व्यवस्था की ओर कदम उठाया जा सकता है।* इस तरह की व्यवस्था में भी प्रयत्न की जाने

*स्पष्ट है कि 1946 में कुछ प्रकार के विनियोग का नियंत्रण करने के लिये जो तंत्र स्थापित किया गया था वह जो कुछ यहाँ मेरे दिमाग में है उससे बहुत कम था। मेरी कल्पना के राष्ट्रीय विनियोग मंडल का मुख्य काम बुरे विनियोग को रोकना नहीं होगा (यद्यपि उसके गौण कार्यों में एक कार्य यह भी होगा) बल्कि यह

वाली वचत की दर बिना नियंत्रण के रह जाती है; लेकिन हम देख चुके हैं कि राज्य के पास, आमदनीयों का पुनः वितरण कर न सकने के कारण, ऐसे उपाय हैं जो वचत की दर पर प्रत्यक्ष असर डालते हैं जिससे कि वह राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप लायी जा सकती है ।

इस परिच्छेद में जो कुछ लिखा गया है उसको देखते हुए यह स्पष्ट होना चाहिये कि, काफी समय तक, इस बात की कोई संभावना नहीं है कि विनियोग की वांछनीय दर से वचत आगे निकल जाये । किसी कदर भय यह है कि अमीरों और गरीबों के लिये समान रूप से अधिक ऊँचे रहन सहन के स्तर स्थापित करने के प्रयत्न के कारण और शस्त्र, सामाजिक सेवाओं और सरकार के समारक्षण (अपकीप) पर होने वाले चालू सार्वजनिक खर्च के लिये जो भारी कर लगाये जाते हैं उनके होते हुए, जो कम विकसित देश हैं उनकी आर्थिक विकास की मांगों की तो बात ही छोड़ दें, पर अपने आतिरिक्त आर्थिक विकास की मांगों को पूरी करने के वास्ते भी पर्याप्त वचत करने में कहीं असफल न रहें । इस प्रकार न्यून-विनियोग का बड़ा भारी खतरा है । यह खतरा इस बात से नहीं पैदा होता है कि व्यवसायी वर्ग उत्पादक क्षमता में वृद्धि करने की जोखिम उठाने के लिए इच्छुक नहीं है, बल्कि इस बात से पैदा होता है कि कहीं आमदनी प्राप्त करने वाले और व्यवसायिक संगठन अपनी प्राप्तियों का पर्याप्त अंश वांछनीय पूँजी खर्चों के लिये सुरक्षित रखने में या सरकार सार्वजनिक तत्वावधान में वांछनीय पूँजी विनियोग के लिये जो आवश्यक रकम चाहिये उनकी व्यवस्था करने में असफल न रहे । भारी मंदी आज भी विनियोग को चालू वचत से कम कर सकती है; लेकिन वर्तमान में बड़ा प्रश्न है कि सार्वजनिक और व्यक्तिगत वास्तविक वचत को उस स्तर तक लाया जाये जिसकी ब्रिटिश अर्थ व्यवस्था की बदली हुई स्थिति और कम विकसित देशों की बढ़ती हुई मांगों की दृष्टि से अनिवार्यतः जरूरत है ।

होगा कि उत्पादन की राष्ट्रीय योजना को संतुलित ढंग से कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक विनियोगों को स्वयं करे और उनको प्रोत्साहन दे । इस विषय के मेरे विवेचन के लिये सामाजवादी योजना के लिये तंत्र (दी मशीनरी आफ सोशियलिस्ट प्लानिंग) (1938) और, अधिक संक्षेप में, पूर्ण रोजगार के साधन (मीन्स टू फुल एम्प्लॉयमेंट) (1943) और जनतंत्रीय ब्रिटेन के लिये एक योजना (ए प्लान फार डेमोक्रेटिक ब्रिटेन) (1939) देखें ।

अध्याय ६

वित्तीय पद्धति और उसका प्रबंधन

आज जो ब्रिटिश बैंकिंग प्रणाली प्रचलित है वह मुख्यतः दो प्रकार की संस्थाओं पर आधारित है। एक केन्द्रीय प्रणाली जिसके अन्तर्गत बैंक आफ इंग्लैंड और राजकीय विनिमय समीकरण कोष हैं और दूसरी व्यापारिक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत मिश्रित पूंजी वाले बैंक हैं जो कि मुख्यतः निजी जमा (निक्षेप) को प्राप्त करने वाले और व्यापारिक ऋण देने वाले हैं। इन दो प्रकार की संस्थाओं के सहायक के रूप में व्यापारिक केन्द्रों के विशेष गृह—व्यापारिक बैंकर या साहूकार जो कभी कभी बड़ा गृह और विल ब्रोकर या हुंडी सकारने वाले दलाल कहलाते हैं—होते हैं। निर्गमन-गृह जो दीर्घ कालीन पूंजी निर्गमन का कारवार करते हैं, वे बहुत कुछ व्यापारिक बैंकर या साहूकार के कार्य को भी करते हैं, परन्तु उनके अन्तर्गत और अनेक व्यापारिक संस्थान भी होते हैं। उनके अतिरिक्त बहुत से विदेशी और साम्राजिक बैंक हैं जिनकी शाखाएं लंदन में हैं और ब्रिटिश बैंक तथा बैंकों के सहायक हैं जो विदेशों में कारवार करते हैं। कतिपय प्रयोजनों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बड़ी बीमा कम्पनियों, विभिन्न प्रकार के विनियोजन-न्यासों, तथा वित्त-कम्पनियों, को भी हम उसमें शामिल करें। और वर्तमान शताब्दी में भवन निर्माण समितियां भी बड़ी राशि में पूंजी कोष आकर्षित करने वाली महत्वपूर्ण संस्थाओं के रूप में प्रगट हुई हैं। हम स्कंध विपणि (स्टॉक एक्सचेंज) की भी उपेक्षा नहीं कर सकते जिसमें व्यवहार में नये और पुराने कम्पनियों के हिस्सों का कारवार होता है। अन्ततः हमें इस सूची में ट्रस्टी सेविंग्स बैंकों और पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंकों—और अभी हाल में महत्वपूर्ण नई प्रवेश करने वाली संस्था राष्ट्रीय वचत कमेटी को और जोड़ना चाहिये।

यह संस्थाएं मिल कर एक अत्यन्त पेचीदा वित्तीय प्रणाली को जन्म देती हैं। बैंक आफ इंग्लैंड तथा रोजकोष (ट्रेजरी) मिल कर चलार्थ का तथा उपलब्ध अल्पकालीन साख की मात्रा का नियंत्रण करते हैं। राजकोष (ट्रेजरी) विनिमय समीकरण कोष का सीधा नियंत्रण करता है। देश के उद्योगों के लिए अल्पकालीन वित्तीय व्यवस्था और फर्मों तथा उच्च और मध्य वर्गीय निजी व्यक्तियों का बैंकिंग कारवार मुख्यतः मिश्रित पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों के हाथ में है यद्यपि व्यापारी

साहूकार भी एक सीमित मात्रा में इस कार्य को करते हैं। जहाँ तक विदेशी व्यापार का प्रश्न है उसको व्यापारिक बैंक, बट्टा तथा स्वीकृति-गृह और बिलों के दलाल मिल कर करते हैं और बैंक आफ इंग्लैंड जो अन्तिम ऋण दाता है, तथा निर्यात साख गारंटी विभाग जो कि वास्तव में एक विशेष सरकारी बैंक है, उसमें सम्मिलित होते हैं। सरकार को अल्पकालीन ऋण देने में बहुत प्रकार की संस्थाएं सम्मिलित होती हैं—बैंक आफ इंग्लैंड, व्यापारिक बैंक, बट्टा गृह, तथा बिलों के दलाल बिल-ब्रोकर, और विदेशी और साम्राजिक बैंकों की लंदन शाखाएं। उद्योग घंघों के लिए दीर्घकालीन वित्तीय-व्यवस्था करना, निर्गमन-गृहों, विनियोजन न्यासों, तथा वित्तनिगमों, स्कंध विपणि (स्टॉक एक्सचेंज) (नए हिस्सों का बाजार में परिचय कराने के लिए विशेष प्रबंध करने की दशा में)। बीमा-कम्पनियों और इस कार्य के लिए बैंक आफ इंग्लैंड तथा व्यापारिक बैंकों द्वारा निमित्त विशेष सहायक संस्थाओं का काम है। उनके अतिरिक्त मध्यकालीन वित्त के लिए विशेष संस्थाएं हैं—उदाहरण के लिए विदेशी व्यापार के क्षेत्र में यूनाइटेड किंगडम निगम व्यापार और कृषि बंधक निगम। अल्प वचतों को जमा करने का काम ट्रस्टी सेविंग्स आफिस सेविंग्स बैंक तथा राष्ट्रीय-वचत समिति और भवन समितियां, सहकारी समितियां तथा निश्चय ही बीमा कम्पनियां भी करती हैं। विनियोजन न्यास, जिनमें स्थिर-न्यास भी सम्मिलित हैं—के माध्यम से छोटा विनियोजक अपनी जोखिमों को विभिन्न प्रकार की जोखिमों में बांट देता है और नगरपालिकाएं भी मकानों और अन्य प्रकार के वन्वपत्रों (बॉण्डों) में अपनी वचत का विनियोजन करने की सुविधा देती हैं। मित्र तथा जमा करने वाली समितियां साथ ही बीमा कम्पनियां भी बीमा के रूप में अल्प वचतों को जमा करने की सुविधाएं प्रदान करती हैं। और व्यापारिक फर्मों द्वारा चलाए हुए अपने कर्मचारियों के लिए अनेक पेंशन कोष हैं जब कि कुछ व्यापारिक संस्थान अब भी अपने कर्मचारियों से ऋण पूंजी स्वीकार करते हैं।

बहुत प्रकार के विभिन्न उद्योगों के लिए स्थापित इन वित्तीय संस्थाओं के अन्तर्गत बैंक आफ इंग्लैंड, विनियम-समीकरण-कोष तथा व्यापारिक बैंकों की आधारभूत स्थिति है। बैंक आफ इंग्लैंड की जिसका स्वामित्व अब राष्ट्र के पास है केन्द्रीय बैंक की हैसियत से आधारभूत स्थिति है। वह एक साथ राज्य का बैंक है, व्यापारिक बैंकों का बैंक है, और उन सभी संस्थाओं के लिए जो अल्पकालीन मुद्रा बाजार का निर्माण करती हैं—अन्तिम ऋणदाता है। सरकार का बैंक होने के नाते वह सरकारी कोषों को जमा रखता है और जब सरकार को आवश्यकता पड़े तो उसे अल्पकालीन ऋण देने के लिए तैयार रहता है। साधारण, परिस्थितियों में सरकार वास्तव में सीधे बैंक से ऋण नहीं लेती। वह अपनी अल्पकालीन कोष की

आवश्यकता को मुख्यतः ट्रेजरी बिल निकाल कर पूरा करती है ।* वह या तो जनता को—जिसका अर्थ है कि वास्तव में मुख्यतः बैंकों तथा अन्य वित्त गृहों को बेच कर अथवा राज्य के विशेष विभागों या संस्थाओं से उनके वेकार कापों को उधार ले कर ट्रेजरी बिल निकालती है । जब सरकार को रोजमर्रा के लिए कोष की आवश्यकता पड़ती है उसके लिए बैंक आफ इंग्लैंड ऋण देने को मौजूद ही है । पहले रुढ़िगण्ड अर्थ-शास्त्री बैंक आफ इंग्लैंड द्वारा दिए हुए इन ऋणों के विरुद्ध नाक-भौं सिकोड़ते थे क्योंकि उनका मानना था कि उनका प्रभाव स्फीतिकारी होता है । इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार द्वारा सीधे बैंक आफ इंग्लैंड पर चेक काटने से बैंक आफ इंग्लैंड के पास व्यापारिक बैंकों की जमा बढ़ जावेगी और इस प्रकार उस आधार का विस्तार होगा जिस पर वे परम्परा के द्वारा साख का विशाल भवन खड़ा करने के अधिकारी हैं । इसके विरुद्ध जनता को ट्रेजरी बिल बेचने से उतनी रकम मुद्रा बाजार से खिंच जाती है । फिर भी आधुनिक विचारधारा बिना यह जांच किए कि साख के आधार का विस्तार वांछनीय है अथवा नहीं शायद ही इस प्रथा की केवल इसलिए निन्दा करे क्योंकि उससे साख के आधार का विस्तार होता है । सरकार द्वारा बैंक आफ इंग्लैंड से सीधे ऋण लेने का साख पर स्वयं बैंक आफ इंग्लैंड द्वारा बाजार से सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदने से भिन्न प्रभाव नहीं पड़ता । स्पष्ट है कि जब सरकार सीधे बैंक से ऋण लेती है तो उसको अपने लिए हुए ऋण का बैंक साख की मात्रा पर क्या असर पड़ेगा, यह देखना होता है और यदि इस प्रकार का ऋण लिया गया है तो बैंक को अपनी खुले बाजार की नीति को निर्धारित करने में उसका ध्यान रखना होगा । परन्तु सरकार द्वारा बैंक आफ इंग्लैंड से ऋण लेने में कोई अन्तर्निहित भूल नहीं है जब तक कि ऐसे सभी सरकार अथवा बैंक आफ इंग्लैंड द्वारा अपनाए गए उपायों की जो कि साख के आधार का विस्तार करते हैं, हम बिना सोचे समझे निन्दा न करें ।

बैंकों के बैंकर की हैसियत से बैंक आफ इंग्लैंड व्यापारिक बैंकों की सुरक्षित निक्षेप रखता है और बैंकों में परस्पर बैंकों के समाशोधन के परिणाम के अनुसार एक बैंक से दूसरे बैंक के जमा हस्तान्तर करता रहता है । बैंक आफ इंग्लैंड संयुक्त राज्य अमेरिका के फेडरल रिजर्व बैंक की तरह व्यापारिक बैंकों को उधार नहीं देता, वे सदैव उसके पास अपना आकलन शेष रखते हैं । जैसा कि हम देख चुके हैं बैंक आफ इंग्लैंड इन आकलन शेषों के आकार को खुले बाजार की क्रिया से प्रभावित कर सकता है और इस प्रकार उसे नक़द आधार के आकार को निर्धारित कर सकता है जिसपर व्यापारिक बैंक साख का एक विशाल भवन खड़ा करने के लिए अपने को स्वतन्त्र मानते हैं । परम्परा से मिश्रित स्कंध वाले व्यापारिक बैंकों का बैंक आफ इंग्लैंड के संचालन में कोई हाथ नहीं रहा और न लन्दन के व्यापारिक बैंकों की

*अथवा 1940 के बाद ट्रेजरी जमा की रसीदों को व्यापारिक बैंकों के ऋणों के विरुद्ध निकाल कर—मूल पुस्तक पृष्ठ 211 और 215 देखिए ।

तरह उनका बैंक के कोर्ट आफ डायरेक्टरों पर कोई प्रतिनिधित्व रहा। अवश्य ही राष्ट्रीयकरण के पूर्व और उसके बाद भी नीति के सम्बंध में बैंक आफ इंग्लैंड तथा व्यापारिक बैंकों में परस्पर चर्चा होती है। परन्तु उनमें कभी भी संचालकों (डायरेक्टरों) का अन्तःपाशन नहीं रहा। यह इंग्लैंडको बैंकिंग प्रणाली का एक परम्परागत सिद्धान्त रहा है कि बैंक आफ इंग्लैंड और व्यापारिक बैंक अलग रहें और केन्द्रीय बैंक की नीति किसी प्रकार भी औपचारिक रूप से व्यापारिक बैंकों द्वारा प्रभावित न हो। यह परम्परागत सिद्धान्त इस विचार से निकला कि केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीय मुद्रा की मुद्रा-स्फीति से रक्षा करने वाला है। कल्पना यह थी कि व्यापारिक बैंकों का मुद्रा स्फीति की और रुझान होता है क्योंकि उसके फलस्वरूप व्यापारिक बैंकों की लाभदायक परिसम्पत्त बढ़ती है। सम्भवतः उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में यह सत्य था; परन्तु पिछले दीर्घकाल से यह सत्य नहीं है। आज व्यापारिक बैंक सामान्यतः विना किसी कठिनाई के यथेष्ट लाभ कमा लेते हैं जिससे कि वे अपने हिस्सेदारों को विना साहसिक नीतियों को अपनाए स्थायी लाभ वांट सकें। आधुनिक काल में इससे अधिक लाभ वांटने की उनकी कोई इच्छा नहीं है। आजकल व्यापारिक बैंक वास्तव में अधिकतम सम्भव लाभ कमाने के लिए नहीं बरन जो उनका संचालन करते हैं उनके मतानुसार अच्छी और ठोस वित्तीय मान्यताओं के आधार पर चलाए जाते हैं। फिर भी उनमें और बैंक आफ इंग्लैंड में पार्थक्य बना रहा यद्यपि पार्थक्यता का मूल कारण बहुत करके समाप्त हो गया, परन्तु फिर भी कार्यों के प्रभेद पर आधारित इस पार्थक्यता के पक्ष में कुछ बातें कही जा सकती हैं।

जबसे बैंक आफ इंग्लैंड का राष्ट्रीयकरण हुआ है तब से उसके और व्यापारिक बैंकों के परस्पर सम्बंधों में एक महत्वपूर्ण दिशा में परिवर्तन हुआ है। राष्ट्रीयकरण के अधिनियम में बैंक आफ इंग्लैंड को व्यापारिक बैंकों को आदेश देने का अधिकार दे दिया गया है और इस प्रकार उसका उनके कार्य संचालन पर एक प्रकार का नियंत्रण स्थापित हो गया है। व्यवहार में इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि बैंक ने इन अधिकारों का सीधा उपयोग किया हो परन्तु राजकोष और केन्द्रीय बैंक की मुद्रा सम्बंधी नीतियों के संबंध में व्यापारिक बैंकों को अनौपचारिक रूप से वह पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सलाह देता है। और वे उस सलाह के अनुसार काम करते हैं— औपचारिक रूप से निर्देश करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हम इस प्रश्न पर पुनः विचार करेंगे जब हम यह अध्ययन करेंगे कि नई परिस्थितियों में सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली किस प्रकार कार्य करती है।

जब कभी व्यापारिक बैंक यकायक बट्टा बाज़ार से निधि को वापस गींचते हैं और इस प्रकार उन संस्थाओं को जो कि सामान्यतः उधार-मुद्रा की सहायता से विनों

को अपने पास रखती हैं बैंकल्पिक साख देने वाले को ढूँढने के लिए छोड़ देते हैं तब स्वीकृत किस्म के विलों को भुनाने के लिए अन्तिम ऋणदाता के रूप में बैंक ऑफ इंग्लैंड मौजूद रहता है। क्योंकि बैंक की नीति अपने को अन्तिम ऋणदाता के रूप में आरक्षित रखने की है, वह सामान्यतः विलों को भुनाने या इसी प्रकार के दूसरे व्यापार को नहीं करता। और जिस दर पर वह विलों का पुनः भुनाने का काम करता है वह दर सामान्यतः बाजार दर से ऊँची होती है। अस्तु बैंक ऑफ इंग्लैंड के पास जब यथेष्ट मात्रा में विल जमा हो जाते हैं तो यह मुद्रा-बाजार में मुद्रा की तंगी का द्योतक होता है। और जबकि नियमित विल भुनाने वाले साख के लिए बैंक ऑफ इंग्लैंड के पास जाने के लिए विवश हो जाते हैं तो बहुधा उनको हानि होती है क्योंकि उनको उससे अधिक बढ़ा देना पड़ता है जितने पर उन्होंने उन विलों को खरीदा था। इस प्रकार की हानि उनके सामान्य जोखिम का एक अंग है और साधारणतया वे जो बढ़ा लेते हैं उसमें इसका ध्यान रख लिया जाता है। यह इस आश्वासन का मूल्य है कि जब व्यापारिक बैंक मुद्रा बाजार में अल्पकालीन साख को कम कर देते हैं तो अशोधन हो, यह आवश्यक नहीं है। अवश्य ही उसका असर यह होता है कि नए विलों पर बढ़े की दर तब तक ऊँची रहती है जब तक कि मुद्रा बाजार में तंगी रहती है।

इस प्रकार बैंक ऑफ इंग्लैंड वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण बैंक प्रणाली घूमती है। राज्य के बैंकर, ऋणदाता, बैंकों के बैंक, और मुद्रा बाजार के लिए अन्तिम ऋण-दाता की हैसियत से इन सामान्य और नियमित कार्यों को करने के अतिरिक्त पिछले वर्षों में उसने दीर्घकालीन पूँजी बाजार से सम्बन्धित कुछ अन्य कार्य और ले लिए हैं। युद्धों के मध्य बहुत बार जिन बड़े औद्योगिक संस्थानों अथवा सम्पूर्ण उद्योगों को संकट का सामना करना पड़ा था उनके वित्तीय पुनर्निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जो अल्पकाल के लिए व्यवसायिक धूम रही उसमें बड़ी संख्या में कम्पनियों ने ऊँचे सूद पर अबुद्धिमत्तापूर्ण ऋण पूँजी निकाली और अन्य बहुतों ने (अथवा सचमुच बहुधा उन्हीं कम्पनियों ने) कार्यशील पूँजी के स्थान पर अथवा उसकी वृद्धि करने के लिए व्यापारिक बैंकों से अल्पकालीन ऋण लिए। कारवार के परिकल्पी पुनः प्रारम्भण में बहुधा ऐसा हुआ कि नई कम्पनियों ने पुरानी व्यापारिक संस्था के केवल भौतिक संयन्त्र को ही लिया, माल को तैयार करने के लिए आवश्यक कार्य-शील पूँजी वेचने वालों ने ही अपने पास रख ली। अस्तु नई कम्पनियों ने संयन्त्र की अत्यधिक कीमत देने के पश्चात् यह अनुभव किया कि उनके पास व्यवसाय चलाने के लिए कार्य-शील पूँजी नहीं है और उन्हें बैंकों से बहुत ऋण अधिक लेना पड़ा। जब मन्दी आई तो वे इन ऋणों को नहीं चुका सके और बहुत सी कम्पनियों को कारवार चलाते रहने के लिए और अधिक ऋण लेने की आवश्यकता पड़ गई।

व्यापारिक बैंक इस भय से कि जो कुछ ऋण वे दे चुके हैं वह भी कहीं न डूब जाये और यदि ऋणी कम्पनियों कारवार बंद करने पर विवश हो गई तो वे बहुत बड़ी संख्या में दिवालिया न हो जावें बहुधा उन्हें ऋण देते रहे । परन्तु उन्होंने अपनी स्थिति की सुरक्षा करने के लिए उधार लेने वालों के विरुद्ध पुराने ऋणों की हानि रक्षा के लिए ऋण-पत्र (डिबेंचर) रजिस्टर करवाने का प्रयत्न किया । इसका अर्थ यह था कि अंशधन की स्थिति में वे प्रथम लेनदार होंगे और कर्जदार कम्पनी की समस्त सम्पत्ति पर उनका पहला दावा होगा और इस प्रकार के ऋण-पत्र (डिबेंचर) दावों के स्थापित हो जाने से उन व्यापारिक संस्थाओं के लिए पूंजी बाजार में नया ऋण प्राप्त करना असम्भव हो गया । जो भी कोई नई पूंजी उन कम्पनियों को देता जानता था कि उसका दावा ऋण-पत्र धारियों के बाद ठहरेगा और कोई भी उन प्रतिकूल शर्तों पर ऋण देने या उसकी हिस्सा पूंजी में विनियोजन करने के लिए तैयार नहीं था ।

इस विगड़ी हुई स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करने के लिए बैंक ऑफ इंग्लैंड को बहुधा सम्बन्धित बैंक के साथ मिलकर काम करना पड़ता था । ऐसा प्रबंध किया गया जिससे कि उन क्रमों की हिस्सा पूंजी जो कि इस कठिनाई में थीं बहुत कम कर दी गई । इस प्रकार अंशधारियों ने अपने दिए हुए द्रव्य के बड़े भाग को हानि रूप में स्वीकार कर लिया ।* साथ ही व्यापारिक बैंकों ने भी अपने ऋण के दावों को कम कर दिया जिससे कि उन क्रमों के वित्तीय पुनर्निर्माण में सुविधा हो । इसका परिणाम यह हुआ कि बैंक-बाँड तथा ऋण पत्रों के साथ यथेष्ट औद्योगिक हिस्सा पूंजी के स्वामी बन गए और उन बैंकों ने बैंकरों की औद्योगिक विकास कम्पनी नाम की एक विशेष संस्था उन पुनर्निमित्त उद्यमों को नई पूंजी देकर सहायता पहुंचाने के लिए स्थापित की । इसके साथ ही बैंक ऑफ इंग्लैंड ने भी स्वयं अपने प्रतिभूति प्रबंध न्यास की भी स्थापना की जो नई पूंजी का प्रबंध करने में एक समान रीति से सहयोग करे । इस संस्था के द्वारा तथा स्वयं प्रत्यक्ष रूप में बैंक ऑफ इंग्लैंड व्यापार और उद्योग के लिए दीर्घकालीन पूंजी देने में महत्वपूर्ण भाग लेने लगा । उन व्यापारिक संस्थाओं और उद्योगों को स्पष्ट ही पुनर्निर्माण की आवश्यकता थी फिर चाहे उन्हें अपनी वित्तीय स्थिति को समझालना था अथवा उनको विकास अथवा वैज्ञानिकता की योजना को कार्यान्वित करना था ।

*कभी कभी यह केवल कागजी हानि ही होती थी क्योंकि व्यवसायिक धूम के काल में बहुत से बोनस हिस्से अंशधारियों को दिए गए थे और कभी कभी पूंजी को घटाने का केवल यह अर्थ होता था कि बढ़ाई हुई पूंजी उस रकम तक घटा दी गई कि जो अंशधारी ने वास्तव में विनियोजित की थी । परन्तु जिस दशा में विनियोजकों ने हिस्से ऊँचे मूल्यों पर खरीदे थे अथवा ही उनकी हानि वास्तविक थी चाहे फिर उनके पास जो हिस्से थे वे कभी कभी पूंजी उत्पादक वस्तुओं में वास्तविक विनियोजन का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे ।

जिन संस्थाओं ने इस प्रकार सहायता पहुंचाई उनमें लंकाशायर कपास निगम भी थी जो सूत कातने वाले कारखानों को खरीदने और उन्हें समाप्त करने, अथवा उनका पुनर्निर्माण करने के उद्देश्य से स्थापित की गई थी। शिपविल्डर्स सिक्कुरिटी लिमिटेड (जहाज निर्माताओं की संस्था) यह एक जहाज निर्माताओं का सफल संयोग इस उद्देश्य से स्थापित किया गया था कि वह वेकार और निकम्मे नौकाश्रयों (शिपयार्ड) को खरीद ले और उन्हें नष्ट कर दे। इस्पात और टिनप्लेट की बड़ी फर्म 'रिचार्ड टामस एण्ड कम्पनी' ऐव-वेल के परित्यक्त इस्पात के कारखाने को खरीदने के लिए और वहां एक भीमकाय स्ट्रिप-मिल (कारखाना) टिन प्लेट उद्योग को इस्पात देने के लिए खड़ी करने के उद्देश्य से स्थापित की गई। लोहे और इस्पात संघ से सम्बन्धित और भी अनेक लोहे और इस्पात के तथा अन्य औद्योगिक संस्थान घातु और वस्त्र उद्योगों के पुनर्निर्माण के लिए स्थापित किए गए। इन तथा अन्य तरीकों से बैंक ऑफ इंग्लैंड जो अभी तक देश के भीतर विनियोजन के लिए दीर्घकालीन पूंजी बाजार से अलहदा था उसने उन बड़े कारवारों के बड़े भाग को जो कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संकट में फंस गए थे—के वित्तीय भ्रंशों को ठीक करने के लिए औद्योगिक प्रयोजनाओं का अथवा आंशिक वित्तीय उत्तरदायित्व लेने का अतिरिक्त कार्य अपने ऊपर और ले लिया।

दीर्घकालीन पूंजी बाजार से सम्बंध होना बैंक ऑफ इंग्लैंड के लिए कोई नई बात नहीं थी। विनिमय बाजारों का अभिभावक होने के नाते विदेशों में दीर्घकालीन विनियोजन में वह बहुत लम्बे समय से रुचि लेता था। भुगतान शेष के अन्तर की दृष्टि से वह कुछ ऋणों को प्रोत्साहन देता और दूसरे ऋणों पर एक प्रकार से वहिष्कार आरोपित करता। परन्तु कभी कभी वह ऐसा राजनीतिक और अर्थराजनीतिक आधारों पर भी करता था। (जैसा कि 1914 के पूर्व चीन के ऋणों के बारे में किया) 1914 तक जैसा कि हमने देखा लंदन के बड़े व्यापारी बैंकर दीर्घकालीन ऋणों के निर्गमन गृहों की हैसियत से केवल विदेशों में विनियोजन से सम्बंधित थे। और बैंक ऑफ इंग्लैंड तथा उन व्यापारिक बैंकरों के सम्बंध परम्परा से बहुत निकट के थे। प्रथम महायुद्ध के बाद तक बैंक ऑफ इंग्लैंड के संचालक (डायरेक्टर) करीब करीब केवल मात्र इन्हीं व्यापारी बैंकरों में से लिए जाते थे। 1918 के उपरान्त और 1931 की मन्दी के बाद और भी ज्यादा विदेशों से अभिरुचि हट कर देश के भीतर विनियोजन की ओर आई और व्यापारी बैंकर देश के अन्दर निर्गमों (इश्यू) के निकालने में अधिक भाग लेने लगे। बैंक ऑफ इंग्लैंड की अभिरुचि भी बदली और मुख्यतः भुगतान शेष पर सीधे प्रभाव डालने के दृष्टिकोण से दीर्घकालीन विदेशी पूंजी निर्गमों से सम्बंध रखने के साथ वह देश के निर्गमों (इश्यू) से भी विशेषकर निर्यात क्षमता का पुनः निर्माण करने के दृष्टिकोण से सम्बंध रखने लगा। अभिरुचि में इस परिवर्तन का एक परिणाम यह आया

कि बैंक आफ इंग्लैंड का व्यापारी बैंकरो से उतना अनन्य सम्बंध नहीं रहा और बैंक आफ इंग्लैंड के संचालक मंडल (कोर्ट आफ डायरेक्टर्स) में उन व्यक्तियों को लिया जाने लगा जिनका मुख्यतः देशी उद्योग और व्यापार से सम्बंध था। इसका प्रभाव यह हुआ कि चलार्थ का प्रबंध करने और अन्तिम ऋणदाता की हैसियत से द्रव्य या मुद्रा बाजार को निधि देने की अपनी पुरानी जिम्मेदारियों के अतिरिक्त बैंक साधारण व्यापारिक संस्थाओं को नहीं वरन विशेष व्यवसायिक संस्थाओं को जिनमें राष्ट्रीय हित स्पष्ट रूप से सन्निहित दिखलाई देते थे दीर्घकालीन पूंजी देने की एक हद तक अस्पष्ट जिम्मेदारी लेने लगा।

इस परिवर्तन के कारण बैंक आफ इंग्लैंड का आवश्यक रूप से तत्कालीन सरकार से एक नया सम्बंध स्थापित हो गया। सरकार फिर उसका राजनीतिक रंग जो कुछ भी क्यों न हो स्वभावतः निर्यातों को बढ़ावा देने और उन उद्योगों का जिनकी दशा विगड़ गई थी वित्तीय और तकनीकी पुनर्निर्माण करने के लिए आतुर थी। अतएव बहुधा सरकार के लिए यह एक चिन्ता का विषय होता था कि बैंक कारवार के पुनर्संगठन की योजनाओं के लिए पूंजी देने के लिए तैयार होगा या नहीं होगा। बैंक और राजकोष (ट्रेजरी) के सम्बंध न कि केवल चलार्थ को प्रभावित करने के मामले में वरन पूंजी बाजार में क्रिया करने के सम्बंध में भी—जिससे कि सरकार और निजी निर्गमकों (इश्यूअर्स) की परस्पर टकराने वाली मांगों को वचाया जा सके—सदैव निकट का रहा था।* परन्तु दोनों युद्धों के बीच में यह सम्बंध और भी अधिक निकट का हो गया क्योंकि बैंक देश के अन्दर नए पूंजी निर्गमनों में रुचि लेने लगा। सरकार बिना राष्ट्रीयकरण के दारे में शोर मचवाए स्वयं निजी स्वामित्व के उद्योगों के पुनर्संगठन के लिए उनकी पूंजी नहीं खरीद सकती थी। परन्तु जिन योजनाओं को वह (सरकार) स्वीकार करती और बढ़ावा देना चाहती थी उनकी पूंजी को लेने के लिए वह बैंक को प्रोत्साहित कर सकती थी। एक सीमा तक जिसका सम्भवतः निश्चय नहीं किया जा सकता लंका-शायर कपास निगम और ऐव-वेल की रिचार्ड थामस मिल जैसी परियोजनाओं के लिए निधि का प्रबंध करते समय बैंक आफ इंग्लैंड राजकोष (ट्रेजरी) और सम्पूर्ण सरकार के स्वतंत्र एजेंट के रूप में काम कर रहा था। इन योजनाओं के लिए सरकार ने नहीं, बैंक ने निधि की व्यवस्था की थी परन्तु वास्तव में बैंक और सरकार परस्पर सम्मत नीति के अनुसार एक साथ काम कर रहे थे। सरकार बैंक को दवा

*यहां निजी निर्गमकों में स्थानीय प्राधिकारियों को भी सम्मिलित करना चाहिए जिनके पूंजी बाजार में ऋण लेने के विवेक पर अधिकाधिक नियंत्रण लगाया गया। सरकारी ऋणों के अन्तर्गत 'परिवर्तन ऋणों' को भी सम्मिलित मानना चाहिए जो पकने वाले ऋणों को नीचे से नीचे दर पर चुकाने के लिए निकाले जाते थे।

कर जहां वह नहीं चाहता था विनियोजन करने पर मजबूर नहीं कर सकती थी परन्तु सरकार बैंक को और बैंक सरकार को उन परियोजनाओं को चुनने में जिन्हें सहायता के योग्य माना जाय, प्रभावित कर सकते थे।

तत्कालीन सरकार से निकट परामर्श के साथ केन्द्रीय बैंक की इस रूप में कार्यवाही अधिकतर इस इच्छा से प्रभावित थी कि सरकार को व्यापार से बाहर रखा जावे और इस बात का निश्चय कर लिया जाय कि जो उद्यम और उद्योग कठिनाई में थे उनका पुनर्निर्माण-व्यापार के आधीन किया जाय और सरकारी संरक्षण में न किया जाय। यह बिना सार्वजनिक नियंत्रण के परिणामों को स्वीकार किए सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का वास्तव में एक तरीका था। यह सच है कि कुछ मामलों में उदाहरण के लिए ऐव-वेल के बारे में सहायता प्राप्त करने वालों को बैंक को दिया गया नियंत्रण अधिकार उतना ही थका देने वाला प्रतीत हुआ जैसा कि सरकार का नियंत्रण हो सकता था, परन्तु ऐसे उदाहरण विरले ही थे। साधारण तौर पर बैंक आफ इंग्लैंड ने अपने नियंत्रण का प्रबंध इस प्रकार किया कि सहायता पाने वाले संतुष्ट रहे—वे इस कारण और भी संतुष्ट थे कि वे जब अपने को बैंक का ऋण चुका सकने की स्थिति में पाते तो अपनी स्वतंत्रता पुनर्ग्रहण कर सकते थे। और इस प्रकार निजी उद्यमों की स्थिति राज्य नियंत्रण के उन प्रकारों से सुरक्षित हो गई कि जो शायद इतनी आसानी से हटाए नहीं जा सकते थे।

अभी तक मैंने बैंक—वह जैसा कि एक निजी निगम था और जो केवल अपने राजलेख (चार्टर) के अनुसार राज्य के प्रति चलार्थ के प्रबंध के लिए उत्तरदायी था और अन्य बातों में वह जो तय करे उस नीति का अनुसरण करने में स्वतंत्र था—के बारे में कहा है। व्यवहार में बैंक तथा राजकोष (ट्रेजरी) के परस्पर सम्बन्ध राजलेख (चार्टर) द्वारा औपचारिक रूप से निर्धारित सम्बन्धों से सदैव बहुत अधिक निकट के रहे हैं। परन्तु 1946 तक इस बारे में सदैव आश्चर्य या कौतूहल रह सकता था कि अन्तिम रूप में बैंक राजकोष (ट्रेजरी) का नियंत्रण करता था अथवा राजकोष (ट्रेजरी) बैंक का नियंत्रण करती थी। बैंक की पूंजी का राज्य को हस्तान्तरण होना और नए प्रावधान-जिनसे राज्य बैंक के गवर्नर और कोर्ट का निर्माण करता है—से यह स्पष्ट हो गया कि भविष्य में बैंक सार्वजनिक नीति के एक औजार के रूप में कार्य करेगा और भविष्य में किसी भी संकट के समय अन्तिम शब्द मंत्रि-मंडल का होगा; बैंक का नहीं। इस महत्वपूर्ण अन्तर के अतिरिक्त बैंक आफ इंग्लैंड का सार्वजनिक स्वामित्व में जाने से उसके कार्यों अथवा दैनिक कार्य प्रबंधन पर कोई बड़ा अन्तर आया हो—ऐसा नहीं दिखलाई देता। गवर्नर और संचालक मंडल (कोर्ट आफ डायरेक्टर) यद्यपि सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं परन्तु उनको बहुत अधिक मात्रा में स्वायत्तता प्रदान की गई है। अस्तु बैंक आफ इंग्लैंड के

आपसी सम्बन्ध जैसे पहले थे उससे अधिक भिन्न नहीं हैं। यह वास्तव में एक नई बात है कि सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत बैंक आफ इंग्लैंड को व्यापारिक बैंकों से जानकारी प्राप्त करने और उनके कार्यों का नियंत्रण करने का औपचारिक रूप से अधिकार दिया गया है। परन्तु व्यवहार में यह अधिकार जो कुछ बैंक आफ इंग्लैंड औपचारिक रूप से 1946 के अधिनियम की कल्पना के पूर्व करता था उससे बहुत अधिक नहीं है। वास्तव में बैंक आफ इंग्लैंड का राष्ट्रीयकरण भविष्य में जब कि समाजवादी आधार पर राष्ट्रीय आर्थिक आयोजन और विकासके विस्तृत कदम उठाये जावेंगे तब महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है, परन्तु अभी तक दैनिक वित्तीय प्रणाली के कार्यकरण में उससे कोई परिवर्तन नहीं आया। बैंक की मुद्रा प्रणाली में जो स्थिति थी उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन उस समय नहीं हुआ जब कि उसका राष्ट्रीयकरण हुआ परन्तु उस समय हुआ जब कि विनिमय-समीकरण कोष (ऐक्सचेंज इक्विलाइजेशन फंड) की स्थापना के साथ उसके पास से विदेशी विनिमय का नियंत्रण ले लिया गया। यह परिवर्तन 1939 में पूरा हो गया जब कि 1939 में बैंक की स्वर्ण राशि की अवशेष भी कोष को हस्तांतरित कर दी गई।

अब हम बैंक आफ इंग्लैंड से हट कर विनिमय-समीकरण निधि (कोष) की ओर आते हैं जो जैसा हम जानते हैं राजकोष (ट्रेजरी) के आधीन है, परन्तु जो कि राजकोष (ट्रेजरी) की आज्ञा के अन्तर्गत बैंक आफ इंग्लैंड द्वारा चलाया जाता है। यह विनिमय समीकरण निधि या कोष 1932 में विदेशी विनिमय को—मुख्यतः परिकल्पी प्रभावों से जो स्टर्लिंग के बाह्य मूल्य में बहुत अधिक अस्थिरता उत्पन्न चढ़ाव उत्पन्न करते—क्योंकि अब वह स्वर्ण से बंधा हुआ नहीं था—रक्षा करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। विनिमय-समीकरण निधि की वित्त-व्यवस्था सरकार ने ट्रेजरी विलों के रूप में लंदन में ऋण ले कर की थी। इस प्रकार सरकार स्टर्लिंग राशि प्राप्त कर सकी जिसका उपयोग वह स्वर्ण अथवा विदेशी विनिमय के खरीदने में कर सकती थी। उस समय जब कि लंदन की ओर बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी निधि प्रवाहित होती थी जिसमें यथेष्ट मात्रा में स्वर्ण आयात भी सम्मिलित थे विनिमय समीकरण निधि या कोष इन विदेशी निधियों को खरीद सकता था, और इस प्रकार वह उन साधनों को प्राप्त कर सकता था जिनका उपयोग वह भविष्य में कर सकता था, यदि स्टर्लिंग को विदेशी मुद्रा में उस सीमा से अधिक बढनवाने की मांग उठ खड़ी हो जितनी विदेशी मुद्रा-राशि लंदन को प्रकट और अप्रकट निर्यातों के भुगतान के रूप में साधारण रूप से पहुंचती थी। व्यवहार में यद्यपि विनिमय समीकरण कोष या निधि ने जब अवसर मिला तो बहुत बड़ी राशि में विदेशी वस्तुओं को खरीदा परन्तु साथ ही उसके पास स्टर्लिंग में विदेशी निक्षेपों (टिपाजिटों) के रूप में बहुत

सा स्वर्ण इकट्ठा हो गया* यह सोना आवश्यकता पड़ने पर आसानी से डालरों में या अन्य किसी भी चलार्थ में बदला जा सकता था। उसका एक ही अलाभ था कि वह आय न देने वाली सम्पत्ति थी। दूसरे महायुद्ध की प्रारंभिक अवस्थाओं में उन अनिवार्य आयातों को खरीदने के लिए जिनका मूल्य नक़्द में चुकाना पड़ता था उसका बहुत अच्छा उपयोग हो सका।

इस प्रकार की निधि जिसके साधन सीमित हों केवल कुछ सीमाओं के अन्दर ही देशी और विदेशी मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्यों को प्रभावित कर सकती है। उदाहरण के लिए यदि विदेशी चलार्थों की—देश में आने वाली विदेशी चलार्थों की मात्रा से—लगातार अधिक मांग रहने की प्रवृत्ति बनी रहे तो विनिमय समीकरण निधि अनिश्चित काल तक इस प्रवृत्ति के विरुद्ध नहीं टिक सकती। क्योंकि दीर्घकाल में उसका सोना और विदेशी मुद्रा समाप्त हो जावेगी और उसके पास केवल स्टर्लिंग शेष रह जावेगा। इसके विरोधी प्रवाह के विरुद्ध उसके टिक सकने की क्षमता अधिक है क्योंकि वह देश के मुद्रा बाज़ार में यदि उसको आवश्यक अधिकार दे दिया जाय सदैव स्टर्लिंग उधार ले सकता है। तथापि इस प्रकार की निधियों का यह उद्देश्य नहीं होता कि वे विनिमय दर में परिवर्तन लाने वाले निरन्तर बलों को रोकें। उनका उद्देश्य केवल विनिमय के अल्पकालीन उतार चढ़ावों को जो कि दीर्घकालीन प्रवृत्ति के अनुरूप न हों निष्फल करना होता है। उदाहरण के लिए यदि विदेशी जन अपने देश में असुरक्षा के भय से अपनी तरल निधियों को ग्रेट-ब्रिटेन में लाने लगे तो विनिमय समीकरण निधि उन निधियों को ले सकती है और उनको स्वर्ण या डालरों में बदल सकती है। और उनको अपने पास इस तैयारी से रखे रह सकती है कि यदि उसके स्वामी पुनः अपनी मुद्रा को वापस ले जाने का निश्चय करें तो वह उसको चुका सके। इस बीच में इन वारणों (होल्डिंग्स) को वंच्यकृत (स्टेरिलाइज़्ड) करके निधि विदेशी मुद्रा के देश के अन्दर प्रवाह को नक़्द अथवा को फैलाने से रोकती है जिस पर ब्रिटिश साख़ का भवन खड़ा किया जाता है। अवश्य ही ऐसा करने में जो राशियाँ वंच्यकृत की जाती हैं उन पर आय को छोड़ देना पड़ता है परन्तु यह विदेशी निधियों के अन्दर प्रवाह और देश से बाहर प्रवाह से होने वाली मुद्रा संबंधी गड़बड़ियों को रोकने के लिए दी जाने वाली कम कीमत है।

इस स्थिति परिवर्तन के लिए बड़ी निधि अधिकार में होने के कारण जो उस निधि का प्रबंध करते हैं वे चलार्थों में सट्टा करने वालों के लिए परिस्थिति कठिन बना सकते हैं। निधि की अनुपस्थिति में सट्टा करने वाले किसी चलार्थ के अधि-

*स्वर्ण और विदेशी विनिमय की वास्तविक राशि को जानने के लिए तालिका चौथी देखिए।

मूल्यन और अवमूल्यन पर सट्टा करके अपनी भविष्यवाणी को बहुधा सच्चा बना देते हैं। क्योंकि यदि उन्होंने उस मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होने की प्रत्याशा ने उसे खरीदा है उनकी खरीद उसके मूल्य को ऊंचा कर देगी और यदि उन्होंने मूल्य में गिरावट की प्रत्याशा से बेचा है तो उनकी विक्री उसके मूल्य को गिरा देगी। तथापि यदि निधि किसी भी क्षण मुद्रा बाजार में खरीदने अवकाश देने के लिए प्रवेश कर सके तो वह उन सट्टा करने वालों की प्रत्याशा को सरलता से निष्फल कर दे सकती है और यदि वे सट्टा करने से बाज नहीं आते तो उनके व्यय पर लाभ कमा सकती है। अनावश्यक मुद्रा विस्तार के भय से बंध्याकृत निधि पर मुद्रा की हानि उठाने के बावजूद भी वास्तव में विनिमय समीकरण निधि (कोप) को लाभ के साथ चलाना सम्भव हुआ।

तीसरे—निधि अल्पकालीन उतार चढ़ाव को जो विशेष चलानों के मध्य और पूर्ति में मौसमी परिवर्तन होने से उत्पन्न होते हैं दूर कर सकती है। शरद ऋतु में सदैव एक ऐसा समय आता था कि जब लंदन में डालरों की मांग उसकी पूर्ति से अधिक होती थी क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन अथवा स्टर्लिंग समूह से निकट संबंधित देशों में अमेरिका की फसलों के आयात के लिए बड़ी मात्रा में भुगतान करना होता था। निधि की सहायता से इस प्रकार के मौसमी उतार चढ़ावों को उस समय डालरों की धारणों को कम होने दे कर और जबकि परिस्थितियाँ सम्भव बनाएं कमी को पूरा करके—हमवार किया जा सकता है।

इस क्षेत्र में ब्रिटिश विनिमय समीकरण निधि (कोप) सबसे प्रथम था। यद्यपि उसकी तकनीक (कार्यशैली) अन्य देशों के अनुभव पर आधारित थी जो कि अपनी संचित या सुरक्षित कोप (रिजर्व) के अधिक भाग को स्वर्ण में न रख कर विदेशी विनिमय में रखते थे (उदाहरण के लिए कामनवेल्थ देशों में स्टर्लिंग)। अन्य देशों में शीघ्र ही ब्रिटिश उदाहरण का अनुसरण किया गया और वहां भी इसी प्रकार की निधि या कोप स्थापित किए गए। उस दशा में जो इन निधियों या कोपों का संचालन करते थे उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि वे एक दूसरे से निकट परामर्श करें और एक साथ मिल कर कार्यवाही करें क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं उनकी कार्यवाही एक दूसरे के विरुद्ध न हो जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार की निधि को रखने वाले देशों के समूहों के मध्य और विशेष कर ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच उनके प्रबंध अधिकाधिक सम्मिलित अन्तर्राष्ट्रीय नीति के एक अंग बन गए। विभिन्न देशों के लिए मोटे तौर पर मूल्यांकन जिन चलानों को उन्हें सहारा देने का प्रयत्न करना था, उन विभिन्न चलानों के सापेक्षिक मूल्यांकन के सम्बंध में एकमत होना आवश्यक था और जिस हद तक उन्होंने एक साथ कार्यवाही की एक नया अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा मान जो स्वर्ण मान में कहीं अधिक लचीला था

स्थापित होने की प्रक्रिया की ओर बढ़ता गया । चलार्थों में कोई मूल्य साम्य निश्चित नहीं किए गए परन्तु उसके गर्भ में सापेक्षिक चलार्थों के मूल्यों की एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था प्रणाली थी जो उनको (चलार्थों के मूल्यों) शुद्ध घरेलू (देशी) क्षेत्र से हटा देते थे । उस समूह का कोई देश अपनी इच्छानुसार अपने चलार्थ का मूल्य नहीं बदल सकता था । उसको दूसरों से परामर्श करना पड़ता था और यद्यपि अन्तिम निर्णय उसके हाथ में ही रहता था वह यह जानते हुए ही कार्यवाही कर सकता था कि उसके कार्य को अन्य देश किस प्रकार लेंगे ।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व के वर्षों में यह अर्द्ध अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति धीरे धीरे स्थापित हो रहा था । तथापि एक अकेले देश की अपेक्षा एक समूह के लिए इस बात की सम्भावना और भी कम थी कि वह वर्तमान स्तर पर मांग और पूर्ति के वास्तविक संतुलन के अभाव में एक चलार्थ का दूसरे चलार्थ की तुलना में उसके सापेक्षिक मूल्य के चढ़ाव उतार की निरन्तर प्रवृत्ति के सामने टिक सके । विनिमय समीकरण निधि अस्थायी उतार चढ़ावों को कम करने, चलार्थों के सट्टे को रोकने, और यह भी जोड़ा जा सकता है कि देशों द्वारा जान बूझ कर अपने निर्यातों का विस्तार करने की आशा में अपने चलार्थों का अवमूल्यन करने का प्रतिरोध करने में वे बहुत शक्तिवान् दिखलाई पड़े । परन्तु यह नई युक्ति उन निरन्तर वास्तविक प्रभावों के विरुद्ध जो कि सापेक्षिक चलार्थों के मूल्यों में परिवर्तन की मांग करें, विनिमय स्थिरता उत्पन्न करने का तरीका नहीं थी ।*

हम अब मिश्रित पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों की ओर ध्यान दे सकते हैं । जैसा कि हमने देखा वे मुख्यतः व्यापारिक जगत के और धनी और मध्यम वर्ग के निक्षेप खातों के बैंकर होते हैं । ऋण देने वालों के रूप में उद्योग धन्वों तथा आंतरिक

*मैंने विनिमय समीकरण का यह विवरण मुख्यतः भूतकाल में लिखा है क्योंकि चलार्थों के सम्बन्धों को नियंत्रित करने का नया तरीका भविष्य में जो भी प्रगट हो भावी व्यवस्था स्पष्ट ही उससे बहुत भिन्न होगी जो कि दो महायुद्धों के मध्य विद्यमान थी । क्या दीर्घकाल में ब्रैटन-वुड्स में जो व्यवस्था निर्धारित की गई और उस पर आधारित जो अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय किये गए वे भविष्य में चलार्थ प्रवृत्ति का काम चलाउ आधार उपस्थित कर सकेंगे या टूट जावेंगे और उनको अन्य अधिक लचीले प्रावधानों से बदलना होगा कि जिनमें राष्ट्रीय भिन्नताओं का और देश विशेषों के बीच जो सामूहिक व्यवस्था है उसका पूरा ध्यान रखा जायेगा । जो भी हो—जो भी नई व्यवस्था प्रगट होगी वह उससे बहुत भिन्न होगी जो 1939 में थी । अस्तु यह अधिक सुविधाजनक है कि वर्तमान अन्तःकालीन परिस्थितियों की व्याख्या आगे के अध्याय के लिए छोड़ दी जावे जिसमें हम ब्रैटन-वुड्स के समझौते और अन्य युद्धोत्तर प्रवृत्तियों जैसे योरोपियन भुगतान संघ (योरोपियन पेमेंट यूनियन) के बारे में लिखेंगे ।

व्यापार को जो प्रत्यक्ष दीर्घकालीन व्यापारिक पूंजी मिलती है उससे अधिक जो अल्प-कालीन पूंजी की आवश्यकता होती है उसका अधिकांश भाग वे देते हैं। मुद्रा बाजार को विलों को बटाने, और एक हद तक स्कंध बाजार (स्टॉक एक्सचेंज) में सट्टा करने के लिए भी वे अल्पकालीन कोष देने वालों में मुख्य हैं। और वे स्वयं ट्रेजरी विलों, (साथ ही दीर्घकालीन सरकारी प्रतिभूतियों और विशेष कर उन व्यापारी विलों के जिनको पकने में थोड़ा ही समय शेष हो) के बड़े खरीदार होते हैं। वे अपने ग्राहकों के लिए और भी बहुत सी सेवाएं प्रदान करते हैं जिनमें न्यासी कारवार (ट्रस्टी विजनेस) तथा विनियोजनों की खरीद भी सम्मिलित है और अपने विशेष सहाय्यों (सबसिडीज) के द्वारा वे विदेशों में पर्याप्त बैंकिंग कारवार करते हैं।

हमने देखा कि जहां तक ऋणों और हवालगियों का सम्बन्ध है व्यापारिक बैंक साख के निर्माण कर्ता हैं परन्तु उनकी साख निर्माण करने की शक्ति परम्परा से जितनी साख का केन्द्रीय बैंक उन्हें निर्माण करने देता है उससे सीमित है। अस्तु वे मुख्यतः केन्द्रीय बैंक की नीति जितनी अधिकतम साख निश्चित कर देती है उसके वितरक हैं। स्पष्ट है कि वे आर्थिक मामलों की गतिविधि को केन्द्रीय बैंक द्वारा जितनी अधिकतम साख निर्माण करने की उन्हें इजाजत दी गई है उतने तक ऋण देने या न देने की क्रिया से—इस समस्या की व्याख्या पिछले अध्याय में की गई है—वे उन उद्योग विशेषों को चुन कर जिन्हें वे ऋण देने को तैयार हैं, और किसी प्रार्थी विशेष को जितनी साख देने को तैयार हैं, उसकी राशि को निश्चित करके आर्थिक मामलों की गतिविधि को बहुत कुछ प्रभावित करने की स्थिति में होते हैं।

साधारण तौर से ब्रिटिश व्यापारिक बैंकों का कहना है कि वे ऋण देने में प्रार्थियों के बीच उनकी साख योग्यता अर्थात् उनकी ऋण चुकाने की क्षमता के अतिरिक्त किसी भेदभाव की इच्छा से प्रेरित नहीं होते। वे आर्थिक नीति की गतिविधि को प्रभावित करने अथवा जिन उद्योगों और व्यापारों को वे साख देते हैं उनके कारवार को नियंत्रित करने में रुचि लेने की जिम्मेदारी को अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि अर्थ नीति से उनका कोई वास्ता नहीं है यद्यपि वे उनके बारे में रुचि लेने से तटस्थ नहीं रह सकते कि जिन्हें उन्होंने ऋण दिया है और जो कठिनाई में फंस गए हों। ऋण-पत्र (डिबेंचर) धारकों की हैमियत से उन्हें लेनदारों की ओर से कभी कभी फर्म विशेष का प्रबंध करने के लिए घादना (रिसीवर) नियुक्त करना पड़ सकता है। और जब वे फर्म जो पहले से ही गहरे कर्ज में फंसी हैं उनके पास ऋण का निधीयन करने का प्रस्ताव ले कर अथवा कारवार चलाने के लिए अधिक द्रव्य उधार लेने की प्रार्थना ले कर आती हैं तो उन्हें उन पर कुछ शर्तें लगानी पड़ सकती हैं। परन्तु इस प्रकार की घटनाएं यद्यपि नग्नता में अधिक हुई हैं फिर भी साधारण नहीं मानी जातीं और साधारणतया व्यापारिक

बैंकों का अपने कार्यों के बारे में यही दृष्टिकोण है कि जब सब ठीक चल रहा हो तो उनके कर्जदारों के कार्य में हस्तक्षेप करने से उनको कोई मतलब नहीं है।

बहुत से अन्य देशों में स्थिति इससे बहुत भिन्न है। या तो साधारण व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों के कारवार से साधारण तौर पर बहुत अधिक सम्बन्ध रखते हैं जिनके व्यापार में बहुधा वे हिस्से लेते हैं अथवा वहां अधिक संख्या में औद्योगिक बैंक होते हैं जो विभिन्न प्रकार की औद्योगिक वित्त देने में विशेषीकरण प्राप्त करते हैं। और वे पर्याप्त सीमा तक दीर्घ-कालीन और मध्यकालीन पूंजी तथा अल्पकालीन साख देते हैं। इस देश में जो संस्थाएं इस प्रकार का कार्य करती हैं वे अधिकतर साधारण व्यापारिक बैंक नहीं हैं वरन विशेष प्रकार की वित्तीय संस्थाएं हैं जो कि सामान्य प्रकार की निक्षेप (डिपोजिट) बैंकिंग का कार्य नहीं करती। हम उनके बारे में बाद में लिखेंगे। इस समय तो हमारा मतलब केवल मिश्रित पूंजी वाले बैंकों से है।

यह बैंक चाहे फिर उनके नियंत्रक आर्थिक-नीति को प्रभावित करने का प्रयत्न करने अथवा हस्तक्षेप करने की इच्छा को अस्वीकार करने में कितने ही सच्चे क्यों न हों वास्तव में यथेष्ट सीमा तक ऐसा करने से बच नहीं सकते। युद्धों के मध्य में यह अपरिहार्य था कि वे उन उद्योगों के भाग्यों को जो कि वित्तीय कठिनाइयों में फंस गए हों बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित करें क्योंकि उन्हें यह तय करना पड़ता था कि उन संघर्षरत फार्मों को कारवार चलाने में सहायता देने के लिए कब और अधिक साख दी जावे और कब और अधिक साख देना अस्वीकार किया जावे। और जो सहायता वे देने के लिए तैयार थे उसके साथ कौनसी शर्तें लगाई जावें। अक्सर कोई एक बैंक अथवा बैंक समूह यह तय करते थे कि क्या कतिपय फार्मों को अपना कारवार बंद कर देने अथवा उनको मिलने के लिए विवश किया जाना चाहिये अथवा क्या एक फर्म विशेष को एक व्यापार संघ अथवा गुट जो उस उत्पादन या व्यापार की शाखा में विद्यमान हो—में सम्मिलित होने और उसके अनुशासन को स्वीकार करने पर विवश किया जाना चाहिये। पुनः यह भी बहुधा बैंक ही तय करते थे कि क्या और कितनी मात्रा में इस अथवा उस उद्योग और व्यापार को अपना आधुनीकरण करने के लिए द्रव्य दिया जाना चाहिये और क्या एक फर्म अथवा समूह को एक नए कारवार को शुरू करने अथवा एक नया बाजार खोलने का प्रयोग करने देना चाहिए जिसमें साख की आवश्यकता होगी।

इस प्रकार के प्रभाव को काम में लाने में यह प्रवृत्ति अपरिहार्य थी कि बड़ी फर्म अथवा गुट को छोटे व्यापार की अपेक्षा अधिक सरलता से मदद दी जाती। क्योंकि पहले तो उनके पृष्ठपोषक प्रभावशाली थे जो यदि एक क्षेत्र में अप्रसन्न हो

जाते तो बैंक के हितों के विरुद्ध दूसरे क्षेत्र में प्रतिशोध लेते और दूसरे व्यापार जितना अधिक बढ़ा होता उतनी ही अधिक इस बात की सम्भावना थी कि या तो वह अच्छी जमानत देने योग्य होगा अथवा यदि वह नहीं दे सका तो वह जोखिम उपस्थित करेगा कि उसके पतन में दूसरे भी शामिल होंगे। जहाँ तक होती कारबारों की आवश्यकताओं की देखभाल के लिए विशेष संस्थाएं स्थापित की गईं उनको छोड़ कर साख प्राप्त करने में बड़े आदमी को निश्चित रूप से सुविधा होती थी। बहुधा छोटे आदमी की साख योग्यता मुख्यतः उसके उद्यम चलाने की व्यक्तिगत कला पर निर्भर रहती है और वह आनुपंगिक जमानत (क्लेटरल सिक्यूरिटी) नहीं दे सकता। और इसका तो प्रश्न ही नहीं उठता कि पुराने स्थानीय बैंकों के लुप्त हो जाने और उनके राष्ट्रीय स्तर पर नियंत्रित बैंकिंग प्रणाली में संविलीन हो जाने से यह तय करने में कि किसको ऋण देना चाहिए व्यक्तिगत गुणों की परख को आधार मानने की तैयारी में कोई कमी आ गई है। यह सच है कि बैंकर स्वभाववश यह कहते हैं कि उन्होंने अपने अधिक भरोसे के स्थानीय मैनेजरों को अपने विवेक से काम करने का यथेष्ट अधिकार दे कर इस प्रवृत्ति को रोकने का भरसक प्रयत्न किया है। परन्तु इस स्वविवेक की सीमा विभिन्न बैंकों के साथ बहुत अधिक भिन्न रही है। पांच बड़ों में केवल वारक्लेज (बैंक) में ही केवल नियमित प्रादेशिक अधिकार देने की पद्धति दिखलाई देती है।

इसके अतिरिक्त यह वास्तविक तथ्य है कि बैंक पर कार्य का जो भार पड़ता है उसकी दृष्टि से एक बड़े आदमी के खाते का प्रबंध करने की अपेक्षा एक छोटे आदमी के खाते का प्रबंध करने में अधिक परेशानी होती है, और कभी कभी छोटे ऋण लेने वाले से बड़े ऋण लेने वाले की तुलना में (बैंक का खर्चा और साथ ही मूद के रूप में) कुल अधिक लेने के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित रूप से बैंक की ऋण की मूद की दरें समान होती थीं परन्तु वास्तव में बड़े ऋणों के सम्बन्ध में इनमें हेरफेर कर दिया जाता था और युद्धों के बीच के काल में मूद की दरों की वह समानता जो पहले थी उसकी बढ़ती हुई दृष्टि की प्रवृत्ति दिखलाई देने लगी।

मेरा विचार है कि कोई भी इस बात को मानने से ईमानदारी से इनकार नहीं कर सकता कि बड़ी व्यापारिक संस्थाएं बैंकों से सामान्यतया अपने लिए सबसे अधिक सुविधापूर्ण शर्तें प्राप्त करने में सफल होती रही हैं अथवा छोटे आदमी को थोड़ी असुविधा या हानि उठानी पड़ती है। ऐसी आर्थिक प्रणाली में जिस पर बड़ी व्यापारिक संस्थाएं छाई हुई हों और जहाँ तक वित्तीय पक्ष का प्रश्न है ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित होती हों कि जिनके हित केवल एक कारबार अथवा उत्पादन की एक किस्म तक सीमित न हों, वरन बहुत से व्यापारों में फैले हों; जिन्हें बैंकर ऐसे दिन

प्रबंधक के रूप में जानता हो कि जिनसे प्रत्येक मोड़ पर उसे काम पड़ता है तो यदि ऐसा न होता तो यह बहुत अधिक आश्चर्य की बात होती। यह एक पुरानी कहावत है कि सौ पाँडों की अपेक्षा दस लाख पाँड का कर्ज प्राप्त करना बहुत आसान है और इस संदर्भ में यह सत्य बहुत स्पष्ट है।

अवश्य ही इस बात को भूल नहीं जाना चाहिये कि छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के व्यापारों की बैंकों से साख की मांग में बहुत भिन्नता होती है। कुछ व्यापारिक संस्थाओं के पास—अचल पूंजी जैसे इमारतों, संयंत्र, भूमि और अन्य स्थायी उपकरणों में अपनी परिसम्पत्ति लगा देने के अतिरिक्त भी बहुत बड़ी निधि कार्यशील पूंजी के रूप में उपलब्ध होती है—जिससे कि व्यापार के संचालन की वित्त-व्यवस्था की जाती है; जैसे मजदूरी चुकाना, कच्चे माल की कीमत देना, और व्यापारिक क्रय विक्रय के काल के लिए व्यापारिक साख देना। इस प्रकार की व्यापारिक संस्थाएं (फ़र्मों) इतनी पूंजी की स्वामिनी होते हुए भी बैंकों से बड़ी मात्रा में ऋण लेती हैं क्योंकि वे अपनी पूंजी का दीर्घकाल के लिए विनियोग करके उस पर सूद प्राप्त करना और अल्पकाल के लिए बैंकों से ऋण लेना पसंद करती हैं। यदि आवश्यक हो तो वे अपनी प्रतिभूतियों को बैंकों के जमानत के रूप में रख देती हैं। राष्ट्रीय ऋण का बड़ा भाग व्यापारिक संस्थाएं सामान्य रूप से इस प्रकार अपने पास रखती हैं। बहुधा वे अपने इस विनियोग पर बैंकों को अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) या ऋण पर जो सूद देना पड़ता है उससे अधिक प्राप्त कर सकती हैं—विशेषकर क्योंकि उनके विनियोग पर सब समय सूद मिलता है जबकि उन्हें बैंक को केवल उतने समय के लिए ही सूद देना पड़ता है जितने समय के लिए ऋण की आवश्यकता होती है। तथापि जब बैंक अधिक सूद लेने लगे तो व्यापारिक संस्थाओं के लिए यह लाभ-दायक हो सकता है कि वे अपनी प्रतिभूतियों को बेच दें और बैंकों से ऋण की प्रार्थना करने के बजाय स्वयं अपनी कार्यशील पूंजी की व्यवस्था करें। जब ऐसा होता है तो बैंकों से साख की मांग गिरने लगती है और वे उन प्रतिभूतियों में अपना द्रव्य विनियोग करने पर विवश हो जाते हैं जिन्हें व्यापारिक संस्थाएं बेचती हैं। बैंकों की प्रतिभूतियों की धारणें बढ़ती हैं, ऋण तथा अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) कम होते हैं, व्यापारिक संस्थाओं (फ़र्मों) की प्रतिभूतियों की धारणें कम होती हैं, और वे अपने क्रय विक्रय का अधिकाधिक वित्त प्रबंध अपनी कार्यशील पूंजी से करती हैं। इस प्रकार के परिवर्तन व्यापारिक क्रिया की मात्रा में बिना सहवर्ती परिवर्तन हुए भी हो सकते हैं।

दूसरी व्यापारिक संस्थाओं (फ़र्मों) के पास क्रियाशील पूंजी की इस प्रकार की कोई संचिति (रिज़र्व) नहीं होती जिससे कि वे जब चाहें तब अपने क्रय विक्रय काल का वित्तीय प्रबंध कर सकें। या तो उनकी सम्पूर्ण पूंजी स्वयं उनके निज के

संयत तथा उपकरणों में विनियोजित होती है अथवा यदि उनके पास बाहरी विनियोग होते हैं तो वे तरल नहीं होते । अतएव जब कि दीर्घकालीन सूद की दरें और बैंकों की ऋण देने की सूद की दरों के बदलते हुए सम्बन्ध इस प्रकार के सीदों को लाभदायक बना देते हैं तब वे बेचे और पुनः खरीदे नहीं जा सकते । उनकी धारणें अन्य व्यापारिक संस्थाओं में हो सकती हैं जिनसे कि वे सम्बन्ध बनाए रखना चाहती हैं अथवा वे ऐसी हो सकती हैं कि जो केवल हानि से ही बेची जा सकती हैं जो वे उठाने के लिए तैयार नहीं हैं । ऐसी परिस्थितियों में अथवा जिनकी बाहरी धारणें पर्याप्त नहीं हैं उन्हें कार्यशील पूंजी के लिए बैंकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है फिर चाहे बैंकों की ऋण पर प्रचलित सूद की दरें जो भी हों । अधिकांश छोटे व्यापारिक कारखार और विशेषकर उठते हुए व्यापारिक कारखार ऐसी स्थिति में होते हैं, वे बैंकों से प्राप्त होने वाले ऋणों पर सदा निर्भर रहते हैं ।

युद्धों के बीच में जो स्थिति विद्यमान थी 1945 के उपरान्त स्थिति उमने बहुत भिन्न हो गई है । सामान्य तौर पर स्थिति पूर्ण-रोज़गार की रही है और ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था भरसक यह प्रयत्न करती रही है कि बहुत अधिक बढ़ते हुए निर्यातों की आवश्यकता और साथ ही देश के बाज़ार की मांग को पूरा करे । उस समय बहुत सी चीज़ों की बहुत कमी थी क्योंकि आयातों पर प्रतिबंध लगा दिया गया था अथवा उत्पादन क्षमता कम थी (जैसे कोयला और इस्पात) उत्पादन को जितना सम्भव हो उतना अधिक बढ़ाया जाय यह सरकार की नीति का एक निश्चित अंग थी । इन परिस्थितियों में बैंक आफ इंग्लैंड के लिए यह अपरिहार्य माना गया कि वह उन औद्योगिक प्रतिष्ठानों जिनका उत्पादन निर्यात के लिए अथवा देश की अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए आवश्यक था—की सम्पूर्ण साख की मांग को पूरा करने के लिए व्यापारिक बैंकों को समुचित साख की सुविधाएं प्रदान करे । इसका यह अर्थ नहीं था कि जिस भी औद्योगिक प्रतिष्ठान ने साख मांगी उसे बिना किसी सीमा के बैंक-ऋण उपलब्ध कर दिए गए । उसका मोटे तौर पर अर्थ केवल यह था कि कोई भी संस्थान जिसका उत्पादन जन हित में वाञ्छनीय माना गया वह अपने उत्पादन की वित्त व्यवस्था के लिए साख से वंचित नहीं रहा । बहुत से औद्योगिक प्रतिष्ठानों को अपने उत्पादन का बहुत अधिक अनुपात निर्यात करना आवश्यक था और यदि उन्होंने उस मांग को पूरा कर दिया तो वे साख योग्य माने जाते थे, अन्यथा नहीं । तथापि उनकी जैसा कि वे चाहें वैसा कर सकने की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध का रूप बहुधा प्रत्यक्ष बैंक की साख का अनंगीकार न हो कर उनको कच्चे मान की पूर्ति, अथवा कारखानों का विस्तार करने के लिए अनुज्ञा, अथवा श्रमिकों की वृद्धि की आज्ञा का अनंगीकार होता था । कम से कम युद्ध के पश्चात् अधिकतर कुछ वर्षों तक स्थिति यही थी परन्तु उसके उपरान्त जब नियंत्रण या तो उठा दिए गए अथवा ढीले कर दिए गए और अधिकांश वस्तुएं कम दुर्लभ हो गईं तब साख की पूर्ति का

कारक विशेषकर 1951 के मूल्य-स्फीति के बाद होने वाले संकट के पश्चात अधिक प्रत्यक्ष महत्व का हो गया। तब एक सीमा तक स्फीति की प्रवृत्तियों को रोके रखने के लिए बैंक साख पर प्रतिबंध लगाया गया। परन्तु फिर भी यह सही था कि प्रतिष्ठानों को उत्पादन का वित्त प्रबंध करने के लिए जितने ऋण की आवश्यकता थी उसको प्राप्त करने में सामान्यतः कोई कठिनाई नहीं होती थी। विशेष कर निर्यात के लिए उत्पादन करने के लिए जिसे सरकार चाहती थी कि किया जाय—साख मिलने में कोई कठिनाई नहीं होती थी।

1939 के पश्चात व्यापारिक बैंकों की स्थिति में जहां तक उत्पादन का प्रश्न है बहुत अधिक परिवर्तन हो गया। जैसा कि हमने देखा 1939 तक सरकार की सीधे व्यापारिक बैंकों से साधारण उधार लेने की प्रथा नहीं थी और न यह बैंक साधारणतया नई सरकारी हुंडियों ही (ट्रेजरी बिल) खरीदते थे—यद्यपि वे इन हुंडियों (ट्रेजरी बिलों) को जब वे पकने के समीप होते तो बंटते थे और सरकारी बांडों को—विशेषकर उनको जो कि अपेक्षाकृत अल्पकालीन होते अपनी प्रतिभूतियों के अन्तर्गत रखने के लिए खरीदते थे। युद्ध काल में राजकोष (ट्रेजरी) ने सीधे व्यापारिक बैंकों से राजकोष निक्षेप रसीदों (ट्रेजरी डिपॉजिट रिसीट) के द्वारा ऋण लेने की प्रथा आरम्भ की। जिसका वास्तव में अर्थ यह था कि व्यापारिक बैंकों ने सरकार द्वारा व्यय करने के लिए मुद्रा का निर्माण किया और सरकार बहुत कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार राजकोषीय हुंडियों (ट्रेजरी बिल) का पुनः भुगतान और पुनः उधार ग्रहण किया जाता था उसी प्रकार राजकोषीय निक्षेप रसीदों (ट्रेजरी डिपॉजिट रिसीट) का करती थी। व्यापारिक बैंको द्वारा राजकीय निक्षेप रसीदों (ट्रेजरी डिपॉजिट रिसीट) के रूप में बहुत अधिक राशि रखने के कारण व्यापारिक बैंक राज्य के अल्पकालीन लेनदार बन गए। राज्य को ऋण दे सकने के लिए बैंक आफ इंग्लैंड द्वारा उन्हें सावधान उपलब्ध करने पड़ते थे। अतएव बैंक आफ इंग्लैंड को उनके नकद आधार को उन्हें अधिक निधि देकर कर बढ़ाना पड़ता था जो कि वह स्वयं अपनी प्रतिभूतियों की धारणों को बढ़ा कर ही कर सकता था।

युद्ध के पश्चात राजकोषीय निक्षेप रसीदों को (ट्रेजरी डिपॉजिट रिसीट) क्रमशः धीरे धीरे राजकोषीय हुंडियों (ट्रेजरी बिलों) से अथवा सार्वजनिक विभागों के पास जो निधियाँ थीं उनसे उधार के द्वारा बदला गया और आंशिक रूप में युद्ध पूर्व की स्थिति पुनः स्थापित कर दी गई। परन्तु ऐसा राजकोषीय हुंडियों (ट्रेजरी बिलों) के बहुत अधिक बढ़े हुए निर्गमन के आधार पर ही हो सका। नीचे के आंकड़े इस परिवर्तन को व्यक्त करते हैं।

ब्रिटिश सरकार का अल्पकालीन ऋण—1935—1953

सात पीढ़ों में वर्ष के अंत में	ट्रेजरी बिल-राज- कोपीय हुंडी	ट्रेजरी डिपॉजिट-राज- कोपीय निक्षेप	बैंक आफ इंगलैंड द्वारा दिए गए ऋण	सार्वजनिक ऋण	योग
1935	8660	—	370	330	9360
1936	7660	—	570	280	8510
1937	8900	—	560	390	9850
1938	9860	—	50	460	10370
1946 (1)	45870	17090	50	3970	66980
1947 (1)	48270	13800	20	3190	65280
1948	45790	15110	—	2650	63550
1949	49830	8720	—	2920	61470
1950	51680	5250	—	3840	60770
1951	47930	1190	70	2520	51700
1952	47150	—	70	2520	49740
1953	48530	—	—	2500	51030

(1) दिसम्बर के प्रोसत है।

व्यापारिक बैंकों ने सरकार को सीधे उधार देना बंद करके तत्सम्बन्धी युद्ध पूर्व की स्थिति को पुनः प्राप्त कर लिया परन्तु उनके लिए यह आवश्यक बना रहा कि वे सरकार को राजकोपीय हुंडियों (ट्रेजरी बिलों) और अल्पकालीन प्रतिभूतियों की धारणों के द्वारा वित्त दें। वे युद्ध-पूर्व की अपेक्षा राज्य के कार्यों के लिए वित्त-व्यवस्था से बहुत अधिक निकट सम्बन्धित थे और उनसे बहुत अधिक सीमा तक यह भी आशा की जाती थी कि वे सरकार द्वारा स्वीकृत नीतियों के अनुसार उद्योग तथा वाणिज्य को ऋण देने का व्यापार करेंगे। वास्तव में उन्होंने अपनी बहुत कुछ स्वतंत्रता खो दी थी परन्तु यह मुख्यतः उनकी कानूनी स्थिति में किसी परिवर्तन के कारण नहीं हुआ,* वरन् अस्थायी ऋण के आकार में और उससे भी अधिक सरकार द्वारा उत्पादन प्रणाली पर नियंत्रण की वृद्धि के परिणाम स्वरूप हुआ था। यह दूसरे प्रकार की वृद्धि इतनी उद्योग बंधों पर राज्य के स्वामित्व स्थापित हो जाने के कारण नहीं हुई वरन् वह केवल मात्र ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था की बदली हुई परिस्थितियों में जितना सम्भव हो सकता था व्यापार के अन्तर को अनुकूल बनाए रखने के लिए उत्पादन और व्यापार को नियंत्रित करने की आवश्यकता के कारण हुई।

अब तक जो कुछ लिखा गया है उसका सम्बंध मुख्यतया व्यापारिक बैंकों से है जो व्यापारिक फर्मों को ऋण और अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) के रूप में साख देते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं अत्यन्त अल्पकालिक बाज़ार में इन बैंकों से उन निधियों का एक बड़ा भाग प्राप्त होता है जिनसे कि पूर्व प्रापण-गृह (डिस्काउंट हाउसेज) और विपन्न-वणिक् (विल-ब्रोकर्स) अपना कारोबार चलाते हैं। लेकिन इस क्षेत्र में इंगलिश संयुक्त-स्कंध अधिकोप (ज्वाइंट स्टॉक बैंक) अकेले ही नहीं हैं। ऐसी निधियां उन अधिराजकीय (डोमिनियन), औपनिवेशिक और विदेशी बैंकों से भी प्राप्त होती हैं जिनके कार्यालय लंदन में हैं। इन बैंकों के पास प्रायः बड़ी मात्रा में निधियां होती हैं जिनके लिये वे ऐसा निष्क्रम (आउटलेट) चाहते हैं जो लम्बे समय के लिये उन निधियों को रोकने वाले न हों। जिन देशों में ये बैंक अपना मुख्य कारोबार चलाते हैं उनके व्यापार-आयात और निर्यात—तथा उनके पूंजी लेने देने के कारण ये निधियां उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिये, अगर आस्ट्रेलिया ब्रिटिश खरीददारों को उससे अधिक मूल्य का माल बेचता है जितने मूल्य का माल ग्रेट ब्रिटेन से खरीद कर आस्ट्रेलिया में आयात होने वाला है, तो

* जैसा कि हमने देखा 1946 के बैंक आफ इंगलैंड अधिनियम ने बैंक आफ इंगलैंड को व्यापारिक बैंकों को उनकी साख नीति के सम्बन्ध में आदेश देने का अधिकार दे दिया और इस प्रकार अन्तिम रूप से राज्य द्वारा उनके नियंत्रण का प्रावधान कर दिया, परन्तु यह अधिकार बैंक आफ इंगलैंड द्वारा परामर्श देने के रूप के सिवाय अन्य रूप में कभी काम में नहीं लाया गया।

आस्ट्रेलियन फर्मों या आस्ट्रेलियन सरकारों के खातों में लंदन में निधियां जमा होंगी। समय आने पर आस्ट्रेलियन हिस्सों और बन्ध पत्रों के ब्रिटिश स्वामियों को लाभांश और सूद चुकाने के लिए इन निधियों की आवश्यकता हो सकती है; लेकिन इस हालत में भी वर्ष में ऐसे समय आएंगे जब लाभांश के दिन के वास्ते तैयार रहने के लिये द्रव्य इकट्ठा किया जाएगा और इसी बीच से लंदन में स्थित आस्ट्रेलियन बैंक उस द्रव्य पर कुछ सूद कमा लेना चाहेंगे। इसलिये या तो वे स्वयं व्यापार विपत्र या सरकारी विपत्र (ट्रेजरी बिल्स) भुनाएंगे या फिर अल्प सूचना पर वापिस किया जाने वाला (एट कॉल ऑर शोर्ट नोटिस) द्रव्य उधार देने को तैयार हो जाएंगे। यदि जैसे जैसे उनका समय आये, वैसे वैसे आयात का चुकारा करने या लाभांश और सूद चुकाने के लिये जितनी निधि चाहिये उससे अधिक निधि उनके पास है, तो उसके सामने और भी अधिक विकल्प होंगे, प्रौर कुछ द्रव्य अधिक सूद वाली दीर्घकालिक प्रतिभूतियों में लगाया जायेगा। लेकिन लंदन स्थित तमाम अधिराज्यकीय, औपनिवेशिक और विदेशी (डोमिनियन, कोलोनियल एंड फोरिन) बैंकों में हर समय अल्पकालिक ऋण लेने के लिये पर्याप्त मात्रा में द्रव्य उपलब्ध रहेगा; और जैसे इंगलिश व्यापारिक बैंक इस प्रकार की निधियों को काम में लेते हैं लगभग उसी तरह से यह द्रव्य भी उधार दिया जाएगा।

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि इस प्रकार का अल्पकालिक द्रव्य एक अत्यन्त अस्थिर कारक है, क्योंकि साख की स्थितियों में आने वाली तंगी का मुकाबला करने के लिये व्यापारिक बैंक जो पहला कदम उठाते हैं वह इस प्रकार के ऋणों की मात्रा को कम करने का ही होता है। इसलिये तो, जैसा कि हम देन चुके हैं, अंतिम ऋणदाता के तौर पर बैंक आव इंगलैंड का महत्व है। यह बैंक व्यापारिक बैंक जिन निधियों को वापिस ले लेते हैं उनकी जगह ऊंची सूद की दर पर द्रव्य उधार देने के लिये तैयार रहता है। परन्तु बैंक आव इंगलैंड सब तरह के विपत्रों पर हवालियां नहीं देगा; और खास तौर से वह व्यापार विपत्रों को हाथ में तब तक नहीं लेगा जब तक कि उन पर दो माने हुए नाम न हों और वे किन्हीं मान्य शर्तों को पूरा न करते हों। इस समय ही एक बड़ी मात्रा में ऐंम विपत्र (बिल्ल) मौजूद होते हैं जो बैंक आव इंगलैंड में पुनः पूर्व-प्रापण (रिडिस्काउंट) के योग्य नहीं हैं; और पूर्व-प्रापण-गृह या विपत्र-बणिक् के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि, द्रव्य सम्बंधी तंगी की हालत में, वे ऐसे विपत्रों को तब तक अपने पास रक्के जब तक कि और कोई उन्हें खरीदने के लिये तैयार न हो जाए।

यह बताना होगा कि जहां विदेशी व्यापार की ग्राम तौर से विपत्रों के द्वारा वित्तीय व्यवस्था की जाती है वहां ग्रेट ब्रिटेन में स्थित फर्मों के बीच में होने वाले व्यापार की वित्तीय व्यवस्था आज कल इस तरह से बहुत कम होती है। राष्ट्र-

व्यापी संयुक्त-स्कंध-अधिकोषों के विकास के पहले ऐसा होता था; पर आन्तरिक व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने के तरीके के रूप में विपत्रों की जगह बैंक ऋण और अविविर्कष ने ले ली हैं। यह अजीब बात मालूम होती है जब यह हमारे ध्यान में आती है कि बैंक हवालगियों पर जो सूद की दरें ली जाती हैं वे आम तौर पर उन पूर्व-प्रापण दरों से जो साधारण व्यापार-विपत्रों पर ली जाती हैं कहीं अधिक होती हैं और इससे ऐसा लगता है कि व्यापार-विपत्रों के द्वारा उधार लेने से फर्मों को पर्याप्त किफायत हो सकती है। वास्तव में कुछ ऐसा करती भी हैं लेकिन अत्यधिक बड़ी फर्मों में से कुछ ही ऐसा करती हैं (इनमें बहुत थोड़ी सी वे म्यूनििसिपल संस्थाएं भी होती हैं जिनको बैंक से उधार लेने की अपेक्षा इस प्रकार से उधार लेना सस्ता लगता है) लेकिन स्वाभाविक है कि व्यापारिक बैंक इस बात को नापसंद करें, क्योंकि अगर यह तरीका प्रचारित हो जाए तो साख का जो उनका सबसे लाभदायक निष्क्रम (आउटलेट) है वह समाप्त हो जाएगा। इसके अलावा ऐसे विपत्रों का व्यापारिक बैंकों या बैंक ऑव इंगलैंड से पूर्व-प्रापण (रिडिस्काउंट) करने में जो कठिनाई है वह उनके विस्तृत उपयोग के मार्ग में बड़ी भारी रुकावट है।

जहां तक सरकारी विपत्रों (ट्रेजरी बिल्स) का ताल्लुक है, पिछले वर्षों में विपत्र बाजार ने उनको अधिकाधिक संख्या में लिया है, खास तौर से उस समय जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्तर नीचा रहा है और जब से इस तरह के व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने का एक बड़ा भाग संयुक्त राज्य अमेरिका के वित्तकारों (फाइनेन्शियर्स) ने अपने पर ले लिया है। व्यापार विपत्र को जो पहले निर्विवाद प्रमुखता का स्थान प्राप्त था उसमें सरकारी विपत्र ने उसे हटा दिया है। व्यापार विपत्र को यह निर्विवाद प्रमुखता का स्थान न केवल इसलिए प्राप्त था कि ग्रेट ब्रिटेन के विदेशी व्यापार की बहुत बड़ी मात्रा थी पर इसलिए भी था कि दूसरे देशों के आपस के एक दूसरे के व्यापार के बड़े हिस्से की वित्तीय व्यवस्था लंदन के द्वारा की जाती थी। सरकारी विपत्रों में जो बड़ी वृद्धि हुई है वह केवल इस कारण से नहीं हुई है कि युद्धों के कारण राष्ट्रीय ऋण बहुत बढ़ गया है बल्कि इस कारण भी हुई है कि एक पीढ़ी पहले के रूढ़िवादी वित्तकार (फाइनेन्शियर्स) जितना ठीक समझते उससे कहीं ज्यादा अनुपात में राष्ट्रीय ऋण अल्पकालिक रूप में है। बड़ी मात्रा में प्लावी (फ्लोटिंग) (यानी अल्पकालिक) अनिधिवद्ध (अनफंडेड) ऋण दोष पूर्ण वित्त (अनसार्जंड फाइनेन्स) का पक्का लक्षण माना जाता था। पर इसका यह गुण स्पष्ट है कि निधिवद्ध (फंडेड), दीर्घकालिक दायित्वों की अपेक्षा अल्पकाल के वास्ते उधार लिए गए द्रव्य के लिए राष्ट्र को बहुत कम देना पड़ता है : ताकि दीर्घकालिक ऋण के मुकाबले में सरकारी विपत्रों में हुई वृद्धि से करदाताओं का बोझ हल्का हो जाता है। और अगर व्यापार की मांग पूरी करने के लिए बाजार में पर्याप्त अल्पकालिक निधि बनी रहती है और इसके अलावा अगर सरकार अल्पकालिक उधार को केवल

दीर्घकालिक उधार की जगह देती है और अपने कुल ऋण को नहीं बढ़ा रही है जिससे कि मुद्रास्फीति की कोई स्थिति पैदा न हो, तो कोई प्रतितोन्नत करने वाला (काउंटर बैलेंसिंग) दोष भी इसमें नहीं है ।

यह बात बेशक ध्यान में रखने की है कि मन्दी के समय में अल्पकालिक निधि की बड़ी मात्रा में पूर्ति बहुत कुछ हद तक दीर्घकाल के लिए द्रव्य को रोक रखने की अनिच्छा या, दूसरे शब्दों में, पूँजी वस्तुओं में द्रव्य लगाने की अनिच्छा से सम्बन्धित हो सकती है । 1939 के पूर्व जिस आसानी से राज्य कोषागार विपन्न (ट्रेजरी बिल्ट) के द्वारा कम सूद पर उधार ले सकता था उसका एक कारण यह था कि विनियोग और रोजगार का स्तर नीचा था; और पूर्ण रोजगार की परिस्थितियों के कारण सरकार के उधार लेने की परिस्थितियों में परिवर्तन आना अनिवार्य है क्योंकि पूर्ण रोजगार से अल्पकालिक साख तथा व्यापार में विनियोग के लिए दीर्घकालिक निधि की सक्रिय मांग उत्पन्न होती है । अगर, इन परिस्थितियों में सरकार का यह निर्णय होता है कि सूद की दरों को नीचा रखा जाए तो उसे या तो यह जोखिम उठानी चाहिए कि सार्वजनिक और निजी दोनों ही मांगों की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त अल्पकालिक निधि उपलब्ध करके मुद्रास्फीति की स्थिति पैदा करे या उसे निजी उधार लेने वालों में ऐसी छांट करनी चाहिये (या व्यापारिक बैंकों से छांट करवानी चाहिए) कि जिन मांगों को वह कम आवश्यक समझे या सीमिति उत्पादक साधनों के सर्वश्रेष्ठ उपयोग के प्रतिकूल समझे उन्हें रोका जाए । अतः यह आना चाहिये कि या तो वह व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले उधार पर नियंत्रण करे या और किसी तरह से कर्ज के लिए निजी तौर पर की गयी मांग को कम करे; और यदि वह इन दोनों में से कोई बात करने को तैयार न हो तो उसे सूद की दरों को बढ़ने देना चाहिये और साथ ही कुल मांग (अपनी मांगों सहित) के आधार पर जिन दरों से मूद चुकाना पड़े, चुकाना चाहिए ।

इसमें कोई शंका नहीं कि एक विकल्प और है—यह विकल्प यह है कि निजी तौर पर उधार लेने वालों से जो सूद की दरें ली जाएं उनसे कम दरों पर राज्य को जबरदस्ती ऋण दिलाए जाएं । जब कि युद्धकाल में और युद्ध के तत्काल बाद सरकार ने कोषागार-निक्षेप-प्राप्तियों (ट्रेजरी डिपोजिट रिस्तीट्यूट) के रूप में व्यापारिक बैंकों से सीधा ऋण लिया था तो, दरअसल जो हुआ था वह यही हुआ था । जैसा कि हम देख चुके हैं ये कोषागार-निक्षेप-प्राप्तियाँ (ट्रेजरी डिपोजिट रिस्तीट्यूट) यह दत्तनाती थीं कि सरकार ने, द्रव्य बाजार को नियमित तौर पर कोषागार विपन्न (ट्रेजरी बिल्ट) न बच कर, व्यापारिक बैंकों से सीधा ऋण लिया है । ये, व्यापारिक बैंकों द्वारा निजी ग्राहकों को साधारण ऋण या अधिविकल्प (ओवर-ड्राफ्ट्स) जिन मूद की दरों पर दिये जाते थे उससे कम दरों पर, सरकार के पक्ष में किये गए साख के सीधे निर्माण थे ।

उनका जारी होना व्यवहार में व्यापारिक बैंकों पर एक बड़ी हद तक सरकारी नियंत्रण लागू होना था; और उनका क्रमशः बंद होना इस नियंत्रण के परित्याग और सरकार द्वारा ऊंची सूद की दरों पर प्रतिस्पर्धात्मक ऋण लेना वापिस शुरू करने के साथ बहुत निकट रूप से जुड़ा हुआ था।

यहां उन अधिक विशेषीकृत अभिकर्णों (स्पेशियेलाइज्ड एजेन्सीज) के विषय में, जो बैंक ग्राहक इंग्लैंड और मिश्रित पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों के साथ मिल कर बैंकिंग व्यवस्था का निर्माण करते हैं, कुछ शब्द कहना आवश्यक है। व्यापारी बैंकर (मर्चेन्ट बैंकर्स) निजी आधार पर बैंकिंग कार्य करने वाले घराने (प्राइवेट बैंकिंग हाउसेज) हैं जो कि, जहां अपने कुछ चुने हुए ग्राहकों के लिये साधारण जमा बैंकिंग का काम करते हैं वहां, विपन्न* (विल्स) को स्वीकार करने के, विदेशी सरकारों म्युनिसिपल्टियों और बड़े बड़े व्यापारिक घरानों के अभिकर्णों (एजेंट्स) के तौर पर सेवा करने के, दीर्घकालिक ऋणों को, खास तौर से समुद्रपार के लिये, जारी करने और उनका प्रबंध करने के और एक सीमित क्षेत्र की फर्मों के लिये अत्यंत विशेषीकृत (स्पेशियेलाइज्ड) वित्तीय कारोबार करने के काम में मुख्यतया लगे हुए हैं। इन्हीं के साथ साथ दूसरे निर्गमन-गृह (इश्युइंग हाउसेज) हैं जो अधिकांशतः घरेलू निर्गमों (होम इश्यूज) से संबंधित होते हैं और जो ऐसे बड़े बड़े संस्थानों से ले कर जिन्होंने वर्षों तक बड़ी संख्या में पूंजी निर्गम किये हैं ऐसे घरानों तक के रूप में भी होते हैं जिनके केवल एक बार ही निर्गम (इश्यू) का जिम्मा लिया है और जो संभवतः उसी निर्गम (इश्यू) की व्यवस्था करने के लिये स्थापित हुए मालूम होते हैं। इन दोनों सीमाओं पर स्थित संस्थानों के बीच में ऐसे घराने (हाउसेज) हैं जो किसी एक विशेष प्रकार के ऋण के काम में ही विशेष योग्यता रखते हैं या वित्तीय प्रबंध करने वाले किसी दल विशेष के सहायक हैं। इनके बाद वे वित्तीय निगम (फाइनेंस कोरपोरेशन्स) आते हैं जो कि वास्तव में ऐसे सूत्रधारी समवाय (होल्टिंग कंपनीज) हैं जो कि पूंजी वस्तुओं, या सामग्री (मेटीरियल्स) या भूमि की पूर्ति करने वाले व्यवसायों के लिए कारोबार के वास्ते मार्ग तलाश करते हैं; और कभी कभी सीमा पर इनमें और विनियोग निगमों (इनवेस्टमेंट कोरपोरेशन्स) में, जो कि स्पष्टतः इस दृष्टि से बनाये जाते हैं कि विनियोग करने वाले को उसकी जोखिम कई व्यवसायों पर आसानी से फैलाने में सहायता मिल सके, भेद करना कठिन हो जाता है। क्रम में दूसरा नंबर नियोजन-न्यास (इनवेस्टमेंट ट्रस्ट्स) का आता है। इनकी स्थापना निश्चित रूप से इसलिये की जाती है कि जोखिम को फैलाया जा सके। जब ये नियोजन-न्यास (इनवेस्टमेंट-ट्रस्ट्स) मान्य आधारों के अनुसार चलाये जाते हैं तो इनका यह निश्चित सिद्धान्त होता है कि विनियोग (इन्वेस्टमेंट्स) के बँचने से जो लाभ होता है उसे वे लभांश के रूप में

कभी नहीं वांटते बल्कि इस प्रकार के अप्रत्यक्षा (विडफाल) लाभ को वे अपने पूंजी साधनों में हुई वृद्धि के रूप मानते हैं जो कि विनियोग में संभावित मूल्य ह्रास (डिप्रिसियेशन) के विरुद्ध संचिति (रिजर्वज) के तौर पर उपलब्ध रहती है। इनसे भिन्न निश्चित (फिक्सड) और एकक (यूनिट) न्यास (ट्रस्ट्स) होते हैं जिनमें विनियोग मिली जुली प्रतिभूतियों के एक निश्चित गट्ठे में होता है। यह गट्ठा इस प्रकार का होता है कि उसमें की सभी प्रतिभूतियां एक से आर्थिक प्रभावों से प्रभावित नहीं रहती हैं, और इसलिए उनसे कुल मिलाकर ज्यादा नियमित प्रतिफल प्राप्त होता है वनिस्वत किसी एक प्रतिभूति से प्राप्त होने के जिस पर लाभान्न परिवर्तनीय होता है और वे कुल पूंजी मूल्य की दृष्टि से भी अधिक स्थिर होती हैं। साधारण नियोजन न्यास (इनवेस्टमेंट ट्रस्ट) और निश्चित न्यास (फिक्सड ट्रस्ट) में यह अंतर होता है कि साधारण नियोजन न्यास (इनवेस्टमेंट ट्रस्ट) के नचानकों से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वे धारण (होल्डिंग्स) में इस प्रकार परिवर्तन करते रहेंगे कि जिससे आय और पूंजी मूल्य दोनों ही रूपों में सर्वश्रेष्ठ संभव परिणाम आये, जबकि निश्चित न्यास (फिक्सड ट्रस्ट) में धारण (होल्डिंग) स्थायी रूप से निश्चित रहता है, और एक बार जब न्यास (ट्रस्ट) स्थापित कर दिया जाता है तो प्रबंध अधिकारी के लिये इसके सिवाए और कोई काम नहीं रहता कि जैसे जैसे लाभान्न प्राप्त हों वैसे वैसे ही उन्हें वांट दिये जाएं। इस पर भी स्थायी न्यासों (फिक्सड ट्रस्ट्स) में से कुछ के प्रबंध व्यय बहुत अधिक हैं। और साधारण नियोजन न्यासों (इनवेस्टमेंट ट्रस्ट्स) में भी न केवल इस बात की पूरी निगरानी रखनी पड़ती है कि संचालकों की विनियोग निश्चित करने की नीति कैसी है बल्कि यह भी देखना पड़ता है कि प्रबंध व्यय की मात्रा कितनी है। सुप्रबंधित नियोजन न्यास (इनवेस्टमेंट ट्रस्ट) या निश्चित न्यास (फिक्सड ट्रस्ट) निम्नदेह छोटे विनियोग करने वाले की इस मामले में सहायता कर सकते हैं कि उसे अपने द्रव्य पर उनमें ही जोखिम पर अन्यत् जितना प्रतिफल मिल सकता है उससे अधिक प्रतिफल मिले। पर इस प्रकार के अभिकर्ताओं (एजेंसीज) का दुरुपयोग हो सकता है; और विनियोग करने वाले के लिये यह आवश्यक है कि वह उन अभिकर्ताओं को चुनने की सावधानी बतें जो अच्छी तरह से और ईमानदारी से नचालित हैं।

मुख्यतया छोटे विनियोग करने वालों की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये स्थापित इन तथा दूसरी प्रकार के सामूहिक विनियोग अभिकर्ताओं (इनवेस्टमेंट एजेंसीज) के विकास का एक पक्ष यह है कि वे आलोचना के दबाव को नम्रवायों (कंपनीज) तक पहुँचाने का साधन प्रस्तुत करते हैं जो कि ग्रन्थवा अपने छोटे हिस्सेदारों के दावों को बिना किसी ढर के टाल सकते हैं। आज की परिस्थितियों में छोटे हिस्सेदार के पास इस बात का प्रायः कोई नियंत्रण नहीं है कि जिन नम्रवायों (कंपनीज) को वह अपना द्रव्य सौंपता है वे उसका किस प्रकार उपयोग करते हैं।

अपनी जोखिम को कम करने के लिये उसे अपना द्रव्य कई संस्थानों में फैलाना पड़ता है; और चूंकि अन्य छोटे विनियोग करने वालों से संपर्क का कोई साधन उसके पास नहीं है, और किसी अवस्था में भी उसे इस बात की कोई सही जानकारी नहीं रहती कि वास्तव में क्या किया जाना चाहिये, वह सामान्यतः समवाय संचालक (कंपनी डाइरेक्टर्स) जिन नीतियों का अनुसरण करना पसंद करते हैं उनका केवल निष्क्रिय दर्शक रहता है और उसके हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले संचालकों को चुनने में उसका बिल्कुल कोई असर नहीं होता है।

नियोजन न्यासों (इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट्स) और ऐसे ही दूसरे अभिकरणों (एजेंसीज) के लिये, जब उनके प्रबंधकों को यह लगता है कि किसी संस्थान का कुप्रबंध हो रहा है, यह संभव होता है कि वे उस प्रश्न का कोई छोटा हिस्सेदार उठावे उससे अधिक कारगर रूप में उठावें। जांच पड़ताल करने वाली हिस्सेदारों की समितियों का निर्माण करने का वे आग्रह कर सकते हैं और उन पर प्रतिनिधियों का चुनाव करा सकते हैं और ऐसी समितियों को, अन्यथा वे होतीं उससे कहीं अधिक, कारगर आलोचना के अभिकरण (एजेंसीज) वे बना सकते हैं। आधुनिक समवाय संगठन (कंपनी ओरगेनाइजेशन) के पैमाने के सामने छोटा विनियोग करने वाला स्वयं तो फिर भी सर्वथा असहाय ही रहता है; पर तमाम हालतों में उसके द्रव्य के उपयोग में होने वाली अक्षमता और वेईमानी के विरुद्ध खड़ा होने के लिये किसी न किसी के मिल जाने की उसे अधिक संभावना रहती है।

पिछले पेरोग्राफों में जिन संस्थाओं की चर्चा की गयी है उनका सम्बन्ध दीर्घकालिक विनियोगों से है और उनका अधिकोपण (वैकिंग) तथा अल्पकालिक निधियों से बहुत थोड़ा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। लेकिन उनका सरसरी तौर पर उल्लेख करना इसलिए आवश्यक था क्योंकि द्वितीय संस्थाओं की शृंखला में वे एक आवश्यक कड़ी के रूप में हैं, और इसलिए भी कि खास तौर से निश्चित न्यास (फिक्स्ड ट्रस्ट्स) प्रायः उन दूसरी संस्थाओं के सहायक होते हैं जो द्रव्य बाजार के कारोबार में लगी हुई हैं। इसी कारण से अगर स्कंध बाजार (स्टाक एक्सचेंज) का और उन छोटे छोटे स्कंध बाजारों (स्टाक मार्केट्स) का जो अधिकांश बड़े बड़े प्रान्तीय कस्बों में होते हैं हवाला न दिया जाए तो यह परिच्छेद अपूर्ण रहेगा। स्कंध बाजारों (स्टाक एक्सचेंज) का मुख्य काम पूंजी के नए निर्गम (न्यू इश्यूज) से भिन्न पुरानी प्रतिभूतियों (सिक्क्यूरिटीज) के लिए तैयार बाजार उपलब्ध करना है। पर व्यवहार में वे (स्कंध बाजार) अधिकाधिक उन प्रतिभूतियों में भी लेन देन करते हैं जो कि, जहां तक कि जनता का सम्बन्ध है, नयी ही हैं। नए समवाय (कम्पनीज) या वे मौजूदा समवाय (कम्पनीज) जो अतिरिक्त पूंजी उठाना चाहते हैं अपने हिस्सों को सीधा जनता को बेचने के लिए प्रस्तुत करने के बजाय पहले पहल वित्तीय अभिकरणों (फाइनेन्शियल एजेंसीज) या

ग्रेट ब्रिटेन में मिश्रित पूंजी समवाय, 1914-1952

(२१६)

	लोक समवाय (पब्लिक कम्पनी)		अलोक समवाय		कुल (यु० के०)		नयी पञ्जीयित समवाय	
	हजारों में संख्या	प्राप्त पूंजी (पेड अप केपिटल) दस लाख पौंड में	हजारों में संख्या	प्राप्त पूंजी (पेड अप केपिटल) दस लाख पौंड में	हजारों में संख्या	पूँजी दस लाख पौंड में	हजारों में संख्या	अभिहित पूंजी (नोमीनल केपिटल)
1914	—	—	—	—	64.7	2532	7.4 (1913)	157 (1913)
1924	—	—	—	—	92.2	4405	8.5	124
1926	16.2	3180	—	1456	99.0	4686	8.4	215
1929	16.9	3698	81.3	1502	110.1	5250	9.2	241
1930	16.3	3894	91.5	1591	113.3	5534	8.9	113
1931	15.6	3897	95.6	1618	115.8	5564	8.9	65
1932	15.2	3880	98.7	1657	120.5	5586	10.7	74
1933	15.0	3871	103.7	1692	125.9	5610	12.0	100
1934	14.9	3851	109.3	1697	132.1	5595	13.1	148
1935	14.7	3939	115.6	1706	139.0	5693	13.8	144
1936	14.7	3993	122.7	1742	147.2	5783	14.5	165
1937	14.7	4067	130.8	1829	153.9	5940	13.4	121
1938	14.4	4097	137.5	1894	159.3	6036	13.4	76
1939	13.9	4117	143.2	1923	—	—	11.2	59
1940	13.7	4113	146.7	1961	—	—	6.5	28
1941	13.6	4105	149.8	1961	—	—	7.4	26
1942	13.6	4088	155.0	1948	—	—	6.9	26
1943	13.5	4078	161.0	1955	—	—	7.0	25
1944	13.4	4052	165.2	1946	—	—	8.1	37
1945	13.3	4044	171.2	1935	—	—	11.1	92
1946	13.3	4078	180.7	1929	—	—	25.5	136
1947	13.3	4131	202.8	1923	—	—	22.0	198
1948	13.0	3906	221.0	2001	—	—	16.5	120
1949	12.2	3876	228.1	2071	—	—	14.6	84
1950	12.0	3921	234.2	2126	—	—	14.0	76
1951	11.9	3917	238.2	2233	—	—	13.7	97
			247.2	2305	—	—		

अभिषदों (सिडीकेट्स) को बेचते हैं जो (वित्तीय अभिकरण या अभिषद) उनको प्रपुंज (बल्क) में इस विचार से खरीदते हैं कि वे बाद में अधिक मूल्य पर जनता को फिर बेच दिये जाएं। इसके बाद निर्गामी समवाय (इश्यूइंग कम्पनी) और उसके हिस्सों के खरीददार लंदन स्कंध बाज़ार (लंदन स्टॉक एक्सचेंज या किसी प्रान्तीय स्कंध बाज़ार) के साथ इस बात की व्यवस्था करते हैं कि उन हिस्सों का प्रवेशन (इंट्रोडक्शन) हो जाए जिससे कि उनको (हिस्सों को) इस बात का अधिकार मिल जाए कि उनमें लेन देन किया जा सकता है यद्यपि वे पहले विक्री के लिए जनता को प्रस्तुत नहीं किये गये थे; और जिन अभिकरणों (एजेंसीज़) ने उन्हें प्रवर्त्तकों (प्रोमोटर्स) से खरीदा था वे अब जैसे जैसे मौका मिलता है उन्हें बेच देते हैं।

तालिका १४

भवन निर्माण समितियां, 1913 और 1938—53।

भवन निर्माण समितियां

समितियों की संख्या	हिस्से नियोजकों की संख्या हजारों में	हिस्सा और ऋण पूंजी—दस लाख पाँड में	वन्वक (मोर्टगेज) हवालगियां वर्ष में—दस लाख पाँड में
1913	1551	617	9
1938	971	2153	137
1939	960	2154	94
1940	952	2088	21
1941	947	2040	10
1942	931	2010	16
1943	924	2021	28
1944	905	2049	53
1945	890	2065	98
1946	874	2055	188
1947	858	2069	242
1948	847	2112	264
1949	835	2178	276
1950	819	2256	270
1951	807	2359	268
1952	796	2464	266
1953	782	2616	298

तालिका १५

मित्र-समितियां (फ्रेंडली सोसाइटीज) और बीमा समवाय, 1913 और 1938-51 ।

मित्र-समितियां		संग्राही (कलेक्टिंग) समितियां	औद्योगिक प्रगोप (एश्योरेंस)
साल के अंत में निधि— दस लाख पाँड में		प्रव्याजी (प्रीमियम) आय—दस लाख पाँड में	प्रव्याजी (प्रीमियम) आय—दस लाख पाँड में
1913	1	3	17
1938	152	15	58
1939	156	16	60
1940	159	16	62
1941	166	17	64
1942	173	18	68
1943	180	19	72
1944	187	20	76
1945	193	21	79
1946	198	22	84
1947	204	24	91
1948	206	26	97
1949	208	28	100
1950	210	28	103
1951	212	29	108

जीवन प्रगोप (एश्योरेंस) समवाय—साधारण कारोबार

कुल आय दस लाख पाँड में		कुल बहियामी (आउट- गोइंग्स) दस लाख पाँड में	अन्तर—दस लाख पाँड में
1913	49	38	11
1938	142	102	40
1939	138	118	20
1940	133	121	12
1941	132	105	27
1942	137	103	34
1943	145	107	38
1944	151	111	40
1945	165	114	51
1946	193	123	70
1947	207	129	78
1948	225	138	87
1949	239	150	89
1950	261	159	102
1951	298	186	112

तालिका १६

ब्रिटिश प्रगोप (इश्योरेंस) समवाय (सब प्रकार की), 1937, 1950, 1951

	परिसंपत् (एसेट्स) दस लाख पाँड में		
	1937	1950	1951
ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियां	374	1167	1140
अन्य ब्रिटिश राष्ट्रमंडल प्रतिभूतियां	116	146	150
विदेशी लोक प्रतिभूतियां (पब्लिक सिव्यूरिटीज)	92	185	186
लोक संस्थाओं को ऋण (यू० के०)	121	97	100
ऋण पत्र (डिवेंचर्स)	280	329	373
स्कंध और हिस्से, अधिमत् (प्रिफर्ड)	143	257	266
स्कंध और हिस्से, साधारण	173	373	412
बंधक	191	258	311
गोपलेखों (पोलिसीज) और व्यक्तिगत जमानत पर ऋण	51	31	35
भूमि और मकानात	97	197	229
अन्य	108	329	389
	1746	3369	3601

प्रान्तों के अलावा, जहाँ मुख्यतया स्थानीय महत्व के हिस्सों को बेचने का यह सबसे सुविधाजनक ढंग है, यह तरीका सबसे पहले नए पूंजी निर्गम के सम्बंध में समवाय अधिनियमों (कंपनीज एक्ट्स) की अपेक्षाओं से बचने के एक उपाय के रूप में काम में लिया गया। इन अधिनियमों में जनता को हिस्से बेचने के लिये प्रस्तुत करने का सोचा गया साधारण तरीका प्रविवरण (प्रोस्पेक्टस) जारी करने का है। ऐसा माना जाता है कि प्रविवरण (प्रोस्पेक्टस) में सब बातें और परिस्थितियां सही और पूर्ण तौर पर लिख दी जाती हैं। जनता को जो प्रविवरण (प्रोस्पेक्टस) प्रस्तुत किया जाता है उसमें गलत-बयानी करने या संवद्ध तथ्यों को न प्रकट करने के विरुद्ध सख्त कानूनी सजाएं दी हुई रहती हैं; और प्रविवरण (प्रोस्पेक्टस) की बजाए विक्री के लिए प्रस्ताव के द्वारा नए हिस्सों को जारी करने का तरीका बहुत करके इसलिये आरंभ हुआ कि विक्री के लिये प्रस्तावकों पर इस तरह का कोई वैधानिक बंधन नहीं था कि उन्हें संवद्ध तथ्यों का पूर्ण विवरण देना चाहिये। कानूनन, उनकी वही स्थिति थी जो अन्य किसी ऐसे व्यक्ति की होती है जो विक्री के लिये पुराना हिस्सा प्रस्तुत करता है और जिसके पास समवाय संचालक अपने समवाय के बारे में उसे

जो कुछ बताना चाहें उससे अधिक जानने का कोई जरिया नहीं होता है। 1928 के समवाय अधिनियम (कंपनीज एक्ट) ने इस सम्बंध की शर्तों को काफी कड़ा कर दिया। उसने उन मध्यस्थों पर जो नये हिस्से प्रपुंज (बल्क) में खरीदते हैं और सार्वजनिक बिक्री के प्रस्ताव द्वारा फिर उनको दुबारा बेचते हैं वे ही कानूनी शर्त लगा दें जो निर्गमकों (इश्यूअर्स) पर लगायी गयी थीं। 1928 के प्रतिबंधों से बिक्री के प्रस्तावों का कोई अन्त नहीं हुआ, यद्यपि उनके प्रति की जाने वाली बहुत सी आपत्तियों को उन प्रतिबंधों ने हटा दिया। उन्हीं के साथ साथ स्कंध बाजार प्रवेशन (इंट्रोडक्शन) का तरीका भी चलता रहा। इस तरीके का अभिरक्षण (सेफगार्ड) केवल इस प्रकार किया गया कि स्कंध बाजार समिति (स्टाक एक्सचेंज कमेटी) ने उन शर्तों को कड़ा कर दिया जो स्कंध बाजार सूची (स्टाक एक्सचेंज लिस्ट) में नए हिस्सों को शामिल करने और कायदे से उनमें लेन देन करने की इजाजत देने के लिये लगायी गयीं थीं। इसमें कोई शंका नहीं कि स्कंध बाजार समिति ने अधिक स्पष्ट दोषों को समाप्त करने की अत्यधिक कोशिश की; परन्तु फिर भी उसने इस ढंग से हिस्से बेचने के संबंध में कोई कानूनी नियम नहीं लागू किये जैसे कि निजी पूंजी के मान्य लोक प्रस्तावों के सम्बंध में लागू होते हैं।

मिस्टर जस्टिस कोहेन की अध्यक्षता में 1953 में एक समिति समवाय अधिनियम (कंपनी ला) पर बैठायी गयी थी और उसने दो वर्ष बाद अपनी रिपोर्ट दी थी। कोहेन रिपोर्ट ने कई मामलों में कानूनी अपेक्षाओं को और अधिक कड़ा करने के लिये कहा था, पर उसने वास्तव में कोई दूर जाने वाले परिवर्तन नहीं सुझाये थे। उसके सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव यह थे कि : स्कंध बाजार प्रवेशन (स्टाक एक्सचेंज इंट्रोडक्शन) के तरीके के कारण संचालकों को गलत विवरण देने की उन जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं किया जाना चाहिये जो प्रविवरण (प्रोस्पेक्टस) या बिक्री के प्रस्ताव की हालत में उन पर रहती हैं; संवद्ध तथ्यों को दवाने और अगत्य कहने के लिये सजा मिलनी चाहिये; नाम निर्दिष्ट धारण (नोमिनी होल्डिंग) को जहां भी १ प्रति शत से अधिक पूंजी का हितकारी मालिक (बेनिफिशियन ओनर) कोई एक व्यक्ति है प्रकट किया जाना चाहिये; लंदन स्कंध बाजार समिति को लेन देन की स्वीकृति के द्वारा नए निर्गमों (इश्यूज) के प्रवेश पर अपना नियंत्रण जारी रखना चाहिये तथा उसे मजबूत बनाना चाहिये और प्रान्तीय स्कंध बाजारों को चाहिये कि जैसे नियम लंदन में लागू हैं वैसे ही नियम वे भी लागू करें; लाभ और हानि के हिसाब में अधिक बोध्य जानकारी दी जानी चाहिये; और तमाम सूत्रधारी समवायों (होल्डिंग कंपनीज) को चाहिये कि वे अपनी सहाय समवायों (सब्सिडियरीज) के कारोबार के पूरे समेकित (कन्सालिडेटेड) हिसाब प्रकाशित करें। ये तमाम माफगिरी टोका दिसा में थीं; पर उन्होंने निजी समवायों (प्राइवेट कंपनीज) की उन्मुक्तियों (इम्प्युनिटीज) को लगभग नहीं छुड़ा और नाम निर्दिष्ट धारण (नोमिनी होल्डिंग) के

मामले में थोड़ी ही दूर गयीं, कुल मिला कर यह रिपोर्ट कोई प्रगतिशील दस्तावेज नहीं थी, और मौजूदा समवायों की सर्वश्रेष्ठ रीति-नीति से बहुत पीछे थी; पर इस पर भी, नगर (दी सिटी) के उन विशेष वर्गों को प्रसन्न करने के लिये जिनका समवाय वित्त से मुख्यतया सम्बन्ध रहता है इसकी सिफारिशें बहुत ज्यादा उग्र थीं। बहुत सी सिफारिशें 1947 के समवाय अधिनियम (कंपनीज एक्ट) में और 1948 के समेकन अधिनियम (कनसोलिडेटिंग एक्ट) में समाविष्ट कर ली गयीं थीं।

अन्त में, बीमा कंपनियों और भवन निर्माण समितियों के विषयों में भी दो शब्द कहने चाहियें। ये मजदूर और मध्यम वर्गों की वचत को एकत्रित करने के अत्यन्त बड़े अभिकरण हैं। छोटे पैमाने की अंत्येष्टि बीमा (फ्यूनरल इनश्योरेंस) से ले कर जीवन और अधिवापिकी (सुपरएनुएशन) गोपलेखों (पोलिसीज) तक जो कि मध्यम और उच्च वर्गों में प्रचलित हैं, तमाम प्रकार के ऐच्छिक बीमा की मात्रा में असाधारण वृद्धि ने बीमा समवायों (इन्श्योरेंस कंपनीज) के हाथों में बड़ी निधियां सौंप दी है जो विनियोग के लिये उपलब्ध हैं। इन निधियों का एक अंश जा कर परम प्रतिभूतियों (गिल्ट एजेंड सिक्कुरिटीज) में लग जाता है जो कि सुनिश्चित प्रतिफल देती हैं; पर औद्योगिक और व्यापारिक संस्थानों के लिये, खास तौर से मोटरों या विजली के सामान जैसी उत्पादन की विकासमान शाखाओं में, और क्रय-विक्रय (हायर-पचेंज) योजनाओं तथा व्यापार या निवास के लिये भवन निर्माण की वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध में बीमा कंपनियां पूंजी का महत्वपूर्ण साधन बन गयी हैं। इसी बीच में भवन निर्माण समितियां निक्षेपकों (डिपॉजिटर्स) से, खास तौर से जो मध्यम वर्ग के हैं उन से, बड़ी मात्रा में निधियां इकट्ठी कर रही हैं और इस द्रव्य का उपयोग किस्त की योजना पर मकान खरीदने के वास्ते वित्तीय प्रवन्ध करने में कर रही हैं। 1939 के पहले ऐसे लक्षण दिखाई पड़ रहे थे कि बचाने वाले जो रकमें भवन निर्माण समितियों में जमा कराने को तैयार थे वे उन रकमों से अधिक हो रही थीं जो समितियां मकान खरीदने के लिये बतौर हवालगियों के दे सकती थीं—ज्यादातर ऐसा इस वजह से हो रहा था कि पहले दी गयी हवालगियों को तेजी से लौटाया जा रहा था और उन्हें फिर नयी हवालगियों के रूप में काम में लेना था। भवन निर्माण के क्षेत्र में गुंजाइश की कमी के कारण भवन निर्माण समितियों का दूसरे प्रकार के ऐसे विनियोग की ओर जाना आरंभ हो रहा था जो औसतन प्रतिफल को कम दर देने वाला था। और युद्धकाल में इन समितियों ने विभिन्न प्रकार के युद्ध-कृपों के अभिदान (सर्व्सक्रिप्शन) के रूप में सरकार को बहुत बड़ी रकमें दीं। पर 1945 से भवन निर्माण समितियों का उल्लेखनीय समुत्थान हुआ है, बावजूद इसके कि लोक निधि से भी बड़े अनुपात में मकानों का निर्माण हुआ है। 1952 तक उनकी वार्षिक बन्धक हवालगियों 1938 में जितनी थीं उससे (द्रव्य में) लगभग दुगुनी हो चुकी थीं। उनके पूंजी धारण (केपिटल होल्डिंगज) जो 1938 में 71.7 करोड़ पाँड थे वे 1952 में 139.3

करोड़ पौंड हो गये थे—जिसका अर्थ यह था कि वास्तविक अर्हा (मूल्य) में उन्होंने अपने युद्ध के पहले के स्तर तक को प्राप्त नहीं कर पाया था । समितियों की गंम्बा, खास तौर से संम्मिश्रण के कारण से, 971 से कम हो कर 796 हो गयी । मध्यम-वर्ग की वचत के विनियोग के लिये भवन निर्माण समितियों ने एक बहुत संतोषजनक साधन उपस्थित कर दिया है, अधिकतर इसलिये कि आयकर अधिनियम के मातहत उनके साथ विशेष व्यवहार करने की व्यवस्था की गयी है ।

किसी हद तक भवन निर्माण समितियां मजदूर-वर्ग और मध्यम-वर्ग के वचत करने वालों की आवश्यकता की पूर्ति करती हैं; और इसमें भी कोई शक नहीं कि बीमा कंपनियां अपने प्रव्याजी (प्रिमियम) का एक बड़ा अंग मजदूर-वर्ग के घरों से मिलने वाले छोटे छोटे साप्ताहिक चुकारों के रूप में प्राप्त करती हैं । मजदूर वर्गों के लिये, छोटी वचतों के वास्ते उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन एक महत्वपूर्ण द्वार प्रस्तुत करता है, ऐसा वह दोनों तरह से करता है : हिस्सा पूंजी के द्वारा जो अधिकतर सहकारी भंडारों से की जाने वाली खरीददारी पर मिलने वाले लाभों में से इकट्ठी की जाती है, और स्थानीय समितियों में किये जाने वाले निक्षेपों (डिपोजिट्स) और इंगलैंड तथा वेल्स के लिये और स्कॉटलैंड के लिये संघीय सहकारी थोक समितियों में किये जाने वाले ऋण विनियोगों और निक्षेपों के द्वारा । मित्र समितियां (फ्रेंडली सोसाइटीज) और संग्राही समितियां (कलेक्टिंग सोसाइटीज)—संग्राही समितियां (कलेक्टिंग सोसाइटीज) ओटफेनोज और फोर-स्टर्स जैसी प्रामाणिक (वेरिटेबल) मित्र समितियों की अपेक्षा बीमा समवायों के अधिक समान हैं—भी अपने सदस्यों द्वारा दिये जाने वाले साप्ताहिक अंग दान से पर्याप्त रकमें एकत्रित कर लेती हैं; पर इनकी निधियों की मात्रा बड़ी बीमा समवायों और भवन निर्माण समितियों द्वारा जो साधन निवर्तन (टिस्पोज) किये जाते हैं उनके मुकाबले में कम है । अभी तक, 1946* के अधिनियम के मातहत सामाजिक बीमा की जो विस्तृत सार्वजनिक व्यवस्था की गयी है उससे इनकी स्थिति पर बहुत ही कम असर पड़ा है ।

पूर्णता की दृष्टि से, वित्तीय अभिकरणों की इस सूची में हमें डाकखाना वचत अधिकोप, राष्ट्रीय वचत समिति के प्रचार से जनता को वेचे जाने वाले राष्ट्रीय वचत प्रमाण पत्र, न्यासी वचत अधिकोप (ट्रस्टी सेविंग्स बँक), और ररा एविस (Rara Avis), वरमिधम म्यूनिसिपल बैंक भी शामिल करना चाहिये । डाकखाना वचत अधिकोप थोड़ा वचाने वालों (गंपन्न लोगों के वचने भी जिनमें शामिल हैं) से निधि का संग्रह करते हैं और 2½ (हाई) प्रतिशत व्याज पर यह निधि सरकार को उधार देता है । राष्ट्रीय वचत समिति और अनेक मितव्यय सोशियल

(थ्रिप्ट क्लब्स) जो उसके तत्वावधान में, अधिकतर कारखानों और दफ्तरों में, बनी हैं सरकार के उपयोग के लिये ही निधियां देती हैं, और जो व्याज होता है वह कुछ वर्षों तक इकट्ठा होता रहता है और फिर प्रमाण पत्रों के नक़द अर्हां (केश वेल्थू) में वह जोड़ दिया जाता है। न्यासी वचत अधिकोष (ट्रस्टी सेविंग्स बैंक) अल्प वचतों का संग्रह करते हैं जो वे न्यासी प्रकार की प्रतिभूतियों में दुबारा लगा देते हैं और डाकखाना वचत अधिकोष की तरह से ही अपने निक्षेपकों (डिपोजिटर्स) के लिये वचत अधिकोषों का सा काम करते हैं। वरमिंघम म्यूनिसिपल बैंक वरमिंघम कोरपोरेशन को अपने निक्षेप उपलब्ध करता है जिससे यह कोरपोरेशन इन निक्षेपों की हद तक दूसरे प्रकार के ऋण या अल्प कालिक साख पर से अपनी निर्भरता कम कर सकता है।

इस परिच्छेद में एक सिंहावलोकन मात्र किया गया है। दूसरे परिच्छेद में मैं इन संस्थाओं की, जो एक लंबे अर्से में बिना किसी योजना के बन गयी हैं, संभावनाओं पर विचार करूंगा। क्या ये तमाम संस्थाएं बनी रहेंगी, या अगर वे बनी रहती हैं, तो क्या वे अपने अब तक के कामों और महत्व को कायम रख सकेंगी? क्या आने वाले समय की नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नयी संस्थाओं की आवश्यकता होगी, या वर्तमान संस्थाएं ही नये उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम में ली जा सकेंगी? इसकी संभावना किस हद तक है कि वित्तीय व्यवस्था के सार्वजनिक क्रियाकरण (आपरेशन), या नियंत्रण के लिए और उपाय किये जाएंगे; और जिस हद तक ये नयी प्रवृत्तियां और अधिक बढ़ती हैं, राज्य को अपना नियंत्रण लागू करने के लिये नयी राजनैतिक और प्रशासनिक व्यवस्था का कहां तक निर्माण करना पड़ेगा? अब हमें अपना ध्यान इन प्रश्नों की ओर ले जाना चाहिये।

वैकों का सार्वजनिक नियंत्रण

किसी भी देश के लिए जिस साहूकारा (वैकिंग) प्रणाली की जरूरत होती है वह उन आर्थिक संस्थाओं के साधारण ढांचे या बनावट पर निर्भर करती है जिसमें उस साहूकारा (वैकिंग) प्रणाली को कार्यक्षम बनना होता है। सोवियत यूनियन जैसे देश में जहां उत्पादन और वितरण समान रूप से योजना बद्ध हैं और जहां सभी प्रमुख साधनों पर या तो राज्य का अथवा किसी प्रकार के सामूहिक प्रयास का स्वामित्व स्थापित है और उन सबका प्रशासन एक सार्वजनिक आर्थिक योजना के अनुसार चलाया जाता है; यह स्पष्ट, तर्क संगत, और स्वाभाविक हो जाता है कि वैक सार्वजनिक संस्थाएं हों, और प्रत्यय (साख) का सम्पूर्ण वितरण तथा उसकी कुल राशि योजना के एक भाग के रूप में निर्धारित कर दी जावे। इस प्रकार के देश में मानवी श्रम शक्ति तथा अन्य उत्पादक साधनों—जिसमें नए पूंजीगत साधनों में विनियोग (पूंजी लगाना) करना भी सम्मिलित है—के बटवारे का निर्णय एक सार्वजनिक नीति के रूप में निश्चित होता है। यह कार्य वैकों का होता है कि वे उत्पादन और वितरण करने वाली विभिन्न संस्थाओं के लिये आवश्यक प्रत्यय (साख) की पूर्ति करें जिसने कि वे सम्पूर्ण योजना में उनके लिए निर्धारित मांगों को पूरा कर सकें। इस कार्य के लिए जो धन राशि आवश्यक होगी वह निर्भर होगी उस आय पर जो मजदूरी और वेतन के रूप में देनी होगी, और उन कीमतों पर जो उन वस्तुओं पर लगेंगी; जिनकी पूर्ति दोनों—अर्थात् अन्तिम उपभोक्ताओं को तथा उत्पादन और वितरण की मध्यवर्ती स्थितियों पर की जावेगी। परन्तु ऐसी अवस्था में न तो मजदूरी और वेतन को और न कीमतों को ही अपना स्तर प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र छोड़ा जावेगा। मजदूरी और वेतन तथा समाज सेवा के भुगतानों को राज्य की अधिकार शक्तियां निश्चित करेंगी। इनको निश्चित करने में इतनी लोच रखी जावेगी जिसको उत्पादन के सम्बन्ध में प्रेरणा देने के लिए वांछनीय समझा जाता है और निश्चय ही बहुत तरह की आवश्यक वस्तुओं की कीमतें भी निश्चित कर दी जावेंगी। जब जनसंख्या की अपेक्षा उत्पादन अधिक तेजी से बढ़ता है तो राज्य शक्तियों के लिए केवल दो ही विकल्प होते हैं—या तो मजदूरी अथवा अन्य आय को बढ़ाया जावे अथवा उपभोक्ताओं के लिये वस्तुओं की कीमत कम की जावे। इन विधियों के सम्बन्ध में किए गए निर्णय पर यह निर्भर करेगा कि चलन में कितनी मुद्रा की आवश्यकता होगी। उत्पादन

आय तथा कीमतों के बारे में इस नीति के जो भी निर्णय होंगे, उनके अनुसार ही चाहे प्रत्यय (साख) के कुल प्रवाह या प्रचलन का प्रश्न हो, अथवा विभिन्न दावेदारों में उसे बांटने का मामला हो, बैंकों को कार्य करना होगा। वे समाजीकृत अर्थ प्रणाली के साधारण ढांचे के अंग मात्र होंगे और राज्य के लिए यह स्वाभाविक होगा कि वह उनके संचालकों की नियुक्ति करे और उन्हें जो उचित समझे आदेश दे। निस्संदेह इन परिस्थितियों के आधीन अन्य प्रकार के कारवारों के समान ही बैंकों के भी स्वचालित प्रशासन होंगे और उनके प्रबंधकों को दिन प्रति दिन के हस्तक्षेप से मुक्त रखा जावेगा यदि वे उन आदेशों का, जो उन्हें दिए जाते हैं, पालन करेंगे। परन्तु ऐसा होने पर साहूकारा (बैंकिंग) प्रशासन अत्यधिक केन्द्रित बन जावेगा क्योंकि मुद्रा नीति का आय, कीमतों, और उत्पादन के सम्पूर्ण ढांचे के केन्द्रीय नियंत्रण के साथ निकट का समन्वय स्थापित करना होगा।

सोवियत संघ जैसी अर्थ-व्यवस्था में साहूकारा (बैंकिंग) प्रणाली का समाजीकरण अनिवार्य हो जाता है। इससे समान रूप में यह नहीं मान लेना चाहिये कि उन देशों में जहां निजी पूंजी वाले उद्यम का प्राधान्य है वहां साहूकारा (बैंकिंग) प्रणाली को सर्वथा निजी व्यक्तियों के हाथ में छोड़ दिया जावेगा। मुद्रा की पूर्ति को नियंत्रित करने का कार्य किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि उसको सर्वथा अनियंत्रित नहीं छोड़ा जा सकता। जहां कहीं किसी भी प्रकार का केन्द्रीय बैंक होता है और वह मुद्रा (चलार्थ) या प्रत्यय (साख) की पूर्ति की यथेष्ट मात्रा भी प्रभावित कर सकता है वहां राज्य ग्रहस्तक्षेप नीति की अत्यधिक समर्थक सरकार को भी नियम बनाने पड़ते हैं जिनके अन्दर ऐसे बैंक को काम करना पड़ता है। जब उसके कार्य राज्य की नीति के विरुद्ध होते हैं अथवा ऐसा प्रतीत होता है कि उनसे राष्ट्रीय हितों को खतरा है तो राज्य को अवश्य ही हस्तक्षेप करना होता है। कुछ निजी उद्यम वाले देशों में केन्द्रीय बैंक निजी संस्था होती है जिसका स्वामित्व अंशधारियों (शेयरधारियों) के हाथ में होता है। लेकिन उसको ऐसे अधिकारों की आवश्यकता होती है कि जिन्हें उस देश की राष्ट्रीय पार्लियामेंट ही प्रदान कर सकती है और वे अधिकार उसे कुछ शर्तों के आधीन ही मिलते हैं जिन्हें वह पालन करने के लिए विवश होता है। कम से कम रूप में ही सही जब केन्द्रीय बैंक कागजी मुद्रा (चलार्थ मुद्रा) का प्रमुख भाग निर्गमित करता है तो वह एकलौती कागजी मुद्रा या नोट निकाल सकता है इसके लिए नियम होते हैं। कभी कभी इन नियमों के साथ यह प्रावधान भी होता है कि सरकार केन्द्रीय बैंक को पार्लियामेंट की विशेष समिति से अथवा उसके बिना ही कागजी मुद्रा की अधिकतम स्वीकृत (अनुज्ञापित) सीमा से अधिक कागजी मुद्रा निकालने की आज्ञा दे सकती है अथवा उसकी सीमा में परिवर्तन कर सकती है। जैसा कि हम जानते हैं अधिकतर या तो एक विश्वासाश्रित प्रत्ययी (साख) सीमा होती है अर्थात् केवल एक निश्चित राशि तक ही

बिना शत प्रतिशत सोना या उसके समतुल्य अन्य रक्षित कोप रखने कागजी मुद्रा निकाली जा सकती है, अथवा अनुपातिक रक्षित कोप की आवश्यकता होती है, अर्थात् जितनी कागजी मुद्रा निकाली जावे उसमें तथा स्वर्ण या उसके समकक्ष रक्षित कोप रखने का एक निश्चित अनुपात निर्धारित रहता है।

तथापि अधिकतम अहस्तक्षेप करने वाली सरकार के लिए भी केवल कागजी मुद्रा (नोट) के निर्गमन को नियंत्रित करना ही यथेष्ट नहीं है जब तक कि इस बात का उसको विश्वास नहीं हो जाता कि आगे उससे प्रत्यय (साग्न) की पूर्ति भी नियंत्रित हो सकेगी। अतएव इस सम्बन्ध में चाहे औपचारिक नियम हों अथवा न हों सरकार यह आश्वासन चाहेगी कि केन्द्रीय बैंक जहां तक वह प्रत्यय (साग्न) की पूर्ति पर नियंत्रण रखता है वह सार्वजनिक हित के विरुद्ध कार्य नहीं करेगा या इस प्रकार के काम नहीं करेगा कि जिससे सरकार को अपनी साधारण अर्थ नीति को कार्यान्वित करने में रुकावट हो। उन दिनों जब कि स्वर्ण-मान को करीब करीब अनियंत्रित चलने दिया जाता था अर्थात् मुद्रा (चलार्थ) की पूर्ति को उन आर्थिक शक्तियों के प्रभाव के अन्तर्गत परिवर्तनशील माना जाता था कि जो राष्ट्रीय नियंत्रण के बाहर थीं, तब यह यथेष्ट समझा जा सकता था कि सरकार वे शर्तें निर्धारित कर दे जिनके अन्दर केन्द्रीय बैंक को काम करना था। तब केन्द्रीय बैंक को उन शर्तों के भीतर रहकर केवल आर्थिक शक्तियों के मूल्यांकन के रूप में कागजी मुद्रा की पूर्ति को निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जा सकता था। किन्तु जहां केन्द्रीय बैंक सरकार का बैंकर भी था वहां उसका एक कार्य यह भी था कि वह समय समय पर सरकार को अनुकूल शर्तों पर ऋण प्राप्त करने में सहायता दे, विशेषकर ऋण भार को कम करने के लिए ऊँचे मूद वाले ऋण को नीची दरों में परिवर्तन करने के कार्यों में सहायक हो। इस कारण तथा अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय बैंकों को स्वर्णमान के द्वारा निश्चित विनियम सीमाओं (स्वर्ण-विन्दुओं) के अन्तर्गत हस्तक्षेप करना आवश्यक था जिससे कि मुद्रा को आवश्यकता-नुसार दुर्लभ या बहुल बनाया जा सके।

आजकल अधिकतम अहस्तक्षेप में विश्वास करने वाली सरकार को भी इतने से बहुत अधिक मुद्रा नियंत्रण की आवश्यकता होगी, क्योंकि प्रत्येक सरकार को इच्छा अथवा अनिच्छा से बहुत सीमा तक और कम से कम अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के क्षेत्र में तो योजना बनानी ही पड़ती है। उसको भुगतान के अन्तर का ध्यान रखना पड़ता है, बहुत बड़ी राशि में राष्ट्रीय ऋण का प्रबंध करना पड़ता है, निजी तथा सार्वजनिक विनियोग की समस्याओं को हल करना पड़ता है, और आर्थिक संकटों को रोकने का प्रयत्न करना पड़ता है, जिन्हें जनतंत्र में मतदाता ईश्वरीय कोप मानने के लिए तैयार नहीं हैं, जिसके बारे में उनकी सरकार को कोई

जिम्मेदारी लेने की जरूरत न हो। उन राज्यों में भी जो निजी उद्यम को आर्थिक प्रणाली का सही आधार मानते हैं वहां भी केन्द्रीय बैंक या तो सार्वजनिक बन जाते हैं, या फिर कम से कम यह होता है कि वे बहुत अधिक मात्रा में राज्य के नियंत्रण में आ जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली आंशिक रूप में सामाजीकृत है और उसके जिन भागों पर राज्य का अधिकार नहीं है उनका भी नियंत्रण राज्य द्वारा होता है।

उस दशा में जबकि केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक हो या राज्य द्वारा नियंत्रित हो अथवा बहुत सीमा तक राज्य की व्यवस्था में हो, अन्य बैंक निजी अधिकार में रह सकते हैं। यदि प्रत्यय (साख) की पूर्ति मुख्यतः केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित होती है तो व्यापारी बैंकों को नियंत्रित करना अनावश्यक होगा। केवल परोक्ष रूप से उन पर इतना नियंत्रण अवश्य रखना होगा कि प्रत्यय (साख) जो उन्होंने केन्द्रीय बैंक से ली है, उसको वे किस प्रकार अपने ग्राहकों को उधार देने में उपयोग करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन ने भी जहां अर्थ व्यवस्था के अधिकांश भाग पर समाज का अधिकार है वहां भी व्यापारी "बैंकों को अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न नहीं किया गया। हां यदि कोई नई मजदूर सरकार उद्योग बंधों का सीधा सामाजीकरण करने में बहुत आगे बढ़ जावे अथवा उन उद्योगों पर नियंत्रण स्थापित करले जो कि निजी स्वामित्व में हैं तो संभव है कि यह आवश्यक प्रतीत हो कि व्यापारिक बैंकों को भी सार्वजनिक बैंकों में बदल दिया जावे जिससे कि उनके द्वारा और अधिक नियोजित उत्पादन प्रणाली की आवश्यकताओं को पूरा कराना निश्चित किया जा सके। परन्तु मजदूर दल में भी इस विषय पर मतभेद रहता है। हम आगे चलकर इसी परिच्छेद में इसके बारे में लिखेंगे। 1945 में जब मजदूर दल यथेष्ट बहुमत के साथ सत्तारूढ़ हुआ तो उसने केवल बैंक आफ इंग्लैंड का राष्ट्रीयकरण किया और उसको यह अधिकार प्रदान किया कि वह अन्तिम उपाय के रूप में व्यापारिक बैंकों को आदेश दिया करे। साथ ही व्यापारिक बैंकों को निजी स्वामित्व में ही रहने दिया गया।

मजदूर दल जब 1945 में सत्तारूढ़ हुआ उससे बहुत पहले ही वह यह घोषणा कर चुका था कि बैंक आफ इंग्लैंड का पूर्ण राष्ट्रीयकरण कर दिया जावेगा जिससे कि राष्ट्रीय हित में सरकार विस्तृत पैमाने पर जिस समाजवादी नीति को अपनावेगी उसको कार्यान्वित करने के लिये जो आर्थिक तथा मुद्रा संबंधी विकास की योजना बने उसके अनुसार ही बैंक आफ इंग्लैंड की व्यवस्था हो सके। 1931 की घटनाओं से बैंक आफ इंग्लैंड के राष्ट्रीयकरण करने की नीति को कार्यान्वित करने की यह इच्छा और अधिक बलवती हो उठी थी। मजदूर दल के अधिकांश समर्थकों की यह धारणा थी कि बैंक आफ इंग्लैंड ने मांटैग नार्मन के नेतृत्व में और

अमेरिका के बैंक अधिकारियों के प्रभाव में 1931 के आर्थिक मंदक के समय दूसरी मजदूर सरकार के पतन में महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। उस पराजय के तुरन्त बाद 1932 में मजदूर दल ने यह भी घोषणा कर दी कि यदि वे पदावृद्ध हुए तो व्यापारिक बैंकों का भी राष्ट्रीयकरण कर लिया जावेगा। परन्तु जब 1945 में मजदूर दल ने संक्षिप्त तत्कालीन कार्यक्रम बनाया जिसके आधार पर उन्होंने मत-दाताओं से मजदूर दल का समर्थन करने की अपील की तो उसमें उन्होंने इस अगले प्रयोग को अर्थात् व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की बात छोड़ दी तथा यह विचार प्रकट किया कि जब बैंक आफ इंग्लैंड का राष्ट्रीयकरण हो जावेगा तो व्यापारिक बैंकों का बिना राष्ट्रीयकरण किये ही इस प्रकार नियंत्रण किया जा सकेगा कि जिससे यह विश्वास हो जावेगा कि वे समाजवादी सरकार की आर्थिक विकास की योजनाओं के कार्यान्वित होने में रुकावट नहीं डालेंगे। व्यापारिक बैंकों के संबंध में यह दृष्टिकोण महायुद्ध के अनुभव से प्रभावित था, क्योंकि युद्ध काल की अवस्था में सरकार को अपने व्यय के लिये जिस चालू वित्त (अर्थ) की जरूरत हुई या उन निजी ठेकेदारों को जो सरकार का कार्य कर रहे थे, जितनी प्रत्यय (प्राप्त) की आवश्यकता पड़ी उसकी पूर्ति करने के लिये जैसा भी व्यापारिक बैंकों से कराना चाहिए करा लिया गया। केवल यह अभी देखना शेष था कि क्या युद्धकालीन नियंत्रण शान्तिकाल में भी उतने ही प्रभावकारी रूप से काम में लाये जा सकते हैं? लेकिन मजदूर सरकार—जो अपने सामाजीकरण कार्यक्रम को जितना हो सके उतना हल्का रखना चाहती थी—ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि जब बैंक आफ इंग्लैंड निश्चित रूप से सरकारी नीति के एक साधन में परिवर्तित हो जावेगा तो यह यथेष्ट होगा कि उसको व्यापारिक बैंकों के ऊपर नियंत्रण रखने के लिये कुछ सीमित अधिकार दे दिया जावे और व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण को बिना किसी जोखिम के समाजवादी अर्थ व्यवस्था के संक्रमण काल के किसी आगे के समय के लिये टाला जा सकता था।

साहूकारा (बैंकिंग) के राजकीय नियंत्रण के सम्पूर्ण प्रश्न पर विचार करने समय हमें बैंक आफ इंग्लैंड की 1946 के पूर्व की स्थिति ने प्रारम्भ करना चाहिये जैसी कि वह उस समय थी जबकि उसका राष्ट्रीयकरण हुआ था। बैंक आफ इंग्लैंड पहले से ही इस अर्थ में सार्वजनिक संस्था थी कि उसकी स्थापना पार्लियामेंट के अधिनियम द्वारा हुई थी और उसके अधिकार उसको चार्टर द्वारा प्राप्त थे जिसका पार्लियामेंट ने समय समय पर संशोधन और नवीकरण किया था। वह इस अर्थ में निजी संस्था थी कि उसकी पूंजी पर निजी स्वामित्व था, और वह हिस्सेदारों के लिये लाभ कमाता था। उसके संचालक मंडल को हिस्सेदार निजी तौर पर नियुक्त करते थे तथा अन्तिम रूप में उसकी विधि संगत प्रणाली अधिकारिणी हिस्सेदारों की सभा थी। इन सब बातों को कहना केवल इसलिए जरूरी है कि यह स्पष्ट हो

जावे कि बैंक के रूप तथा सार में कोई मेल नहीं था। बैंक की पूंजी पर निजी स्वामित्व था और सिद्धान्त रूप से बैंक के संचालक लाभ में से चाहे जितना लाभान्श घोषित कर सकते थे। परन्तु वास्तव में बैंक ने बहुत लम्बी अवधि तक केवल एक स्थिर लाभान्श ही दिया जो परिणाम में उसकी पूंजी पर एक ऊंचे सूद की स्थिर दर मात्र बन गया था। उसकी लाभ देने की क्षमता इतनी अधिक सुनिश्चित थी कि जो उसका संचालन करते थे उन्हें अपने संचालन कार्यों में लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से प्रभावित होने की जरूरत नहीं थी। इसके अतिरिक्त बैंक के लाभ वास्तव में अन्य साधारण धंधों के लाभों की भांति उसके कारखानों से ही निर्धारित नहीं किये जाते थे। वे सरकार की प्रतिनिधि राजकोष (ट्रेजरी) के साथ पेचीदे आर्थिक समझौतों पर भी निर्भर रहते थे। उदाहरण के लिये यदि बैंक को स्टर्लिंग के स्वर्ण मूल्य में परिवर्तन होने से एक बड़ा अप्रत्याशित लाभ मिल जावे जैसा कि वास्तव में 1931 में हुआ था, उस दशा में कोई भी इस आशय का सुभाव नहीं देता था कि संचालकों को उस लाभ को जिस प्रकार वे चाहें बिना राज्य के अन्तिम निर्णय को जाने बिना वितरित करने या विनियोजन करने का अधिकार है। इस प्रकार के लाभ जो कि बैंक की मुद्रा के संरक्षक के रूप में होते थे फिर चाहे वे आरम्भ में बैंक को ही क्यों न प्राप्त हुए हों, राज्य की सम्पत्ति माने जाते थे। 1931 में औपचारिक रूप से वे लाभ बैंक को अर्जित नहीं हुए क्योंकि बैंक ने निस्संदेह राजकोष (ट्रेजरी) से सहमत होकर अपने स्वर्ण संचित (संचित रिजर्व) को उसके बढ़े हुए मूल्य पर अंकित नहीं किया।*

पुनः संचालक-मंडल वस्तुतः जहाँ तक साधारण हिस्सेदारों का प्रश्न था स्वयं नये संचालकों को नियुक्त करने का अधिकारी था परन्तु इसमें कोई भी सन्देह नहीं था कि नये संचालकों या गवर्नर की नियुक्ति करते समय संचालकों और राजकोष (ट्रेजरी) के बीच निकट का परामर्श होना चाहिये। नये संचालकों की नियुक्ति राज्य नहीं बैंक करता था। यदि उनमें मतभेद होता तो क्या होता? संभवतः राज्य संचालकों के निर्णय को बिना पार्लियामेंट से आवश्यक अधिकार प्राप्त किये रद्द नहीं कर सकता था। किन्तु संचालक भी बिना इस बात पर गंभीरता पूर्वक विचार किये कि उसके क्या परिणाम होंगे राजकोष (ट्रेजरी) की अवहेलना नहीं कर सकते थे। वास्तव में बैंक और राजकोष (ट्रेजरी) मिलकर इतने निकट से कार्य करने के अभ्यस्त थे कि इस प्रश्न का उत्तर कि कौन दूसरे का नियंत्रण करता है देना कठिन था।

इन तथ्यों के कारण कुछ लोगों का यह निष्कर्ष था कि बैंक आफ इंग्लैंड सार रूप में पहले ही एक राष्ट्रीयकृत संस्था थी, और यदि राज्य औपचारिक रूप से

*वाद में बैंक के स्वर्ण निचय (संचित रिजर्व) युद्धकालीन उपाय के रूप में विनिमय समकारी कोष ने अर्थात् सरकार ने ले लिये। देखिये पृष्ठ 43 अध्याय प्रथम।

उसे अपने अधिकार में ले लेता है तो उसमें कोई अन्तर आने वाला नहीं है। परन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं था। यद्यपि राज्य का बैंक के मामले में बहुत अधिक प्रभाव था परन्तु यह भी सत्य था कि बैंक का गवर्नर सदैव लंदन के ऊँचे वित्त वर्ग में से ही चुना जाता था और संचालक-मंडल लगभग पूर्णतः पूँजीपति व्यापारिक हितों का प्रतिनिधित्व करता था। जिसमें व्यापारी साहूकारों (बैंकरों) का ही अधिक प्रतिनिधित्व होता था। इस प्रकार बैंक की समस्त परम्परा लंदन की एक बड़ी बैंकिंग संस्था की थी जो ऊँचे वित्तीय जगत में कार्य करती थी और सरकार से उसका जहाँ तक संबंध था उसे अपनी स्वतंत्रता पर गर्व था। सरकार से उसके संबंध एक सन्धि के थे न कि आधीनता के। 1931 में यह बात स्पष्ट हो गई जबकि बैंक का वास्ता एक ऐसी सरकार से पड़ा जिसे वह नापसन्द करता था। उस समय यह किन्ही प्रकार से भी मान लेना सत्य नहीं था कि सरकार की इच्छा के अनुसार ही बैंक कार्य करेगा।

कुछ लोग यह तर्क उपस्थित करते थे कि बैंक आफ इंग्लैंड वास्तव में लन्दन यात्री परिवहन बोर्ड, केन्द्रीय विद्युत बोर्ड, और ब्रिटिश आकाशवाणी निगम के समान ही एक सार्वजनिक निगम (कार्पोरेशन) पहले से ही था। एक सीमा तक वह ऐसा ही था। परन्तु भिन्न भिन्न लोगों के लिये सार्वजनिक निगम का विचार ही अलग अलग होता है। साधारण रूप से यह माना जाता है कि एक सार्वजनिक निगम को एक सरकारी विभाग से इस अर्थ में भिन्न होना चाहिये कि उसके प्रशासन कर्ताओं को दिन प्रति दिन के राजनीतिक तथा पार्लियामेंट के हस्तक्षेप से मुक्त रहना चाहिये। उस पर दिन प्रति दिन के कार्य में मंत्री या विभागीय नागरिक सेवा के मुख्य अधिकारी का नियंत्रण नहीं होना चाहिये और न उसे राजकोष (ट्रेजरी) के किन्ही प्रकार आधीन रहना चाहिये जैसा कि एक नियमित नागरिक सेवा विभाग होता है। परन्तु अधिकांश लोग यह स्वीकार करेंगे कि एक सार्वजनिक निगम के बोर्ड की नियुक्ति सामान्यतः सरकार को करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त वे सभी लोग जो कि किसी भी वास्तविक सार्वजनिक आर्थिक योजना प्रणाली के पक्ष में हैं अवश्य ही यह स्वीकार करेंगे कि सार्वजनिक निगम चाहे कितना ही अपने कार्यपालन में स्वतंत्र क्यों न हो उससे यह आशा की जाती है कि वह सरकार की आर्थिक योजनाओं के अनुरूप साधारण नीतियों को कार्यान्वित करेगा और उन योजनाओं को पूरा करने के लिये जो मंत्री उत्तरदायी हैं उनके सामान्य निर्देशों को स्वीकार करेगा।

सच तो यह है कि जिन लोगों का तर्क यह था कि बैंक आफ इंग्लैंड की स्थिति में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है उन की यह मान्यता नहीं थी कि बैंक उस समय भी सरकार के नियंत्रण में था वरन् उनकी मान्यता यह थी कि बैंक पर सरकार का नियंत्रण नहीं होना चाहिये। वे बैंक की स्वतंत्रता को अधुना

रखना चाहते थे जिससे कि बैंक सरकार से प्रथम अपनी निज की नीति बना सके और जब उचित समझे तो सरकार के विरुद्ध इस प्रकार खड़ा हो सके, जिससे कि विना पार्लियामेंट से नया विधान स्वीकार कराये वह बैंक को न दवा सके। वे चाहते थे कि साहूकारा (बैंकिंग) प्रणाली जिसमें केन्द्रीय बैंक भी सम्मिलित हैं राजनीति से बाहर रहे—जिसका वास्तविक अभिप्राय: यह था कि वे बैंक का उस प्रकार की राजनीति के विरुद्ध एक दीवार की भांति रक्षा के साधन के रूप में उपयोग करना चाहते थे जिसको वे स्वीकार नहीं करते थे। इसके विपरीत जो लोग आर्थिक नियोजन के पक्ष में थे और यह मानते थे कि सरकार को उत्पादन और रोजगार की मात्रा को बनाये रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिये, दृढ़ता के साथ कहते थे कि जैसे ही राज्य इस प्रकार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है मुद्रा नीति उसके लिये इतनी अधिक महत्व की बन जाती है कि उसको राजनीति के क्षेत्र में लाना अनिवार्य हो जाता है।

व्यवहार में सन् 1945 के उपरान्त जो स्थिति थी उसमें साहूकारा (बैंकिंग) तथा राजनीति को उसी प्रकार प्रथम रखने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता था जिस प्रकार कि युद्धकाल में उनको एक दूसरे से अलग नहीं रक्खा जा सकता था। उस समय लोह आवरण के पश्चिम में प्रत्येक योरोपीय देश के समक्ष भुगतान की कठिनाइयाँ उपस्थित थीं इस कारण राज्य के लिये यह नितान्त आवश्यक हो गया था कि वह ऐसी प्रत्येक चीज़ पर कठोरता से नियंत्रण करे जिसका कि उपयोग भुगतान के अन्तर को नियंत्रित करने में सहायक हो सकता था। वास्तविक साधनों की अत्यंत कमी के कारण भी यह जरूरी हो गया था कि जो कुछ भी साधन थे उनके उपयोग का नियंत्रण किया जावे तथा अत्यधिक मांग के कारण उनकी कीमतों को बहुत अधिक ऊंचा न उठने दिया जावे। प्रत्यय (साख) का नियंत्रण सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के विस्तृत नियंत्रण का एक आवश्यक अंग मात्र था। इसके अतिरिक्त वेहद बड़े हुए राष्ट्रीय ऋण के प्रबंध की आवश्यकता, और विशेषकर उसके अत्यधिक परिणाम में अल्पकालीन ऋणों में होना, जिसका बार बार पुनः नवीनीकरण करना पड़ता था—ने राजकीय वित्त और केन्द्रीय साहूकारा (बैंकिंग) की प्रक्रियाओं को एक दूसरे से ऐसे घनिष्ट संबंध में जोड़ दिया था जिससे कि साधारण मुद्रा नीति के संयुक्त दायित्व का होना अपरिहार्य बन गया था।

अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि 1945 की मजदूर सरकार ने बैंक आफ इंग्लैंड के राष्ट्रीयकरण को ऊंची प्राथमिकता दी। यद्यपि उस समय राष्ट्रीय स्वामित्व स्थापित हो जाने से बैंक की कार्यप्रणाली अथवा नीति में कोई महत्वपूर्ण और तात्कालिक परिवर्तन होने की संभावना नहीं थी, क्योंकि वह तो युद्धकालीन परिस्थितियों में पहले से ही राज्य के प्रभावकारी नियंत्रण में आ चुका

था। जबतक कि बैंक एक निजी संस्था थी उसका राज्य के प्रति स्पष्ट उत्तरदायित्व से मुक्त रहना राज्य की शक्ति के लिए एक अस्पष्ट परन्तु निरंतर धमकी थी। राज्य को बैंक आफ इंग्लैंड के हिस्सेदारों के हिस्सों को खरीदना पड़ा इस कारण नहीं कि हिस्सेदारों का कोई प्रत्यक्ष महत्व था (यद्यपि वास्तविकता यह थी कि बैंक के हिस्सों को एक अल्पसंख्यक वित्त समूह सावधानी पूर्वक अपने अधिकार में किये हुए था।) वरन इस कारण कि संचालक मंडल सरकार के प्रति नहीं, हिस्सेदारों के प्रति औपचारिक रूप से उत्तरदायी था। हिस्सेदार ही संचालकों को औपचारिक रूप से नियुक्त करते थे और नीति संबंधी विरोध होने पर संचालकों को ऐसा महसूस हो सकता था कि वे हिस्सेदारों की ओर ही अपनी अन्तिम निष्ठा स्वीकार करें। यह स्पष्ट था कि यदि शासक वर्ग समाजवादी नीति को अपनाता चाहता था तो राज्य के लिए निजी हिस्सेदारों को बैंक की पूंजी के स्वामित्व से हटा देना आवश्यक था और उसे ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति करना था जो बैंक को चलाने का जिम्मा लें।

राज्य को किस प्रकार के व्यक्तियों की नियुक्ति करनी चाहिये ? गवर्नर और डिप्टी गवर्नर पद के लिये जो भी योग्यतम व्यक्ति मिल सके उनकी नियुक्ति होनी चाहिये, वे किसी विशेष हित या समूह के प्रतिनिधि न होकर जनता के सेवक के रूप में कार्य करें। जहां तक संचालकों का प्रश्न था उसमें मतभेद की गुंजाइश थी। मजदूर दल ने 1939 के पूर्व बैंक आफ इंग्लैंड के राष्ट्रीयकरण के प्रस्तावों में एक प्रतिनिधि संचालक मंडल का समर्थन किया था जिसे विभिन्न वर्ग समूहों जैसे उद्योग, वाणिज्य, वित्त, श्रम, आदि में से चुना जाना था। परन्तु जब बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ तो मजदूर दल की सरकार ने उससे भिन्न मार्ग अपनाया। 1946 में उसने उन सभी पुराने संचालकों को पुनः नियुक्त कर दिया जिनके पद की अवधि समाप्त नहीं हुई थी और केवल उन संचालकों के स्थानों पर जिनके पद की अवधि समाप्त हो चुकी थी थोड़े से नये व्यक्तियों की नियुक्ति की गई। वे भी सब केवल मजदूर दल से नहीं लिये गये। यह सदैव एक विवादास्पद प्रश्न था कि एक औपचारिक संतुलित प्रतिनिधित्व की योजना वास्तव में उचित भी थी या नहीं ? इनमें तनिक भी संदेह नहीं कि यह सदैव ही वांछित होता है कि संचालक मंडल में ऐसे व्यक्ति लिये जावें जो कि विभिन्न क्षेत्रों का अनुभव रखते हों और उनकी स्थिति ऊंची हो। परन्तु अधिक बुद्धिमानी इसमें होती कि उन्हें व्यक्तिगत योग्यता और अनुभव के आधार पर न कि स्वार्थविशेष के प्रतिनिधि के रूप में लिया जाता। यदि आवश्यकता हो तो औपचारिक प्रतिनिधित्व के लिये परामर्शदात्री कौंसिल में स्थान हो सकता है न कि संचालक मंडल में जो कि वास्तव में कार्य संचालन करता है। एक छोटा ना पूरे समय कार्य करने वाला संचालक मंडल जिसमें व्यक्तियों को उनकी योग्यता के आधार पर लिया गया हो, ऐसी परामर्शदात्री कौंसिल की नहायता से वर्तमान बहुत बड़ी कार्यकारिणी की अपेक्षा अधिक अच्छी सेवा कर सकता है परन्तु इन

प्रकार के परिवर्तन से संभवतः बैंक की कार्य प्रणाली में कोई बड़ा व्यवहारिक अन्तर पड़ने वाला नहीं है ।

यह ध्यान देने की बात है कि ग्रेट ब्रिटेन को छोड़ कर प्रायः सभी देशों में केन्द्रीय बैंक का कार्यकारिणी का अध्यक्ष बहुत पहले से ही सरकार द्वारा नियुक्त होता आया है और अधिकांश देशों में संचालकों की नियुक्ति में सरकार का महत्वपूर्ण भाग रहता है । व्यवहार में एक केन्द्रीय बैंक से दूसरे केन्द्रीय बैंक में बहुत भिन्नता है । कुछ केन्द्रीय बैंक वास्तव में राज्य के बैंक अर्थात् सरकारी बैंक हैं और दूसरे निजी निगम (कार्पोरेशन) हैं जो एक सीमा तक सार्वजनिक नियंत्रण के आधीन हैं । इन दोनों प्रकार के केन्द्रीय बैंकों के बीच में कई प्रकार की विभिन्नताएं देखने को मिलती हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका में बारह पृथक् पृथक् फेडरल रिज़र्व बैंकों के होने से स्थिति अधिक जटिल है । इनका आपसी समन्वय केन्द्रीय फेडरल रिज़र्व बोर्ड द्वारा होता है । फेडरल रिज़र्व बोर्ड और फेडरल रिज़र्व बैंकों में उन कार्यों का विभाजन कर दिया गया है जिन्हें सामान्य रूप से केन्द्रीय बैंक करता है । संयुक्त राज्य अमेरिका का फेडरल रिज़र्व बोर्ड जो कि सर्वोच्च सत्ता है सारा का सारा सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है और जो वास्तव में राजतंत्र का एक अंग है और फेडरल रिज़र्व बैंकों के संचालकों की नियुक्ति करने में उसका बहुत बड़ा हाथ होता है । वह प्रत्येक बैंक के नौ में से तीन संचालकों को नियुक्त करता है जिनमें अध्यक्ष सम्मिलित है जो कि उस क्षेत्र में बोर्ड के एजेंट (अभिकर्ता) का भी काम करता है । शेष छै संचालकों में से तीन व्यापारिक बैंकों के प्रतिनिधि होते हैं और तीन उद्योग, कृषि और वाणिज्य के प्रतिनिधि होते हैं । फेडरल रिज़र्व बैंक प्रणाली को सब मिलाकर इस प्रकार बनाया गया है जिससे कि फेडरल रिज़र्व बोर्ड सभी महत्वपूर्ण नीति के मामलों में अन्तिम नियंत्रिक शक्ति रहे ।

इस प्रकार उन देशों में भी जो कि मुख्यतः निजी साहस और उद्यम के समर्थक हैं—वहां भी सरकार का केन्द्रीय बैंक और उसकी नीति के संचालन में साधारण तौर पर बड़ा हाथ रहता है । पूर्ण रोजगार को प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यक नीति को अकेले सरकार के लिए कार्यान्वित करने की बात तो दूर रही, वह स्वयं अपने वित्त का प्रभावशाली ढंग से प्रवन्ध नहीं कर सकती जब तक कि उसे केन्द्रीय बैंक का पूर्ण सहयोग प्राप्त होने का विश्वास न हो । जब तक कि ग्रेट ब्रिटेन में शासन शक्ति केवल उदार तथा अनुदार दल के बीच जाती थी जिनके दृष्टिकोण में आर्थिक प्रश्नों पर अधिक अन्तर नहीं था, और जिनका उत्पादन और रोजगार का नियंत्रण करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने का कोई विचार नहीं था तब तक बैंक ऑफ इंग्लैंड के निजी स्वामित्व वाले निगम (कार्पोरेशन) बने रहने से जिस पर सरकार का नियंत्रण न हो, कोई गंभीर कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी । कारण कि उन सरकारों और बैंक की

नीतियों में कोई विरोध होने की संभावना नहीं थी। बैंक आफ इंग्लैंड (चार्टर) विशेषाधिकार प्राप्त निजी निगम (कॉर्पोरेशन) था जिसका कागजी नोट निकालने का अधिकार कानून द्वारा नियंत्रित था। वह सरकार के बैंक का कार्य करता था और सरकार की ओर से राष्ट्रीय ऋण का प्रवन्ध करता था। वह बैंकों का भी बैंक था जिसके पास व्यापारिक बैंकों का नक़द रक्षित कोष जमा रहता था। व्यवहार में बहुत लम्बे समय तक स्वर्ण मान के नियमों के अन्तर्गत वह प्रत्यय (साख) का स्वर्ण के देना में आने पर विस्तार और देश से बाहर जाने पर संकुचन करता रहता था, और दोष समुदाय को इन परिवर्तनों के जितना संभव हो उतना अनुकूल बनने के लिए छोड़ देता था। 1914 तक बैंक पूर्ण रूप से कागजी मुद्रा निकालने और वस्तुतः सोने के सिक्कों को जनता को देने का एक मात्र नियंत्रक था। आवश्यकतानुसार वह सोने के सिक्कों को टकसाल से ले लेता था। 1914 के उपरान्त उस रूप में उसका यह एकाधिकार समाप्त हो गया जब कि एक पौंड और दस शिलिंग के ट्रेजरी नोट उन सोने के सिक्कों के स्थान पर निकाले गए जो पहले चलने में थे और उन ट्रेजरी नोटों का प्रवन्ध बैंक के अधिकार में न रखकर राजकोष ट्रेजरी के अधिकार में दे दिया गया। परन्तु व्यवहार में बैंक ऑफ इंग्लैंड ही उन नोटों को अन्य बैंकों को दे देता था जो उनको जनता को देते थे। अतएव इस परिवर्तन से किंचित ही अन्तर पड़ा। जिस बात से परिवर्तन आया वह यह थी कि युद्ध काल में बैंक को स्वर्ण मान के नियमों का पालन करने के बजाय जहां तक कागजी मुद्रा की राशि को निकालने का प्रयत्न था सरकार के विचार को स्वीकार करना पड़ा और इस प्रकार वास्तव में वह सरकार का अभिकर्ता (एजेंट) बन गया। इसके बाद 1928 में ट्रेजरी नोटों को निकालने का कार्य औपचारिक रूप से बैंक को हस्तांतरित किया गया। इस प्रकार बैंक को पुनः कागजी मुद्रा निकालने का केवल एकाधिकार ही प्राप्त नहीं हो गया बल्कि सापेक्षिक रूप में कम राशि के कम मूल्य के तांबे और चांदी के संचितिक सिक्कों को छोड़कर वह समस्त चलार्थ (मुद्रा) के लिए उत्तरदायी बन गया।

अगले वर्षों में सन् 1931 तक बैंक आफ इंग्लैंड अत्यधिक शक्तिशाली स्थिति में था। 1929 तक वह अनुदार सरकार के सहयोग से भुगतान के साधनों की पूर्ति पर प्रतिबंध लगाने का प्रयत्न करता रहा। जिससे कि पौंड स्टर्लिंग को जो 1925 में पुनः पूर्व स्वर्ण मूल्य पर प्रतिष्ठित किया गया था उस पर स्थिर रक्का जा सके। परन्तु उस प्रयत्न का मूल्य यह चुकाना पड़ा कि उत्पादन और रोजगार कम हो गया। जबकि 1929 में दूसरी मजदूर सरकार सत्ताह्व हई तो यह बहूतों की धारणा थी कि प्रत्यय (साख) की नीति पर बैंक और सरकार का झगड़ा होगा, क्योंकि मजदूर दल और उदार दल जिन पर सरकार पार्लियामेंट में समर्थन के लिए निर्भर थी दोनों ने चुनाव के समय बेकारी को रोकने के लिए गतिशील सार्वजनिक निर्माण नीति अन्तर्गत

की घोषणा की थी। लेकिन तथ्य यह था कि मजदूर दल के अर्थ सचिव (लेबर चांसलर आफ एक्सचेंजर) फिलिप स्नाउडेन ने अपने को पुरातन वित्त रूढ़िनिष्ठा का उतना ही कट्टर भक्त प्रमाणित किया जितने कि कट्टर उनके पूर्वाधिकारी राजकोप अर्थ सचिव थे और उन्होंने बैंक द्वारा वित्त विस्तार की ऐसी किसी भी नीति के विरोध का पूर्ण समर्थन किया कि जिसके कारण स्वर्णमान को छोड़ने अथवा (पौंड स्टर्लिंग) का अवमूल्यन करने पर विवश होना पड़ता। अन्त में सरकार और बैंक में टक्कर हुई। उसका कारण यह नहीं था कि मजदूर सरकार ने जानबूझ कर किसी ऐसी नीति विशेष को लागू किया वरन उसका कारण वह विश्व आर्थिक संकट था जो 1929 के अमेरिका की आर्थिक अभिवृद्धि (तेजी) के समाप्त हो जाने पर प्रकट हुआ। अमेरिकन विनियोगों के योरोप से इस उद्देश्य से हट जाने के कारण कि वे अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था के घरेलू संकट का सामना कर सके—आर्थिक मंदी योरोप तथा सारे विश्व में फैल गई। सर्वत्र क्रय शक्ति घट गई। जर्मनी और आस्ट्रिया से जापान तक ऋण चुकाने की शक्ति को पुनः प्राप्त करने की आशा में निर्यात बढ़ाने और आयात घटाने के लिये संघर्ष होने लगा। उस समय ग्रेट ब्रिटेन जो कि संसार का सबसे बड़ा मुक्त बाजार था, अन्य देशों के न विकने वाले माल से पट गया, जबकि उसके निर्यातों को अन्य देश आयात शुल्क बढ़ाकर अथवा मनाही करके अपने यहां आने से रोक रहे थे। एक देश के बाद दूसरे देश में ऐसी भयंकर बेकारी फैल गई जैसी कि पहले कभी देखने में नहीं आई थी। और 1931 में स्वर्णकोप के समाप्त हो जाने मात्र से ही ब्रिटेन को कुछ दिन पहले ही पुनर्स्थापित स्वर्णमान को छोड़ देने पर विवश होना पड़ा। यह होने के पहले, यद्यपि उसके अपरिहार्य बन जाने के पूर्व ही, मजदूर सरकार जो मूर्खता वश स्वर्णमान से चिपटी हुई थी पदच्युत कर दी गई और रेम्जे मैकडानलड के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार ने इस कथित उद्देश्य के साथ उसका स्थान ग्रहण किया कि पौंड के स्वर्ण मूल्य को जैसा पहले था वैसा ही रक्खा गया परन्तु उसे तुरन्त ही स्वर्ण भुगतानों को स्थगित कर देना पड़ा और पौंड को डालर तथा अन्य मुद्राओं की तुलना में जिनका स्वर्ण मूल्य पूर्ववत् कायम था अवमूल्यन के लिए अरक्षित छोड़ देना पड़ा।

इन घटनाओं में बैंक आफ इंग्लैंड का कितना हाथ रहा, यह आज भी विवादास्पद है। स्वर्णमान को बचाने के लिए जो आशा रहित निरर्थक प्रयत्न किया गया उसमें बैंक आफ इंग्लैंड ने सरकार की सहायता से न्यूयार्क के फैंडरल रिजर्व बैंक और बैंक आफ फ्रांस से बहुत बड़ी राशि में ऋण लिया। वह ऋण लिया हुआ वन कोप पौंड के पालायन अर्थात् उसके स्वर्ण मूल्य से हटने से तुरन्त ही समाप्त हो गया। जितना ही अधिक यह किया गया उतना ही अधिक सटोरिये स्टर्लिंग से पीछा छुड़ाने के लिए स्टर्लिंग के बदले उन पदार्थों की जिन्हें वे सुरक्षित समझते थे अथवा स्वर्ण की मांग को बढ़ाते गये। यह निर्विवाद है कि एक समय

ऐसा आया जबकि न्यूयार्क फ़ैडरल रिजर्व बैंक ने बैंक आफ इंग्लैंड को उस समय तक और अधिक ऋण देने से इन्कार कर दिया जब तक कि ब्रिटिश सरकार अपने व्यय में बहुत अधिक कटौती करने को तैयार न हो जिनमें बेकारों को दिये जाने वाले लाभों की कटौती भी शामिल थी । न इस बात पर कोई विवाद है कि फिलिप स्नाउडन और बैंक आफ इंग्लैंड के गवर्नर मान्टेग्यू नार्मन ने सरकार पर इसको स्वीकार करने के लिए दबाव डाला और जब मंत्री मंडल इस संबंध में किसी नीति को स्वीकार करने में असफल रहा तो मेकडानाल्ड, स्नाउडन तथा कुछ अन्य मंत्रियों ने अपने मजदूर सहयोगियों का साथ छोड़ दिया और वे राष्ट्रीय सरकार में अनुदार दल के साथ सम्मिलित हो गये । राष्ट्रीय सरकार ने पहले तो घोषणा की कि उसका व्रत (मिशन) स्वर्ण मान की रक्षा करना है, परन्तु बाद को उसने स्वर्ण-मान को शीघ्र ही तिलांजलि दे दी क्योंकि वह विवश थी ।

तथापि इन घटनाओं में बैंक आफ इंग्लैंड का जो हाथ रहा वह आज भी पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हैं । क्या बैंक ने सिर्फ जैसा कि वाद को दावा किया गया दायित्व से अपने को मुक्त भर कर लिया और न्यूयार्क फ़ैडरल रिजर्व बैंक ने जो अन्तिम प्रस्ताव (अल्टीमेटम) भेजा था उसको केवल सरकार के पास भेज भर दिया ? अथवा उस अन्तिम प्रस्ताव (अल्टीमेटम) को प्राप्त करने के लिये उसने कुछ प्रयत्न किया और फिर सरकार पर उसको स्वीकार करने के लिये दबाव डाला । मजदूर दल के अधिकांश सदस्यों का विचार था कि उन पर बैंक दबाव डाल रहा था । परन्तु कितना दबाव मान्टेग्यू नार्मन का था, कितना संयुक्त राज्य अमेरिका का था, और कितना स्वयं फिलिप स्नाउडन का था, यह संभवतः कभी भी पूरी तरह नहीं जाना जा सकेगा । औपचारिक रूप में चाहे बैंक आफ इंग्लैंड ने केवल अमेरिकन बैंकिंग अधिकारियों के निर्णय को भेज भर दिया कि वे स्टर्लिंग की आगे न्यायता करने के लिये तब तक तैयार नहीं होंगे जबतक बेकारों पर होने वाले व्यय को कम नहीं किया जावेगा । किन्तु दोनों स्थितियों में अन्तर रेखा बहुत ही सूक्ष्म है । और यह एक विचारणीय विन्दु है कि बैंक ने अमेरिकनों से जो बातचीत की वह सरकार के एजेंट की हैसियत से नहीं वरन् वह एक स्वतंत्र संस्था की हैसियत से ब्रिटिश सरकार और अमेरिकन अधिकारियों से बातचीत कर रही थी, और इस संबंध में वह ब्रिटिश सरकार से कोई आज्ञा प्राप्त नहीं करती थी ।

इन सारी घटनाओं को लेकर अधिकतर लोगों का यह विश्वास हो गया था कि 1931 में मजदूर सरकार को उलटने में बैंक आफ इंग्लैंड का प्रमुख हाथ था । (इसके परिणाम स्वरूप) वाद में इतना गहरा अविश्वास उत्पन्न हो गया कि जाने आने वाली किसी भी मजदूर सरकार को जिसे पानियामेंट में बहुमत प्राप्त होना अवश्य ही बैंक का सामाजीकरण करना होता । फ्रान्स में ब्लूम मन्त्रालय ने यह

1936 में प्रगतिशील सामाजिक नीति को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया तो उसे भी बैंक आफ फ्रान्स के साथ लगभग इतनी ही गम्भीर कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि राज्य ने बैंक आफ फ्रान्स के गवर्नर की नियुक्ति हिस्सेदारों के अधिकार से हटाकर अपने अधिकार में कर ली किन्तु बैंक आफ फ्रान्स के पास आज भी इतनी शक्ति मौजूद है कि वह किसी भी ऐसी निर्बल सरकार के मार्ग में जिसे वह रुढ़िविरोधी वित्तीय कार्यों का दोषी मानता हो रुकावट डाल सकता है। ऐसी परिस्थितियों में जो लोग आयोजित रोजगार नीति के समर्थक थे उनका इस बात पर जोर देना अनिवार्य था कि बैंक आफ इंग्लैंड को सार्वजनिक स्वामित्व वाला निगम (कार्पोरेशन) बना दिया जावे और जो उसका कार्य संचालन करे वे राज्य कर्मचारी हों जिन्हें राज्य नियुक्त करे। चाहे फिर उनमें कुछ अंश गैर सरकारी प्रतिनिधियों का हो अथवा न हो। इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि वे लोग यह चाहते थे कि सामाजीकृत बैंक सरकार की साधारण अर्थ नीति को कार्यान्वित कराने की सुनिश्चितता से अधिक किसी और हस्तक्षेप के अधीन हो। कोई भी यह नहीं चाहता कि बैंक दैनिक तथा साधारण कार्यों में दिन प्रति दिन के नियंत्रण में रहे। जो कुछ वे चाहते थे यह था कि विनिमय समकारी कोष जिसे बैंक खजाने (ट्रेजरी) की ओर से चलाता था उसका प्रबंध सरकार की मुद्रा नीति के अनुसार किया जावे और यह कि बैंक स्वयं प्रत्यय (साख) के नियंत्रण के सम्बंध में सरकार की रोजगार तथा विनियोजन नीतियों को कार्यान्वित कराने के कार्य को अपना कार्य मान ले। उस हद तक वह सरकारी नियंत्रण से मुक्त नहीं रहे।

जब तक पुराना स्वर्णमान चालू था राष्ट्रीय मुद्रा का मूल्य राज्य के निर्णय से निश्चित होता था और जिसमें कोई परिवर्तन करने की बात नहीं सोची जाती थी। उसे बैंक आफ इंग्लैंड निश्चित नहीं करता था। जब 1931 में ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान को छोड़ दिया तो जितनी सीमा तक स्टर्लिंग के मूल्य के निर्धारण को अनिश्चित शक्तियों की क्रियाओं पर नहीं छोड़ा जाता था वह उन अधिकारियों के हाथ में आ गया जो प्रत्यय (साख) नीति को नियंत्रण करते थे, और यह सब ऐसे साधनों के साथ होता था जिनको विशेष उपायों द्वारा विनिमय की गतिविधि को प्रभावित करने के लिये स्थापित किया जाता था। हमें यह ज्ञात है कि विनिमय समकारी कोष स्थापित होने के साथ ही खजाने (ट्रेजरी) के अधीन आ गया था और खजाने की ओर से उसका केवल प्रबंध बैंक आफ इंग्लैंड करता था। इसके बाद यदि कोष और बैंक विरोधी नीतियों को अपनाते तो उसका परिणाम होता और अव्यवस्था। बैंक की प्रत्यय (साख) नीति और कोष की विनिमय समकारी नीति के अनुसरण में घनिष्ट सम्बंध होना तथा खजाने (ट्रेजरी) और बैंक को एक समान नीति के साथ चलने के लिये साथ साथ काम करना आवश्यक हो गया था। उन दोनों में से किसका वास्तव में अधिक प्रभाव था यह औपचारिक नियमों का नहीं बरन व्यक्तियों

के व्यक्तित्व का प्रश्न था। परन्तु इसमें तो किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती थी कि यदि इस द्वैध प्रबंध में मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो अन्तिम निर्णय का अधिकार राज्य को होना चाहिये था। सच तो यह है कि यह बैंक ने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया था। उसका गवर्नर सदैव यह कहता था कि 1931 के उपरान्त मुद्रा नीति की अन्तिम जिम्मेदारी राजकोष (ट्रेजरी) की है न कि बैंक की।

भविष्य में बहुत लम्बे समय तक मुद्रा नीति एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न रहने वाला है क्योंकि विश्व की समस्त मुद्राओं के नये सापेक्षिक मूल्य स्तरों को मापूम करना, और नये सिरे से यह तय करना कि स्वर्ण का विश्व की मुद्रा प्रणालियों में कैसा और कितना महत्व रहेगा—आज भी 1954 में इसको तय करना दूर की बात है। मैं इन समस्याओं का विवेचन आगे के परिच्छेद में करूंगा। यहां मैं केवल इस बात को जो स्पष्ट है बतलाना चाहता हूं कि प्रत्यय (साख) नीति की व्यवस्था तथा विदेशी विनिमय का प्रबंध एक ही अधिकारी की आधीनता में एकीकृत होना आवश्यक है जो कि आधुनिक परिस्थितियों में केवल राज्य का हो सकता है। आज हमें अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करने पड़ते हैं जो केवल दो बैंकों के बीच नहीं हो सकते। वे दो राज्यों के बीच ही हो सकते हैं। बैंक उस नीति का अनुसरण करेंगे यह सुनिश्चित करना पड़ता है इतना ही नहीं उससे भी अधिक यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि बैंक राज्य के साथ स्पष्ट सहयोग करें। किन्तु यह सब कैसे हो सकता है जब तक कि केन्द्रीय बैंकों को स्पष्ट रूप से राज्य के आधीन न कर दिया जावे और उनको राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में आर्थिक नियंत्रण के सार्वजनिक संगठन का एक अभिन्न अंग न मान लिया जावे।

अब हमें व्यापारिक बैंकों की ओर दृष्टि डालनी चाहिये जो कि अभी तक व्यापारिक संस्थाएं हैं, जिन पर 1946 तक राज्य का सिद्धान्त रूप में युद्धकाल को छोड़कर तनिक भी नियंत्रण नहीं था। एक संयुक्त हिस्सेदारी कंपनी की तरह ही उनके संचालक मंडलों को उनके हिस्सेदार नियुक्त करते हैं, वे लाभ कमाते हैं, और लाभांश घोषित करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके संबंध में कानूनी व्यवस्था में कुछ विशेष प्रावधान अवश्य हैं परन्तु उनका महत्व बहुत कम है, और 1946 के पूर्व ऐसा कोई विधान जिससे राज्य को उनके कार्यों के नियंत्रण करने में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त होता नहीं था। फिर भी औपचारिक दृष्टि से कम्पनियों के समान ही दिखलाई पड़ने के बावजूद संयुक्त हिस्से वाले व्यापारिक बैंक पूर्णतः सामान्य कम्पनियों के समान नहीं थे। जैसा कि हम देख चुके हैं वे बिना परिणामों पर विचार किये जितना संभव हो सके अधिक से अधिक लाभ कमाने का ही प्रयत्न नहीं करने थे। वे बैंक आफ इंग्लैंड के समान ही मुख्यतः स्थिर लाभांश देने थे और बैंक आफ इंग्लैंड की भांति घुरे और अच्छे समय में उन्हें इतना संश्लेषण प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी जिससे कि वे जितना लाभांश देना चाहते थे नियमित रूप

से दे सकें। उनकी लाभदायकता इतनी सहज थी कि उन्हें केवल लाभ मात्र कमाने की भावना से अपने कारवार में प्रभावित होने की जरूरत नहीं पड़ती थी। बैंक आफ इंग्लैंड की भांति वे केवल अपने लिए लाभ कमाने के लिए इतना नहीं चलाये जाते थे जितना कि वे अपने अधिकारों की सीमा में दूसरों के लिए लाभ कमाने की परिस्थितियों को सुरक्षित करने की गारंटी देने के लिए चलाये जाते थे।

बैंक आफ इंग्लैंड केवल एक है परन्तु ग्रेट ब्रिटेन में एक दर्जन या उससे अधिक संयुक्त हिस्सेवाले व्यापारिक बैंक हैं। इनमें आयरिश और स्कॉटिश बैंक सम्मिलित नहीं हैं जो उनसे मिलकर काम करते हैं। उनमें बड़े पांच प्रमुख हैं—मिडलैंड बैंक, लायड बैंक, वारवले बैंक, वैस्ट मिनिस्टर बैंक, और नेशनल प्राविन्शियल बैंक। यह सब बहुत से बैंकों के मिलने से बने हैं। जिनमें बहुत से छोटे स्थानीय बैंकों को विलीन कर दिया गया है और इन राष्ट्रीय महत्व के बैंकों को बड़ी इकाइयों का रूप दे दिया गया है। एक सीमा तक ये बैंक ग्राहकों को आकर्षित करने के लिये आपस में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं और उनके लिये विभिन्न सुविधाओं में थोड़ा थोड़ा अन्तर कर देते हैं, लेकिन वे एक दूसरे से निकट रहकर और मिलकर काम करते हैं और सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर एक समान नीति का अनुसरण करते हैं। यह कहां तक वाञ्छनीय है कि उनके आपस में एक दूसरे से तथा उनके और राज्य के साथ संबंधों में परिवर्तन किया जावे अथवा कि क्या यह अधिक अभीष्ट होगा कि उन सब को मिलाकर एक राज्यकीय बैंक बना दिया जावे।

व्यापारिक बैंकों के सामाजीकरण के प्रस्तावों का बहुत से क्षेत्रों में मुख्यतः तीन कारणों से कड़ा विरोध होता है। पहला कारण तो यह है कि लोगों को भय है कि यदि राज्य बैंकों का नियंत्रण करेगा तो लोगों के निजी और व्यापार संबंधी मामलों की उसे बहुत अधिक जानकारी हो जावेगी और यह कि यदि हम पुलिस की बात छोड़ भी दें तो भी कर उगाहने वालों को एक नवीन हथियार मिल जावेगा। बैंक के खातों की गोपनीयता का मामला ऐसा है जिसको बहुत से लोग स्पष्ट कारणों से अधिक महत्व देते हैं। लेकिन यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यह गोपनीयता जहां तक व्यक्ति के पड़ोसियों अथवा उसके व्यापारिक संबंधों का प्रश्न है आज की अपेक्षा राजकीय बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत कम सुरक्षित रहेगी। राज्य कर्मचारियों में बहुत दोष होते हैं किन्तु वे बकते नहीं फिरते हैं। जहां तक स्वयं राज्य से गोपनीयता का प्रश्न है यह थोड़ा भिन्न है। यह एक भिन्न प्रश्न है कि क्या एक आयकर उगाहने वाले को जो समझता है कि राज्य को धोखा दिया जा रहा है यह अधिकार होना चाहिए कि वह राज्य बैंक के मैनेजर के पास जाकर उसके ग्राहक के खाते के बारे में जानकारी मांग सके। निजी स्वामित्व वाले बैंकों के साथ भी इसी प्रकार के मामलों में बहुत से पेचीदा प्रश्न न्याय अदालतों और पुलिस संबंधी उठ खड़े होते हैं। तथापि बैंकों के सार्वजनिक स्वामित्व में ऐसी कोई बात नहीं होती

तालिका—१७

ब्रिटिश बैंकिंग, 1938 और 1945-53

1938	1945	1946	1947	1948	1949	1950	1951	1952	1953	समाशोधन करने वाले बैंक		कुल निधियों का विवरण—% प्रतिशत		राजकोपीय (ट्रेजरी) विलों को कुल रकम	
										शुद्ध निधियों का कुल निधियों	नकदी द्रव्य जो याचना विनियोग उधार दी हुई राजकोपीय (ट्रेजरी) निधियों	रकम में (ट्रेजरी) निधियों	दस लाख पौंड	अन्य दस लाख पौंड	कुल
1938	1945	1946	1947	1948	1949	1950	1951	1952	1953	100	10.6	18.9	28.0	42.9	547
104	485	1284	1358	1385	1252	1270	1289	1342	1435	205	10.5	8.4	24.6	16.3	1602
207	1284	1358	1385	1252	1270	1289	1342	1435	1532	222	10.3	14.8	26.4	17.4	1902
242	1358	1385	1252	1270	1289	1342	1435	1532	—	246	8.4	20.7	26.1	19.6	2193
295	1385	1252	1270	1289	1342	1435	1532	—	—	258	8.2	20.5	24.9	22.3	2212
303	1252	1270	1289	1342	1435	1532	—	—	—	260	8.3	23.8	25.2	24.1	2400
296	1270	1289	1342	1435	1532	—	—	—	—	262	8.3	30.7	25.0	26.7	3070
292	1289	1342	1435	1532	—	—	—	—	—	267	8.3	29.2	26.4	29.6	5160
298	1342	1435	1532	—	—	—	—	—	—	264	8.3	26.1	32.6	30.2	4974
277	1435	1532	—	—	—	—	—	—	—	—	8.1	27.1	34.6	27.7	5104
278	1532	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

तालिका—१८

व्यापारिक बैंकों का लाभ और लाभांश (डिविडेंड) 1950-1952

हजार पौंड में	1950	1951	1952	लाभ्यांश की दर	1952 के अन्त में 1 पौंड शेयर की कीमत
बार्कले बैंक	1972	1908	2138	14	58/6
लायड बैंक	1762	1816	1965	12	48/3
मिडलैंड बैंक	1987	1925	2075	16	64/-
नेशनल-प्राविशियल	1455	1470	1525	16	59/6
वैस्ट मिनिस्टर	1471	1405	1447	18	72/3
डिस्ट्रिक्ट (जिला)	513	508	516	18½	73/6
मार्टिनस् बैंक	733	725	745	15	60/6

तालिका—१९

मई 1953 में बैंकों द्वारा दिए गए ऋणों का वितरण

	दस लाख पौंड में	कुल का प्रतिशत
व्यक्तिगत तथा पेशे सम्बन्धी	369	19.7
कृषि तथा मछली उद्योग	198	10.6
खेराजि या फुटकर व्यापार (रिटेल ट्रेड)	177	9.5
इंजिनियरिंग इत्यादि	160	8.6
भोजन पेय तथा तम्बाकू	146	7.8
यातायात को छोड़कर सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग	99	5.3
वस्त्र व्यवसाय	84	4.5
स्थानीय प्रशासन	76	4.1
भवन निर्माण	61	3.3
लोहा और इस्पात	52	2.8
रसायनिक पदार्थ उद्योग	27	1.5
मनोरंजन	23	1.2
यातायात	18	0.9
नीका वाहन तथा जहाज निर्माण	17	0.9
भवन निर्माण सामग्री	17	0.9
रबर और चमड़ा	16	0.8
दान अस्पताल इत्यादि	13	0.7
खनिज उद्योग	7	0.4
स्टाक ब्रोकर	6	0.3
अलोह धातु	5	0.3
अन्य उद्योग तथा व्यापार	112	6.0
अन्य वित्तीय	184	9.9
	1867	100

है जिसका यह मतलब निकले कि निजी अथवा व्यापारिक गतियों के बारे में जानकारी के लिए आय प्राप्त करने वाले विभागों को उन तक पहुँच हो या न हो। जो भी अधिनियम व्यापारिक बैंकों के सामाजीकरण के लिए बनाया जावे उनमें स्पष्ट रूप से इस प्रकार की पहुँच को वर्जित किया जा सकता है। और उनकी इजाजत विशेष परिस्थितियों में ही दी जा सकती है। यह उत्तर उन लोगों को जो अन्य कारणों से बैंकों के सामाजीकरण अथवा सार्वजनिक उपक्रम (उद्योग) के विरोधी हैं मनुष्ट नहीं करेगा। लेकिन यह उन लोगों के लिए उचित उत्तर है जो बैंकों के सार्वजनिक स्वामित्व के विरुद्ध इसे मुख्य तर्क के रूप में उपयोग में लाते हैं।

व्यापारिक बैंकों के समाजीकरण के विरुद्ध जो दूसरी आपत्ति बहुत उदाई जाती है वह यह है कि राजकीय बैंक ऋण देने में अथवा उनको समर्थन कर देने में भेद करेंगे और विशेष क्रमों तथा व्यक्तियों को ऋण देने का प्रश्न एक राजनीतिक प्रश्न बन जायेगा। कुछ हद तक किसी भी नियोजित अर्थ व्यवस्था में अन्तर्गत प्रत्यय (साख) के वितरण का मामला एक सार्वजनिक दिषय बन जाना अवश्यम्भावी है। यदि सरकार द्वारा तैयार की हुई और पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत उत्पादन की कोई सार्वजनिक योजना है तो योजना के लिए जितने वित्त की आवश्यकता होगी वह तो उपलब्ध करना ही होगा फिर चाहे बैंक सार्वजनिक हों अथवा नहीं, और प्रत्यय (साख) को देना अथवा इनकार कर देना इन प्रकार नहीं होना चाहिये जिससे कि योजना ही उलट पुलट हो जावे। यदि राज्य ने पूर्ण रोजगार के लिए इस आधार पर योजना बनाने का निर्णय किया है कि अमुक अमुक प्रकार के उत्पादन का विस्तार किया जावेगा और अमुक अमुक पिछड़े क्षेत्रों का विकास किया जावेगा, और उस दशा में निजी स्वामित्व वाले बैंक योजना की आवश्यकतानुसार प्रत्यय (साख) देना स्वीकार न करें तो गत्यावरोध उपस्थित हो जावेगा। उनको तभी हल किया जा सकेगा जबकि या तो बैंकों को दबाकर अनुकूल आचरण करने पर बाध्य किया जावे अथवा राज्य अपना एक प्रतिद्वंदी बैंक गोलने जैसा कि कुछ अन्य परिस्थितियों में आस्ट्रेलिया में हुआ या फिर योजना अनफल हो जावे। प्रत्येक दशा में नियोजित अर्थ व्यवस्था का इस सीमा तक यही अर्थ है कि अल्पकालीन विनीय सहायता देने वालों की हेमियन ने व्यापारिक बैंकों पर कुछ न कुछ सार्वजनिक नियंत्रण होना चाहिये।

तथापि एक सामान्य आर्थिक योजना की आवश्यकताओं के अनुसार पूर्ण विनियोजन के प्रकारों के बीच का भेद व्यक्तिगत फर्मों के बीच के भेद से एक भिन्न वस्तु होती है। स्पष्ट है कि यह अत्यंत अवांछनीय होगा कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करदी जावें जिनमें एक फर्म विशेष का अन्वेष यह जाना कर सके कि किसी पार्लियामेंट के सदस्य के पास जाने से उसे अधिक लाभ मिल सकेगा

जो कि बिना उसके पास गये नहीं मिल सकती थी। राज्य स्वामित्व वाले बैंकों की इस प्रकार के राजनीतिक हस्तक्षेप से तथा पार्लियामेंट में विशिष्ट फर्मों के लिये दूसरों की अवहेलना कर विशेष सुविधा प्राप्त करने के लिये किये जाने वाले प्रश्नों से रक्षा करनी होगी। केन्द्रीय बैंक की भांति ही सार्वजनिक स्वामित्व वाले व्यापारिक बैंकों के लिए भी यह पूरी तरह आवश्यक होगा कि उन्हें विस्तृत स्वतंत्रता दी जावे और दैनिक कारवार में हस्तक्षेप से उनकी रक्षा की जावे। व्यवहार में उत्पादन की योजना में अवश्य ही यह प्रबंध करना होगा कि कुछ विशिष्ट व्यापारिक संस्थाओं को योजना के कुछ अंशों को पूरा करने के लिए कहा जावे, ठीक उसी प्रकार से जैसे कि जब राज्य एक युद्धपोत बनवाने का आर्डर देता है तो वह आर्डर किसी विशेष ठेकेदार को ही दिया जाता है। सभी सार्वजनिक निर्माण कार्यों को करवाने के लिए उनको छोड़कर कि जो सार्वजनिक उद्यमों द्वारा होते हैं फर्म विशेष को ही कार्य सौंपा जाता है और जिस प्रकार आज बैंक इस प्रकार के ठेकों के लिये आवश्यक प्रत्यय (साख) देते हैं ठीक उसी प्रकार से सामाजीकृत बैंकों को प्रत्यय (साख) देनी होगी। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्ण रोजगार के लिए आयोजन का इससे कुछ अधिक अर्थ होता है। उसमें राज्य अपने को निजी उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए उत्तरदायी मानता है, और सब ही निर्माण के कार्यों के लिये अपने आर्डरों (आदेशों) के क्षेत्र का विस्तार करता है। इसमें भी चाहे बैंकों का समाजीकरण हुआ हो अथवा न हुआ हो उन्हें आवश्यक प्रत्यय (साख) की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त यह मानने का कोई कारण नहीं है कि राज्य बैंकों से यह चाहेगा कि वे एक फर्म की अपेक्षा दूसरी फर्म की ओर झुकें और उनमें कोई भेद करें जब तक कि उसके लिए कोई अतीव विशेष कारण न हो।

यह ठीक है कि राज्य द्वारा संचालित बैंकों का ऐसी फर्मों को प्रत्यय (साख) न देने के लिए एक साधन के रूप में उपयोग किया जा सकता है जो कि उचित मजदूरी देने तथा श्रम के लिए उचित सुविधाएं तथा परिस्थितियों को उपलब्ध करने में सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करतीं। लेकिन इस प्रकार का भेद ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश में मनमाने ढंग से तथा बिना उचित कार्यवाही किये नहीं किया जा सकता। एक बार अमेरिकन सरकार ने वालकों के श्रम के विरुद्ध कानून को उन फर्मों को जो उस कानून की अवहेलना करतीं थीं संघीय डाक की सुविधाएं देने से इनकार करके लागू करने का प्रयत्न किया था। प्रत्यय (साख) के क्षेत्र में इस प्रकार की कार्यवाही संभव होगी लेकिन इस प्रकार की कार्यवाही उन्हीं के विरुद्ध की जावेगी जिनका अपराध सिद्ध हो चुका है। ऐसे अपराधियों का पक्ष समर्थन करने की किसी को क्यों इच्छा होनी चाहिये।

कभी कभी यह कहा जाता है कि राज्य संचालित बैंक प्रत्यय (साख) के देने में बड़े स्वामियों के पक्ष में और छोटों के विरुद्ध भेद करेंगे। कम से कम ग्रेट

ब्रिटेन में इसकी कोई संभावना नहीं है। इसी प्रकार का दोपारोपण बहुधा निजी स्वामित्व वाले बैंकों के विरुद्ध किया जाता है और हमने देखा है कि इस दोपारोपण में कुछ तथ्य भी है फिर चाहे बैंकों की इच्छा कुछ भी रहती हो। राजकीय साहूकारा (बैंकिंग) का समर्थन मुख्यतः वे लोग करते हैं जिनका विश्वास है कि बड़े कारबारों को सार्वजनिक नियंत्रण में लाना चाहिये किन्तु छोटे पैमाने का कारबार व्यक्तिगत उद्यम का न्यायोचित क्षेत्र है। इस बात की संभावना अधिक है कि राजकीय बैंक छोटे कारबारियों की सहायता करने की भरपूर चेष्टा करेंगे और पूर्ण रोजगार की व्यापक नीति के अंग स्वरूप उनको विशेष प्रत्यय (साख) संवधी सुविधाएं प्रदान करेंगे। पिछले वर्षों में राज्य के प्रयत्न से बहुत सी विशेष संस्थाएं स्थापित की गई हैं जिनसे छोटे और मध्यम पैमाने के कारबारों को प्रत्यय (साख) पूंजी मिलने में अधिक सहायता मिलेगी। सरकार बैंकों पर अपने नियंत्रण का उपयोग जो कुछ बैंकों से अलग रहकर वह बाहर से कर रही है उसके विरुद्ध करना कदापि नहीं चाहेगी।

राजकीय साहूकारा (बैंकिंग) के विरुद्ध तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि जमा करने वालों (खातेदारों) के लिए आज की बैंकिंग की अपेक्षा वह कम सुरक्षित रहेगी। किन्तु यह कोरा अर्थहीन तर्क है। हम यह मान लेते हैं ब्रिटिश साहूकारा (बैंकिंग) जैसा कि इस समय है जमा करने वालों को बहुत अधिक सुरक्षा प्रदान करता है और किसी भी बड़े निजी स्वामित्व वाले बैंक की संकट के समय यदि अन्य बैंक रक्षा न कर सकें तो राज्य केन्द्रीय बैंक के द्वारा सहायता देकर उसको ठप नहीं होने देगा। निसन्देह यह और भी स्पष्ट है कि राज्य उस बैंक को जो उसके संरक्षण में है कभी भी भुगतान में चूक करने की इजाजत नहीं दे सकता। वया 1933 में अमेरिका में जमा करने वाले अधिक सुरक्षित या कम सुरक्षित होते यदि बैंकों पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित होता ? स्पष्ट है कि वे अधिक सुरक्षित होते। क्योंकि जब अमेरिका की सरकार ने निजी स्वामित्व वाले बैंकों की सहायता की तो उसने सब जमा की गारंटी नहीं केवल कुछ बैंकों की जमा की एक सीमा तक ही गारंटी दी। यदि बैंक राज्य के होते तो जमा करने वालों की उन बैंकों में सारी जमा की गारंटी दी गई होती।

मैं केवल एक अर्थ में ही यह कल्पना कर सकता हूँ जिसमें निजी बैंकों की अपेक्षा राजकीय बैंक कम सुरक्षित हो सकते हैं और वह यह कि उसमें बैंकों के लाभ कम होंगे। बहुत पूर्व मैंने अपने एक भाषण में इस आशय के एक वाक्य में असावधानी से कुछ शब्दों का प्रयोग किया था, उसी समय से उन वाक्य का बैंक समाजीकरण के विरोधी उपयोग करते हैं। वे उस वाक्य को इस प्रकार उद्धृत करते हैं कि मानो मैंने यह कहा था कि समाजीकृत बैंक खातेदारों के लिए कम सुरक्षित होंगे। जबकि जिस संदर्भ में उस वाक्य का प्रयोग किया गया था उगरी यह स्पष्ट

हो जाता था कि मेरा अर्थ यह था कि वे समाजीकृत बैंक लाभ का दृष्टि से कम सुरक्षित होंगे और मैं व्यापारिक बैंकों की आलोचना बहुत अधिक सुरक्षा का ध्यान रखने के लिए, अप्रतिष्ठा के अर्थों में कर रहा था क्योंकि उनमें आशाजन्य योजनाओं को सहायता देने का भी साहस नहीं होता। राजकीय साहूकारा (बैंकिंग) अपने ग्राहकों की सस्ती सेवा कर सकती है और पूर्व में वरती जाने वाली व्यापारिक बैंकों द्वारा सावधानी की अपेक्षा प्रगतिशील उद्यमों (उद्योगों) को वित्तीय सहायता देने में वह कम सावधानी बरत सकती है। लेकिन यह उसका एक गुण होगा। दोष नहीं होगा। ग्रेट ब्रिटेन में व्यापारिक बैंकों के मुख्य दोष अति सावधानी और लागत तथा जोखिम को पूरा करने के लिए लाभ की मात्राओं (मारजिन) पर अत्यधिक जोर देना है।

क्या उस दिशा में भी संयुक्त हिस्सेदारों के व्यापारिक बैंकों का समाजीकरण करना आवश्यक है यदि समाजीकरण के वे कोई भी परिणाम न हों जिनसे उनके विरोधी भयभीत हैं? यदि उसके बिना आवश्यक नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है जिससे संतुलित पूर्ण रोजगार की आवश्यकता के अनुरूप प्रत्यय (साख) का वंटवारा हो सके तो यह आवश्यक नहीं है। फिर भी आयोजित अर्थव्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये तथा प्रत्यय (साख) की पूर्ति के वास्ते सस्ती से सस्ती व्यवहारिक अवस्थाओं को सुनिश्चित करने के लिए यह अत्यंत वाञ्छनीय हो सकता है और वह (बैंकों का समाजीकरण) ऐसी अर्थ व्यवस्था में नितान्त आवश्यक होगा, जब तक कि बैंक यद्यपि वे समाजीकृत नहीं हुए हैं ऐसा आचरण न करें मानों कि उनका समाजीकरण हो चुका है। बहुत हद तक वे युद्ध काल में तथा उसके बाद इस प्रकार का आचरण करते रहे हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वे बिना प्रभावशाली नियंत्रण के शांति के समय भी सदा ऐसा ही करते रहेंगे, अगर उनमें से अधिकांश व्यक्ति जिनके अधिकार में वे बैंक हैं, तत्कालीन सत्तारूढ़ सरकार की नीति एवं उसके स्वरूप को बहुत अधिक नापसन्द करते हैं। जैसा कि हमें ज्ञात है कि 1946 के बैंक अधिनियम के अन्तर्गत बैंक आफ इंग्लैंड को यह अधिकार दे दिये गये हैं कि वह व्यापारिक बैंकों को उद्यमों के उन रूपों के बारे में परामर्श देता रहे जिन्हें वह सार्वजनिक हित में अर्थों की अपेक्षा साख के लिए अधिक योग्य मानता है। बैंक इस परामर्श के अनुसार कार्य करने में भावी ऋण लेने वालों के बीच एक सीमा तक इस आधार पर भेद करते रहे हैं कि राष्ट्र की आर्थिक कठिनाइयों को सुलभाने में उनकी सहायता कहां तक प्रभावशाली होगी। इस प्रकार के विभेद को 1951 से अधिक महत्व प्राप्त हो गया है जबकि मुद्रा की स्थिति को कम करने के प्रयत्न में प्रत्यय (साख) को अधिक कड़ाई से सीमित कर दिया गया। साथ ही उस समय अनुदार दल की सरकार की आधीनता में बाजार के नियमों को अधिकतर स्वीकार करने की इच्छा

पुनः चलवती हो गई थी। सरकारी हस्तक्षेप केवल शस्त्रीकरण तथा निर्यात को बढ़ाने के लिए जरूरी सामान को सुनिश्चित करने तक ही सीमित था। अतएव दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे का कुछ हद तक प्रतिकार कर देती थीं। बैंक आव इंग्लैंड के द्वारा व्यापारिक बैंकों को आदेश देने की शक्ति आज पृष्ठ भूमि में है, किन्तु जब सरकारी नीति और बैंकों की सम्मति में घोर मतभेद हो तब उस स्थिति का सामना करने की इसमें कितनी क्षमता है इसकी परीक्षा करना अभी शेष है।

मेरा यह विश्वास है कि न तो यह आवश्यक है और न वाञ्छनीय ही है कि वर्तमान सभी व्यापारिक बैंकों को मिलाकर सभी के वास्ते एक राष्ट्रीय बैंक बना दिया जावे जिससे जमा करने वालों के लिए और कोई चारा ही न रहे और बैंकों के लिए आगे बढ़ने के लिए कोई गुंजाइश ही न रहे। पांच बड़े यथेष्ट बड़े बैंक हैं। सम्भवतः वे बहुत बड़े हैं। एक सम्मिलित बैंक जिसमें इन सभी बैंकों का कारवार सम्मिलित कर दिया जाय इतना दुर्बल हो जावेगा कि उसका कार्य कुशलतापूर्वक चल सकना कठिन होगा। सार्वजनिक स्वामित्व तथा समाजीकरण की नीति में ऐसी कोई बात नहीं है कि जिन बैंकों को राज्य ले उनका सम्मेलन करना आवश्यक ही हो। यदि व्यापारिक बैंकों का समाजीकरण करना ही हो तो यह अधिक अच्छा होगा कि प्रत्येक की हिस्सा-पूँजी राज्य खरीद ले और इस प्रकार वे सार्वजनिक स्वामित्व वाले निगम बन जावें। तथा वे एक समाजीकृत सहकारा (बैंकिंग) प्रणाली के अंग बन कर समाजीकृत बैंक ऑफ इंग्लैंड पर केन्द्रित रह कर पृथक बैंक बने रहें। इस प्रणाली में यह अनुचित होगा कि केन्द्रीय बैंक से व्यापारिक बैंकों को पृथक रखने की परम्परा को बनाये रखा जावे। इस दशा में कर्मचारियों को एक बैंक से दूसरे बैंक में अथवा सार्वजनिक वित्तीय सेवा की एक शाखा से दूसरी शाखा में स्थानांतर करना सरल होना चाहिये। जनता को अपनी रुचि के बैंक से कारवार करना चाहिये और बैंक को अपने कारोबार के विभिन्न तरीकों को बनाये रखना चाहिये। नये बैंक—उदाहरण के लिए खेती के लिए विशेष बैंक अथवा नगरपालिका के बैंक आवश्यकता-नुसार स्थापित हो सकेंगे। आज साधारणतया इस प्रकार के कार्य में लगने वाले बैंकों की स्थापना में निजी स्वामित्व वाले व्यापारिक बैंकों के निहित स्वार्थों के कारण रुकावट पड़ती है। व्यय घटाने के उद्देश्य को लेकर छोटी बैंक शाखाओं की संख्या को कम कर देने से इसमें कोई रुकावट नहीं होगी, कारण जैसा कि आज भी एक सीमा तक होता है एक ग्राम इकाई (बैंक शाखा) सभी बैंकों के एजेंट का काम कर सकेगी और जिन ग्राहकों को विशेष सुविधा या व्यवहार की आवश्यकता होगी तो वे अपने बैंक की समीप के कस्बे की शाखा से कारोबार कर सकेंगे।

यदि मजदूर दल पुनः सत्ता रूढ़ हो जाता है तो भी व्यापारिक बैंकों के समाजीकरण को तात्कालिक महत्व का प्रश्न बनाए जाने की सम्भावना नहीं दिखलाई

देती । मजदूर दल के बहुत से नेता उस प्रस्ताव को रखने से होने वाले राजनीतिक प्रभावों से भयभीत हैं । उनको भय है कि ऐसी भ्रान्ति फैलाई जा सकती है कि ऐसा होने पर बैंकों की जमा को ज्वत् कर लिए जाने का खतरा उत्पन्न हो जावेगा अथवा सरकारी व्यय के लिए उसका गलत उपयोग कर लिया जावेगा । 1931 में निस्संदेह विशेषकर फिलिप स्नाउडन ने एक चुनाव सम्बन्धी ब्राडकास्ट (प्रसारित वक्तव्य) में इस प्रकार के भय का बहुत प्रभावकारी उपयोग किया था । यद्यपि यह बात निराधार है परन्तु अनजान लोगों की भयभीत कर देने के लिए कारगर हो सकती है । मजदूर सरकार सम्भवतः सिफारिशें करने के अपने अधिकार पर भरोसा रखेगी और यदि आवश्यकता हुई तो 1946 के अधिनियम के शब्दों में किसी भी बैंक को उन सिफारिशों और प्रार्थनाओं को कार्यान्वित करने के लिए निर्देश देने के अधिकार पर ही निर्भर रहेगी । यदि बैंकों ने उस निर्देश की अवहेलना की तो सभी बैंकों के समाजीकरण का प्रश्न निकट भविष्य में पुनः उठाया जावेगा । यह सिद्धान्त कि व्यापारिक बैंकों को वही करना है जो कि समाजीकृत केन्द्रीय बैंक उनसे करने को कहे—कानून बना दिया गया है, और फिलहाल यह शायद काफ़ी है ।

अध्याय ११

दीर्घ कालीन पूंजी विनियोजन

ब्रिटिश व्यापार तथा उद्योगों के लिए दीर्घ-कालीन पूंजी की व्यवस्था अंशतः नए शेयरों को निकाल कर पूंजी बाजार द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पूंजी का विनियोजन करने वाली जनता को शेयर और बॉण्ड बेच कर की जाती है। अंशतः अधिकाधिक दीर्घ कालीन पूंजी की व्यवस्था उस संचिति निधि (रिजर्व फंड) से की जाती है जिसका वर्तमान कम्पनियों ने निर्माण किया है और उन्होंने या तो उसे अपने ही कारवार में लगाया है या अपने सहायक अथवा सम्बन्धित उद्योगों में लगाया है। अंशतः दीर्घ कालीन पूंजी की पूर्ति ऐसे विशेष श्रोतों—जैसे बैंक आफ इंग्लैंड और व्यापारिक बैंकों से उन सहायक एजेंसियों द्वारा होती है जिन्हें उन्होंने पिछले दिनों में दीर्घ कालीन पूंजी विनियोजन के लिए स्थापित किया है। यह एजेंसियां उन शेयरों का प्रबंध भी करती हैं जो कि दो युद्धों के बीच में उन कम्पनियों के पुनः चालू करने के संबंध में निकाले गए थे जो आर्थिक संकट में फंस गई थीं। और जिन्हें बैंकों ने खरीद लिया था। नये शेयरों के बाजार का संगठन कुछ हद तक पेचीदा है। पुराने निर्गमन गृह—अर्थात् पुरानी व्यापारी साहूकारों की फर्मों विदेशी सरकारों और नगर पालिकाओं के ऋणों को बेचने का काम करती थीं और देशी उद्योग के लिए पूंजी जुटाने में बहुत थोड़ा भाग लेती थीं। इस स्थिति में पिछले वर्षों में कुछ परिवर्तन हुआ है और उनमें से कुछ निर्गमन गृह—विशेष कर लेजार्ड ब्रदर्स—ने देश में विनियोजन के लिए नवीन शेयर पूंजी को बेचने में सक्रिय भाग लिया है। उनके साथ साथ और भी छोटे, बड़े, अच्छे, बुरे उदासीन निर्गमन गृह हैं जिनमें ऐसी बड़ी व्यापारिक संस्थाएं भी हैं जो कि बहुत राशि में नए शेयरों का कारवार करती हैं, और नाम मात्र के निर्गमन गृह भी हैं जो कि वास्तव में उन फर्मों के लिए पूंजी जुटाने का काम करते हैं, और वे उनके उपनाम के अतिरिक्त अधिक और कुछ नहीं है।

जैसा कि हमने देखा साधारण विनियोजन करने वाली जनता को नई हिस्सा पूंजी बेचने के तीन तरीके हैं। सबसे पुराना और सबसे अधिक प्रतिष्ठित तरीका पहले के कम्पनी अधिनियम में दिया हुआ है। अर्थात् एक विवरण पत्र प्रकाशित किया जाता है जिसमें नये शेयरों की शर्तों का उल्लेख होता है और यह घोषणा की

जाती है कि कानून की सभी आवश्यकताओं को पूरा कर दिया गया है और शेयरों के मूल्य पर प्रभाव डालने वाले जितने तथ्य हों उनकी पूरी जानकारी दी जाती है। इस प्रकार के विवरण पत्र में असत्य वक्तव्य देने अथवा आवश्यक सम्बद्ध जानकारी छिपाने के लिए कानूनी दंड की व्यवस्था है। यह दंड-व्यवस्था अब उन लोगों के लिए भी लागू कर दी गई है कि जो बिना औपचारिक रूप से विवरण पत्र प्रकाशित किए दूसरे तरीके के विक्री के प्रस्ताव द्वारा जनता को शेयर बेचते हैं। विक्री के प्रस्ताव को निकालने वाली वह कम्पनी नहीं होती जिसके लिए पूंजी जुटाई जा रही है वरन् वह वित्तीय एजेंसी या सिंडिकेट (व्यापार संघ) होती है जिसने उस कम्पनी के सभी शेयर इस आशा से खरीद लिए हैं कि भविष्य में वह उन्हें लाभ से बेच देगी। इस तरीके से शेयर बेचने वाली फर्मों को कम्पनी अधिनियम की बहुत सी आवश्यकताओं (जैसे सम्बद्ध जानकारी प्रकाशित करना) की पूर्ति से इस आधार पर छुट्टी मिल जाती थी कि उनकी स्थिति वही थी जो कि अन्य पुराने शेयरों को बेचने वालों की थी और उनको वह जानकारी उपलब्ध नहीं थी कि जो स्वयं कम्पनी को कम्पनी की वस्तु स्थिति के बारे में होती थी। लेकिन बेचने के प्रस्ताव द्वारा शेयर बेचने की प्रथा से ऐसे दोष उत्पन्न हो गए कि जान बूझ कर विवरण पत्र संबंधी कानूनी धाराओं को टाला जाने लगा, अतएव-कानून को बदलना पड़ा और उन फर्मों या सिंडिकेटों (व्यापार संघों) पर जो कि नए शेयरों को तुरन्त पुनः बेचने के लिए खरीदती थीं लगभग वही शर्तें लगा दी गईं जो मूल विवरण पत्र (प्रोस्पेक्टस) निकालने वालों पर लगाई जाती थीं।

परन्तु कानून में यह सुधार जनता को शेयर बेचने के तीसरे तरीके का नियंत्रण करने में असफल रहा। इस तीसरे तरीके अर्थात् स्कंध (स्टाक) बाजार प्रवेश में न तो छपा हुआ विवरण पत्र होता है और न छपा हुआ विक्री का प्रस्ताव ही होता है। वह फर्म या वित्तीय एजेंसी जिसने शेयरों को खरीद लिया है केवल स्कंध बाजार की कमेटी से, उन शेयरों का स्टाक बाजार में कारवार होने देने और स्कंध (स्टाक) बाजार की प्रकाशित होने वाली सूची में उनको सम्मिलित किए जाने की आज्ञा भर मांगती है। जब यह आज्ञा मिल जाती है तो वित्तीय एजेंसी (यदि कई एजेंसियों ने मिल कर शेयर खरीदे हैं तो एक से अधिक) उन शेयरों को क्रमशः थोड़ी थोड़ी राशि में बेचना आरम्भ करती हैं। वह शेयरों को बेचने के प्रस्ताव का इस प्रकार प्रबंध करती हैं कि जिससे बाजार में उन शेयरों की वाढ़ न आ जावे और वह बहुधा शेयरों की झूठी खरीद विक्री करवाती हैं जिससे कि उन शेयरों का बाजार में अच्छा आरम्भ हो।

स्पष्ट है कि इस तरीके में स्कंध (स्टाक) बाजार की कमेटी पर बहुत बोझ आ जाता है। उसे यह तय करना पड़ता है कि किन नए शेयरों को स्वीकार किया

जावे और किन को अस्वीकार किया जावे। पूंजी जुटाने के इस तरीके का अधिकाधिक उपयोग किए जाने का परिणाम यह हुआ कि स्कंध बाजार की कमेटी ने अपने नियमों को थोड़ा कठोर बना दिया। किन्तु शंकास्पद शेयर अब भी उसकी परीक्षा में खरे उतर जाते हैं। जिन शेयरों की कमेटी अस्वीकार कर देती है उन नए शेयरों का लंदन स्टॉक बाजार से बाहर कारवार होने पर कोई रोक नहीं है। प्रचारकों द्वारा शेयरों के मूल्य को ऊंचा उठाने तथा बहुत बड़ी मात्रा में विज्ञप्तियों द्वारा प्रचार करने पर 1928 के कम्पनी अधिनियम में जो बंधन लगाए गए उनसे उन बुरी प्रथाओं को, जो बदनाम हो गई थीं रोकने में कुछ सफलता मिली है। परन्तु वर्तमान कम्पनी अधिनियम (1948) में जो रक्षा उपायों का विधान किया गया है वे भी अवांछनीय शेयरों के निकाले जाने तथा पूंजी विनियोजन करने वाली जनता की आशान्वित मनोवृत्ति हो तो उनके खरीदे जाने से रोकने के लिए पर्याप्त नहीं है।

समस्त नए शेयरों की एक वित्तीय एजेंसी द्वारा अथवा कई एजेंसियों द्वारा मिल कर खरीद अभिगोपन की पुरानी पद्धति का एक विकल्प है। शेयरों या बंधों (बांडों) के अभिगोपक सम्पूर्ण नए शेयरों पर अभिगोपन कमीशन के बदले एक सहमत कीमत पर अथवा शेयरों की घोषित कीमत पर उन शेयरों को खरीदना स्वीकार करते हैं जिन्हें जनता विवरण पत्र प्रकाशित होने पर नहीं खरीदती। बहुधा वह फर्म जो शेयरों का अभिगोपन करती है अपने उत्तरदायित्व को दूसरों के साथ बांट लेती है। अभिगोपन करने वाली फर्म उप-अभिगोपकों से यह अनुबन्ध या समझौता कर लेती है कि बिना बिके शेयरों अथवा बांडों का एक भाग वह फर्म से खरीद लेंगे। इस प्रकार के अभिगोपन की उस दशा में कोई आवश्यकता नहीं होती जब कि वह संस्था जो शेयर निकालने का प्रबंध करती है सम्पूर्ण शेयरों या बांडों को पुनः बेचने के लिए खरीद लेती है। वास्तव में होता यह है कि अभिगोपक वे व्यक्ति होते हैं जिनको शेयरों में अभिगोपन के अतिरिक्त और कोई रुचि नहीं होती और वे एजेंसियां जो सम्पूर्ण शेयरों को खरीद लेती हैं उन कम्पनियों की उपनाम मात्र होती हैं जिनके शेयर की खरीद बिक्री की जाती है। सदैव ऐसा नहीं होता, ऐसी भी पूर्ण प्रतिष्ठित एजेंसियां हैं जो समस्त शेयरों को खरीदती हैं। किन्तु जनता को ऐसे अंग निर्गमन गृह (इश्यू हाउसेज) तथा वित्तीय एजेंसियों में जो कि वास्तव में स्वतंत्र संस्थाएं हैं, और उस संस्था में जो कि केवल उस कम्पनी की जिसके कि शेयरों को बेचने का वह प्रयत्न कर रही है सहायक मात्र हैं भेद करना कठिन है।

अभिगोपन करने तथा सम्पूर्ण नए शेयरों के खरीदने का प्रबन्ध उन लोगों को जो यह सेवा करते हैं कमीशन (जो कि बहुधा बहुत अधिक होता है) देकर करने का कारण यह है कि जब कोई कम्पनी कारवार आरम्भ करना चाहती है अथवा अतिरिक्त

पूँजी जुटाना चाहती है तो उसके मस्तिष्क में निश्चित योजनाएं होती हैं जिनका सम्भावित व्यय पहले से कूता जा सकता है। कल्पना कीजिए कि यदि एक कारखाने का निर्माण करना तथा उसमें मशीन आदि लगाना अभीष्ट है जिसकी लागत एक लाख पाँड होगी और उसके अतिरिक्त कार्यशील पूँजी तथा अन्य आवश्यक व्यय के लिए ५० हजार पाँड की आवश्यकता है तो स्पष्ट है कि कम्पनी तब तक अपनी योजनाओं को कार्यान्वित नहीं कर सकती जब तक कि उसको लगभग सम्पूर्ण आवश्यक पूँजी अर्थात् डेढ़ लाख पाँड न मिल जावे जिसकी कि उसने मांग की है। यदि पूँजी की मांग के उत्तर में उसे केवल 75,000 पाँड पूँजी ही प्राप्त हो तो आयोजित कारखाना नहीं खड़ा किया जा सकेगा। यदि कम्पनी अपर्याप्त मशीन आदि तथा विना कार्यशील पूँजी से कारवार शुरू कर दे तो इस बात का गम्भीर खतरा रहेगा कि वह पूँजी ही नष्ट हो जावे। अभिगोपन पर अथवा किसी वित्तीय एजेंसी को पूँजी जुटाने का काम सौंप देने से यह निश्चय हो जाता है कि जितनी पूँजी की मांग की गई है वह अवश्य ही प्राप्त हो जावेगी। अस्तु यह आवश्यक सावधानी है जिसके लिए उचित कमीशन देना युक्त संगत है। परन्तु एक खतरा रहता है विशेष कर, जब कि सम्पूर्ण निर्गमित पूँजी को एक वित्तीय एजेंसी वट्टे पर खरीद लेती है अर्थात् जितनी रकम जनता देती है और जितनी रकम कम्पनी को प्राप्त होती है उसमें बहुत अधिक अन्तर हो जाता है। यह अन्तर उन व्यक्तियों को प्राप्त होता है जिनका उस कम्पनी की समृद्धि में कोई दीर्घकालीन स्वार्थ नहीं होता क्योंकि उनकी एक मात्र इच्छा जितना अधिक कमीशन प्राप्त कर सकते हैं उतना प्राप्त कर लेने के उपरान्त उससे बाहर निकल जाने की होती है।

इस प्रकार का दुरुपयोग देशी शेयर निर्गमन में विदेशों की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। क्योंकि यदि इस बात को छोड़ भी दें कि विदेशी विनियोजन पर युद्धकाल के समय से ही नियंत्रण स्थापित है तो भी विदेशी शेयर निर्गमन के सफल होने की उस समय तक सम्भावना बहुत कम रहती है जब तक कि कोई बहुत प्रतिष्ठित और भरोसे का शेयर निर्गमन गृह उसका उत्तरदायित्व न ले। इस प्रकार दुरुपयोग स्थानीय प्रशासन अधिकारी संस्थाओं, सार्वजनिक कारपोरेशनों, और सुदृढ़ वड़े औद्योगिक कारखानों के देशी निर्गमन में ही होता है। इसके दोषी तो वे सटोरिए कम्पनी प्रवर्तक होते हैं जो कि अपनी योजना को कार्यान्वित करना चाहते हैं, अथवा वे अविश्वसनीय वित्तीय एजेंट होते हैं जिन्होंने अपना यह धन्धा ही बना लिया है कि ऐसे किसी निजी कारवार को ढूँढ निकालें जिसे वे सार्वजनिक कम्पनी का रूप दे सकें अथवा ऐसी कठिनाई से संघर्ष करती हुई फर्मों को ढूँढ निकालें जिन्हें अतिरिक्त पूँजी की बहुत अधिक आवश्यकता है और फिर ऐसा प्रवृत्त करें जिससे वे अधिक से अधिक लाभ (कमीशन) वटोर सकें। यह लाभ वे उन लोगों को हाथ पहुंचा कर वटोरते हैं जिनके हाथ में वे नये शेयर अन्त में रहने वाले हैं।

विदेशी निर्गमन की कुछ विशेष समस्याएं होती हैं । पूंजी को विदेशों को भेजने में—जब तक कि वह तत्काल ऐसे ब्रिटिश माल के रूप में ही बाहर न जावे जिस माल का निर्यात ही नहीं होता—विदेशी विनिमय की समस्या उठ खड़ी होती है । उसका अर्थ यह होता है कि साहूकारा (बैंकिंग) प्रणाली अर्थात् केन्द्रीय बैंक को इतनी विदेशी विनिमय उपलब्ध करनी होगी और यदि उस समय विदेशी व्यापार का अन्तर घाटे में है अथवा कोई वचत नहीं है कि उसका विदेशों में विनियोजन किया जावे तो विदेशी विनिमय की कठिनाई खड़ी हो जाती है । अतएव विदेशियों द्वारा ब्रिटिश विनियोजकों से अपील करके कितनी पूंजी ऋण स्वरूप प्राप्त की जा सकती है उस पर औपचारिक अथवा अनौपचारिक नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक हो जाता है । 1931 तक यह नियंत्रण केवल अनौपचारिक था । बैंक आफ इंग्लैंड राजकोप (ट्रेजरी) तथा लंदन के बड़े वित्तीय गृहों से परामर्श करके विदेशों में विनियोजन के लिए पूंजी निर्गमन की अतिरिक्त कानूनी जांच करता था और पुराने स्थापित निर्गमन गृह जो इस प्रकार का कारवार करते थे बैंक आफ इंग्लैंड से परामर्श करके ही काम करते थे । 1931 के उपरान्त जब ब्रिटेन ने स्वर्ण मान छोड़ दिया तो इस कार्य प्रणाली में कुछ कठोरता आ गई और राजकोप (ट्रेजरी) इसमें स्पष्ट हस्तक्षेप करने लगा । राजकोप उन ऋणों को छोड़ कर जिन्हें वह देना स्वीकार करता था अन्य विदेशी ऋणों पर रोक लगाने की घोषणा कर देता था । इसमें फिर भी बहुत बड़ा छिद्र था, क्योंकि बहुत सी कम्पनियां जिनका पंजीयन (रजिस्ट्रेशन) ग्रेट ब्रिटेन में हुआ था अंशतः अपना कारवार ग्रेट ब्रिटेन में करती हैं और अंशतः विदेशों में करती हैं । उनको ब्रिटेन में पूंजी निर्गमन करके प्राप्त पूंजी को विदेशों को भेजने से, अथवा विदेशी कारवार में प्राप्त हुए लाभ की रकम का विदेशों में विनियोजन करने से कोई नहीं रोक सकता था । क्रमशः यह परिपाटी पड़ी कि बड़े व्यापारिक संस्थान जब इस प्रकार कारवार करते कि जिनमें बहुत बड़ी राशि में पूंजी विदेशों को भेजी जाने वाली हो तो वे बैंक आफ इंग्लैंड अथवा राजकोप (ट्रेजरी) से परामर्श करते थे । लेकिन 1939 तक इस संबंध में कोई कानूनी नियंत्रण नहीं था और न कम्पनियों के शेयर या बांड जो विदेशों में निकाले गए हों उनको ब्रिटेन में लाने और वहां उनको पुनः बेचने पर कोई रोक ही थी जिसके फलस्वरूप विदेशों को उनके कीमत की अदायगी के लिए मुद्रा का निर्यात करना पड़ता था ।

वात यह थी कि युद्ध के पूर्व ब्रिटिश पूंजी बाजार बहुत अस्त व्यस्त दशा में था । यद्यपि 1931 के उपरान्त बैंक आफ इंग्लैंड तथा राजकोप (ट्रेजरी) क्रमशः विदेशी निर्गमन पर नियंत्रण कड़ा करते गए और देश में जो निर्गमन होता था और उसमें जो दोष प्रचलित थे वे भी कम होते गए, यह अंशतः उन नए अकुलों का परिणाम था जो कम्पनी के शेयरों के निर्गमन पर लगाए गए थे और उससे कहीं

अधिक निर्गमन की कुल मात्रा के बहुत कम हो जाने का परिणाम था । उस दशा में परिकल्पी लाभ होने की सम्भावना बहुत कम हो गई थी ।

इस संबंध में यह ध्यान देने की बात है कि दीर्घकालीन पूंजी बाजार पर जो भी नियंत्रण थे वे एक मात्र वित्तीय नियंत्रण थे । उनके पूंजी की पूर्ति का सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं से सामंजस्य स्थापित करने से तनिक भी संबंध नहीं था । इससे किसी को कोई मतलब नहीं था कि अमुक अमुक उद्योग को कुल मिलाकर कितनी पूंजी की आवश्यकता है । जब तक कि उद्योग पूर्णतया एक बड़ी व्यापारिक संस्था के अधिकार में ही न हो जैसा कि आई० सी० आई० के अधिकार में था । इससे भी किसी को कोई मतलब नहीं था कि विभिन्न क्षेत्रों में जितनी पूंजी की आवश्यकता थी उतनी पूंजी उस क्षेत्र की ओर जा रही है अथवा जो पूंजी की मांग पूंजी बाजार में की जा रही है वह पूरक है अथवा परस्पर विरोधी है । यह सोचने का भी किसी का काम नहीं था कि विनियोजन के लिए जितनी कुल नई पूंजी की मांग की जा रही है वह उपलब्ध वचत के बराबर है, उससे कम है अथवा उससे अधिक है । केवल जाल साजी के विरुद्ध ऊपर वर्णित सावधानी के अतिरिक्त यह भी किसी का काम नहीं था कि वह अंशधारियों के हितों का संरक्षण करे ।

अंशधारियों को कुछ और भी संरक्षण प्राप्त थे जब कि सर्व साधारण जनता को कोई भी संरक्षण प्राप्त नहीं था । इस बात का कोई आश्वासन नहीं था कि विनियोजन का देश की वास्तविक आवश्यकताओं से संबंध होगा । विनियोजक को और अधिक संरक्षण उन विशेष एजेंसियों से प्राप्त होता था जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है अर्थात् विनियोजन न्यास (ट्रस्ट) अचल न्यास (ट्रस्ट) तथा समान अन्य संस्थाएं जिनका मुख्य उद्देश्य जोखिम का फैलाव करना था और जिनका उपयोग जोखिम को कुछ हद तक कम करने में किया जा सकता था । विनियोजन न्यास (ट्रस्ट) अथवा उनमें से कुछ बहुत अधिक मात्रा में आशाजनक नए शेयरों के खरीददार होते हैं । क्योंकि वे शेयरों को अपने पास रखने के लिए, तथा पुनः बेचने के लिए खरीदते हैं, वे उन कम्पनियों जिनके शेयरों को वे लेते हैं—की सम्भावनाओं में स्कंध (स्टाक) बाजार में सट्टा करने वालों की अल्पाकालीन दृष्टि से अधिक दीर्घकालीन रुचि रखते हैं । वे जिन कम्पनियों में जाल अथवा घोर कुप्रबंध की शंका करते हैं यह धमकी देकर उन पर दबाव डालते हैं कि अंशधारियों की मीटिंग में कठिनाई उपस्थित करेंगे अथवा नगर में चर्चा करेंगे । दोनों युद्धों के बीच के काल में उनकी पूंजी बाजार में बढ़ती हुई महत्ता के कारण उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया है । किन्तु उनका कार्य भी शुद्ध आर्थिक लाभ की कामना से प्रभावित होता है । वे पूंजी का विनियोजन करते हैं । उसको उचित सुरक्षा के साथ अधिकतम लाभ प्राप्त करने की

दृष्टि से ही लगाते हैं। अन्य किसी भी उद्देश्य से वे अपने अंगधारियों की पूजा का विनियोजन नहीं करते।

प्रश्न यह है कि क्या विनियोजन का कोई आयोजन होना चाहिए? विनियोजन का आयोजन केवल वित्तीय दृष्टिकोण से ही नहीं होना चाहिए वरन् पूजा के सही उपयोग के दृष्टिकोण से भी होना चाहिए जिससे कि उत्पादन और रोजगार के ऊँचे स्तर का विकास किया जा सके, उत्पादन तथा सेवा की विभिन्न शाखाओं में तथा विभिन्न क्षेत्रों में उसका सही विभाजन हो सके। यह स्पष्ट है कि निजी विनियोजक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इन बातों का ध्यान रखेगा और न विनियोजन करने वाली एजेंसियों से ही यह आशा की जा सकती है जो अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए चलाई जाती हैं और जिन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं होता कि उनकी विनियोजित पूजा का क्या और कैसा उपयोग किया जाता है। वे तो केवल मात्र उस विनियोजन से मिलने वाले लाभ तक ही उसमें रुचि रखती हैं। यह आशा करना केवल काल्पनिक होगा कि बहुत ही सीमित विनियोजकों को छोड़ कर अधिक लोग अपनी पूजा चार प्रतिशत सूद पर आदर्श सार्वजनिक गृहों में लगावेंगे, यदि उन्हें यह विश्वास हो फिर चाहे वह गलत ही क्यों न हो, कि ग्रेटाऊंड दौड़ के (ट्रेक) मार्ग में पूजा लगाने से उन्हें 8 प्रतिशत सूद मिल सकता है। स्थानीय प्रशासन अधिकारी तथा सार्वजनिक निगम जब वे पूजा के लिए अपील प्रकाशित करते हैं तो यह माना जा सकता है कि वह किसी क्षेत्र अथवा सेवा की वास्तविक आवश्यकताओं के सन्नध में निकाली गई होगी और जो लोग लाभ देने वाले उद्योगों के लिए पूजा की अपील निकालते हैं वे उन वस्तुओं की मांग की आशा करते हैं कि जिनके तैयार करने में पूजा काम आवेगी। यदि पूर्ति और मांग की शक्तियाँ उसी सुन्दर अनुकूलता से काम करें जैसा कि अर्थ-शास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में उनके संवन्ध में मान लिया जाता है तो लाभ की आशा व्यवसायियों को ठीक उतनी ही पूजा के लिए अपील करने के लिए उत्साहित करेगी जितनी कि वे उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में सम्पूर्ण उपभोक्ताओं के अधिकतम लाभ के लिए उपयोग में ला सकेंगे। और फिर विनियोजन के आयोजित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। लेकिन कोई भी व्यक्ति जिसकी बुद्धि ठिकाने है, यह कहने का माहम नहीं करेगा कि पूर्ति और मांग की शक्तियाँ इस प्रकार समाज के लिए लाभप्रद तरीके से काम करती हैं। यदि कोई ऐसा कहता है तो किसी भी व्यवसायिक अभिवृद्धि काल में हुए नये विनियोजनों का इतिहास इस कथन को असत्य सिद्ध कर देगा। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि अभिवृद्धि काल में, जिसमें कि अधिकतर नया पूजा विनियोजन होता है, कुछ वर्षों में ही उस विनियोजन का मूल्य बहुत कुछ गिर जाता है। नए निर्गमन बाजार के माध्यम से विनियोजित पूजा का जो अपव्यय होता है वह बहुत भयावह है। उदाहरण के लिए 1929 की अभिवृद्धि काल में नवीन निर्गमन के बारे

में देखिए जी० डी० एच० कोल की पुस्तक—'पूँजी और विनियोजन—एक अध्ययन' और मैकमिलन रिपोर्ट । यह ध्यान में रखने की बात है कि यद्यपि पूँजीगत वस्तुओं का मुद्रा मूल्य कम हो जाता है परन्तु वे नष्ट नहीं होती, वे ज्यों की त्यों विद्यमान रहती हैं । परन्तु यह कोई प्रतिवाद नहीं है, क्योंकि उनके मुद्रा मूल्य में कमी होना एक सीमा तक इस बात का सूचक है कि पूँजी का गलत विनियोजन हुआ है । सम्भवतः जो पूँजी कम्पनियों के आरक्षित कोष से विनियोजित होती है उसका गलत उपयोग बहुत कम होता है । क्योंकि चालू कम्पनियों के संचालक स्थायी मूल्य की वस्तुओं में अधिक रुचि रखते हैं न कि उन वस्तुओं में जिनका मूल्य परिकल्पित है और इस बात की अधिक सम्भावना है कि वे बाजार की मांग का अधिक सही अन्दाज़ लगा सकते हैं । अनुभव से ज्ञात होता है कि वे भी विशेषकर प्रतिस्पर्द्धी कारवार को बहुत अधिक बढ़े हुए मूल्य पर खरीदने की भयंकर भूल कर सकते हैं, जैसा कि 1928 में हुआ । वे ऐसे सहायक बंधों में भी घुसने की भूल कर सकते हैं जिनमें उस तकनीक से बहुत भिन्न तकनीक की आवश्यकता होती है जिसमें कि वे विशेषज्ञ हैं । जैसा कि उसी काल में, लिवर ब्रदर्स, के साथ हुआ ।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि नये विनियोजन के सम्बंध में पूँजी की हानि यदि कुल मांग जितनी अस्थिर है उससे कम अस्थिर होते हुए बहुत कम होगी । यदि राज्य पूर्ण रोज़गार की स्थिति को बनाए रखने की जिम्मेदारी लेता है तो व्यवसायी पूँजीगत वस्तुओं में इस आश्वासन के साथ विनियोजन कर सकेंगे कि उन्हें अपनी वस्तु के लिए बाजार प्राप्त हो जावेगा । अस्थिर आर्थिक क्रिया की दशा में उन्हें इस बात का भरोसा नहीं होता । सच तो यह है कि 1945 के उपरान्त वे ऐसा करने में समर्थ हुए हैं जबकि पूर्ण रोज़गार की स्थिति थी और साथ ही पूँजी की कमी थी । ऐसा करने में बहुत से परिकल्पी विनियोजनों को समाप्त कर व्यवसायियों ने अपना ध्यान उन पर केन्द्रित किया कि जिनकी सफलता की सम्भावनाएं बहुत अधिक थीं । जब कि कुल विनियोजन आयोजित होता है और एक आयोजित स्तर पर उसको दृढ़ता से रोक रखा जाता है तब विनियोजन की क्रिया विशेष को बहुत अधिक सीमा तक विना किसी जोखिम के सार्वजनिक निर्माण कार्य तथा अन्य सार्वजनिक तथा राज्य नियंत्रित विनियोजन के क्षेत्र के बाहर स्वयं अपना संचालन करने के लिए छोड़ा जा सकता है । कहने का अर्थ केवल यह हुआ कि यदि कुल विनियोजन का बहुत बड़ा भाग राज्य की देख रेख में आयोजित होता है तो आनियंत्रित भाग को अनआयोजित छोड़ देने से बहुत कम हानि होगी । इसका यह अर्थ नहीं कि समाज के लिए यह अधिक अच्छा नहीं होगा कि निजी विनियोजन के अधिकांश भाग को भी आयोजित कर दिया जावे । वह समाज की आवश्यकताओं को तथा विनियोजकों के लाभ की सम्भावनाओं, दोनों की दृष्टि से अच्छा होगा ।

ग्रेट ब्रिटेन में पूंजी के विनियोजन को आयोजित करने के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव बहुधा रक्खा जाता है—में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन के सम्बन्ध में एक दूसरे परिच्छेद में लिखूंगा—वह यह है कि राज्य की संरक्षकता में एक प्रकार के राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड की स्थापना की जावे। इस प्रस्ताव के बहुत से रूप हैं। इनका सबसे सरल रूप यह है कि राज्य अथवा स्थानीय प्राधिकार के नियंत्रण में केवल एक निरीक्षण संस्था बनाई जावे जो राजकीय संस्थाओं, राज्य, स्थानीय प्राधिकारों, तथा बहु प्रकार की सार्वजनिक तथा अर्द्ध सार्वजनिक निगमों तथा बोर्डों के विनियोजन की देख भाल करे। युद्ध के पूर्व के दस वर्षों में इस प्रकार के विनियोजन के अन्तर्गत आर्थिक तथा सामाजिक विकास में लगाई जाने वाली कुछ नई पूंजी का बहुत अधिक बड़ा भाग था जाता था। सार्वजनिक संस्थाओं के अन्तर्गत सार्वजनिक भवन, स्कूल, नगरपालिका द्वारा निर्मित मकान, अस्पताल, सड़कें, राज्य द्वारा चलाई जाने वाली याता-यात सेवाएं, नौकाश्रय और बंदरगाह, समुद्री जहाज बनाने का उद्योग, डाक का विस्तार, वन आयोग के अन्तर्गत वन लगाना, तथा अन्य सार्वजनिक अथवा सार्वजनिक नियंत्रित पूंजीगत निर्माण कार्यों में कुल जितनी पूंजी गृह विभाग में लगाई जाती थी उसका अधिकांश भाग खप जाती थी। यदि इस सूची में रेलवे और उन उद्यमों को और जोड़ दिया जावे जो राज्य की नीतियों से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं (जैसे—इस्पात उद्योग, कृषि उद्योग सम्बन्धी विभिन्न उद्योग—जैसे सुअर का मांस और चुकन्दर की चीनी उत्पन्न करना) तो उस का प्रति शत और भी अधिक होगा। यद्यपि राज्य का पूंजी के विकास पर बहुत अधिक प्रभाव था किन्तु वह प्रभाव किसी समन्वित ढंग से अथवा किसी सार्वजनिक विनियोजन योजना के अनुसार नहीं डाला जाता था। राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड की स्थापना के विचार के समर्थकों का उद्देश्य यह था कि ऊपर लिखे सभी प्रकार के पूंजी व्यय का समन्वित अव्ययन हो सके और उनका काल नियमन इस प्रकार से हो कि पूंजी व्यय की कुल मात्रा तथा समाज की आवश्यकताओं का सामंजस्य प्राथमिकताओं की संतुलित श्रेणी स्थापित करके तथा सार्वजनिक व्यय में इस प्रकार हेर फेर करके कि जिनसे निजी विनियोजन की घट बढ़ को दूर किया जा सके स्थापित हो जावे।

राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड के कुछ समर्थक इससे बहुत आगे की बात करते थे। उनकी इच्छा थी कि बोर्ड के कार्यों में यह और जोड़ दिया जावे कि वह नये निर्गम बाजारों के द्वारा पूंजी प्राप्त करने के लिए निजी प्रार्थना पत्रों को लाइसेंस दे अथवा लाइसेंस देना अस्वीकार कर दे। जिससे कि पूंजी की कुल राशि को तथा पूंजी के निर्गमन के समय दोनों को ही प्रभावित किया जा सके, और प्रस्तावित पूंजी निर्गमन की सार्वजनिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से जांच की जा सके। कुछ प्रस्तावों में केवल पूंजी निर्गमन की कुल राशि को नियंत्रित करने अथवा पूंजी निर्गमन के इन प्रार्थना पत्रों को अस्वीकार कर देने पर बल दिया गया था कि जो सामाजिक आवश्यकताओं

की दृष्टि से अनावश्यक दिखलाई दें । अन्य प्रस्तावों में इस बात पर बल दिया गया कि नई पूंजी निर्गमन पर नियंत्रण स्थापित हो जाने से राज्य घने क्षेत्रों में नए कारखानों के स्थापित होने तथा स्थापित कारखानों के विस्तार को रोक सकेगा और नए उद्यमों को उन पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित किए जाने के लिए प्रोत्साहन दे सकेगा, जहां श्रम का आविर्भाव है, जिसको कि वर्तमान उद्यम नहीं खपा सकते । राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड के बहुत से समर्थक इसके आगे यह दलील देते हैं कि नई पूंजी निर्गमन के साथ कम्पनियों के संवृद्धि कोषों से जो विनियोजन किया जावे उस पर भी बोर्ड का नियंत्रण होना चाहिए और विनियोजन नियंत्रण को एक संशोधित नगर और ग्राम नियोजन अधिनियम के अन्तर्गत नई औद्योगिक इमारतों तथा भूमि के उपयोग पर भी नियंत्रण स्थापित करके अधिक शक्तिशाली बना देना चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि विनियोजन का नियंत्रण न केवल आर्थिक विकास में लगने वाली कुल नई पूंजी को नियंत्रण करने अथवा विभिन्न उद्योगों और सेवाओं की ओर प्रवाहित होने वाली पूंजी का अधिक अच्छा सन्तुलन बिठाने के औजार के रूप में सोचा गया वरन् उसको समस्त देश में उद्योग बंधों और जनसंख्या के अधिक उत्कृष्ट वितरण के एक साधन के रूप में भी सोचा गया । विशेष रूप से पिछड़े क्षेत्रों को अपनी समृद्धि को पुनः प्राप्त करने में वह सहायक हो सकता था ।

तालिका (सारिणी)—२०

ब्रिटिश वचत संस्थाओं और सार्वजनिक बीमा कोषों के आंकड़े

1913 और 1938 से 1953 तक

वर्ष	पोस्ट ऑफिस वचत बैंकों की जमा लाख पौंड	ट्रस्टी वचत बैंकों की जमा लाख पौंड	अपरिशोधित सेविंग्स सर्टि- फिकेट देय सूद को निकाल कर* लाख पौंड	बेकारी बीमा कोष शेप (१) लाख पौंड	स्वास्थ्य बीमा कोष शेप लाख पौंड	अंशदायी पेंशन कोष शेप (१) लाख पौंड
1913	1870	540	—	—	—	—
1938	5090	2380	3860	420	1440	220
1939	5510	2510	3810	430	1470	250
1940	6520	2790	4310	270	1490	300
1941	8230	3270	6030	330	1560	400
1942	10050	3810	8310	1030	1660	520
1943	10750	4000	10340	1770	1710	650
1944	13170	4750	12920	2520	1740	780
1945	15800	5550	15110	3230	1760	900
1946	18760	6260	16040	3960	1800	100
1947	19820	6960	16730	4540	1790	1140
1948	19700	7640	17410	5250	1750	1230
1949	19490	8530	17190		10170†	
1950	19360	9020	16800		11800†	
1951	18750	9240	17210		13480†	
1952	18130	9360	17310			
1953	17470	9550	17610			

* देय सूद मार्च 1953 में 5240 लाख पौंड था ।

(१) दिये हुए वर्ष के मार्च में समाप्त होने वाले वित्तीय वर्षों के आंकड़े ।

† राष्ट्रीय बीमा तथा औद्योगिक क्षति कोष के सम्मिलित साधन ।

तालिका (सारिणी)—२१

सहकारी समितियां 1913 और 1938 से 1952 तक

वर्ष	फुटकर समितियां			थोक समितियां	
	सदस्य हजार	कोष लाख पौंड	विक्री लाख पौंड	कोष लाख पौंड	विक्री लाख पौंड
1913	2878	460	850	120	400
1938	8405	2000	2630	1080	1540
1939	8643	2150	2720	1110	1560
1940	8717	2140	2990	1080	1730
1941	8773	2250	3020	1200	1770
1942	8925	2460	3190	1380	1930
1943	9082	2740	3320	1640	2030
1944	9225	3020	3520	1920	2230
1945	9405	3260	3610	2090	2240
1946	9730	3430	4020	2270	2520
1947	9977	3500	4440	2220	2760
1948	10162	3510	5030	2080	3110
1949	10414	3490	5490	1890	3590
1950	10692	3450	6140	1740	3940
1951	10929	3400	6640	1480	4390
1952	11093	3380	7200	1430	5060

इतनी दूर तक आगे बढ़ जाने के बाद इस विन्दु पर रुक जाना सरल नहीं है। इस तर्क में कुछ बल है कि यदि व्यापारियों को जब और जहाँ भी वह चाहें और उत्पादन की जिन शाखाओं में उन्हें सबसे अधिक लाभ मिलने की सम्भावना हो यदि उन औद्योगिक विनियोजनों को विकसित करने से उन्हें कठोरतापूर्वक रोका गया तो उसका परिणाम होगा कि कुल निजी विनियोजन कम हो जावेगा। अतएव कुछ लोगों के मतानुसार एक कदम आगे बढ़ना आवश्यक था। उनका प्रस्ताव था कि राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड को केवल पूँजी के विकास का ही नियंत्रण नहीं करना चाहिए वरन उसकी सुनिश्चित अर्थों में अभिवृद्धि करनी चाहिए। ऐसा करने के लिए बोर्ड को अपनी निजी पूँजी की स्पष्ट आवश्यकता होगी जिसे वह उन उद्योगों में लगा सके जिन्हें वह पसंद करता हो। इस लिए यह सुझाव दिया गया कि बोर्ड को कुछ वर्षों के लिए नवीन पूँजी विकास में स्वीकृत विनियोजनों पर लाभ की गारंटी देने और जनता से निश्चित सूद की दर पर ऋण ले कर उसको ऐसी पूँजी परियोजनाओं में लगाने का अधिकार देना चाहिए कि जिन्हें वह जन हित के आधार पर विशेष प्रोत्साहन देने योग्य मानता हो।

इन दोनों तरीकों के आधार पर सीमित मात्रा में कार्यवाही किए जाने के पूर्व उदाहरण मौजूद हैं। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त व्यापार सुविधा अधिनियम के अन्तर्गत राज्य-स्वीकृति पूँजी-निर्माण की परियोजनाओं पर लाभ की गारंटी दे सकता था और 1920 में लंदन ट्यूब का विस्तार वास्तव में इस व्यवस्था के अनुसार किया गया था। इसके पश्चात् रेलों का विकास लगभग इसी प्रकार के तरीकों से कोप की पूर्ति करने के लिए विशेष राजकोषीय कम्पनियों का निर्माण करके किया गया। इसके अतिरिक्त 1930 में पिछड़े क्षेत्रों की विशेष समस्याओं का सामना करने का प्रयत्न करने के लिए राज्य को उन क्षेत्रों के विशेष कमिश्नरों को सार्वजनिक द्रव्य की पूँजी विकास को प्रोत्साहित करने के लिए व्यय कर सकने का अधिकार देना पड़ा। आरम्भ में यह अधिकार केवल उस प्रकार के उद्यमों तक ही सीमित था जिनमें लाभ नहीं होता था परन्तु बाद को नफील्ड-न्यास द्वारा रास्ता दिखाने में पहल करने के बाद यह रोक हटा ली गई। नफील्ड-न्यान एक निजी संस्थान था जो उन कारबारों को पूँजी उधार देने के लिए स्थापित किया गया था जो कि पिछड़े क्षेत्रों में अपने कारखाने स्थापित करने के लिए राजी हों। 1930 में जो व्यापार करने वाली राज-संस्थाएं दक्षिण वेल्स स्काटलैंड के पश्चिम में तथा उत्तरी पूर्वी तट पर स्थापित की गई उनका उद्देश्य इसी प्रकार उन क्षेत्रों में पूँजी विनियोजन को प्रोत्साहित करना था, जहाँ अतिरिक्त रोजगार पैदा करने की स्पष्ट आवश्यकता थी।

यह सच है कि यह सारे उपाय बहुत छोटी मात्रा में काम में लाए गए थे और यह भी सच है कि राष्ट्रीय-विनियोजन बोर्ड को स्थापित करने का प्रस्ताव जिसे जनता से धन एकत्रित करने, और उसे स्वीकृत उद्यमों में जो लाभ के लिए चलाए जावेंगे, पुनः विनियोजन करने का अधिकार होगा—1939 के पूर्व जो कुछ किया गया उससे बहुत आगे की बात थी। इस प्रकार के बोर्ड के समर्थकों का तर्क यह है कि राज्य को पूर्ण रोजगार बनाए रखने की जिम्मेदारी लेनी चाहिए और क्योंकि राष्ट्रीयकरण का निकट भविष्य में आवारभूत उद्योगों और सेवाओं के सीमित क्षेत्र के बाहर विस्तार किए जाने की सम्भावना नहीं है अस्तु उसका निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य को बहुत प्रकार के उन उद्योगों की रोजगार देने की क्षमता में रुचि लेनी चाहिए जो कि निजी स्वामित्व और नियंत्रण में हैं। उनका तर्क यह है कि ऐसा राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड जिसके पास ऋण ले कर पूंजी इकट्ठी करने तथा उसको गैर-राष्ट्रीयकृत उद्यमों में पुनः विनियोजित करने का अधिकार होगा—राज्य सरकार को विनियोजन की गति को प्रभावित करने का अधिक विस्तृत अधिकार प्रदान करेगा। राज्य का यह अधिकार दोहरे दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होगा—अर्थात् पूंजी की कुल मात्रा यथेष्ट होगी और उसका वंटवारा सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न उद्योगों और क्षेत्रों में उचित होगा।

इस प्रकार के राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड की स्थापना के फल स्वरूप अवश्य ही राज्य वाणिज्य के बहुत से क्षेत्रों में निजी साहस का साभीदार बन जावेगा और वह उन बहुत से कारखानों का अंशतः मालिक बन जावेगा जो लाभ के उद्देश्य से व्यापारिक ढंग पर चलाए जावेंगे। इस प्रकार के मिले जुले उद्यमों का अन्य देशों में ग्रेट-ब्रिटेन की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक प्रयोग हुआ है परन्तु यहां भी यह बिना पूर्वता के नहीं है। ब्रिटिश डाईस्टफ कारपोरेशन जो बाद में आई.सी.आई. में मिला दी गई अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक मिला जुला उद्यम था जिसमें राज्य और निजी पूंजी साभीदार थे। एंग्लो ईरानियन आयल कम्पनी वर्तमान उदाहरण है जिसमें एक बड़े पूंजीवादी उद्यम में राज्य ने विनियोजन किया है। अतएव इस प्रकार की साभेदारी के विचार में कोई चौंका देने वाली नई बात नहीं है। इस विचार में नई बात क्या है कि इस प्रकार की साभेदारी को व्यापक रूप से छोटे तथा बड़े उद्योगों तक विस्तृत कर दिया जावे और ऐसे कार्यों में उसका उपयोग किया जावे जिनमें राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न उपस्थित नहीं किया जा सकता।

1945 की मजदूर सरकार ने अविलम्ब विनियोजन पर नियंत्रण करने की दिशा में कुछ प्रयोगात्मक कदम उठाए। औद्योगिक अवस्थापन तथा विकास से सम्बन्धित अधिनियम में—यद्यपि यह केवल उन जिलों के लिए था जिन्हें विकास क्षेत्र नाम दिया गया उसमें नई औद्योगिक तथा व्यापारिक वस्तियों की स्थापना के लिए

निश्चित प्रावधान थे । उन क्षेत्रों में बसने के लिए इच्छुक फर्मों को पूंजी की सुविधा प्रदान करने के लिए विशेष संस्थान स्थापित किए गए । इसके अतिरिक्त भवन निर्माण पर नियंत्रण होने के कारण फर्मों को बोर्ड आफ ट्रेड द्वारा स्वीकृत क्षेत्रों के अलावा नए कारखाने खड़ा करना अथवा वर्तमान कारखानों का पर्याप्त विस्तार करना असम्भव हो गया । दक्षिण वेल्स, कम्बरलैंड, और दक्षिण डरहम जैसे क्षेत्रों में ऐसे बहुत से कारखानों का उदय हुआ कि जो अधिकतर स्त्री मजदूरों को नौकर रखते थे जिनके लिए उन भारी उद्योगों के पुराने केन्द्रों में असाधारण रूप से कम मांग थी । सरकारी कारखानों को भी इस प्रकार बेचने का प्रयत्न किया गया जिससे कि उन स्थानों पर जहां बेकारी अथवा अर्धविकास के प्रगट होने का गंभीर खतरा था वहां उद्योग धंधों के संतुलित विकास को प्रोत्साहन दिया जा सके ।

इसके अलावा 1945 में सरकार ने दो नई कम्पनियां स्थापित कीं जिनका उद्देश्य नए व्यवसायों को पूंजी प्रदान करने में सहायता देना था । एक बड़े कारखानों और दूसरी अपेक्षाकृत छोटे कारखानों के लिए थी । इन नई राजकीय कम्पनियों के पीछे पूंजी बाजारों में जो रिक्तता विद्यमान थी उसको पूरा करने का विचार था । नए प्रकार के उद्योग धंधों और अपेक्षाकृत छोटे आकार के कारखानों को भारी वित्तीय तथा अभिगोपन का खर्च किये बिना आसानी से पूंजी प्राप्त हो—यह उनका विशेष लक्ष्य था ।

परन्तु जब कि सरकार विनियोजन के वित्तीय पक्ष का सीधा नियंत्रण करने की अपनी योजना को लागू करने को तैयार हुई तो यह दिखाई पड़ा कि वह उस प्रकार के विनियोजन बोर्ड की स्थापना की और बहुत कम बढ़ना चाहती है कि जिस प्रकार के बोर्ड के पक्ष में वह पहले थी । 1946 के अधिनियम में वास्तव में सरकार ने ट्रेजरी द्वारा नियुक्त पूंजी निर्गमन कमेटी द्वारा युद्धकालीन नियंत्रण स्थायी कर दिया । इस कमेटी को और वास्तव में ट्रेजरी (राजकोष) को उसकी सलाह से यह स्थायी अधिकार दे दिया गया कि वह पूंजी उधार लेने (बैंक से लिये जाने वाले ऋण को छोड़ कर) नई प्रतिभूतियों के निर्गमन जिसमें रक्षित कोष का पूंजीकरण करना भी सम्मिलित था, और कम्पनियों के मिलन के फलस्वरूप नये निर्गमन और यूनिट ट्रस्टों के कार्य को नियंत्रित कर सके । एक वर्ष में 50 हजार पाँड से कम के वोनन शेयरों को छोड़कर वर्तमान कम्पनियों के शेयरों को रोकड़ व्यवहार इस नियंत्रण से मुक्त थे । परन्तु नई कम्पनियां फिर चाहे उनका आकार कुछ भी क्यों न हो, जब तक कि उनको विशेष रूप से मुक्त न कर दिया गया हो इस नियंत्रण में आ गई । अतएव जहां तक प्रतिबन्धनात्मक अधिकारों का प्रश्न था अधिनियम में वे बहुत सीमा तक दे दिए गए परन्तु अधिनियम में विनियोजन नीति को आयोजित करने के लिए कोई भी रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाए जाने का कोई चिन्ह नहीं था । केवल एक ही गंत जो

कि वास्तव में रचनात्मक था, उसके द्वारा ट्रेजरी (राजकोष) को एक वर्ष में ५ करोड़ पाँड तक मूल ऋण तथा उस पर सूद की गारंटी देने का अधिकार दिया गया था। बोर्ड की स्थापना देश के मुख्य विनियोजन कार्यक्रम को वास्तविक संयन्त्रत या उत्पादन क्षमता के अर्थों में आयोजित करने, अथवा अविलम्ब राष्ट्रीय कार्यों के लिए पूँजी देने, अथवा कम से कम उसकी गारंटी देने के लिए कोई भी राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड स्थापित नहीं किया गया। वह अधिनियम केवल एक लघु उपाय था कि जो नये निर्गमनों को नियंत्रित करने और उनके प्रत्यक्ष दोषों को रोकने लिए बनाया गया था। उसे किसी भी अर्थ में आयोजित विनियोजन की नीति को पूरा करना नहीं कहा जा सकता जिसका समाजवादी क्षेत्रों में 1945 के पूर्व बहुत व्यापक समर्थन किया जाता था।

योजना बोर्ड जो उस समय नागरिक सेवा के अन्तर्गत स्थापित किया गया था उसका भी यह कोई कार्य नहीं था। वह एक परामर्श देने वाली कमेटी से अधिक कुछ नहीं था जिसका कार्य यह देखना था कि विभिन्न राजकीय विभागों जिनका सम्बन्ध आर्थिक नियंत्रण और विकास के कार्यों से था, उनकी नीति एक दूसरे से न टकरावे।

फिर भी 1945 के उपरान्त नकारात्मक अर्थों में ही सही आयोजित विनियोजन की ओर यथेष्ट प्रगति हुई। वार्षिक आर्थिक सर्वेक्षण जिन्हें सरकार पार्लियामेंट में उपस्थित करती थी किसी भी अर्थ में सोवियट रूस की पंचवर्षीय योजनाओं के सदृश्य विकास अथवा उत्पादन की योजनाएं नहीं थे। वे केवल इस आशय की बुद्धिपूर्वक भविष्यवाणी के अतिरिक्त कुछ नहीं थे कि वर्तमान प्रवृत्ति के आधार पर क्या घटित होने की संभावना है। वे सर्वेक्षण राष्ट्रीय आय की सम्भावना, विदेशी व्यापार, तथा अन्य सम्बंधित कारणों, जिनका सम्बन्ध उस धन राशि से हो जो कि आने वाले वर्ष में उपभोग, तथा विनियोजन जिसमें सरकार का सार्वजनिक व्यय, अर्थात् सामाजिक सेवाओं, सेना तथा युद्ध सामग्री इत्यादि पर व्यय भी सम्मिलित था वित्तमंत्रि के निष्कर्षों के आधार पर तैयार किये जाते थे। इस प्रकार उनमें कुल राशि का अनुमान होता था कि जिसका उस वर्ष समुदाय विनियोजन कर सकता था और एक स्थूल संकेत भी होता था कि उस राशि का प्रवाह किस ओर होगा। फिर भी जहाँ 1939 तक वजट केवल उतनी मुद्रा प्राप्त करने का साधन मात्र माना जाता था कि जितना राज्य व्यय करना चाहता था, 1945 के उपरान्त उसका एक दूसरा कार्य और हो गया, अर्थात् करों के द्वारा वचत प्राप्त करना कि जिससे निजी व्यक्तियों और संस्थाओं की आय को जिसे व्यय किया जा सकता है उस स्तर तक कम किया जा सके कि जो वस्तुओं और सेवाओं की सम्भावित पूर्ति और उस कीमत जिस पर उनके बेचे जाने की सम्भावना है—के अनुरूप हो। दूसरे शब्दों में वजट की वचत, अर्थ व्यवस्था में स्फीति की प्रवृत्ति को रोकने का एक साधन बन गया। वचत का

उपयोग सार्वजनिक ऋण कम करने अथवा राज्य के नवीन पूंजी व्यय को पूरा करने में होता था ।

इसके साथ ही यह आवश्यक था कि पूंजी के देश के बाहर जाने पर कड़ा नियंत्रण स्थापित किया जावे । अर्थात् विदेशों में दीर्घ अथवा अल्पकाल के लिए विनियोजन पर नियंत्रण स्थापित हो । यह इसलिए आवश्यक था कि ऊँचे कर और राजकीय नियन्त्रण से बचने के लिए पूंजी पालायन को रोका जा सके और विदेशी विनिमय पर विदेशों में जायज तथा उचित विनियोजन पर पड़ने वाले दबाव को कम किया जा सके ।

इस प्रकार का नियंत्रण विदेशी व्यापार के प्रतिकूल अन्तर के भार को दृष्टि में रखते हुए अपरिहार्य था । किन्तु 1945 के उपरान्त केवल विदेशी विनियोजन का ही नियंत्रण करना आवश्यक नहीं था वरन् देश में होने वाले विनियोजन का भी नियंत्रण करना आवश्यक हो गया । बहुत से व्यवसायी अपने कारखानों का इसलिए आधुनीकरण अथवा विस्तार करना चाहते थे, या फिर नवीन कारखाने खड़े करना चाहते थे, क्योंकि उस समय लाभ की सम्भावनाएं बहुत अधिक बढ़ गई थीं और युद्ध काल में मरम्मत और विकास का कार्य बहुत अधिक पिछड़ गया था । उस समय मनोरंजन के नवीन स्थानों, कार्यालयों के ब्लाक और फ्लैट, होटल और रेस्टां तथा अन्य व्यापारिक भवन निर्माण की बहुत तीव्र मांग थी । यह कुछ हद तक युद्ध द्वारा विध्वंस का पुनर्निर्माण करने और अंशतः बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए थी । रहने के लिए अधिक मकानों, स्कूलों, तथा अन्य सार्वजनिक भवनों, की उस समय अविलम्ब आवश्यकता थी । कोयला, विजली, तथा इस्पात उद्योगों को बहुत अधिक पूंजी व्यय की आवश्यकता थी और यही स्थिति रेलों और सड़कों की थी । इन सब कार्यों तथा इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से कार्यों के लिए पूंजी की मांग इस कारण पूरी नहीं की जा सकती थी क्योंकि उत्पादक साधन बहुत अधिक सीमित थे । अतएव यह आवश्यक था कि विकास कार्यों की पूर्वता को निर्धारित कर दिया जावे और उन विकास कार्यों को स्थगित कर दिया जावे कि जो अविलम्ब आवश्यकता के नहीं थे । अत्रिकांश जनमत द्वारा गृह निर्माण को ऊंची प्राथमिकता देने के कारण और उसकी सहज अविलम्ब आवश्यकता को देखते भवन निर्माण उद्योग के उपलब्ध साधनों का अधिक भाग गृह निर्माण में ही खप जाना अनिवार्य था । इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की मांगों का भी भवन-निर्माण उद्योग पर भारी भार पड़ रहा था जिसका बिना अन्य वस्तुओं की सीमा को बढ़ाये तेजी से विस्तार नहीं किया जा सकता था । उदाहरण के लिए लकड़ी तथा अन्य सामग्री की बहुत अधिक कमी थी । अतएव उन परिस्थितियों में आवश्यक था (क) कि वर्तमान घन उत्पादन में से जो कुछ बचाया जा सकता था कुल विनियोजन उतने तक ही सीमित कर दिया जाये

(ख) विदेशों में विनियोजन का विदेशी व्यापार के अन्तर के भुगतान की कठिनाइयों के कारण तथा पूंजी के पलायन को रोकने के उद्देश्य से संकोचन किया जावे। (ग) विभिन्न आवश्यकताओं की अविलम्बता, और आवश्यक सामग्री उपयुक्त श्रम शक्ति, तथा अन्य उत्पादक साधनों को ध्यान में रखते हुए स्वदेश में वैकल्पिक विनियोजनों को छांटना और (घ) निर्यात को बढ़ाने के लिए विशेष उपाय करना। और यह सुनिश्चित करना कि जो कारखाने निर्यात करने के लिए उत्पादन कर रहे हैं उन्हें आवश्यक सामग्री श्रम शक्ति, और पूंजी वस्तुओं का बड़ा भाग प्राप्त हो जिससे कि वे अपनी कार्यकुशलता को बढ़ा सकें और विदेशों के बाजारों में अधिक सुविधा से प्रतिस्पर्धा कर सकें, विशेषकर उन बाजारों में जहाँ कि डालर प्राप्त हो सकें।

इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जहाँ तक स्वदेश में विनियोजन का प्रश्न है जिन नियन्त्रणों की आवश्यकता थी वे मुख्यतः मुद्रा सम्बन्धी नहीं थे यद्यपि प्रत्येक योजना का मुद्रा सम्बन्धी प्रश्न भी होता ही है। किन्तु सम्पूर्ण विनियोजन और विदेशी विनियोजन का नियन्त्रण मुख्यतः मुद्रा सम्बन्धी था। सम्पूर्ण विनियोजन का नियन्त्रण वजट सम्बन्धी नीति तथा बैंक साख (प्रत्यय) का दक्षता से प्रयोग करके तथा पूंजी निर्गमन का लाइसेंस देकर किया जाता था। विदेशी विनियोजन को कठोरतापूर्वक रोका जाता था। विशेषकर विदेशी व्यापार का अन्तर विपक्ष में होते हुए भी यह आवश्यक था कि उपनिवेशों के विकास के लिए तथा उन डोमीनियनों तथा स्टर्लिंग क्षेत्रों के देशों को आर्थिक साधन जावें कि जो ग्रेट ब्रिटेन को पूंजी प्राप्त करने का मुख्य श्रोत के रूप में देखने के अम्यस्त थे। इसके अतिरिक्त भारत, मिश्र, तथा अन्य देशों के पक्ष में जो बहुत अधिक राशि में स्टर्लिंग वैलेंस (शेप) युद्धकाल में जमा हो गये थे उनको क्रमशः चुकाना भी आवश्यक था। जैसा कि हम देख चुके हैं यह बिना संयुक्त राज्य अमेरिका की सहायता के नहीं हो सकता था। व्यवहार में जो धन राशि मार्शल एंड के रूप में मिलती थी वह विदेशों की भेंट, विनियोजन अथवा स्टर्लिंग वैलेंस के चुकारे के रूप में दे दी जाती थी। किन्तु अमेरिका से सहायता मिलने पर भी कठोर नियन्त्रण की आवश्यकता शेप थी। 1945 के उपरान्त लंदन वैसा बाजार नहीं रहा जिसमें केवल उनको छोड़ कर कि जिसका विशेष हक था हर एक देश पूंजी उधार ले सके।

जब पुनः सशस्त्रीकरण प्रारम्भ हुआ और विशेष कर कोरिया युद्ध के उपरान्त तो सशस्त्रीकरण का व्यय पूंजी उपकरण से सीधी होड़ करने लगा और अस्त्र-शस्त्रों के विस्तार के कार्यक्रम की विनियोजन की जा सकने वाली वचत पर ऐसी गम्भीर प्रतिक्रिया हुई कि विनियोजन कार्यक्रम को बदलना पड़ा और उसको पूर्व निर्धारित काल से अधिक लम्बे समय में फैलाना पड़ा। पुनः सशस्त्रीकरण तथा

पूँजी विकास की टक्कर केवल सीमित सम्पूर्ण साधनों से ही संबंध नहीं रखती वरन एक ही प्रकार के विशेष उपकरणों तथा श्रम शक्ति के उपयोग के लिए दोनों में सीधी प्रतिस्पर्द्धा होती है। सशस्त्रीकरण की इसी प्रकार निर्यात से भी प्रतिस्पर्द्धा होती है क्योंकि पूँजीगत वस्तुओं अर्थात् मशीन आदि का निर्यात बढ़ाना सबसे सरल होता है परन्तु पूँजीगत वस्तुएं उन्हीं उत्पादक साधनों द्वारा निर्मित होती हैं जिनसे अस्त्र-शस्त्र तथा देश के अन्दर विनियोजन के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्माण होता है।

इस सबका अर्थ यह हुआ कि 1945 के उपरान्त सरकार को इच्छा से अथवा अनिच्छा से मुद्रा सम्बंधी कार्यवाही द्वारा और प्रत्यक्ष रूप से विनियोजन पर कठोर नियंत्रण स्थापित करना पड़ा। किन्तु यह आसान नहीं था क्योंकि मकानों के निर्माण को छोड़कर विनियोजन के लिए सबसे बड़ी निधि प्राप्त करने का श्रोत व्यापारिक फर्मों के हाथ में था। वे उसको पूँजी बाजारों में पूँजी प्राप्त करने के लिए जाए बिना विकास योजनाओं के लिए उपयोग में ला सकते थे। अतएव नए पूँजी निर्गमन पर जो नियंत्रण स्थापित किया गया, उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इन सुरक्षित कोषों का देशीय विनियोजन के लिए उपयोग का नियंत्रण तभी हो सकता था जबकि उन फर्मों को जो सरकारी विभाग को यह विश्वास नहीं दिला सकती थीं कि उनकी विकास योजनाएं जनहित में हैं—उनके भवन निर्माण के लाइसेंस को तथा, उनके लिए कच्चे माल की पूर्ति को रोका जाता। और अन्तिम उपाय के रूप में उनको श्रम शक्ति प्राप्त करने से रोका जाता। समय के साथ जैसे जैसे कच्चे माल की कमी होती गई इस प्रकार का नियंत्रण कम प्रभावशाली होता गया। व्यापारिक फर्मों को पुनः अपने सुरक्षित कोषों को इच्छानुसार पुनः नई पूँजी वस्तुओं में विनियोजन करने की शक्ति प्राप्त हो गई। उन पर विदेशों से मशीनें प्राप्त करने पर तब भी प्रतिबंध लगा हुआ था। ऐसी स्थिति में नवीन पूँजी निर्गमन पर कुछ हद तक नियंत्रण ढीला कर दिया गया, और पूँजी का पुनर्गठन करने की इजाजत भी बिना किसी रुकावट के दी जाने लगी। विदेशों में विनियोजन करने, तथा पूँजी-पदार्थों के आयात पर रोक को छोड़ कर पूँजी-बाजार युद्ध के पूर्व के स्वरूप को वारण करने लगा। केवल अंतर इतना ही था कि वह उस समय वेकार साधनों को उपयोग में लाने के लिए संकुल विनियोजन (पूँजी निवेश) को प्रोत्साहन नहीं देता था वरन वह पूँजी बाजार तथा पूँजी पदार्थों को उत्पन्न करने वाले उद्योगों से जो अत्यधिक मांग की जा रही थी उसको रोकता था।

यह ठीक है कि एक अंतर यह भी था कि 1930 की अपेक्षा अब राज्य बहुत बड़ा विनियोजक बन गया था। इसका कारण यह था कि राज्य ने बहुत से उद्योगों तथा सेवाओं का समाजीकरण कर लिया और गृह निर्माण कार्य में राज्य बहुत अधिक सक्रिय था। कोयला, विद्युत, गैस, यातायात, नागरिक उड्डयन, और कुछ समय के

लिए इस्पात उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक पूंजी सार्वजनिक निगमों के द्वारा प्राप्त की जाती थी न कि निजी फर्मों द्वारा। स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाओं के लिए आवश्यक भवनों तथा गृह निर्माण के लिए स्थानीय सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा प्राप्त पूंजी-कोष से व्यय किया जाता था। इस पूंजी का कुछ भाग राज्य की गारंटी पर अथवा स्थानीय अधिकारी संस्थाओं की गारंटी पर ऋण द्वारा प्राप्त किया जाता था और कुछ सार्वजनिक निगमों द्वारा बिना औपचारिक सार्वजनिक गारंटी के प्राप्त किया जाता था। प्रत्येक दशा में सार्वजनिक अधिकारी-संस्थाएं अर्थात् राज्य पूंजी बाजार में निजी उधार लेने वालों से प्रतिस्पर्धा करता था। जिन शर्तों पर वे ऋण प्राप्त कर सकते थे वह इस बात पर निर्भर रहता था कि विदेश या विनियोजन के लिए कुल द्रव्य या मुद्रा कितनी उपलब्ध है। कुल द्रव्य विनियोजन के लिए कितना उपलब्ध होगा यह राज्य तथा केन्द्रीय बैंक की वज्रट सम्बंधी और मुद्रा नीति पर निर्भर था। राष्ट्रीय-विनियोजन बोर्ड के अभाव में इस सम्पूर्ण क्रिया का नियंत्रण राजकोष (ट्रेजरी) के हाथ में था। किन्तु समाजीकृत क्षेत्र के बाहर पूंजी विकास का कार्य फिर भी निजी व्यवसाय के हाथ में ही रहा। उन पर राज्य की विभिन्न संस्थाओं का जिनका सम्बंध लाइसेंस देने, तथा आज्ञा प्रदान करने से था—अथवा पूंजी निर्गमन कमेटी और बैंकों के द्वारा मुख्यतः केवल नकारात्मक नियंत्रण स्थापित था। वे विकास कार्य जो राष्ट्रीय महत्व के समझे जाते थे उनके लिए राज्य या तो स्वयं पूंजी का प्रबंध करता था अथवा उन्हें पूंजी प्राप्त करने में सहायता देता था। राज्य यह नई राजकोपीय कम्पनियों द्वारा जो इस उद्देश्य से स्थापित की गई थी, तथा व्यापारिक इस्टेटों अथवा दूसरी विशेष योजनाओं के द्वारा करता था किन्तु राज्य और निजी व्यवसाय के साझेदारी पर आधारित मिश्रित व्यापारिक संस्थान में सार्वजनिक विनियोजन (पूंजी निवेश) के सम्बन्ध में कोई साधारण नीति अपनाने का प्रयत्न नहीं किया गया।

जहां तक मेरा संबंध है, बहुत वर्षों से मेरी मान्यता रही है कि औद्योगिक-संस्थाओं के स्वामित्व में राज्य और निजी उद्यम के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। बड़े और आधारभूत उद्योगों पर पूरी तरह सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करना जैसा कि अभी तक हुआ है, तथा नगरपालिका द्वारा उन पर स्वामित्व स्थापित करना, यह दोनों तरीके साधारण निर्माण उद्योगों के लिए अनुपयुक्त हैं। क्योंकि उन उद्योगों में उत्पादन की बहुत अधिक विभिन्नता है और सभी तरह तथा सभी पैमाने के व्यवसाय होते हैं। इन क्षेत्रों में सार्वजनिक और निजी उद्यम साथ साथ मिल कर काम करे इसमें मैं कोई भी आपत्ति नहीं देखता। इस्पात राष्ट्रीयकरण अधिनियम में ठीक यही स्थिति थी जिसे मजदूर सरकार ने पारित किया और उसकी उत्तराधिकारिणी अनुदार दल की सरकार ने जिसे निरसन किया। और न मुझे इस प्रकार के व्यवसाय के उदय होने में ही कोई आपत्ति है

कि जो न तो सार्वजनिक और न निजी हों वरन मिश्रित हों। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार से मिश्रित उद्यम नागरिक सेवा के परम्परागत नियंत्रण में नहीं रखे जा सकते आज। कौन यह सोचता है कि कोई भी उद्योग फिर चाहे उसका कितनी अधिक सीमा तक राष्ट्रीयकरण क्यों न हुआ हो नागरिक सेवा के तरीकों से उचित रूप से संचालित किया जा सकता है। केन्द्रीय विद्युत बोर्ड और लंदन यात्री यातायात बोर्ड जो 1930 में स्थापित हुए, और राष्ट्रीय कोयला बोर्ड तथा उसी प्रकार के अन्य बोर्ड जो 1945 में अन्य समाजीकृत सेवाओं के लिए स्थापित किए गए, इत्यादि संस्थाएं विना नागरिक सेवा प्रशासन के प्रारूप को अपनाये समाजीकृत सेवाओं का संचालन करने की तकनीक का ही प्रयोग हैं। क्यों न दूसरी तरह के भी प्रयोग किए जावें। मिश्रित व्यवसायिक संस्थाओं का संचालन करने के लिए राज्य द्वारा नियुक्त संचालक निजी क्षेत्र द्वारा नियुक्त संचालकों के साथ साथ बैठे। इस प्रकार के प्रयोग अन्य देशों में सफल हुए हैं। उदाहरण के लिए स्वीडन, तथा नाजी काल से पूर्व जर्मनी में यह प्रयोग सफल हुआ। क्यों न यह प्रयोग यहां भी किया जावे ?

उदाहरण के लिए क्यों न बीमा कंपों का उपयोग मिश्रित संस्था में सार्वजनिक विनियोजन या पूंजी निवेश के लिए किया जावे यदि बीमा-कंपनियों को सार्वजनिक नियंत्रण में लिया जावे जैसा कि होना चाहिए। बीमा-कंपनियां बड़ी विनियोजक अर्थात् पूंजी-निवेश करने वाली संस्थाएं हैं। वे इतनी बड़ी हैं कि उनकी विनियोजन या पूंजी निवेश की नीति उन उद्योगों तथा व्यापार के विकास को बहुत अधिक प्रभावित करती है जिनकी ओर वे ध्यान देती हैं। क्यों नहीं केन्द्रीय विनियोजन बोर्ड, विनियोजन या (निवेश) न्यास (ट्रस्ट), भवन निर्माण समितियों, तथा बीमा कंपनियों को सार्वजनिक निगमों के रूप में राज्य अपने अधिकार में ले ले और उनका उपयोग विनियोजन या पूंजी निवेश की केन्द्रित योजना के लिए किया जावे। जिससे कि पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय नीति को पूरा किया जा सके।

इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की नीति को लागू करने के लिए केवल एक प्रभावशाली राष्ट्रीय विनियोजन या पूंजी निवेश बोर्ड की आवश्यकता ही नहीं होगी वरन उसके अन्तर्गत कई विशेष संगठन भी स्थापित करने होंगे, जिनका उद्योग विशेषों तथा उद्योग समूहों से संबंध होगा। यदि राज्य मिश्रित उद्यमों में धैर्यशरी साहसेदार बन जाता है तो उसे संचालकों की एक सेवा श्रेणी का निर्माण करना होगा कि जो राज्य का मिश्रित उद्यमों के कार्य संचालन में प्रतिनिधित्व करेंगे। उन संचालकों का एक समान नीति अनुसरण करना आवश्यक होगा और किसी विशेष सहायक संस्था के द्वारा जिसका प्रत्येक उद्योग अथवा उद्योग समूह में पूंजी निवेश या विनियोजन के साधारण आयोजन से संबंध हो, राष्ट्रीय पूंजी निवेश या विनि-

योजन बोर्ड से संबंधित होना आवश्यक होगा। उनको राष्ट्रीय-पूँजी निवेश या विनियोजन बोर्ड के साधारण निर्देशन में काम करना होगा, वे बोर्ड को आर्थिक क्रिया की योजना के संबंध में प्रत्येक क्षेत्र विशेष में उसकी नीति को लागू करने का सर्वोत्तम तरीका क्या है—इस संबंध में परामर्श देंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा दीर्घकालीन-पूँजी का आयोजित विनियोजन होगा। राष्ट्रीय वचत को खपाने के लिए जितनी सार्वजनिक और निजी पूँजी-योजनाओं की आवश्यकता होगी केवल उतनी को ही समर्थन मिलेगा। इसके द्वारा आर्थिक विकास के विभिन्न प्राहणों में पूँजी का उचित और ठीक वितरण हो सकेगा। जितना ही अधिक राज्य निजी पूँजी निवेश या विनियोजन को प्रभावित कर सकेगा उतना ही उसे वचत और पूँजी-निवेश या विनियोजन का अन्तर उपस्थित हो जाने पर उसे पूरा करने के लिए आपातक निर्माण कार्य कम करना होगा, और विपरीत परिस्थिति में पूँजी निवेश या विनियोजन की सट्टा अभिवृद्धि को रोकने के लिए कम प्रयत्न करना होगा। ऐसी दशा में राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार सार्वजनिक और निजी उद्यम का सापेक्षिक स्थान निश्चित किया जा सकता सम्भव होगा। उस परिस्थिति में यह आवश्यक नहीं होगा कि सर्वसाधारण में बेकारी को रोकने के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्य शुरू किया जाये या फिर युद्ध मुद्रा संबंधी रोक थाम से वांछित तथा अवांछित पूँजी निवेश या विनियोजन को रोका जावे।

यदि इस अध्याय को मैंने बारह वर्ष पूर्व लिखा होता तो मुझे विश्वास है कि पक्के समाजवादी मुझ पर अवश्य बरस पड़ते। वे मेरे विरुद्ध यह तर्क उपस्थित करते कि सार्वजनिक तथा निजी उद्यम कभी नहीं मिल सकते। पक्के समाजवाद विरोधी भी ठीक विपरीत मान्यताओं के आधार पर इसी निर्णय पर पहुँचते। वास्तव में मैंने इससे बहुत कुछ मिलती जुलती बात 1929 में ही लिखी थी और दोनों पक्षों ने मेरा घोर विरोध किया था* इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आज भी मेरा विरोध होगा परन्तु दृढ़ सिद्धान्त की भावना की दृष्टि से पूर्वापेक्षा कम विरोध होगा। आज पहले की अपेक्षा ऐसे गैर समाजवादियों की संख्या बहुत अधिक है जो आर्थिक क्षेत्र में राज्य की विस्तृत कार्यवाही की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। और आज ऐसे समाजवादी बहुत कम हैं जो वास्तव में उस फार्मूले को लागू करना चाहते हैं जो कि उत्पादन, वितरण तथा विनिमय, के साधनों का छोटे बड़े सभी प्रकार के व्यवसायों में राष्ट्रीयकरण का समर्थन करते हैं। आज भी मतभेद के लिए बहुत अधिक क्षेत्र छूटा हुआ है परन्तु मतभेद के आधार बदल गए हैं। अब प्रश्न यह है कि किसका और कैसे समाजीकरण किया जाय, तथा क्या

*देखिए 'नेक्स्ट टेन ईयर्स इन ब्रिटिश सोशल एंड इकोनॉमिक पोलिसी'

निजी अधिकार में छोड़ा जावे—न कि इस प्रश्न पर विवाद किया जावे कि हमें या तो सबका समाजीकरण करना चाहिए अथवा किसी का भी नहीं ।*

यह सत्य है कि यदि पूर्ण रोजगार को सार्वजनिक अर्थ नीति के रूप में स्वीकार कर लिया जावे तो उपभोक्ता पदार्थों तथा पूंजी पदार्थों के बाजार पहले से अधिक आश्वस्त हो जावेंगे। इस प्रकार निजी पूंजी निवेश अथवा विनियोजन में जोखिम कम हो जाने से जो अनियंत्रित निजी पूंजी निवेश अथवा विनियोजन में वरवादी होती है वह बहुत कम हो जवेगी। पूंजी-निवेशक अथवा विनियोजक के दृष्टिकोण से भारी वरवादी और पूंजी का गलत उपयोग हो सकता है। समुदाय के दृष्टिकोण से केवल पूंजी को अलाभकारी कार्यों में व्यर्थ नष्ट होने से बचना, अथवा पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना ही अभीष्ट नहीं है वरन पूंजी और मानव श्रम शक्ति का इस प्रकार उपयोग करना भी अभीष्ट है कि जिससे अधिकतम समाज-कल्याण प्राप्त हो सके। और कुछ क्षेत्रों में अवनति और गरीबी को अन्य क्षेत्रों में समृद्धि और उन्नति के साथ साथ बनी रहने से रोका जा सके। पूंजी और मानव श्रम शक्ति का ठीक उपयोग एक सामाजिक प्रश्न है। इसका संबंध जनता के सुखी होने से है न कि केवल पूंजी निवेशक अथवा विनियोजक के लाभ से है। इसके अतिरिक्त यह बहुत सम्भव है कि भविष्य की सामाजिक समस्या मानव श्रम शक्ति की अधिकता न रह कर उसकी कमी हो। ऐसी परिस्थितियों में हमारे जीवन स्तर को बनाए रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक होगा कि जो मानव श्रम शक्ति हमारे पास है उसका उपयोग सामाजिक दृष्टि से अधिकतम उत्पादन करने में किया जावे। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए श्रमिकों को विवश किए बिना जो मानव स्वतंत्रता की दृष्टि से सर्वथा अवांछनीय है केवल एक ही तरीका है कि पूंजी के निवेश या विनियोजन पर आयोजित नियंत्रण स्थापित हो जिससे कि एक ऐसी अत्यधिक उत्पादन क्षमता वाली अर्थ व्यवस्था का निर्माण हो सके जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समाज की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन का मंचानन समाहित हो सके।

*देखिए 'ए वर्ड आन दि प्यूचर टू ब्रिटिश सोशलिस्ट फेडरेशन सोसायटी' द्वारा 1942 में प्रकाशित और मेरी पुस्तक इस प्रश्न पर अधिक अध्ययन के लिए।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और स्वर्णमान

देशी व्यापार और विदेशी व्यापार में मूल अन्तर यही है कि देशी व्यापार के सौदे में दोनों पक्ष एक समान मुद्रा का उपयोग करते हैं और विदेशी व्यापार में वे भिन्न मुद्राओं का उपयोग करते हैं। हर बेचने वाला आमतौर पर अपने देश की मुद्रा में ही भुगतान चाहता है।* प्रत्येक खरीददार आमतौर पर यदि उस पर छोड़ा जावे तो अपने देश की मुद्रा में ही शीघ्र भुगतान करना चाहेगा। सच तो यह है कि खरीददार दूसरे देश की मुद्रा में तभी भुगतान कर सकता है जब कि अपनी मुद्रा के बदले वह मुद्रा उसे प्राप्त हो सके। विदेशी व्यापार में एक प्रकार की मुद्रा को दूसरे प्रकार की मुद्रा में बदलने की व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित होता है और क्योंकि खरीददार यह जानना चाहते हैं कि उन्हें अपनी राष्ट्रीय मुद्रा में कितना मूल्य देना होगा अस्तु यदि विदेशी व्यापार की सुरक्षा अभीष्ट है तो कम से कम अल्प काल के लिए तो उन दरों में उचित स्थायित्व स्थापित करना होगा जिन पर कि विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का विनिमय हो सके।

स्वर्णमान एक तरीका है जिससे राष्ट्रीय मुद्रा (चलार्थ) का मूल्य स्वर्ण में निर्धारित किया जाता है और इसलिए व्यवहार में उसका अन्य स्वर्णमान पर आधारित देशों की मुद्राओं (चलार्थों) में भी मूल्य निश्चित हो जाता है। यद्यपि यह ठीक है कि उसका मूल्य उन देशों की मुद्राओं में निश्चित नहीं होता कि जो स्वर्णमान पर नहीं हैं। स्वर्णमान वाले देशों के बीच में भी मुद्राओं (चलार्थों) के सापेक्षिक मूल्य विल्कुल निश्चित नहीं होते क्योंकि एक देश से दूसरे देश को स्वर्ण भेजने में

* या फिर ऐसी मुद्रा में जो उनकी अपनी मुद्रा में आसानी से बदली जा सकती हो। अवश्य ही जहाँ फर्मे (सार्थ) एक से अधिक देशों में कारोबार करती हैं उनके लिए यह अत्यन्त सुविधाजनक होगा कि उनकी विक्री विशेष का भुगतान उनमें से किसी भी देश की मुद्रा में जिसमें वह व्यय कर रही है किया जावे, और जब किसी मुद्रा विशेष की बहुत कमी हो तो बहुत सी फर्मे उस कमी वाली मुद्रा में भुगतान किया जाना पसन्द करेंगी। परन्तु ऐसी स्थिति में उन्हें आमतौर पर डालर या उसके समान मूल्य वाली मुद्रा को अपनी सरकार को दे देना होगा और बदले में राष्ट्रीय मुद्रा को लेना होगा।

व्यय होता है और विनिमय दरें स्वर्ण विन्दुओं द्वारा निर्धारित सीमाओं के बीच घट बढ़ सकती हैं। अर्थात् यह घट बढ़ किसी भी ओर स्वर्ण के भेजने के व्यय द्वारा निर्धारित विन्दु तक हो सकती है। स्वर्ण भेजने का व्यय इतना कम होता है कि स्वर्ण विन्दु एक दूसरे के बहुत नजदीक होते हैं और किसी भी व्यापारी को इन सीमाओं के अन्दर विनिमय दर में घट बढ़ होने पर अपने हिसाब में अधिक हानि होने की सम्भावना नहीं रहती। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अस्थायी आधार प्रदान करने के कारण स्वर्णमान के बहुत से लाभ हैं।

स्वर्णमान में केवल यही सन्निहित नहीं है कि एक देश घोषित कर दे कि उसकी मुद्रा का मूल्य एक निश्चित शुद्धता के स्वर्ण में इतना होगा वरन उसमें यह भी शामिल है कि वास्तव में उसकी मुद्रा उतने मूल्य की हो। अतएव ऐसा कोई स्थान होना चाहिए जहां हर समय कोई भी व्यक्ति जिसे स्वर्णमान पर आधारित विदेशी मुद्रा में भुगतान करना है जा सके और या तो वह मुद्रा के बदले लगभग निश्चित विनिमय दर पर उस मुद्रा को जिसकी उसे आवश्यकता है अथवा वास्तविक सोना प्राप्त कर सके। इसका परिणाम यह होगा कि सम्बन्धित देश के केन्द्रीय बैंक को या तो मांगने पर निश्चित दर पर सोना देने के लिए अथवा हर समय प्रत्येक बैंक उद्देश्य के लिए लगभग निश्चित मूल्य पर अपरिमित मात्रा में स्वर्णमान पर आधारित विदेशी मुद्रा जिसकी मांग की जावे उपलब्ध करने के लिए तैयार रहना होगा। विदेशी व्यापार के लिए उसे स्वर्ण देने के लिए तैयार रहने की आवश्यकता नहीं है यदि वह किसी भी स्वर्णमान वाली विदेशी मुद्रा को अपरिमित मात्रा में स्वर्ण विन्दुओं के बीच किसी विनिमय दर पर देने के लिए तैयार है।* किन्तु उसकी ऐसा कर सकने की शक्ति उसके अपने स्वर्ण कोष पर निर्भर होगी जिसका उपयोग वह ऐसी किसी भी स्वर्णमान वाली मुद्रा की पूर्ति को पूरा करने लिए कर सकेगा जिसकी राशि उसके पास कम हो गई हो।

*केन्द्रीय बैंक के लिए यह भी सम्भव है कि वह दो कीमतें निश्चित कर दे—एक जिस पर वह सदैव बेचने के लिए तैयार है और दूसरी जिस पर वह सदैव राष्ट्रीय मुद्रा (चलार्थ) के बदले स्वर्ण खरीदने के लिए तैयार है। केन्द्रीय बैंक की खरीदने और बेचने की कीमतें जब एक हों तब जितनी घट बढ़ सम्भव है उससे कुछ अधिक घट बढ़ की वह छूट दे सकता है। इस प्रणाली में राष्ट्रीय मुद्रा का स्वर्ण मूल्य खरीद और बिक्री के विन्दुओं के अन्तर के बराबर घट बढ़ सकता है और स्वर्ण का देश के बाहर ले जाना निरुत्साहित किया जाता है। एगका यह अनुर होता है कि स्वर्ण की खरीद पर थोड़ा कर लगाया जाता है। यह ठीक है कि यह प्रणाली अवमूल्यन के भय से लोगों के सोने पर दूट पड़ने के विरुद्ध नहीं टिका सकती, वह तो केवल इतना ही करती है कि स्वर्ण का एक देश से दूसरे देश को परिकल्पनी गमनागमन निरुत्साहित करे।

इस परिभाषा के अनुसार 1930 के उपरान्त नात्सी जर्मनी स्वर्णमान पर नहीं था यद्यपि रीशमार्क स्वर्ण में एक निश्चित मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है ऐसा माना जाता था । जर्मनी उस समय कठोर विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत कार्य कर रहा था जिसमें जर्मन राष्ट्र के नागरिकों तथा विदेशियों दोनों को ही अपने पास की जर्मन मुद्रा को स्वर्ण अथवा विदेशी विनिमय में बदल सकने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था । स्वर्ण तनिक भी प्राप्त नहीं किया जा सकता था । विदेशी मुद्रा केवल उन कार्यों के लिए और उतनी मात्रा में प्राप्त की जा सकती थी जिसकी राज्य अनुमति दे । व्यवहार में रीश बैंक में बहुत से रीशमार्क के अवरुद्ध खाते उन लोगों के थे जो कि उनको अन्य चलार्थों (मुद्राओं) में बदलना चाहते थे किन्तु उन्हें ऐसा करने की इजाजत नहीं दी गई । परिणाम स्वरूप यह अवरुद्ध रीशमार्क अंकित मूल्य से बहुत कम पर खरीदे और बेचे जाते थे । इसी के सादृश्य ऐसे बहुत से जर्मन व्यापारी थे जो विदेशों से वस्तुएं खरीद कर जर्मनी में बेचना पसंद करते किन्तु उन्हें विदेशी मुद्राओं में उनका मूल्य चुकाने के लिए साधन नहीं दिए गए । रीश बैंक में ऐसे विशेष खाते भी थे जिनमें जर्मन आयातकर्ताओं को जो रकम उन्हें विदेशियों को देनी होती वह रीशमार्क में जमा करनी पड़ती थीं और उसमें से जर्मन निर्यातकर्ता उन वस्तुओं का मूल्य रीशमार्क में प्राप्त करते थे जो उन्होंने विदेशों को बेचे थे ।

यह खाते अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों के ऐसे ही खातों से जुड़े हुए थे जिनसे जर्मनी का समाशोधन सम्बन्धी समझौता था और कोई भी व्यक्ति जिसने जर्मनी को वस्तुएं भेजी हों तब तक अपना भुगतान प्राप्त नहीं कर सकता था जब तक कि उसके अपने देश के केन्द्रीय बैंक के खाते में उसको भुगतान करने के लिए यथेष्ट निधि न हो । यदि जर्मनी और अन्य देश के बीच का व्यापार संतुलित हो जाता तब तो प्रत्येक सम्बंधित व्यक्ति को अपने देश की मुद्रा में उसका भुगतान प्राप्त हो जाता था । यदि ऐसा नहीं होता था तो एक केन्द्रीय बैंक में वेशी इकट्ठी हो जाती और दूसरे केन्द्रीय बैंक में कमी होती थी अतएव उस देश के निर्यातकर्ताओं को अपनी रकम के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती थी जब तक कि जैसा ग्रेट ब्रिटेन में था वहां राज्य निर्यात गारंटी विभाग न हो जिसमें उनके रकम के आंशिक भुगतान का बीमा कर दिया जाता था ।

1945 के उपरान्त ऐसे बहुत से समाशोधन प्रबंध और दूसरी युक्तियां काम में लाई जाने लगीं जो कि 1930 में नात्सियों द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली युक्तियों की याद दिलाती थीं । सच तो यह है कि जिन देशों को विनिमय सम्बंधी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन्हें विवश होकर उन उपायों को काम में लाना पड़ा और कुछ मामलों में तो उनको जान बूझ कर विदेशी लेनदारों को

ठगने के उद्देश्य से अपनाया गया। कई बार वे अशोभनीय अप्रतिष्ठा का कारण भी बन गई जैसा कि अरजैन्टाइन के मामले में हुआ जब कि उसने मनमाने ढंग से अपने स्वार्थों के अनुकूल चलार्थों (मुद्राओं) के मूल्य निश्चित किए किन्तु अधिकतर मामलों में उनका उपयोग व्यापार को चलाए रखने के लिए किया गया जो उनके बिना विल्कुल पंगु बन जाता। यदि स्थिति की मांग हो तो समाशोधन समझौतों में कोई स्वाभाविक बुराई नहीं है। वे उस समय गलत हो जाते हैं जब कि दोनों पक्षों के हित में व्यापार को सम्भव बनाने के बजाय उनका उपयोग दूसरे पक्ष को हानि पहुँचा कर एक पक्ष के लाभ के लिए किया जाता है।

युद्ध के पहले बहुत से देश स्वयं निज के बड़े* स्वर्ण कोप रखने के बजाय अपने व्यापारियों की आवश्यकताओं को विदेशी विनिमय के रूप में बहुत बड़ी रकम रख कर पूरा करते थे। यह वह या तो सीधे अन्य देशों की मुद्राओं (चलार्थों) के रूप में अथवा अल्पकालीन देयता के रूप में जैसे कि बिल (हुंडी) जिनको वे शीघ्र ही उन मुद्राओं में बदल सकते थे रखते थे। इसका अर्थ यह था कि प्रमुख स्वर्णमान देशों के पास अन्य देशों के नागरिकों की अथवा उनके केन्द्रीय बैंकों की बहुत बड़ी राशि में मुद्रा उपयोग के लिए रहती थी, और किसी भी समय उस मुद्रा को यदि उसके मालिक वापस लेना चाहें तो उनकी मुद्रा (चलार्थ) में अथवा अन्य मुद्राओं या स्वर्ण में देना पड़ सकता था। उन देशों के दृष्टिकोण से जो कि अपने सुरक्षित कोप को विदेशी विनिमय के रूप में रखते थे इस प्रणाली में लाभ यह था कि उनका द्रव्य जो कि अन्य देशों में जमा रहता था उनके लिए कुछ सूद कमाता था जबकि स्वर्ण जो कि तिजोरियों में बंद रहता तनिक भी सूद नहीं कमाता। उन देशों के दृष्टिकोण से जो कि उन शेषों (मुद्रा राशियों) को अपने पास रखते थे उनके लाभ की कल्पना यह थी कि वे उस द्रव्य या मुद्रा का उपयोग करते थे किन्तु उनके केन्द्रीय बैंकों के* लिए यह आवश्यक था कि वे साधारणतया जितना स्वर्ण कोप रखना जरूरी था उमसे अधिक स्वर्ण कोप रखें जिससे कि जब जमा करने वाले देश जिस देश में उनकी निधि जमा है उस देश की मुद्रा को न चाह कर अन्य मुद्रा को चाहें जिसकी उस देश के केन्द्रीय बैंक के पास यथेष्ट पूर्ति न हो तो वह भुगतान की मांग को पूरा कर सके। जो देश अपना अधिकांश रक्षित कोप विदेशी विनिमय में रखते थे वे जिस तरीके को अपनाते थे उसे स्वर्ण विनिमय मान कहा जाता था और इस मान्यता पर वह स्वर्णमान का पूर्ण संतोषजनक स्थानापन्न था कि जिस देश में उन्होंने अपनी निधि रखी—स्वर्णमान को पूर्ण रूप में बनाए रखने के लिए उस पर भरोसा किया जा सकता था। 1931 में जब ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान को त्याग दिया तो जिन देशों के अपने सम्पूर्ण अथवा आंशिक रक्षित कोप

*अथवा विनिमय समीकरण कोप जहाँ वे स्थापित कर दिए गए थे।

ग्रेट-ब्रिटेन में रहते थे उन्हें अपने कोपों के स्वर्ण मूल्यों में हानि उठानी पड़ी और अधिकांश को जितनी ब्रिटिश मुद्रा मूल्य में गिरी उतना ही अपनी मुद्रा का अव-मूल्यन करने पर विवश होना पड़ा ।

यह हम देख चुके हैं कि स्वर्णमान का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सौदों को स्थायी बनाने में मदद करता है । दो स्वर्णमान देशों के व्यापारियों में जब कोई सौदा होता है तो खरीददार और बेचने वाला दोनों ही अत्यन्त संकीर्ण सीमाओं के अन्तर्गत यह जानते हैं कि उन्हें अपनी मुद्रा में क्या देना और क्या लेना होगा । इसके अतिरिक्त जो देश पूर्ण रूप से स्वर्णमान के अन्दर काम करते हैं उनमें यह प्रवृत्ति होती है कि वे केवल अपने व्यापार का ही वित्त प्रबंध नहीं करते वरन् अन्य देशों के व्यापार का भी वित्त प्रबंध करते हैं । ऐसी मुद्रा (चलार्थ) में भुगतान जो निश्चित दर पर स्वर्ण में बदली जा सकती हो सभी स्थानों पर स्वीकार किए जाने की सम्भावना है, और पुराने दिनों में लंदन पर काटे गए विलों (हुंडी) का संसार भर में प्रचलन था ।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दृष्टिकोण में भी स्वर्णमान में कुछ दोष हैं । जो देश स्वर्णमान के अन्तर्गत काम करता है उसे सदैव उन वस्तुओं जिन्हें वह विदेशों में बेचना चाहता है (प्रशुल्क तथा अन्य रुकावटों सहित) और उन वस्तुओं के मूल्य का जो कि उसके नागरिक अपने देश की वस्तुओं के स्थानापन्न के रूप में आयात कर सकते हैं ऐसे विन्दु पर रखना जरूरी हो जाता है कि जिससे वे वस्तुएं यदि गुण में एक सी हैं तो अन्य देशों में उत्पन्न हुई वस्तुओं से महंगी न हो जावें । यदि वह ऐसा करने में असफल हो जाता है तो उसके निर्यात व्यापार को हानि होगी और जिन आयातों की उसे आवश्यकता है उनका मूल्य वह नहीं चुका सकेगा । यदि आयातों पर कोई प्रतिबंध न लगाया जावे तो उसे विदेशी विनिमय की पूर्ति की हानि होगी और उनका मूल्य चुकाने में उसे स्वर्ण देना होगा । और अन्त में उसे स्वर्णमान को त्याग देना पड़ेगा । सुनने में यह नितान्त युक्ति संगत मालूम होता है कि एक देश को अपने निर्यातों का मूल्य संसार के अन्य भागों में प्रचलित मूल्यों में संतुलित रखना पड़े परन्तु इसका अर्थ यह है कि यदि किसी देश विशेष में जो बहुत बड़ा होने के कारण संसार के व्यापार में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है यदि गंभीर मंदी प्रगट हो जावे और कीमते तेजी से नीचे गिर जावें तो अन्य स्वर्णमान देशों को तदनुसार मूल्यों में कटौती करने पर विवश होना होगा चाहे फिर उसके परिणाम स्वरूप विस्तृत पैमाने पर हानि हो और बेरोजगारी फैले । जब तक कि सब बड़े स्वर्णमान देश लगातार पूर्ण रोजगार के आधार पर काम करते हैं तब तक सब ठीक है परन्तु जैसे ही उनमें से एक में गंभीर मंदी होती है, व्यवहार में वह सभी देशों में फैल जाने वाली है ।

ग्रेट ब्रिटेन के लिए यह विशेषकर गम्भीर प्रश्न है । संयुक्त राज्य अमेरिका के पास इतना विशाल स्वर्ण कोप है और पिछले वर्षों में उसके निर्यातों के आयातों से अधिक होने की प्रवृत्ति उतनी सुस्पष्ट रही है कि वह इस नियम का अपवाद है कि स्वर्ण मान से चिपटे रहने का अवश्यम्भावी अर्थ यह है कि यदि संसार के अन्य भागों में आर्थिक स्थिति गड़बड़ हो जावे तो उस देश में भी आन्तरिक मंदी और मुद्रा संकुचन हो । आगे लम्बे समय तक के लिए ऐसी स्थिति की कल्पना करना कठिन है फिर चाहे संयुक्त राज्य अमेरिका की आन्तरिक नीति कुछ भी हो कि संयुक्त राज्य अमेरिका के पास विदेशी भुगतान करने के लिए साधनों की कमी पड़ जावेगी । संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेशी व्यापार में गम्भीर मंदी के परिणाम स्वरूप अधिक से अधिक यह होगा कि उसके आयात कम हो जावेंगे, शुद्ध विदेशी विनियोग रुक जावेगा और अमेरिका के अधिकार में जो विशाल मौद्रिक स्वर्ण एकत्रित है उसमें से कुछ स्वर्ण निकालना पड़ेगा । इसमें संदेह नहीं कि यदि यह निकासी बहुत लम्बे समय तक चलती रहे तो अमेरिका की मजबूत लेनदार की स्थिति भी बदल सकती है, परन्तु वर्तमान नीति के बारे में विचार करते समय व्यवहार में हम ऐसी सम्भावना को छोड़ कर चल सकते हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका के पास इतना स्वर्ण है कि उसे मौद्रिक दृष्टिकोण से न तो विदेशों द्वारा स्वर्ण की निकासी का और बिना डालर का स्वर्ण साम्य अथवा प्रत्यय (साख) का नियंत्रण करने वाले कानूनों को बदले आवश्यक आन्तरिक मुद्रा तथा प्रत्यय (साख) का विस्तार न कर सकने की अपनी शक्ति का भय होने की आवश्यकता है । इसमें संदेह नहीं कि अमेरिकन स्वर्णमान को छोड़ने अथवा डालर के स्वर्ण मूल्य में परिवर्तन करने की इच्छा अन्य कारणों से कर सकते हैं जैसा कि उन्होंने बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में किया, परन्तु स्वर्ण की या विदेशी विनिमय की कमी से वे कठिनाई से ही इस मार्ग को अपनाने पर विवश होते ।

ग्रेट ब्रिटेन के साथ स्थिति निश्चय ही बहुत भिन्न है । क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन के पास स्वर्ण का अधिक भंडार नहीं है और युद्ध के समय से संसार के बाजार में अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत भी न वह निर्यातों को इतना बढ़ा सकता है जिससे एक संतोषजनक जीवन स्तर पर पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक आयातों का तथा विदेशों से युद्धकाल में या उसके बाद लिए हुए ऋण का चुकारा करने के लिए जो देना होगा उसका भुगतान किया जा सके । सच तो यह है कि अधिकांश योरोपीय देशों को इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ा ।

तालिका (सारिणी) -- २२

संयुक्त राज्य अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम का विदेशी व्यापार

1928—1953

संयुक्त राज्य अमेरिका लाख डालरों में					यूनाइटेड किंगडम लाख पाँडों में		
आयात	निर्यात	अन्तर	स्वर्ण	आयात	आयात	निर्यात	अन्तर
1928	70430	88310	+17880	—	11960	8440	—3520
1929	75570	90150	+14580	—	12210	8390	—3820
1930	52550	65990	+13440	—	10440	6580	—3860
1931	35880	41500	+ 5620	—	8610	4540	—4070
1932	13420	16250	+ 2830	— 4470	7020	4160	—2860
1933	15100	16940	+ 1840	— 1740	6750	4170	—2580
1934	17580	21490	+ 3910	+11340	7210	4470	—2740
1935	24020	23020	— 1000	+17390	7560	4810	—2750
1936	26050	24680	— 1370	11160	8480	5010	—3470
1937	31760	33610	+ 1850	+15680	10280	5970	—4310
1938	21910	31020	+ 9110	+19730	9200	5330	—3870
1939	24030	31920	+ 7890	+35740	8860	4860	—4000
1940	26840	40250	+13410	+47440	11520	4370	—7150
1941	33920	51530	+17610	+ 9820	1145	3780	—7670
1942	27970	80810	+52840	+ 3160	9970	2760	—7210
1943	34090	129960	+95870	+ 690	12340	2390	—9950
1944	39520	143860	+104340	— 8450	13090	2820	—10270
1945	41860	98970	+57110	— 1060	11040	4500	—6540
1946	49970	97750	+47780	+ 3120	13010	9650	—3360
1947	58240	153690	+95450	+18670	17940	11980	—5960
1948	71950	126650	+54700	+16800	20780	16460	—4320
1949	66980	120740	+53760	+ 6860	22750	18440	—4310
1950	89620	102810	+13190	— 3710	26080	22560	—3520
1951	110700	150380	+39680	— 5490	39140	27070	—12070
1952	107850	151960	+44110	+ 6840	34780	27280	—7500
1953	109660	157680	+48020	+ 20	33440	26880	—6560

यदि ग्रेट ब्रिटेन अथवा उसके समान स्थिति वाला कोई अन्य देश पुनः स्वर्ण-मान पर लौटे और उस समय प्रचलित वास्तविक विनिमय दर के तदनु रूप स्वर्ण साम्य को स्थापित करे अर्थात् मोटे तौर पर यदि विभिन्न मुद्राओं (चलायों) का स्वर्ण मूल्य एक निश्चित तिथि पर उनकी अनेक बाह्य क्रय शक्तियों के आधार पर

निश्चित किया जावे तो इसका प्रभाव यह होगा कि ग्रेट-ब्रिटेन अथवा अन्य कोई भी देश जो इसी प्रकार बंधा होगा उसके आर्थिक मामलों की भावी गति विधि संयुक्त राज्य अमेरिका में होने वाले परिवर्तनों से बंध जावेगी । परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका को अन्य देशों में होने वाली घटनाओं से तदनु रूप प्रभावित होने की आवश्यकता नहीं होगी ।

यह अत्यन्त गम्भीर विषय है, क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं संयुक्त राज्य अमेरिका की अर्थ प्रणाली अभी तक संसार में अत्यन्त अस्थिर सिद्ध हुई है । वह ग्रेट-ब्रिटेन की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत कम निर्भर है—क्योंकि अमेरिका के उत्पादन का बहुत बड़ा प्रतिशत देश में ही उपयोग कर लिया जाता है । संयुक्त राज्य अमेरिका तीव्र आन्तरिक अस्थिरता से आक्रान्त रहा है । बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में मंदी जब गहन थी तब अमेरिका का उत्पादन और रोजगार आधा हो गया जबकि ग्रेट-ब्रिटेन में मंदी के पूर्व के स्तर से केवल 17 प्रतिशत की कमी हुई । यदि इस प्रकार का प्रचंड प्रदोलन (उतार चढ़ाव) अमेरिकन अर्थ-व्यवस्था की विशेषता बनी रहे और अमेरिका की मांग तथा उसके विदेशी विनियोग में कमी के रूप में वह अन्य देशों को पहुँचती रहे तो पूर्ण रोजगार की नीतियों का क्या होगा जिन पर हम सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा की नई प्रणालियों का निर्माण करने जा रहे हैं । इतने अधिक प्रचंड परिवर्तनों के प्रभाव का सामना करने के लिए कोई भी देश जो अपने रोजगार के स्तर को बनाए रखना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक है कि वह वैकिंग प्रणाली के द्वारा उदार साध देने तथा उपभोग या विनियोजन के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग को उत्तेजना देने के लिए राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप का सम्मिलित कार्यक्रम जारी रखे । किन्तु जो देश कि स्वर्णमान से अथवा अन्य किसी ऐसे मान से बंधा हुआ है जिसमें विनिमय दर साम्य स्थिर होता है उसमें इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं हो सकती, जब तक कि उसकी स्थिति इतनी मजबूत न हो कि वह अपने साधनों पर ही निर्भर रह सकता हो और गिरते हुए निर्यातों के कारण उसे जितने आयातों को कम करना पड़े उनके बिना काम चला सकता हो । 1929-32 में संयुक्त राज्य अमेरिका में थोक मूल्य औसतन व्यवहार में एक तिहाई गिर गए और 1929-33 के बीच जीवन निर्वाह की लागत करीब एक चौथाई गिरी । अन्य देश इस गिरावट का सामना बिना कड़े मुद्रा संकुचन के कैसे कर सकते थे जिसका परिणाम होता बड़े पैमाने पर बेरोजगारी फैलना और व्यापार का विस्तृत विनाश, यदि उन्हें एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत काम करने पर विवश होना पड़ता जिसमें उन्हें एक स्थिर विनिमय दर पर अपनी मुद्राओं का स्वतंत्र परिवर्तन करना जरूरी था । यह स्पष्ट था कि ग्रेट-ब्रिटेन जैसे देशों के लिए ऐसे गम्भीर अमेरिकन प्रतिस्वार के विरुद्ध पूर्ण रोजगार को बनाए रखना तब तक सम्भव नहीं था जब तक कि वे अपनी नीमाओं

पर मुद्रा के गमनागमन तथा विदेशी व्यापार की शर्तों पर नियंत्रण रखने के लिए पूर्ण स्वतंत्र नहीं होते। संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए डालर के स्वर्ण मूल्य में परिवर्तन का अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभाव पड़ता। अन्य देशों के लिए इस प्रकार का परिवर्तन नष्ट हो जाने के लिए विवश होने का एक मात्र विकल्प था—मैं नहीं कहूँगा वचने के लिए—वरन अमेरिकन संकट का अपनी आर्थिक स्थिति पर प्रभाव कम करने का एकमात्र साधन हो सकता था।

क्लिष्ट होने की जोखिम उठाकर भी मैं इसके बारे में स्पष्ट होना चाहता हूँ। अब संसार के बड़े भाग की अर्थ-व्यवस्था में संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति इतनी अधिक प्रभावशाली है कि उसकी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने पर अन्य देशों पर उसका गहरा असर पड़ना अनिवार्य है। यदि व्यापारिक अभिवृद्धि हो और अमेरिका वस्तुओं का स्टॉक इकट्ठा करने लगे अथवा चालू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए केवल भारी खरीददारी ही करने लगे तो उसका परिणाम यह होगा कि कच्चे माल की कीमतें कल्पनातीत ऊँची उठ जावेंगी और अन्य देशों को उन वस्तुओं के बाजार से जो कि बड़ी हुई माँग की तुलना में कम हैं बाहर निकलना होगा। इसके विपरीत यदि अमेरिका में अवसाद या मंदी हो जावे वह कच्चे माल तथा तैयार माल के आयातों की खरीददारी बहुत कम करदे, तो डालर की पूर्ति बहुत कम हो जायेगी और अन्य देश उन खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल को खरीद सकने की स्थिति में नहीं होंगे जो कि केवल डालर से ही प्राप्त किए जा सकते हैं। उनके निर्यात बहुत अधिक गिर जावेंगे। केवल इसलिए नहीं कि वे अपने निर्यातों को अमेरिकनों को बेच नहीं सकेंगे वरन इस कारण और भी अधिक गिर जावेंगे क्योंकि वे देश अपनी मुख्य वस्तुओं को अमेरिका को नहीं बेच सकेंगे, उनकी क्रय शक्ति समाप्त हो जावेगी और उन्हें प्रत्येक देश से अपने आयातों को कम करना होगा। 1951 में कोरिया के युद्ध के छिड़ जाने के बाद अमेरिका द्वारा स्टॉक इकट्ठा किये जाने का परिणाम यह हुआ कि कच्चे माल की कीमतों में सनसनीखेज वृद्धि हुई जिसके कारण ब्रिटेन का शोचन शेप (भुगतान शेप) बहुत अधिक विगड़ गया। इसमें सन्देह नहीं कि जो देश उस कच्चे माल को उत्पन्न करते थे उन्हें लाभ हुआ और उन्होंने बहुत बड़ी राशि में डालर शेप इकट्ठा कर लिए, और क्योंकि इनमें से कुछ देश स्टॉलिंग क्षेत्र के थे अस्तु जो डालर उन्होंने तुरन्त व्यय नहीं कर दिए उनसे स्टॉलिंग क्षेत्र के डालर कोष की वृद्धि हुई। किन्तु यह धनराशि यद्यपि विनिमय संतुलन कोष में ब्रिटेन के स्वर्ण तथा डालर शेप के एक अंश के रूप में प्रगट की जाती थी, ब्रिटेन की नहीं थी। वरन उन देशों की थी जिन्होंने अपनी उत्पादित वस्तुओं को ऊँची चढ़ी हुई कीमतों पर बेचा था और जिसको आगे पुनः चुकारा करने के लिए तैयार रखना जरूरी था। इसका परिणाम समस्त स्टॉलिंग क्षेत्र से अलग ब्रिटिश शोचन शेप पर घातक सिद्ध हुआ। ब्रिटिश आयातों की

कीमतें उसके निर्यातों की कीमतों की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी से बढ़ीं और घोर वित्तीय संकट उपस्थित हो गया। उस संकट का सामना आयातों को डालर क्षेत्र से ही नहीं साधारणतया बहुत कम करके किया गया। यदि ग्रेट-ब्रिटेन स्वर्णमान पर होता और ब्रिटिश मुद्रा (चलार्थ) स्वतंत्रतापूर्वक स्वर्ण में परिवर्तनशील होती तो यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण और डालरों का सम्पूर्ण कोप पलक मारते ही समाप्त हो जाता। क्योंकि चाहने पर भी उस प्रवाह को देश में मुद्रा संकुचन के द्वारा रोकना असम्भव होता। इसके सिवाय वह संसार में तेजी से बढ़ी कीमतों की समस्या को हल करने का अत्यन्त अनुपयुक्त माध्यम होता।

जब अमेरिकनों ने अपने इस कार्य के प्रभाव को अनुभव किया जो कि वास्तव में अपने तथा अन्य देशों के विरुद्ध कीमतों को ऊपर चढ़ाना था तो उन्होंने अपनी खरीद को कम कर दिया और कुछ कच्चे पदार्थों की कीमतों को वे तेजी से नीचे ले आए। इसने तथा अन्य देशों द्वारा आयातों पर लगाये गये प्रतिबन्धों ने मिलकर आपत्तिग्रस्त संसार के संकट को टाल दिया और अधिकांश वंशों में बेरोजगारी को बहुत अधिक गम्भीर अनुपात तक पहुँचाने से रोकना सम्भव कर दिया। किन्तु इतने पर भी ब्रिटिश सूती वस्त्र उद्योगों में गिरावट आयी और उसने अपने निर्यात बाजारों का एक बड़ा भाग खो दिया। कीमतों की गड़बड़ पूर्ण रूप से निर्यात बाजारों के खोने का कारण नहीं थी परन्तु वह आंशिक कारण अवश्य थी।

भाग्यवश ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य देश जो कि आयात किए गए खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल पर निर्भर हैं और जो आयातों का भुगतान मुख्यतः विनिर्मित निर्यातों से करते हैं उन्हें 1945 से अमेरिका के वास्तव में किसी बड़े प्रतिसार (रिसेशन) का अनुभव नहीं करना पड़ा। किन्तु 1949 में अमेरिका के आयातों में साधारण गिरावट (और योरोप को अमेरिकन सहायता में) ने एक ऐसा संकट उत्पन्न कर दिया कि ग्रेट-ब्रिटेन को डालर की तुलना में स्टर्लिंग का अवमूल्यन करने पर विवश होना पड़ा। उस समय अमेरिकनों ने शीघ्र ही अपनी मंदी पर बंध पा लिया और पुनः शस्त्रीकरण के लिए डालर देकर योरोप को बचाने में भी मदद की और संकट निकल गया। फिर भी इस बात की यथेष्ट साक्षी मिल गई कि यदि वह अमेरिकन मंदी जारी रहती तो ग्रेट-ब्रिटेन और अधिकांश पश्चिम योरोप पर उसका प्रभाव भयंकर होता जब तक कि उसको हटाने के लिए अत्यधिक राशि में डालर की भेंट उन देशों में न उंडेल दी जाती। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका अपने घर में ही मंदी के कष्टों में से निकल रहा होता तो कांग्रेस द्वारा उतनी सहायता की स्वीकृति पा सकना सम्भव नहीं होता।

इन दोनों उदाहरणों में जो भी देश अमरीकी अर्थव्यवस्था के विपर्य (और विदेशी सहायता के संबंध में अमरीकी नीति) से प्रभावित हुए वे इस स्थिति में थे कि वे

अपनी रक्षा के लिए उपाय कर सकते थे । 1951 में ग्रेट ब्रिटेन स्टर्लिंग का अवमूल्यन और साथ ही स्टर्लिंग की अन्य मुद्राओं (चलार्थों) में अथवा स्वर्ण में विनिमय साध्यता को नियंत्रित कर सका और विशेषकर डालर क्षेत्र से आयातों पर प्रतिबन्ध भी लगा सका । 1951 में पुनः यद्यपि स्टर्लिंग का और अधिक अवमूल्यन नहीं किया गया परन्तु उसकी विनिमय साध्यता पर नियंत्रण बना रहा और उसी प्रकार मुद्रा की रक्षा करने के लिए आयातों को रोकने का अधिकार भी बना रहा । यदि यह अधिकार न होते तो किसी तरह भी विनाश नहीं बच सकता और ग्रेट ब्रिटेन बड़े पैमाने पर बेरोजगारी में डूब जाता । परन्तु रक्षा के ऊपर लिखे उपाय भी अपर्याप्त सिद्ध होते यदि संयुक्त राज्य अमेरिका चेतावनी पर ध्यान न देता और विनाश आने से पूर्व वह स्टाक इकट्ठा करने को कम न कर देता ।

मैं इस अवस्था में विदेशी विनिमय की समस्याओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीतियों की पूरी चर्चा में उतरना नहीं चाहता । इस समय तो मैं केवल यह संकेत करना चाहता हूँ कि आज की परिस्थिति में संयुक्त राज्य अमेरिका में अभिवृद्धि और अवसाद (मंदी) दोनों का ही ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य देशों की अर्थव्यवस्था पर जो डालर की पूर्ति तथा वाजारों पर निर्भर रहते हैं, बहुत तेज और प्रतिकूल प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है । यह देश जबकि अपनी मुद्राओं का डालर तथा स्वर्ण मूल्य बदलने, अपनी सीमाओं के पार मुद्रा (चलार्थ) के आने जाने पर नियंत्रण रखने, और अपने आयातों को भुगतान शेष की रक्षा करने के लिए विनियमित करने का अधिकार सुरक्षित रखते हैं तब भी यह सही है । यदि इनमें से पहला और दूसरा अधिकार स्वर्णमान पर लौटने के लिए तथा मुद्राओं (चलार्थों) को स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तन साध्य बनाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा उनसे ले लिया जाय और यदि तीसरा अधिकार भी ले लिया जावे तो कोई भी देश जो उस प्रणाली को स्वीकार करेगा संयुक्त राज्य अमेरिका में ऊपर तथा नीचे की ओर होने वाली गतिविधि से अपनी अर्थव्यवस्था की रक्षा कर सकने का कोई भी साधन अपने पास न रख सकेगा और पूर्ण रोजगार की नीति को अपनाने की कोई सम्भावना न रहेगी ।

जहां स्वर्णमान प्रचलित है और संसार की अर्थव्यवस्था में जिस देश का प्रमुख स्थान है यदि उसमें कीमतें गिरती या ऊंची चढ़ती हैं तो अन्य देश जो स्वर्णमान से बंधे हैं उन्हें भी अपनी कीमतों में उसी के अनुसार घटाना बढ़ाना होंगी चाहे फिर उनकी आन्तरिक स्थिति में कोई भी परिवर्तन न हुआ हो, यदि प्रमुख देश में कीमतें गिरती हैं तो उन्हें भी अपने यहां भी कीमतें अवश्य कम करनी होंगी । यदि उनकी मुद्राएं चलार्थ स्वर्ण से सुदृढ़ बंधी हैं तो वे ऐसा केवल आयन्त्रक मुद्रा नीतियों को लागू करके ही कर सकते हैं—इस आशा में कि मुद्रा सम्बन्धी बंधनों से लागत व्यय कम होगा । परन्तु लागत व्यय बहुत से अंशों से मिलकर बनता है उनमें से कुछ लम्बे

काल के लिए और कुछ अल्पकाल के लिए स्थिर होते हैं जबकि अन्य शीघ्र लचीले होते हैं। बहुत प्रकार पूंजी लागतों के लम्बे काल के लिए स्थिर होने और लागत व्यय में बहुत बड़ा अंश मजदूरी का होने के कारण मुद्रा संकुचन की कोई भी नीति लागतों को वांछित सीमा तक नीचे लाने में सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसमें मजदूरी की बहुत अधिक कटौती करना भी शामिल न हो। मजदूरी में इस प्रकार की कटौती निर्यात करने वाले उद्योगों को लाभदायक हो सकती है परन्तु उसकी देश में उपभोक्ताओं की मांग पर बहुत गम्भीर प्रतिक्रिया होगी। यदि मजदूर मजदूरी की कटौती का दृढ़ और सफल विरोध करें तो लागत व्यय नीचे नहीं जावेगा किन्तु रोजगार अवश्य कम हो जावेगा क्योंकि संकुचित मुद्रा के ढांचे में व्यवसायियों के लिए पूर्व स्तर पर उत्पादन करना लाभदायक नहीं होगा। इस प्रकार चाहे लागत कम हो अथवा न हो इसका प्रभाव यह होगा कि उत्पादन और रोजगार कम हो जावेगा। विभिन्न उद्योगों में अवसाद या मंदी का भार इन दोनों स्थितियों में भिन्न होगा किन्तु कुल मिलाकर प्रत्येक स्थिति में वह भीषण होगा।

मैं यह सुझाव नहीं दे रहा हूँ कि जो देश अपनी मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन करने का अधिकार सुरक्षित रखता है वह उसके द्वारा संयुक्तराज्य अमेरिका में होने वाले परिवर्तनों के परिणामों से बच सकता है। स्पष्ट है कि संयुक्तराज्य अमेरिका का संसार की अर्थव्यवस्था के ढांचे में इतना अधिक महत्वपूर्ण स्थान है कि किसी भी दशा में इस प्रकार बच सकना सम्भव नहीं है। मेरा कहना केवल इतना है कि यदि ग्रेट ब्रिटेन जैसा देश इस बात के लिए विवश न किया जावे कि प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विनियोजन की विपत्ति में आन्तरिक मुद्रा संकुचन की विपत्ति को और जोड़ दिया जावे तो विनाश बहुत कम होगा।

इस बात पर आपत्ति उठाई जा सकती है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के ढांचे को अमेरिका के संकट के प्रभावों से बचाने के लिए मुद्रा के बाहरी मूल्य में परिवर्तन करने, तथा मुद्रा की गतिविधि पर नियंत्रण रखने, की अपेक्षा दूसरे और शायद अच्छे तरीके भी हैं। शायद ऐसे तरीके हैं किन्तु वे तरीके भी इन्हीं के समान उस देश के द्वारा नहीं अपनाये जा सकते जिसने एक स्थिर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक मान को जिसमें या तो स्थित विनियम दर या अबाध परिवर्तयता हो—पालन करने का वचन दे दिया है। जिस स्थिति की हम कल्पना कर रहे हैं उसके कारण जो विदेशों को स्वर्ण का उत्सारण या प्रवाह होगा उसको मुद्रा के बाहरी मूल्य से बदल कर या अपने निर्यातों को आयन्वित कर के ही रोका जा सकेगा। एक देश पूर्ण विनियम नियन्त्रण प्रणाली के द्वारा—अपनी मुद्रा के बाह्य मूल्य अथवा स्वर्ण मूल्य को नाममात्र के लिए ज्यों का त्यों रखकर—वांछित सुरक्षा प्राप्त कर सकता है। वह निर्यात के लिए स्वर्ण देने से इनकार कर सकता है, विदेशी विनियम की पूर्ति का लाइसेंस प्रणाली के द्वारा

राशन कर सकता है. अथवा शोधन की विभिन्न युक्तियों को अपना सकता है, इस प्रकार वह कुल बाह्य देनी को उसे जितनी विदेशी विनिमय निश्चित दर पर उपलब्ध है उतने तक सीमित कर सकता है। इस प्रकार की युक्तियाँ स्वर्ण मान के लिए असंगत हैं उससे मेल नहीं खाती। वे अरौव्य रूप से रूके हुए खातों में प्रकट होकर जिनका विनिमय केवल बट्टे पर ही हो सकता है वस्तुतः मुद्रा का अवमूल्यन करते हैं। इस प्रकार के प्रबंध में क्या होता है उसे देखने का दोनों युद्धों के बीच के दशाब्दों तथा १९४५ के बाद बहुत अधिक अवसर मिला है। अच्छे पुराने दिनों में स्वर्णमान जिस रूप में विद्यमान था और जिस रूप में बहुत से अमरीकी अब भी उसे पुनः स्थापित करने की आशा करते हैं उन युक्तियों को पूर्णतया उसी प्रकार छोड़ देता है जिस प्रकार वह मुद्रा (चलार्थ) की इकाई के स्वर्ण मूल्य में परिवर्तन को छोड़ देता है।

जहाँ तक मेरा संबंध है मुझे विश्वास है कि यदि प्रमुख राष्ट्र संयुक्त राज्य के दबाव के कारण ब्रिटन-युड्स में सांस लेने के लिए थोड़े समय के उपरान्त एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा मान पर पुनः वापस लौटने के लिए राजी भी हो गए जिसमें तनिक लचीलापन का अंश होते हुए भी जो स्वर्णमान से बहुत अधिक सादृश्य रखता है तो या तो वे जब भार आवेगा तो अपने वादों को पूरा कर सकना अव्यवहारिक पायेंगे अथवा यदि वायदों को पूरा किया गया तो बहुत थोड़े समय में व्यवहार में कम से कम जैसे ही संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रथम आर्थिक अभिवृद्धि या अवसाद का शेष संसार पर निरंतर आघात पड़ा कि सब टूट जावेगा, समाप्त हो जावेगा। 1918 के उपरान्त स्वर्णमान को पुनः वापस चालू करने के बहुत अधिक प्रयत्न किए गए और एक के बाद दूसरे देशों ने स्वर्ण में अपनी मुद्राओं (चलार्थों) का मूल्य पुनः निर्धारित किया। यह कष्टदायक क्रिया कठिनाई से पूर्ण ही हुई थी कि देश पुनर्स्थापित स्वर्णमान से उस गति की अपेक्षा अधिक तेजी से खिसकने लगे जिस तेजी से वे उस पर वापस लौटे थे। वास्तव में यह एक अशोच्य है। स्वर्णमान कुछ देशों में उस समय भी टूट रहा था जिन्होंने अन्य देशों में पुनर्स्थापन की क्रिया के सम्पूर्ण होने से पहले ही स्वर्णमान की पुनर्स्थापना कर दी थी।

क्या अब हमें फिर अन्तः युद्धकाल के कष्टदायक और व्यर्थ के अनुभव में से गुजरना होगा। अधिकांश देशों के लिए स्वर्णमान पर पुनः वापस लौट सकना या फिर और कोई व्यवस्था स्वीकार करना जिसमें विनिमय साम्य स्थिर हो युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद अव्यवहारिक था। बहुत से क्षेत्रों में स्थिति अत्यन्त गड़बड़ थी और यह किसी भी मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी कि वह यह कह सके कि उपयुक्त विनिमय साम्य क्या होंगे। प्रत्येक व्यक्ति इस बात में एकमत था कि एक संक्रमण काल की आवश्यकता है जिसमें प्रत्येक देश अपनी मौद्रिक और आर्थिक व्यवस्था को सुधार सके और मोटे तौर पर यह जान सके कि उनकी मुद्राओं का

मूल्य क्या होने वाला है। परन्तु अमेरिका ने जैसे ही उसकी स्थिति संभली औरों से अधिक ग्रेट ब्रिटेन से अपने साथ होने वाले व्यवहार में इस संक्रमण काल को समाप्त करने में असाधारण जल्दवाजी की और शीघ्रता पूर्वक उस विन्दु पर पहुँचने का दृढ़ संकल्प कर लिया जहाँ से प्रत्येक देश के लिए एक नई मौद्रिक व्यवस्था की स्थापना एक घोषणा के द्वारा की जा सके जिसमें मुद्राओं (चलायों) की स्वर्ण में एक निश्चित मूल्य पर पूर्ण परिवर्त्यता स्थापित हो। उस समय उन्होंने उस खतरे की ओर से अपनी आँख बंद कर ली कि यदि यह अन्तिम क्रिया कभी हो भी सकी तो जैसे ही मुद्राओं के स्थिर साम्य निर्धारित किए जावेंगे वैसे ही विभिन्न देश उस साम्य से दूर सरकने लगेंगे।

इसका यह कहने का तात्पर्य नहीं है कि मुद्रा के अस्थिर मूल्य स्वयं में अच्छी बात है। इसके विपरीत यह बहुत अधिक प्रसन्नता की बात होगी यदि दरें स्थिर हों जिन पर सभी देशों की मुद्राओं का विनिमय हो सके। यह बहुत अधिक प्रसन्नता की बात होगी यदि इस स्थिरता का कम से कम कुछ देशों के लिए यह दंड न हो कि समय समय पर उन्हें मुद्रा संकुचन और घोर बेरोज़गारी अथवा भीषण मुद्रा स्फीत की परिस्थितियों में डूबना पड़े।

यह तर्क दिया जा सकता है कि यद्यपि यह ठीक है किन्तु इसका कोई अधिक महत्व नहीं है क्योंकि भविष्य में संयुक्त राज्य अमेरिका कभी भी अपने को वास्तविक गहरे अवसाद (प्रतिसार) अथवा तेज परिकल्पी अभिवृद्धि का शिकार नहीं होने देगा। यह तर्क दिया जा सकता है कि न्यू डील और कीन्स के अर्थशास्त्र के बाद गहरे प्रतिसार को रोकने की विधि सीख ली गई है और संयुक्त राज्य अमेरिका उस विधि को काम में लाने की पूर्ण स्थिति में है। चाहे फिर अन्य देश उस स्थिति में ना भी हों। यह कहा जाता है कि संयुक्त राज्य अवश्य ही ऐसी नीति का अनुसरण कर सकता है जिससे पूर्ण रोज़गार बना रहेगा। अमेरिका की समृद्धि ठीक उतनी ही सफलतापूर्वक शोष संसार को भी समृद्धि तक ऊँचा चढ़ा देगी जिस प्रकार अमेरिका में मंदी शोष संसार को मुद्रा संकोचन में ढकेल देती है। अवश्य ही इस विचार में कुछ तथ्य है। यदि इस बात का कोई आश्वासन अनुभव करने की सम्भावना हो कि भविष्य में संयुक्तराज्य अमेरिका विना अभिवृद्धि के निरंतर पूर्ण रोज़गार की नीति को अपनायेगा तो स्वर्णमान को पुनर्स्थापित करने के विरुद्ध बहुत कम कहने को रह जावेगा। किन्तु कोई इस प्रकार के आश्वासन को अनुभव कैसे कर सकता है। अमेरिका के अत्यन्त शक्तिवान व्यापारिक हितों ने “न्यू डील” के सभी स्वरूपों के प्रति अपनी तीव्र घृणा को और अपने इस दृढ़ निश्चय को कि वे उसको और अधिक स्वीकार नहीं करेंगे कभी जोरों से घोषित करना बंद नहीं किया। पर “न्यू डील” जहाँ तक अमेरिका का विधान सीमाएं निर्धारित करता है और जहाँ तक अमेरिका के व्यापारियों की विशेष प्रतिरोधी अभिवृद्धि अनुज्ञा देती प्रसीडेंट

रूजवैल्ट के पूर्ण रोजगार की नीति का अनुसरण करने के प्रयत्न के अतिरिक्त और क्या था । एक सरकार पूर्ण रोजगार की नीति का तब तक अनुसरण नहीं कर सकती जब तक कि वह निजी व्यापार के आवरण में बहुत अधिक हस्तक्षेप करने की योग्यता और जबकि मांग के गिरने का भय हो तो सार्वजनिक कोप से बहुत अधिक व्यय करके भी मांग को बनाए नहीं रख सकती । न्यू डील को इसलिए कार्यान्वित होने दिया गया क्योंकि 1933 की परिस्थितियों में अमेरिका का व्यापारी जगत घराशायी हो गया था । किन्तु जैसे ही कोई व्यापारी अपने पैरों पर खड़ा हुआ कि वह उस हाथ की तेज आवाज में बदनामी करने लगा कि जिसने उसको ऊपर खड़ा किया था । यह कल्पना करना कि अमेरिका के व्यापारियों की यह मनोदशा समाप्त हो गई है, यद्यपि आगे से अमेरिका की सरकार पर दृढ़ता से पूर्ण रोजगार की नीति को अपनाने के लिए विश्वास किया जा सकता है या अमेरिका का व्यापार निकट भविष्य में अपने को इस प्रकार पुनर्संगठित कर लेगा कि उसकी अस्थिरता समाप्त हो जावेगी तथा विना सरकारी हस्तक्षेप के वह उच्च उत्पादन और उच्च रोजगार के स्तर रख सकेगा, वास्तव में अधिक आशावादी बनना होगा ।

1945 के पश्चात् अमेरिका में उच्च रोजगार को अधिकतर अन्य देशों को बहुत बड़ी राशि में उपहार देकर जिन्होंने अमेरिका की वस्तुओं की मांग को बहुत बढ़ाया तथा अत्यधिक सशस्त्रीकरण के द्वारा कायम रखा गया है । यह कल्पना करना कठिन है कि इन कारणों में से कोई भी एक कारण अनिश्चित काल तक लगातार सक्रिय रहेगा । इसमें संदेह नहीं कि अमेरिकन लोग अपने विशाल उत्पत्ति के साधनों को पूरी तरह प्रयुक्त करने के उपयोगी जरिए निकाल सकते हैं । जब तक कि वे अवसाद या मंदी से पाठ न पढ़ें तब तक वे ऐसा करेंगे—यह दूसरी बात है और यदि उन्होंने ऐसा किया भी और अपने साधनों का देश में उपयोग किया तो उससे अन्य देशों को डालरों की कमी से होने वाले प्रभावों से नहीं बचाया जा सकता ।

इसके सिवाय यदि यह मान लिया जाय—मैं उसे नहीं मानता—कि गम्भीर अमेरिकन प्रतिसार की कोई सम्भावना नहीं है तो अमेरिकन परिकल्पी अभिवृद्धि के बारे में क्या होगा ? कम से कम इस सम्भावना से तो इनकार नहीं किया जा सकता । यद्यपि सिद्धान्त रूप में उसको रोकने के लिए आवश्यक विधि भी ज्ञात है । 1951 जैसी अभिवृद्धि यदि उस समय घटित होती कि जब डालर किसी प्रकार की विदेशी सहायता के रूप में योरोप में न भेजे जाते होते तो वह पश्चिमीय योरोप और विशेषकर ग्रट ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था को भीषण रूप से उलट देती जब तक कि ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को स्वयं अकेले अथवा अन्य उसके जैसे ही प्रभावित देशों के साथ मिलकर अपनी रक्षा करने के लिए जो भी उपाय आवश्यक होते उन्हें काम में लाने

की पूर्ण स्वतन्त्रता न होती। उन उपायों में मुद्रा (चलार्थ) के आवागमन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियंत्रित करने की स्वतन्त्रता अवश्य ही शामिल होती।

अमेरिकियों की यह आम इच्छा कि संसार की ओर—जो कि राष्ट्रीय मुद्राओं के परिवर्त्य का आधार बने—जोर से पीछे ढकेला जावे, आसानी से सम्भव में आती है। उनके पास उससे बहुत अधिक सोना है जिसका संयुक्त राज्य अमेरिका में उपयोग कर सकने की सम्भावना हो सकती है। अधिकतर यह सोना अमेरिका को निर्यातों के बदले प्राप्त हुआ है जिनके बदले उन्हें और कुछ भी प्राप्त नहीं हो सका। अमेरिका को उस सोने को संचित रखने में काफी डालर व्यय करने पड़ते हैं। उसको इस उद्देश्य से निष्क्रिय बनाना पड़ा कि जिससे वह साख के ढांचे तथा मूल्य स्तर पर स्फीत के पूरे प्रभाव को न डाल सके। जून 1953 में अमेरिका का स्वर्ण कोप 22 अरब 50 करोड़ डालर था—यह ज्योतिषीय रकम समस्त स्टैलिग क्षेत्र के स्वर्णमान कोप से दस गुनी और किसी भी सम्भावित आवश्यकता से वह कहीं अधिक थी। पिछले वर्षों में यह संचयन समाप्त हो गया है क्योंकि (अ) वस्तुओं में स्वर्ण का मूल्य कम हो जाने से स्वर्ण का उत्पादन गिर गया है और (ब) अधिकांश दूसरे देशों का स्वर्ण कोप इतना अधिक कम हो गया है कि वे डालर की वस्तुओं पर और अधिक व्यय नहीं कर सकते। वह अमिति स्वर्ण संचय ज्यों का त्यों है। यह स्वर्ण अपने डालर मूल्य पर पूंजी परिसम्पत्ति के रूप में उन ऋणों के विरुद्ध जमा है जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार और उसकी बैंकिंग प्रणाली को अमेरिका के नागरिकों की देन है। यदि उसके मूल्य कम करने पड़े तो संयुक्त राज्य के कर दाता आज जो हानि सह रहे हैं उससे अधिक बुरी स्थिति में नहीं रहेंगे क्योंकि आज उन्हें उस रकम पर सूद देना पड़ता है जो बेकार स्वर्ण को जमा रखने में अटक गई है, किन्तु मूल्यांकन करने में वही खाते की बहुत बड़ी हानि होगी। फिर ऋण के विरुद्ध कोई पूंजी परिसम्पत्ति नहीं रहेगी। अतएव संयुक्त राज्य के खजाने के लिए यह बड़ी चिन्ता का विषय बन गया है कि स्वर्ण स्टॉक का मूल्य बना रहे और यह एक आंशिक कारण है कि संयुक्त राज्य अमेरिका बहुत वर्षों तक स्वर्ण को लेते रहने के लिए राजी था जिसकी न तो उसको आवश्यकता थी और न जिसका उपयोग कर सकने की सम्भावना ही थी। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा स्वर्ण लेने से इन्कार के दो परिणाम होते। उसका अर्थ यह होता कि वे अपने निर्यातों का भुगतान तब तक नहीं पा सकते थे जब तक कि वे प्रशुल्क को घटा कर या समाप्त करके अपने कर्जदारों को अमेरिका के बाजार में बेचने के लिए निर्यातों का मूल्य वस्तुओं के रूप में चुकाने की इजाजत न देते। इसके अतिरिक्त इसका अर्थ यह होता कि स्वर्ण का मूल्य अनर्थकारी रूप से गिर जाता क्योंकि और कोई भी देश अमेरिका के स्थान पर स्वर्ण का खरीदार नहीं बन सकता था।

तालिका (सारिणी)—२३

प्रमुख देशों का स्वर्ण कोष

	वर्ष का अन्त		
	1938	1945	1953
(दस लाख अमेरिकन डालर में)			
संयुक्त राज्य अमेरिका	14,5920	20,0830	22,0910
यूनाइटेड किंगडम	28770	24760	25180
फ्रान्स	27570	15500	5750
हालैंड	9980	2700	7370
बेलजियम	7800	7330	7760
स्विटजरलैंड	7010	13420	14060
अरजेंटाइना	4440	11970	2680*
स्वीडन	3210	4820	2190
भारत	2740	2740	2470
दक्षिण अफ्रीका	2200	9140	1760
कनाडा	1800	3540	9860
इटली	1930	240	3460
जापान	2300	—	180
पुर्तगाल	860	4330	3610
इंडोनेशिया	800	2010	1450
इरुग्वे	720	1950	2230
इजिप्ट (मिश्र)	550	530	1740
ब्राजील	320	3540	3170
टर्की	290	410	1430
मेक्सिको	280	2920	1440*
पश्चिम (ईरान)	260	1490	1380*
वेनेजुएला	—	1690	3730
*1952			

स्वर्णमान प्रणाली का एक मार्ग यह है कि जो देश उसे स्वीकार करता है उसे उस मूल्य पर जो कि उसकी अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य के तदनुरूप हो जितना भी कोई व्यक्ति सोना बेचना चाहे लेने के लिए तैयार रहना चाहिए। 1939 के बहुत वर्षों पहले से संसार में स्वर्ण मूल्य अमेरिका के खजाने तथा फेडरल रिजर्व बैंक बोर्ड के क्रय-मूल्य से निर्धारित होता था और यह मूल्य संसार में उत्पादन की

मात्रा निर्धारित करता था। सोने को खान से निकालने के व्यय की तुलना में यह मूल्य ऊँचा था। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वर्ण का उत्पादन तेजी से बढ़ा, इसके बाद जूद कि जो सोना खानों में से निकाला जा रहा था उसकी वास्तव में किसी को भी आवश्यकता नहीं थी। वे खानें जिन्हें अलाभकारी होने के कारण छोड़ दिया गया था उनमें से पुनः स्वर्ण निकाला जाने लगा और अपेक्षाकृत अच्छी उत्पत्ति करने वाली खानों से उत्पादन बढ़ गया। स्वर्ण की खानों के मालिकों को आकस्मिक लाभ के बहुत बड़े उपहार प्राप्त हुए जिन्हें कुछ अंश में उन राज्यों ने (जिनमें खानें स्थित थीं—जैसे दक्षिण अफ्रीका) करों के रूप में ले लिया। सोवियत यूनियन ने अपने आयातों के एक बड़े भाग का मूल्य खानों से नए निकाले हुए सोने में चुका दिया और इस प्रकार उन वस्तुओं के निर्यात करने से वह बच गया जिनकी देश में उपयोग के लिए अत्यन्त आवश्यकता थी। अमेरिका द्वारा स्वर्ण की खरीददारी एक ऐसा तरीका बन गया जिसके द्वारा दोष संसार संयुक्त राज्य अमेरिका से अपेक्षाकृत वस्तुओं की खरीद ऊँचे स्तर पर कर सका। स्वर्ण खोदने वालों को भी उन्नत रोजगार तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की लाभदायक स्वर्ण नीति द्वारा उनके मालिकों पर जो समृद्धि की वर्षा हुई उसके परिणाम स्वरूप ऊँची मजदूरी मिलने की व्यवहार्यता से लाभ हुआ।

इस सब के लिए अमेरिका के कर दाता को व्यय सहन करना पड़ा। किन्तु 1930 में संयुक्त राज्य अमेरिका बिना अपने निर्यातकों का सर्वनाश किए तथा उन्हीं को वजत सम्बन्धी हानियों के बारे में चिल्लाने के लिए उकसाए बिना जो कि उस भार को सहन कर रहे थे स्वर्ण खरीदना बंद नहीं कर सकता था। स्थिति अत्यन्त हास्यास्पद और असंगत थी। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के उन दोनों देशों के लिए जो कि स्वर्ण उत्पन्न करते हैं और सोवियत यूनियन के लिए वह उपयुक्त थी। ऐसा दिखाई देता था कि यह किसी के भी हित में नहीं है कि उसको बंद करने का खतरा उठाया जावे। नए स्वर्ण का उत्पादन कल्पनातीत ऊँचा हो गया, आवश्यकता कम की थी किन्तु उत्पादन अधिक होता था। किसी दिन स्वर्ण बुलबुला अवश्य फूटेगा ऐसा दिखलाई देता था किन्तु कब ?

जिस आवश्यकता के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका लगातार अपने अर्थाधिकृत स्वर्ण के स्टॉक में वृद्धि करता जा रहा था वह अमेरिका के आयात निर्यात की असंतुलित स्थिति पर आधारित था। सम्पूर्ण तीसरे दशक में अमेरिकन इस बात का प्रयत्न करते रहे, यद्यपि उन्हें संशय था कि एक साथ निर्यातों को उत्तेजित किया जावे और आयातों को रोका जावे जिससे अमेरिका के उद्योगों की रक्षा की जा सके। वे एक ऐसी आर्थिक स्थिति को बनाए रखने का प्रयत्न कर रहे थे जिसका संतुलन केवल बड़ी मात्रा में स्थिर पूंजी निर्यात के द्वारा भयंकर स्वर्ण आयात के द्वारा

हो सकता था। तत्कालीन प्रचलित संसार की आर्थिक स्थिति में विदेशी विनियोजन के लिए सम्भावनाएं अच्छी नहीं दिखलाई पड़तीं थीं अतएव अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय खाते को बराबर करने के लिए स्वर्ण आयात को एक साधन के रूप में काम में लाया गया।

1939 के पश्चात् परिस्थितियां मूल रूप से बदल गईं। यदि मुद्रा की प्रत्येक इकाई स्वर्ण की एक निश्चित राशि के बराबर हो तो जितनी ही वस्तुओं की कीमतें ऊंची होंगी उतनी ही एक और स्वर्ण कम वस्तुएं खरीदेगा। स्वर्ण को खान से निकालने का लागत व्यय अन्य उद्योगों के समान ही ऊंची उठती हुई कीमतों से प्रभावित होता है अस्तु जैसे जैसे वस्तुओं की कीमतें ऊंची चढ़ती हैं कम उत्पादक खानों को खोदना अलाभकारी हो जाता है। यदि स्वर्ण उत्पन्न करने वाले देशों की सरकारें स्वर्ण खनन के लाभों पर विशेष कर लगाती रहें और जैसे लाभ कम हो जावें वैसे ही यह कर घटा दिए जावें अथवा समाप्त कर दिए जावें तो इस प्रभाव को दूर किया जा सकता है। लेकिन जिस प्रकार 1930 में अमेरिका की निश्चित मूल्य पर खरीदने की तत्परता के कारण स्वर्ण का उपरिमूल्यन होने से स्वर्ण उत्पादन को उत्तेजना मिली उसी प्रकार अन्य वस्तुओं में स्वर्ण का मूल्य गिरने से उसका उत्पादन घट गया।

यह बहुत स्वभाविक है कि अमेरिका का राजकोष अपने अनुपयोगी स्वर्ण के भारी संचय को जितना कम कर सकना सम्भव हो उतना कम करना चाहेगा। उसने युद्ध के पूर्व और युद्ध के बाद लेटिन अमेरिकन देशों को स्वर्ण भुगतान करके इस दिशा में थोड़ा प्रयत्न भी किया। एक के बाद दूसरा लेटिन अमेरिकन देश अमेरिकन ऋणों की सहायता अथवा युद्ध काल में वस्तुओं की सप्लाई के स्वर्ण में भुगतान से अपनी मुद्रा को स्थायित्व प्रदान कर सका। परन्तु इन स्वर्ण के बाहरी निर्यातों का वास्तविक प्रभाव उपलब्ध स्वर्ण स्टॉक के परिणाम पर बहुत थोड़ा हुआ। 1942 के अन्त में उस स्टॉक की प्रकाशित राशि 20,726,000,000 डालर थी। 1945 में अन्त तक वह कम होकर केवल 20,083,000,000 डालर हो गई। 1949 के अन्त तक वह फिर बढ़ कर 24,563,000,000 हो गई और तब फिर जून 1953 में वह गिर कर 22,521,000,000 रह गई लेकिन दिसम्बर 1938 में वह केवल 14,592,000,000 थी और दिसम्बर 1929 में डालर वर्तमान स्वर्ण मात्रा के अनुसार 6,602,000,000 और डालर का जो मूल्य उस समय प्रचलित था उसके शब्दों में अर्थात् संसार व्यापी मंदी होने वाले मुद्रा अवमूल्यन के पहले वह राशि 3,900,000,000 थी।

युद्ध के उपरान्त अवश्य ही अमेरिकन लोग यह पसंद करते कि सभी युद्धरत देशों के केन्द्रीय बैंकों के खाली स्वर्ण कोषों की इस शर्त पर पुनः पूर्ति कर दी जावे कि

वे निश्चित विनिमय दरों पर पूर्ण परिवर्त्यता को पुनः अपना लेंगे। इस प्रकार वे अपने अतिरिक्त स्वर्ण को जितना भी सम्भव हो सकता निकाल देना पसंद करते। आयातों का भुगतान करने के लिए वे उसका उपयोग नहीं कर सकते थे। इसके लिए भुगतान करना तो दूर रहा उन्हें निश्चय था कि निर्यातों का बहुत अधिक्य होगा। स्वर्ण को बाहर जाना ही था तो वह केवल उपहार या ऋण के रूप में ही बाहर जा सकता था और थोड़ी मात्रा में वह इस प्रकार बाहर गया भी परन्तु वह इतना नहीं गया कि उससे अमेरिका के स्वर्ण कोप के आकार में कोई पर्याप्त अन्तर पड़ता। संयुक्त राज्य अमेरिका के राजकोप की आर्थिक स्थिरता के हित में यह इच्छा थी कि वह अन्य देशों को स्वर्णमान पर पुनः लौटने के लिए राजी करे। वह पसन्द करता कि उसके अतिरिक्त स्वर्ण के स्टॉक के कुछ भाग पर उसको थोड़ी आय मिले और उसको आशा थी कि ऐसा होने पर भविष्य में वह खानों से निकाले हुए नए स्वर्ण का वस्तुतः एकाकी खरीददार बनने के भार से मुक्त हो जावेगा। अतएव संयुक्त राज्य अमेरिका का राजकोप इस दृढ़ मान्यता को लेकर चला कि सभी के लिए स्वर्ण मान पर लौटना एक उत्तम बात होगी, और क्योंकि संयुक्त राज्य की आन्तरिक प्रत्यय (साख) नीति में डालर के स्वर्ण के साथ उद्ध-वन्धन से किसी प्रकार की तनिक भी रुकावट नहीं आती थी, अस्तु अमेरिकन वित्तीय समिति इस परिणाम पर पहुँचने के लिए सहज में तैयार थी कि यही अन्य देशों के लिए भी समान रूप से सच होगा।

केवल यही सब बात समाप्त नहीं होती। स्वर्णमान आवश्यक रूप से एक अवन्वमान है। उसमें उस प्रकार के आर्थिक प्रबंध के लिए कोई भी स्थान नहीं है जिसमें विनिमय के कारवार पर कोई प्रतिबंध हो। अमेरिकन इस प्रकार के प्रतिबंधों को फिर वे चाहे किन्हीं कारणों से लगाए गए हों आर्थिक राष्ट्रवाद की घुरी भावना की प्रवृत्ति ही मानते हैं। जब वह अमेरिका में संरक्षण प्रशुल्ल का रूप लेते हैं तो उन्हें उसमें कोई आपत्तिजनक बात मालूम नहीं होती। लेकिन जब वह उन रूपों में प्रगट होते हैं जो अन्य देशों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं तो वे उसे आर्थिक अष्टता मानते हैं।

मूलभूत प्रश्न यह है कि क्या अन्य देश इस अर्थ में स्वर्णमान को स्वीकार करने की सम्भावित सामर्थ्य रखते हैं कि वे अपनी मुद्राओं (चलार्यों) के आधार स्वरूप स्वर्ण के स्टॉक को इकट्ठा करने का व्यय उठायें या फिर वे अपनी उन मुद्राओं का स्थायी संबंध किसी ऐसी वस्तु से स्वीकार करें जो कि अमेरिकन डालर की भांति शेष संसार पर उसके अपने प्रभाव में आवश्यक रूप से अस्वायी हो। स्वर्ण स्टॉक एक खर्चीली विलासिता है चाहे फिर आन्तरिक मुद्रा (चलार्य) के विरुद्ध उनके एक बड़े भाग का प्रारक्षण के रूप में अचलीकरण करना अब आवश्यक न माना

जाता हो और चाहे इतने स्वर्ण कोप का निर्माण करने से अधिक और कुछ भी करने का प्रयत्न न किया जावे जो कि सम्भावित बाहरी प्रवाह का सामना करने के लिए यथेष्ट हो। बाहरी प्रवाह जैसा कि 1945 के पश्चात् एक संकट के बाद दूसरे संकट में बहुत स्पष्ट हो गया सम्भवतया बहुत अधिक होता है और पूर्ण स्वर्णमान के अन्तर्गत उसका सामना करने के लिये जो स्वर्ण प्रारक्षण आवश्यक होगा वह अधिकांश देशों के लिए बहुत अधिक होगा। अवश्य ही स्टर्लिंग क्षेत्र का वैकर होने के कारण ग्रेट-ब्रिटेन उसको नहीं कर सकेगा। स्वर्ण केवल निर्यात के द्वारा भुगतान करके अथवा ऋण लेकर ही इकट्ठा किया जा सकता है और जो देश कि अमेरिका की सहायता होने पर भी बड़ी कठिनाई से अपने चालू आयात-निर्यात के खाते को संतुलित रख पाते हैं, वे सम्भवतः बड़ी राशि में सोने को नहीं खरीद सकेंगे। विशेषकर जबकि उन्हें उन वास्तविक वस्तुओं की आवश्यकता हो कि जो उनकी उत्पादन शक्ति को बढ़ाने में मदद देंगी। क्या यह थोड़ा असंगत नहीं होगा कि एक ज़रूरतमंद कर्जदार को जो कि अपने चालू क्रय का भुगतान भी नहीं कर सकता उसको एक अधिक क्रय को स्वीकार करने पर मजबूर किया जाय जिसे वह नहीं करना चाहता। परन्तु संसार को स्वर्णमान अथवा ठीक उस जैसी ही किसी वस्तु पर वापस जाने के लिए विवश करने में यही बात निहित थी।

फिर भी यह स्पष्टतः असुविधाजनक होगा कि यदि स्वर्ण का बुलबुला एक साथ फूट जावे। यह कहना भी मूर्खता होगी कि क्योंकि संसार को जितने स्वर्ण की आवश्यकता है उससे अधिक स्वर्ण पहले से ही मौजूद है अस्तु और अधिक स्वर्ण निकालना एक साथ बन्द कर दिया जावे। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका स्वर्ण के लिए खुला बाजार न हो तो उसके मूल्य को पूर्णतया नष्ट होने से कोई नहीं बचा सकता। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका अपने कारणों से सोना खरीदते रहने के लिए तैयार है तो यह सभी के लिए अच्छा है। तथापि हम यह आशा नहीं करते कि ऐसी असंगत स्थिति अनिश्चित काल तक आगे चलती रहेगी।

स्वर्णमान पर आम वापसी के औचित्य पर विचार करते समय हमें एक और कारण की ओर ध्यान देना चाहिए वह है एक देश और दूसरे देश के आर्थिक विकास की दर में अन्तर। यदि तकनीकी कार्यकुशलता एक देश में दूसरे देश की अपेक्षा अधिक तेजी से विकसित हो रही है, और यदि वस्तुओं को सस्ती करने में उसके परिणाम को अन्य कारण समाप्त नहीं कर देते जैसे एकाधिकार का उत्पन्न होना अथवा विक्री के खर्चों का ऊंचा बढ़ जाना तो उस देश की वस्तुओं को दूसरे देश की अपेक्षा जिसमें तकनीकी विकास की गति कम तेज है, अधिक सस्ती हो जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि कम से कम थोड़े समय के लिए उसके निर्यात बढ़ने लगेंगे और आयात कम होने लगेंगे और इसका उन देशों की आर्थिक स्थिति पर

प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा जो उस देश के समान मुद्रा मान से बंधे हुए हैं। उसमें कोई संदेह नहीं कि पूर्ण प्रवृत्त अर्थव्यवस्था में लम्बे समय में जनसंख्या और साधनों का उस देश की ओर प्रवाह होने से जहाँ उनका उपयोग अधिकतम उत्पादन के लिए होगा स्थिति में सुधार हो जावेगा। परन्तु व्यवहार में इस प्रवृत्ति का कड़ा विरोध न केवल उन देशों के द्वारा किया जावेगा जो जनसंख्या और उद्यमों (उद्योगों) को रक्षायोग्य वरन इसका विरोध वह देश भी करेंगे जो लाभान्वित होंगे। वास्तव में सैद्धान्तिक संतुलन पुनर्स्थापित नहीं हो सकेगा, यदि हुआ भी तो बहुत लम्बे समय में होगा।

एक देश जो तकनीकी कार्यकुशलता में अग्रणी राष्ट्र से पिछड़ गया है, कुछ हद तक अपने व्यापार की हानि को जो अन्यथा अवश्यम्भावी होगी अपनी मुद्रा के सापेक्षिक मूल्य को गिरने देकर रोक सकता है। यह उपाय लम्बे समय में केवल उस सीमा तक प्रभावशाली होगा जिस सीमा तक आन्तरिक लागत व्यय और कीमतेँ मुद्रा के बदले हुए बाह्य मूल्य के तदनुरूप ऊँची नहीं चढ़तीं। किन्तु अल्पकाल में इससे जो संरक्षण मिलता है वह पर्याप्त हो सकता है, और वह बहुत मूल्यवान हो सकता है यदि उस समय का उपयोग अकुशलता बढ़ाने में नहीं वरन तकनीकी उन्नति करने और अनावश्यक ऊँची बंधी लागत को कम करने में किया जावे। इसका उत्तर यह दिया जावेगा कि यह खतरनाक तर्क रेखा है, क्योंकि व्यवहार में जो देश अधिक कार्यकुशल देशों की प्रतिस्पर्धा से अपनी रक्षा करने के लिए इस तरीके को काम में लाता है अधिक सम्भावना यह है कि वह उन्नत तकनीकी स्तर से अपने को पुनः समायोजित करने के स्थान पर अकुशल ही बना रहेगा। मैं इस का तनिक भी विरोध नहीं करता कि यह खतरा अवश्य है—विशेषकर जहाँ भी देश एकाधिकार की परिस्थितियों के आधीन हैं और कार्टल जैसी संस्थाओं को राष्ट्रीय अर्थनीति को प्रभावित करने दिया जाता है। किन्तु मुद्रा के मूल्यों को बदल नकने की स्वतंत्रता को प्रयुक्त में उलट फेर करने की अपेक्षा अधिक तरजीह दी जानी चाहिए। विशेषकर उन परिस्थितियों में जिनसे कि एक देश अपनी सापेक्षिक कार्य-कुशलता में गिरावट के पूर्ण परिणामों को बिना अपने को उत्पादन और वितरण के ढंग में सुधार करने के लिए समय दिए हुए जिससे कि संतुलन में सुधार हो सके स्वीकार करने को तैयार न हो। प्रयुक्त कभी भी निर्यात व्यापार को नहीं बढ़ा सकता, मुद्रा में परिवर्तन बढ़ा सकता है और यह एक ऐसे देश के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार हो सकता है कि जिसे अपने अन्तर्राष्ट्रीय खाते को संतुलित करने में कठिनाई हो रही हो। यह ठीक है कि राष्ट्रीय मुद्रा के मूल्य में अन्य मुद्राओं की तुलना में गिरावट होने पर आयातों की लागत में वृद्धि होगी और विदेशी खरीददारों के लिए निर्यातों के मूल्य कम हो जावेंगे। फिर भी उसका परिणाम यह हो सकता है कि स्थिति में उस सीमा तक सुधार हो जिस सीमा तक नष्ट

देशों का एक समूह एक साथ मिलकर काम कर सके । किन्तु इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि अवश्य ही यह “स्टर्लिंग क्षेत्र” जैसे पृथक मुद्रा क्षेत्रों को संसार में बनाए रखने की वकालत करना है । क्यों नहीं ? मुझे यह भली भांति मालूम है कि स्टर्लिंग क्षेत्र अथवा अन्य कोई प्रादेशिक मौद्रिक सामूहीकरण अमेरिकन मुद्रा नीति के निर्माताओं के लिए अभिशाप रहा है । परन्तु मुझे उनकी अभिवृत्ति पूर्णतया अविश्वासोत्पादक मालूम होती है और मुझे संदेह है कि अमेरिका का विरोध अब भी वैसा ही कठोर है जैसा कि उस समय था जबकि वैंटन वुड्स में 1946 के संयुक्त राज्य अमेरिका के ऋण के संबंध में वार्ता चल रही थी । मेरा विश्वास है कि संसार में स्थायी आर्थिक उन्नति को प्राप्त करने की आशा कहीं अधिक हो सकती है यदि वे देश कि जिनका आपस में घनिष्ट आर्थिक संबंध हो और जो उनकी पूरक आवश्यकताओं पर आधारित हों उन्हें वस्तुओं के विनिमय और अपनी मुद्रा की समस्याओं को परस्पर तय करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जावे । यहां तक कि उन्हें अपने बीच में समान मुद्रा को स्थापित करने दिया जावे । वजाय इसके कि इस वहने कि जो प्रबंध विश्वव्यापी नहीं है वह नैतिक अपराध है सबों के हाथ पैर बांध दिए जावें । मैं शीघ्र ही समान मुद्रा प्रणाली की पश्चिमी योरोप, राष्ट्रमण्डलीय देशों, तथा संसार के अन्य बड़े प्रदेशों में स्थापना पसंद करूंगा । उन्हें यह स्वतंत्रता हो कि वे इन प्रदेशों में विनिमय दर को बदल सकें । वजाय इसके कि स्वतंत्र विनिमय के नाम पर उनके आर्थिक भाग्य को एक देश से बांध दिया जावे और वह भी ऐसे देश से जो कि परिकल्पी अतिरेक और चरम सीमा के तर्कहीन आर्थिक परिवर्तनों के लिए जाना हुआ है । आर्थिक राष्ट्रवाद की संकीर्ण रूढ़ियों को तोड़ देना एक श्लाघनीय उद्देश्य है परन्तु हमें ऐसा करते समय इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि हम कहीं ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय नीति के शिकार न बन जावें जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका के आर्थिक राष्ट्रवाद को प्रतिविम्बित करती है ।

यह मानना होगा कि पुराने स्वर्णमान को जहां तक देखा गया उसमें देशों द्वारा विनिमय दर को बदलकर एक दूसरे को हानि पहुँचाकर अपने लिए लाभ प्राप्त करने के प्रयत्नों को रोकने का गुण था । प्रत्येक देश को वह जिस तरह चाहे अपनी मौद्रिक प्रणाली को नियंत्रित करे अवश्य ही उसके दुरुपयोग का अवसर प्रदान करता है । किन्तु इसके विपरीत स्वर्णमान का अर्थ यह था कि जो देश उससे बंधे हुए थे उन मौद्रिक नीतियों का अनुसरण करने के लिए विवश थे जो आवश्यक रूप में उनकी परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं थीं और जो उन्हें भारी बेरोजगारी में डकेल सकती थी जिसको वे बिना अपने पड़ोसी देश को हानि पहुँचाए बचा सकते थे । अस्तु उन देशों से सलाह करके जो उससे प्रभावित होंगे तथा जब परिवर्तन करना व्यवहारिक हो तब मुद्रा में परिवर्तन करना वैध है । परन्तु यह स्वर्ण को मुद्रा नीति के नियंत्रक के रूप में निष्क्रिय स्वीकारोक्ति से बहुत भिन्न है । जो मैं कह रहा हूँ वह अपनी इच्छानुसार

विनिमय दर को बदल सकने की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है, वरन परिवर्त्यता के विश्वव्यापी प्रबंध से कम को अपनाने और सलाह करके राष्ट्रीय अथवा प्रादेशिक आवश्यकताओं की दृष्टि से उसमें समायोजन करने की स्वतंत्रता है। यह एक समान प्रणाली से बंध जाना नहीं है जिसका व्यवहार में अर्थ यह होगा कि एक अकेला देश जो अपने निज के चरम सीमा के परिवर्तनों के आधीन है, सब पर छा जावेगा।

विनिमय नियन्त्रण

यदि देश किसी निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मान को नहीं अपनाए हुए हैं तो उसका यह अर्थ नहीं है कि वे विदेशों में अपनी मुद्रा का मूल्य दिन-प्रति-दिन की मांग पूर्ति के अनुसार बदलते रहने दें। हमने यह देखा कि 1930 में जबकि स्वर्ण-मान अधिकांश देशों में स्थगित कर दिया गया था तब अधिकतर देशों ने अपनी विनिमय दरों को नियंत्रित करने के लिए किसी न किसी प्रकार के तंत्र की स्थापना कर ली थी। नियंत्रण के तरीके भिन्न थे; विनिमय समीकरण कोप जिसे ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका, तथा कई अन्य देशों ने अपनाया—से लेकर उस प्रकार के विनिमय नियंत्रण तथा समाशोषन समझौतों जिनको उन देशों ने अपनाया—जैसे नाज़ी जर्मनी—जिन्होंने अपनी मुद्रा के नाममात्र के स्वर्ण साम्य मूल्य को तो बनाए रखने का निर्णय किया किन्तु देश के अन्दर उस नीति के मुद्रा-संकुचन के प्रभाव से बचने के लिए प्रयत्न-शील रहे। वे आर्थिक दृष्टि से उन निर्वल राज्यों से भी बचने का प्रयत्न करते रहे जो अपने निर्यात की मुख्य पैदावारों के विश्व में मूल्य तेज़ी से गिर जाने के कारण चरम सीमा की वित्तीय नीतियों को अपनाने पर विवश हो गए थे।

1945 के पश्चात् राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार मुद्रा के आने जाने पर नियंत्रण स्थापित करना और भी अधिक ज़रूरी हो गया। चौबीसवीं तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भुगतान के अन्तर को प्रभावित करने वाली परिस्थितियाँ कितनी असाधारण थीं। अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के भारी घाटे के होते हुए भी युद्ध से प्रभावित पश्चिमीय योरोप के तथा अन्य देश केवल मात्र संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा दिए गए बड़ी राशि में दान और पूँजी का विनियोजन जिसमें ऋण भी सम्मिलित थे—की सहायता से तथा थोड़ी मात्रा में कनाडा की सहायता से ही अपने अन्तर्राष्ट्रीय खाते को सन्तुलित कर सके थे और इस पर भी वह संतुलन आयातों को बहुत अधिक सीमित करके और मुद्रा के आवागमन पर कठोर नियंत्रण स्थापित करके ही प्राप्त किया जा सकता था। विशेषकर पूँजी के आवागमन को बहुत ही कठोरतापूर्वक नियंत्रित करना पड़ा, और विदेश-यात्रियों के व्यय तथा व्यापारिक कार्यों के लिए कोप को एक देश से दूसरे देश भेजने आदि पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा जिससे विदेशी-विनिमय पर अनुचित भार पड़ता था।

1946-51 के सम्पूर्ण काल का देश में आने वाली आय का आधिक्य (+) देश से बाहर जाने वाली आय का आधिक्य (—) यह योग लगभग है। वे सन्तुलित नहीं होते क्योंकि जानकारी पूरी नहीं है। वे मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की रिपोर्ट से लिए गए हैं। वे उल्लिखित मुद्रा में दस लाख में हैं।

	व्यापारिक माल और यातायात	सूद और लाभांश	अन्य सेवाएं*	दान		दीर्घकालीन पूंजी		अन्य सेवाएं†
				राजकीय	निजी	राजकीय	निजी	
संयुक्त राज्य†	+33,699	+8,164	-813	-21914	-3396	-9286	-6233	-3921
अमेरिका (डालर)	+2587	-1829	-102	-399	-67	-1492	-1730	-1440
कनाडा (कनेडियन डालर)	-6874	+182	-954	+2743	—	+2078	+301	+2515
फ्रांस (डालर)	-3077	-5	+41	—1	+280	+3122	—	-305
पश्चिमी जर्मनी (डालर)§	-2677	-48	+469	+1721	+644	+574	+441	+929
इटली (डालर)	-2100	-12	+35	+1687	+100	+141	+84	+84
ग्रीस (डालर)	-1725	-17	+618	+2091	+62	+12	+53	-1141
जापान (डालर)	-1738	+698	+133	+176	-78	+1058	-687	+383
युनाइटेड किंगडम (पाँड)	+337	-236	-97	-3	+26	-140	+214	-495
आस्ट्रेलिया (आस्ट्रेलियन पाँड)	-3519	-765	-1109	-59	+566	-1595	-1505	+7404
भारत (रुपया)	-60391	+3396	+15488	+2721	+2751	-7702	+22424	+22814
बेल्जियम लगभग (फ्रैंक)	-7700	+965	+1093	+2943	-1	-242	+385	+1693
हॉलैंड (गिल्डर्स)	-633	-96	-82	+649	+40	-28	+53	+393
टर्की (टर्किश पाँड)								

* यात्रा और फुटकर व्यय सहित

† युद्ध क्षति प्रति तथा भू पट्टा सम्भोजे सहित

‡ अल्पकालीन कोषों के आने जाने सहित

§ पूर्व जर्मनी तथा सोवियत रूस के सोवों को छोड़कर

चौबीसवीं तालिका से स्पष्ट है कि 1946 से 1951 तक संयुक्तराज्य अमेरिका के कुल निर्यात आधिक्य—जिसमें यातायात का भुगतान सन्तुलन भी सम्मिलित है—की राशि 33,700,000,000 डालर थी और इसके अतिरिक्त लाभान्श और सूद के रूप में जितना उसने विदेशियों को चुकाया उससे 8,164,000,000 डालर विदेशों से अधिक प्राप्त किया। इस विशाल आधिक्य को 25,000,000,000 डालर से अधिक उपहार स्वरूप देकर तथा 15,500,000,000 डालर से अधिक दीर्घकालीन विनियोजन करके अथवा ऋण देकर समाप्त किया गया। इसके ऊपर लगभग 4,000,000,000 डालर मुख्यतः अल्पकालीन ऋण देने में वाहर गया। अन्य सेवाओं मुख्यतः विदेश-भ्रमण तथा जहाज़रानी के हिसाब में 800,000,000 डालर व्यय हुआ। ऊपर की रकमों को जोड़ने से कुल जोड़ व्यापार और विनियोग की आय से अधिक होता है। यह अन्तर आंशिक रूप में स्वर्ण निर्यात से पूरा हुआ और आंशिक रूप से प्रावकलन में भूलों के कारण है।

अवश्य ही वाद के वर्षों में और अधिक रकमें दी गईं, अथवा उनका विनियोजन किया गया किन्तु जब मैं यह लिख रहा हूँ तब 1951 के पश्चात् के पूरे आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

इस विशाल पैमाने पर संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा वस्तुओं का उंडेलना तथा उसका मूल्य चुकाने के लिए साधन उपलब्ध करना केवल तालिका में सम्मिलित देशों तक ही सीमित नहीं था वह उनसे कहीं अधिक देशों को दिये गये। विनियोजन की पर्याप्त राशि लेटिन अमेरिका—विशेषकर ब्राज़ील और वेनेजुएला—तथा खनिज तेल उत्पन्न करने वाले मध्य-पूर्व के देशों में लगाई गई। फ्रांस को डालरों में लगभग 3,700,000,000, इटली को 2,200,000,000, जापान को 2,100,000,000 से अधिक, ग्रीस (यूनान) को 1,700,000,000 से अधिक उपहार स्वरूप प्राप्त हुए। उपहार के रूप में ग्रेट-ब्रिटेन की प्राप्ति अपेक्षाकृत साधारण अर्थात् 100,000,000 पौंड से कम थी, क्योंकि ब्रिटेन की संयुक्तराज्य अमेरिका की प्राप्ति का बड़ा अनुपात ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा अन्य देशों को दिए जाने वाले दान के बदले में समाप्त हो गया। अर्थात् यू०एन०आर०आर०—के द्वारा तथा उपनिवेशों के विकास के लिए यह दान दिया गया था। सरकार तथा निजी क्षेत्रों से ऋण तथा दीर्घकालीन पूंजी के रूप में फ्रांस को 2,400,000 और इटली को 1000,000,000 डालर शुद्ध रकम प्राप्त हुई। पश्चिमीय जर्मनी को 3,000,000,000 डालर से अधिक और ग्रेट-ब्रिटेन को 400,000,000 पौंड के लगभग मिले।

यदि आयात और डालरों की पूर्ति नियंत्रित न की जाती तो डालरों की जितनी मांग होती उतनी पूर्ति करने के लिए यह विशाल रकमें और दूसरी रकमें

जिनका व्योरा मैंने नहीं दिया है यथेष्ट न होतीं । आयातकर्ताओं और निर्यातकर्ताओं को मुद्रा-कोटा, तथा लाइसेंस के प्रतिबन्धों से मुक्त करके तथा प्रशुल्कों को कम करके, व्यापार को अधिक उदार ओर पूंजी के आवागमन तथा प्रचलित सौदों के सम्बन्ध में मुद्राओं को स्वतंत्रतापूर्वक विनिमय साध्य बनाने के बारे में बहुत अधिक वातचीत की जाती थी. परन्तु डालरों की कमी होने के कारण मुद्रा नियंत्रणों को छोड़ देना नितांत अव्यवहारिक था, यद्यपि जैसा कि हम देखेंगे विशेषकर योरोपीय देशों के बीच और स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्तर्गत मुद्रा के सौदों के सम्बन्ध में सीमित स्वतंत्रता प्रदान करने के लिए विभिन्न विशेष कदम उठाए गये । इससे अधिक डालरों की कमी ने—यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका के भारी दबाव के कारण हुआ—पश्चिमीय योरोप के सभी प्रमुख देशों के भविष्य में अपनी इच्छाओं के बारे में कोई बड़े वायदे करने का निषेध कर दिया । उस समय विभिन्न मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्यों में परिवर्तन भी आ गया था जो शेष दुनियाँ की तुलना में डालर की सुदृढ़ स्थिति के कारण अपरिहार्य हो गया था ।

सापेक्षिक मुद्रा मूल्यों में मुख्य परिवर्तन सितम्बर 1949 में हुआ जब कि यूनाइटेड किंगडम को मार्शल सहायता पद्धति के परिणाम स्वरूप प्रतिबन्धों को ढीला करने के प्रयत्न के उपरान्त मुद्रा का अवमूल्यन करने पर विवश होना पड़ा । उस समय पाँड स्टर्लिंग को संयुक्त राज्य अमेरिका के 403 सेंट से घटाकर 280 सेंट करना पड़ा और तदनुसार स्वर्ण में भी उसके मूल्य को घटाना पड़ा । बहुत से अन्य देशों ने तुरन्त ही ब्रिटिश उदाहरण का अनुसरण किया और अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया । कुछ ने तो उतना ही अवमूल्यन किया जितना ब्रिटेन ने किया, दूसरों ने कुछ कम या ज्यादा किया । 1949 और 1954 के मध्य और आगे कोई सामान्य परिवर्तन नहीं हुआ यद्यपि विशेष मुद्राओं के मूल्यों में घटा बढ़ी हुई—उदाहरण के लिए अरजेन्टाइना और स्पेन की मुद्राओं में । किन्तु 1949 के उपरान्त के वर्षों में यह दिखता हुआ स्थायित्व वास्तविक स्थायित्व का प्रतिनिधित्व नहीं करता था । अनिश्चित संतुलन को बनाए रखने के लिए आर्थिक सहायता के बंद हो जाने पर भी सैनिक सहायता के उपहार स्वरूप डालरों का प्रवाह जारी था, और 1951 के योरोप का वित्तीय संकट जो कोरिया-युद्ध की उपज थी उसका सामना पश्चिमीय योरोप और स्टर्लिंग क्षेत्र में आयातों पर नए प्रतिबन्ध लगा कर करना पड़ा ।

यह वास्तव में कहा जा सकता है कि युद्ध के नौ वर्षों के उपरान्त भी कोई ऐसी प्राकृतिक दरें नहीं थीं जिन पर यदि व्यापार और मुद्रा पर से प्रतिबंध हटा लिए जाते तो विनिमय दरें ठहर जातीं । क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में डालरों की मांग इतनी अधिक हो जाती कि वह प्रभावित देशों को तुरन्त पुनः वापस प्रतिबंध लगाने पर विवश कर देती । इस प्रत्यक्ष असम्भावना के होते हुए भी अमेरिकन

अधिकारी शीघ्र ही स्वतंत्र परिवर्त्यता पर पुनः लौटने की बात कहते रहे और अन्य देशों में बैंकर तथा राजनीतिज्ञ भी इस विचार का मौखिक समर्थन करते रहे, परन्तु जो वस्तु स्थित है उसको देखते हुये यह बात निरर्थक थी। प्रत्येक व्यक्ति जिसमें बुद्धि थी जानता था कि यदि अमेरिकन लोग अन्य देशों को यथेष्ट स्वर्ण और डालर कोष उपहार में देने के लिए तैयार भी हों जिससे कुछ समय के लिए स्वतंत्र परिवर्त्यता सम्भव भी हो तो शीघ्र ही इस तरह के शेष (कोष) समाप्त हो जावेंगे और पुनः परिवर्त्यता को तिलांजलि देनी होगी।*

जैसा कि हमने देखा विनिमय समीकरण कोष फिर चाहे कितने बड़े क्यों न हों उन वास्तविक दृढ़ प्रवृत्तियों के विरुद्ध खड़े नहीं रह सकते कि जो सापेक्षिक मुद्रा मूल्यों में परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे केवल मुद्रा के सट्टे को रोक कर सकते हैं अल्पकालीन घट-बढ़ को समान कर सकते हैं और पारस्परिक समझौते के द्वारा ऐसी मुद्राओं को सहायता दे सकते हैं जिन पर विश्वास हानि, अथवा जान बूझकर मंदी वालों का दबाव जैसी विरोधी शक्तियों का आक्रमण हुआ हो। वे व्यापार अथवा पूंजी के आवागमन की गति के विरुद्ध प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं कर सकते, वे केवल अल्पकालीन पूर्ति मांग की शक्तियों के विरुद्ध दीर्घकालीन पूर्ति मांग की व्याख्या का काम कर सकते हैं। वे व्यापार तथा पूंजी के आवागमन को किंचित मात्र भी अतिरिक्त प्रभावित नहीं कर सकते। इसमें संदेह नहीं कि यदि विनिमय समीकरण कोष में बहुत अधिक राशि हो जिसे वह स्वर्ण या विदेशी मुद्राओं में बदल सकता है तो वह दृढ़ प्रवृत्ति के विरुद्ध भी आनुपातिक लम्बे समय तक कार्य कर सकता है। किन्तु समीकरण कोष के पास राष्ट्रीय मुद्रा के स्थान पर जब तक कि परिस्थितियां उसको प्राप्त करने के लिए अनुकूल न हों स्वर्ण या विनियम को प्राप्त करने की कोई जादू की शक्ति नहीं है। जिस देश का भुगतान का अन्तर उसके पक्ष में है वह स्वर्ण या विदेशी विनिमय की बड़ी राशि इकट्ठी कर सकता है। जिस देश का अन्तर उसके विपक्ष में है उसके पास ऐसा करने की कोई शक्ति नहीं होती। यह सच है कि जिसका चालू भुगतान का अन्तर उसके विपक्ष में हो अपने को स्वर्ण या विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकने की स्थिति में पा सकता है। कारण कि यदि उस देश में अल्पकालीन पूंजी जिसे ऋण द्रव्य भी कहते हैं—का प्रवाहागमन हो किन्तु ऐसी परिस्थिति असाधारण होती है। सामान्य रूप से समीकरण दीर्घकालीन प्रवृत्तियों की व्याख्या करने वाला होता है, वह विनिमय दरों को दीर्घकाल में उसकी अनुपस्थिति में वे जो होतीं उससे भिन्न कर सकने का साधन नहीं हैं।

*विदेशों के स्वामित्व में जो स्टर्लिंग थे उनको सीमित परिवर्त्यता के प्रस्तावों की व्याख्या के बारे में देखिए पृष्ठ 401 (मूल पुस्तक)

विनिमय नियंत्रण विलकुल दूसरी तरह से काम करते हैं। साधारण रूप से वे विनिमय दरों को राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार होने वाले व्यापारिक कारोबार की मात्रा को प्रभावित कर अप्राकृतिक रूप से स्थिरता प्रदान करने अथवा विनिमय दर को बदलने के औजार होते हैं। ऐसा वह व्यापार की कुल मात्रा को घटा-बढ़ा कर और उसके प्रवाह को विशेष धाराओं में ले जाकर करते हैं। विनिमय नियंत्रण का सार यह है कि नियंत्रित मुद्रा के मालिक को बिना विशेष आज्ञा के उसे विदेशी मुद्रा में बदलने का अधिकार नहीं है। उसका अधिकार कम या ज्यादा हद तक सीमित होता है। चाहे फिर किसी विदेशी मुद्रा की कुल पूर्ति की विश्वव्यापी सीमा हो और उसको देने का सिद्धान्त यह हो कि जो पहले आया उम्को पहले दिया जाए अथवा जैसा कि बहुधा होता है विदेशी मुद्राओं का जिन कार्यों के लिए उनकी आवश्यकता है उसको ध्यान में रखकर राशनिंग कर दिया जाए। विदेशी मुद्रा की मांग नीचे लिखे कार्यों के लिए हो सकती है। (क) वस्तुओं और सेवाओं के आयात का भुगतान करने के लिए (ख) विदेशों से जो पूंजी उधार ली जावे उस पर सूद और लाभांश की अदायगी करने के लिए (ग) विदेशों में भ्रमण और व्यापारिक यात्राओं के व्यय के लिए देश से द्रव्य बाहर भेजने के लिए (ङ) व्यापार अथवा उत्पादन के लिए वित्तीय प्रवन्ध करने के लिए—विदेशों को अल्पकालीन ऋण देने के लिए (च) विदेशों में दीर्घकालीन विनियोजन करने के लिए (छ) ऐसी मुद्रा से बचने के लिए जिससे विश्वास उठ गया है और दूसरी मुद्रा प्राप्त करने के लिए (ज) एक देश से दूसरे देश को स्थायी रूप से प्रवास करने के लिए। यह सूची सर्वथा पूर्ण नहीं है इसमें सरकारी भुगतानों का समावेश नहीं है जो कि बहुत महत्वपूर्ण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए विदेशों में सेनाओं को रखने का व्यय; किन्तु यह मुख्य प्रकार की मांगों को मोटे रूप में बदलता है।

जिन कार्यों के लिए विदेशी विनिमय की मांग की गई हो उनके अनुसार ही विभिन्न मात्रा और रूपों में प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। एक देश जो अपनी मुद्रा के बदले अन्य मुद्राओं की मांग को कम करना चाहता है वह केवल पूंजी सम्बन्धी कारवार पर रोक लगा सकता है, अथवा केवल विशेष पूंजी सम्बन्धी कारावार पर जैसे अपने घरेलू पूंजी बाजार में विदेशी ऋण के निकलने पर रोक लगा सकता है।* विनिमय नियंत्रण के सिवाय आयातों को और तरीकों से भी कम किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रशुल्कों द्वारा, अथवा कोटा निर्धारित करके जैसा कि ग्रेट

*इस प्रकार के पूंजी नियंत्रण की बेटन-युड्स मौद्रिक समन्वये में भी आज्ञा दी गई है जिसमें चालू कारवार के भुगतान पर विनिमय नियंत्रण अवयव घोषित कर दिया गया है हालांकि कुछ समय के लिए फिलहाल उसे उसकी अनिवार्यता को स्वीकार करना पड़ा।

ब्रिटेन ने सुअर के मांस के लिए तथा अन्य खाद्य पदार्थों के लिए 1930 में किया, अथवा लाइसेंस के द्वारा जैसा कि ग्रेट-ब्रिटेन ने युद्धों के बीच रंग के वारे में स्वदेशी उद्योग को विकसित करने के लिए किया। 1945 के पश्चात् ग्रेट-ब्रिटेन ने इसका उपयोग अन्य देशों के साथ-साथ बहुत अधिक विस्तृत रूप में किया था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर सीधे नियंत्रण के ऐसे तरीकों का विकल्प अथवा पूरक की तरह विनिमय नियंत्रण का उपयोग किया जा सकता है।

एक देश जिसे विदेशों की लगी पूंजी पर सूद और लाभांश देना है वह उस रकम को राष्ट्रीय सीमा के पार जाने पर या तो पूर्ण रूप से अथवा कुछ परिस्थितियों में रोक लगा सकता है। उदाहरण के लिए जो रकम देनी होगई है वह केन्द्रीय बैंक के अवरोद्ध खाते (क्लोज्ड अकाउंट) में जमा करनी होगी। उसको केवल कुछ विशेष कार्यों के लिए ही निकाला जा सकेगा जैसे देश के अन्दर चालू खर्च करने के लिए अथवा निर्यात के लिए वस्तुएं खरीदने के लिए। जो बांड (ऋण-पत्र) या शेयर विदेशियों के पास हैं उन पर सूद या लाभ न दे सकने का एक मात्र विकल्प इस प्रकार का अवरोधन हो सकता है अवश्य ही वह अस्थायी होगा। जब तक यह रहेगा अवरोधित मुद्रा में जो भी रकम होगी स्वभावतः अविभूत रूप से बराबर होने पर भी उस रकम से कम मूल्यवान होगी जोकि विदेशी विनिमय (विदेशी मुद्राओं) में स्वतन्त्रता पूर्वक बदली जा सकती है। दूसरे शब्दों में अवरोधित मुद्रा पर बहुधा बढ़ा लगने लगता है अर्थात् अविभूत विनिमय दर के स्थान पर एक दूसरी ही वस्तु: विनिमय दर प्रगट हो सकती है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में विभिन्न प्रकार के रीश-मार्कों की संख्या जिसमें से प्रत्येक का बाजार मूल्य भिन्न था इतनी अधिक थी कि जो आश्चर्य में डाल देने वाली थी।

1945 से कुछ देशों, विशेषकर अरजैन्टाइना ने अपनी मौद्रिक कठिनाईयों को हल करने के लिए जो मार्ग अपनाए वे बहुत कुछ नाज़ियों से मिलते जुलते थे। लाभांश और सूद से भुगतान को रोक देने के अतिरिक्त अरजैन्टाइना ने विभिन्न प्रकार के सौदों के लिए पैसों की विभिन्न विनिमय दरें निर्धारित करदीं। इस प्रकार अरजैन्टाइना ने कुछ एक प्रकार के लेनदारों के विरुद्ध विभेद करने का प्रयत्न किया और उनका पक्ष किया कि जिन्हें पूरा भुगतान करना था क्योंकि वे अपरिहार्य सेवाएं प्रदान करते थे। अन्यो में अविभूति दर के साथ साथ काले बाजार की दरें जिन्हें अनविभूत रूप से स्वीकार किया गया, प्रगट हो गईं। उदाहरण के लिए मई 1953 में इटली के लिए दो नियमित दरें बतलाई जाती थीं। एक अविभूत दर जो एक सेंट की 0.16 थी और एक कर्व-दर जो 0.1594 थी। वे देश भी जो अपनी सीमाओं में अपनी मुद्रा की कालाबाजार दर तथा पूरी बाजार दर को सहन नहीं करते थे अन्य स्थानों में उन दरों को प्रचलित होने से रोक नहीं सके। जब कभी

किसी मुद्रा विशेष पर दबाव होता तो अन्य देशों के रहने वाले जिनके पास वह मुद्रा होती वे उसको बट्टे पर बेचने को तैयार रहते । 1949 में तथा अन्य समय न्यूयार्क में यह स्टर्लिंग के साथ हुआ । यदि इस प्रकार के सौदे बड़ी मात्रा में होने लगे तो अधिकृत दरें बनाए नहीं रखी जा सकतीं और मुद्रा का अवमूल्यन हो सकता है । इसका निष्कर्ष यह है कि किसी भी मुद्रा का अन्य मुद्राओं में वही मूल्य होगा जो उसके खरीदार देने को तैयार होंगे और यदि कालावाजार में उसकी पूर्ति बहुत अधिक है तो जिसके लिए भी यह सम्भव होगा वह अधिकृत दर पर उसको नहीं खरीदेगा ।

जहां प्रतिबन्ध होंगे वहां उनसे बेचने का अवश्य ही प्रयत्न किया जावेगा । यदि मुद्रा को स्वतन्त्रता पूर्वक बाहर नहीं ले जाया जा सकता तो अवश्य ही ऐसे लोग होंगे जो उसके लिए अधिकृत मूल्य से कम लेकर भी उसे निकाल देना चाहेंगे । बहुधा पूंजी निर्गमन को चालू सौदों का रूप इस आशा से दिया जा सकता है कि यदि उस पर रोक लगा दी जावे तो उससे बचा जा सके । और जहां नकदी रूप में कितनी मुद्रा बाहर ले जाई जा सकती है उस पर बन्धन है वहां मुद्रा को चोरी से अवश्य ले जाया जावेगा । यह उन देशों में जहां कि विनिमय नियंत्रण स्थापित है समान रूप से प्रचलित है कि जो भी उन देशों के बाहर जाता है वह निर्धारित राशि से अधिक की मुद्रा को नहीं ले जा सकता । इस प्रकार के बन्धन विदेशों में भ्रमण करने वालों—विदेशों में भ्रमण को बहुत अधिक कम कर दिया जाता है—तथा विदेशों को जाने वाले व्यापारिक प्रतिनिधियों—जिन्हें ज्यादातर अधिक मुद्रा ले जाने दी जाती है—दोनों पर लागू होता है । वे उन विदेशियों पर भी लागू होते हैं जो उस देश में भ्रमण कर चुकने पर उसे छोड़ना चाहते हैं और उन देशवासियों पर भी लागू होते हैं जो उस देश को स्थायी रूप से छोड़ देना चाहते हैं । नाज़ी शासन के अन्तर्गत वे धनी व्यक्ति जो जर्मनी छोड़कर बाहर जाना चाहते थे उन्हें बहुधा अपनी सम्पत्ति का एक भाग ले जाने दिया जाता था यदि वे शेष सम्पत्ति राज्य को दे देते थे अथवा उपयुक्त अधिकारियों को प्रसन्न करने में जो अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग व्यय कर देते थे उन्हें कुछ भाग ले जाने की अनुमति दे दी जाती थी ।

किसी देश से मुद्रा ले जाने पर इस प्रकार के बन्धनों के साथ साथ देश के अन्दर मुद्रा लाने के लिए भी आवश्यक शर्तें निश्चित कर दी जाती हैं । निर्वात करने वाले व्यापारी जो विदेशों में अपना माल बेचते हैं, और पूंजी के स्वामी जिन्हें अपनी पूंजी पर विदेशों से सूद और लाभांश मिलता है उन्हें इस बात के लिए विवश किया जाता है कि वे प्राप्त होने वाली मुद्रा को केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार को गौप्य दें, जो उनको या तो अधिकृत अथवा कभी कभी एक विशेष दर पर देश की

मुद्रा में भुगतान कर देती है। इस बात का प्रयत्न किया जाता है यद्यपि इस प्रयत्न में सफलता एक समान नहीं मिलती कि लोगों को जो राशि विदेशी मुद्रा में मिलनी है उसे विदेशों में ही छोड़ देने अथवा पुनः विदेशों में ही विनियोजित करने से उन्हें रोका जावे। किन्तु इस प्रकार के बन्धनों को विशेष कर पूरी तरह लागू कर सकना कठिन होता है, विशेषकर उन व्यापारिक संगठनों के विरुद्ध जो एक देश से अधिक से कारोबार करते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विनिमय नियंत्रण की कड़ाई की मात्रा बहुत प्रकार की होती है और उसको एक संकुचित अथवा विस्तृत क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। स्वभावतः वह उस देश में सबसे अधिक कठोर होती है जहां कि अधिकृत विनिमय दर को उस दर से बहुत अधिक भिन्न रखने का प्रयत्न किया जाता है जो कि यदि कोई नियंत्रण स्थापित न होता तो स्थापित होती। (उदाहरण के लिए नात्सी जर्मनी में) और उन देशों में सबसे कम कठोर होती है जहां कि तनिक सा भी प्रभाव उन विनिमय दरों पर जिन्हें मुद्रा अधिकारी बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं पूर्ति और मांग का संतुलन करने के लिए यथेष्ट होता है।

वैंटन-वुड्स में होने वाले मुद्रा सम्बन्धी वादविवाद में अमेरिकन प्रतिनिधियों ने केवल इस बात की आवश्यकता पर ही लगातार बल नहीं दिया कि विभिन्न राष्ट्रों की मुद्राओं का जितना शीघ्र हो सके स्वर्ण में मूल्य निश्चित कर दिया जावे वरन् उन्होंने चालू सौदों पर भी सभी प्रकार के विनिमय नियंत्रणों को हटा देने पर बल दिया। यद्यपि यह दोनों उद्देश्य मूल रूप से परस्पर एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं। यदि देशों को अपनी मुद्राओं की निश्चित विनिमय दरों से चिपटे रहने के लिए विवश किया जावेगा तो वे उन विनिमय दरों को बिना कठोर विनिमय नियंत्रण किए बनाए रखने के सर्वथा अयोग्य सिद्ध होंगे। यह नियंत्रण केवल पूंजी के आवागमन पर ही नहीं वरन् चालू सौदों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली विदेशी विनिमय की मांग पर भी लागू करना होगा। जिन परिस्थितियों में यह देश अपने को पाते हैं अर्थात् एक सीमा तक आन्तरिक मुद्रा संकुचन लागू करना असहनीय होता है, या राजनीतिक दृष्टि से उसको लागू करने का प्रयत्न करना अव्यवहारिक होता है, उसमें विनिमय नियंत्रण वस्तुतः एकमात्र विकल्प हो सकता है।

1930 के बाद जर्मनी के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया कि कठोर विनिमय नियंत्रण की सहायता से एक देश के लिए अधिकृत रूप से अपनी मुद्रा का घोर कृत्रिम बाह्य मूल्य बनाए रखना सम्भव है, और साथ ही यह भी सम्भव है कि वह आन्तरिक मुद्रा विस्तार की नीति को बनाए रखे जो कि यदि विनिमय दरों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जावे तो असम्भव होगा। जैसा कि हमने देखा यह बिना अधिकृत

विनिमय दरों से भिन्न वस्तुतः विनिमय दरों के प्रगट हुए बिना नहीं हो सकता; और सामान्यतः उसका विरोधी परिणाम यह होता है कि नियंत्रित मुद्रा के अन्य मुद्राओं में विभिन्न मूल्य प्रगट हो जाते हैं जो उन मुद्राओं के टालर या स्टैबिलिटी में सापेक्षिक मूल्य के अनुरूप नहीं होते। यद्यपि 1930 के उपरान्त अधिकृत दर एक समान थी परन्तु व्यवहार में रीशमार्क का रूमानिया में एक, अरजेंटीना में दूसरा, और टर्की में तीसरा मूल्य था। और यह मूल्य रूमानिया, अरजेंटीना और टर्की की मुद्राओं के पृथ्वी के अन्य भागों में प्रचलित मूल्यों के अनुरूप नहीं थे। इन प्रकार के अन्तर समाशोधन में प्रवन्धों के परिणाम थे जिनके बारे में पिछले परिच्छेदों में लिखा जा चुका है और समाशोधनसमझौते किसी भी दूरगामी विनिमय नियंत्रण के परिणाम हैं जो उन सभी सौदों के लिए जो कि विशेष प्रवन्ध के अन्तर्गत न आते हों एक कृत्रिम विनिमय दर को बनाए रखने के लिए स्थापित किए जाते हैं।

उन विनिमय प्रतिवन्धों—जो लगभग प्रत्येक देश में विदेशी व्यापार पर लगे हुए हैं—के जाल से निकलने की इच्छा को आसानी से समझा जा सकता है। किन्तु निश्चित सम दरों पर आग्रह करने का प्रयत्न करना उन उद्देश्य को प्राप्त करने के वजाय व्यवहार में उग्र विनिमय वन्धनों का लगाया जाना नितान्त अपरिहार्य बना देना है। यदि एक देश जिसको भुगतान के अन्तर के बारे में कटिनाई का सामना करना पड़ रहा हो यदि अपनी विनिमय दरों में परिवर्तन न करे और न विनिमय नियंत्रण ही स्थापित करे तो वह करे क्या? शुद्ध अहस्तक्षेप नीति के सिद्धान्त को मानने वाले सम्भवतः उत्तर देंगे कि उसको आन्तरिक मुद्रा संकुचन के उपायों को इतनी यथेष्ट मात्रा में काम में लाना चाहिए कि जिससे उसका भुगतान का अन्तर ठीक हो जावे। किन्तु यह कार्य उस देश की सरकार की शक्ति के बाहर हो सकता है और उस नीति के लागू करने के प्रयत्न के परिणाम स्वरूप बहुत अधिक सम्भावना इस बात की है कि वह स्थिर आर्थिक दशा को लौटा नाने के वजाय पृथ्वी के अधिकांश देशों में क्रान्तियों को उत्तेजित करदे।

यदि डालर तथा अन्य मुद्राओं में विनिमय साम्य दरें स्थिर रखना हों तो कम से कम लम्बे समय तक के लिए उन साम्य दरों को स्थिर बनाए रखने के लिए विनिमय नियंत्रण स्थापित करना ही होगा। इसके अतिरिक्त यदि विनिमय साम्य दरें स्थिर न भी रखी जा सकें तो भी विनिमय नियंत्रण की जरूरत होगी। यद्यपि उन देशों के लिए यह आवश्यक नहीं होगा कि वे विनिमय नियंत्रण को उतनी कठोरता पूर्वक लागू करें यदि उन देशों ने अपनी मुद्रा के टालर मूल्य में परिवर्तन करने की शक्ति को अधुण रक्खा है। यदि देशों अथवा देशों के समूहों द्वारा अपनी विनिमय दरों में परिवर्तन करने के अधिकार पर कोई वन्धन न भी लगाया जावे तो कोई भी देश जिस पर डालर के लिए लगातार दबाव पड़ रहा हो अपनी विनिमय

दरों को घटने बढ़ने के लिये अनियंत्रित छोड़ देना नहीं चाहेगा । कम से कम सट्टे के कारण होने वाली हलचलों को दूर करने तथा अल्पकालीन घट बढ़ को सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न तो अवश्य ही किया जावेगा । कुछ देश बिना विस्तृत क्षेत्र में विनिमय नियंत्रण स्थापित किए जितना कुछ आवश्यक है वह मुख्यतः विनिमय समीकरण कोष के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ग्रेट-ब्रिटेन सहित अधिकांश देशों को न केवल अल्पकालीन और दीर्घकालीन पूंजी के आवागमन पर ही नियंत्रण स्थापित करने की शक्ति ही रखनी होगी वरन् आयात वस्तुओं को खरीदने के लिए विदेशी विनिमय की पूर्ति पर भी नियंत्रण रखना होगा ।

निस्संदेह इस दूसरे प्रकार के नियंत्रण का उपयोग किस सीमा तक करने की जरूरत होगी—आंशिक रूप से इस बात पर निर्भर करेगी कि वह देश कितनी हद तक आयातों को अधिक सीधे तरीकों, प्रशुल्कों, कोटा और लाइसेंसों के द्वारा नियंत्रित कर सकता है । लेकिन अमेरिकन लोग कोटा और लाइसेंस के विरुद्ध विनिमय नियंत्रण से भी अधिक गहरी आपत्ति उठाते हैं और यदि केवल प्रशुल्कों के तरीके को ही सीधे आयात नियंत्रण के लिए खुला छोड़ा जावे तो बहुत से देशों को प्रशुल्क की अनुपूर्ति करने के लिए परोक्ष रूप से विनिमय नियंत्रण के औजार को वापस काम में लाना होगा । प्रशुल्क की एक कमजोरी यह है कि वह कम जरूरी वस्तुओं को आने से न रोककर ज्यादा जरूरी वस्तुओं को आने से रोकता है और इसके सिवाय देश के उत्पादकों को आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों को ऊंचा उठाने का साधन उपलब्ध कर देता है । कोटा और लाइसेंस दोनों ही का तथा विनिमय नियंत्रण का उपयोग अनावश्यक आयातों के विरुद्ध विभेद करने में आसानी से किया जा सकता है । और वह देश जो अपनी आर्थिक स्थिति के कारण आयातों पर बन्धन लगाने के लिए विवश है उससे यह आशा करना कठिन है कि वह प्रशुल्क के अतिरिक्त अन्य तरीकों को काम में लाने के अपने अधिकार को छोड़ देगा । जितना ही कोटा और लाइसेंस देने का अधिक उपयोग होगा उतनी ही विनिमय नियंत्रण की आवश्यकता कम होगी और जितना कोटा और लाइसेंस देने का उपयोग कम होगा विनिमय की आवश्यकता अधिक होगी । परन्तु पृथ्वी की अर्थ-व्यवस्था में संतुलन की कमी की मात्रा दीर्घकाल तक इतनी अधिक होने की सम्भावना है कि उसको विनियमित करने के दोनों वैकल्पिक तरीकों को अनियमित कर देना विलकुल अव्यवहारिक होगा ।

कोटा, लाइसेंस, और विदेशी विनिमय नियंत्रण आयातों को नियमित करने के एक से तरीके हैं । नियंत्रण के इन प्रकारों में से किसी का भी उपयोग न केवल आयातों की कुल मात्रा को सीमित करने अथवा जरूरी को गैर जरूरी के ऊपर प्राथमिकता देने के लिए किया जा सकता है वरन् उसका उपयोग विभेद करने के

लिए भी किया जाता है जिससे कि एक देश के साथ दूसरे देश की अपेक्षा व्यापार को प्रोत्साहित किया जा सके । जब समाशोधन सम्भोजी होते हैं जिनका स्पष्ट उद्देश्य दो विशेष देशों के बीच व्यापार को बढ़ावा देना होता है तब इस प्रकार का विभेद बहुत अधिक होता है । अमेरिकियों का मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय अधिक सम्बन्धों में विभेद और उभयपार्श्वता एक अभिशाप है । उनका कहना है कि यह अत्यन्त आवश्यक है कि बहुपक्षीय पद्धति की ओर पुनः लौटा जावे जिससे सब देशों के साथ समान व्यवहार हो । बहुपक्षीय अथवा बहुदेशीय पद्धति में यह हो सकता है कि एक देश दूसरे को जितना दूसरा देश निर्यात करके भुगतान कर सकता है उससे अधिक माल बेचे । यह अन्तर उस आधिक्य से पूरा किया जा सकता है जो कि दूसरे देश को तीसरे देश के साथ व्यापार करने में प्राप्त हो । वह तीसरा देश प्रथम देश से जितना आयात करता है उससे अधिक उसको निर्यात करता है । व्यापार विनिमय की वास्तविक पद्धति इससे कहीं अधिक उलझन भरी होगी, उसमें संख्या में बहुत अधिक देशों को लाना होगा तभी संतुलन पूरा हो सकेगा । परन्तु उस दशा में कोई भी कठिनाई उपस्थित नहीं होगी यदि प्रत्येक देश अन्य सभी देशों से मिलाकर उतना माल खरीदे जितना कि उसने उन सबों को बेचा है, अथवा उसकी लेनदार या ऋणी होने की स्थिति में या उसके पूंजी के आयात और निर्यात के कारण जितना वांछनीय हो केवल उतना ही ज्यादा या कम खरीदे और बेचे । इस प्रकार पिछले समय में ग्रेट-ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका को जितना बेचता था उससे अधिक खरीदने का अन्यस्त था । परन्तु मलाया जितना संयुक्त राज्य अमेरिका से खरीदता था उससे अधिक संयुक्त राज्य अमेरिका को बेचता था और जितना कुछ ग्रेट ब्रिटेन को मलाया टिन और रबर उद्योग में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी के उपयोग के लिए भुगतान को हिसाब में शामिल करके वह ग्रेट-ब्रिटेन को बेचता था उससे अधिक ग्रेट-ब्रिटेन से खरीदता था । इसलिए मलाया के संयुक्त राज्य अमेरिका को हुए निर्यात के एक भाग का उपयोग संयुक्त राज्य अमेरिका को ब्रिटेन के आयातों के भुगतान के लिए किया जाता रहा और इस प्रकार ब्रिटेन के प्रतिकूल व्यापार के अन्तर का एक भाग पूरा किया जाता था ।

स्पष्ट है कि यदि इस प्रकार की व्यवस्था की जा सकती और यदि प्रत्येक देश के व्यापार का परस्पर एक दूसरे देश से संतुलित होना अनिवार्य होता तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए यह एक बड़ी रुकावट होती । सच तो यह है कि इस प्रकार की कोई भी स्थिति नितान्त असंगत होती । उसका अत्यन्त गम्भीर प्रभाव यह होता कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन की सम्भावनाएं बहुत कम हो जाती—अर्थात् प्रत्येक देश का उन वस्तुओं को बड़ी मात्रा में निर्माण करने में विशेषीकरण करना जिनमें अर्थशास्त्रियों की भाषा में उस देश को तुलनात्मक लाभ प्राप्त है । यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पनपना है और यदि समस्त पृथ्वी पर सामूहिक रूप से धन का उत्पादन अधिकतम होना है तो यह अपरिहार्य है कि वस्तुओं और

सेवाओं के बहुदेशीय विनिमय का प्रवन्व किया जाय और समस्त विदेशी व्यापार को उभयपक्षीय अथवा द्विदेशीय विनिमय की शृंखला में परिणित करने का प्रयत्न न किया जाय । यहां तक अमेरिकनों का कहना निस्सन्देह सही है ।

परंतु इससे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता है कि कोई भी द्विदेशीय अथवा उभयपक्षीय विनिमय नहीं होना चाहिए । यदि दो देश परस्पर कुछ वस्तुओं का विनिमय करने का समझौता करके कुछ व्यापारिक सौदों को सम्भव बना देते हैं जो कि अन्यथा कभी होते ही नहीं अथवा बहुत थोड़ी मात्रा में होते हैं तो उसका परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावनाओं को बढ़ाने का न कि उसको संकुचित करने का होगा । स्वयं संयुक्तराज्य अमेरिका ने मुद्रा समाशोवन समझौतों के रूप में नहीं बरन वस्तुतः इस प्रकार के सीधे द्विदेशीय वस्तु विनिमय के सौदे किए और जिन परिस्थितियों में इन विनिमयों का प्रवन्व किया गया था—उनका उद्देश्य न वेचे जा सकने वाली फाज़िल वस्तुओं को निकालना था—वे दोनों पक्षों के लिए लाभ-दायक थे और अन्य किसी के लिए भी हानिकर नहीं थे ।

किसी भी प्रकार के ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विरुद्ध जो कि किसी मात्रा तक विभेदकारी है यह तर्क दिया जाता है कि वह दो या अधिक देशों के बीच किसी व्यवस्था पर आधारित होता है और समान शर्तों पर अन्य सब देशों के लिए उसके दरवाजे खुले नहीं रहते । उसका परिणाम यह होता है कि इस प्रकार की व्यवस्था अकुशल उत्पादक को संरक्षण देती है और पृथ्वी को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के पूर्ण लाभ से वंचित कर देती है । इस तर्क के पीछे छिपी हुई मान्यता यह है कि प्रत्येक वस्तु उस स्थान पर उत्पन्न की जानी चाहिए जहां कि वह सबसे सस्ती पैदा हो सके । और जब एक देश यथेष्ट सस्ती पैदा न कर सके तो उसके निवासियों को ऐसे देश में प्रवास कर जाना चाहिए जहां उनके श्रम का अधिक अच्छा उपयोग हो सके । यदि एक देश से दूसरे देश को स्वतन्त्र प्रवास पर कोई बन्धन न हो तो भी यह तर्क निरर्थक है । क्योंकि यह प्रवास और पुनर्वास की आर्थिक लागत की और इस प्रश्न के मानवीय पक्ष दोनों ही की उपेक्षा करता है और इसके अतिरिक्त यह इस दावे की ओर ध्यान नहीं देता है कि उन्हें उत्पादन की तकनीक को उन्नत करने का अवसर दिया जाना चाहिए । अधिकांश उन्नत देशों ने जो आवास पर कृत्रिम बन्धन लगाए हैं उनके रहते अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के तर्क को उसके चरम स्वरूप में उपयोग करना एक मज़ाक है । यदि लागत व्यय कम है तो भी इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि वस्तुओं का उत्पादन किस देश में होता है क्योंकि देशों को अपने व्यापार को सन्तुलित करना पड़ता है और ऐसा कर सकने का न उन्हें कोई आश्वासन ही मिल सकता है यदि संतुलन प्राप्त करने के लिए उन्हें आवश्यक कदम उठाने की आज्ञा न हो । स्वयं अमेरिकन लोग

संरक्षणात्मक शुल्कों में कोई हानि नहीं देखते जो ऊंची लागत के उत्पादकों को संरक्षण प्रदान करने के लिए लगाए जाते हैं। वे भ्रम विभाजन के तर्कों को तभी उपस्थित करते हैं जब अन्य देश आयातों को विवेकरहित होकर बन्द कर देने के बजाय परस्पर व्यापार को बढ़ाने के लिए कुछ कदम उठाने का प्रस्ताव करते हैं।

इसके अतिरिक्त इन विवादों में बहुदेशीय और सर्वदेशीय व्यापार में अन्तर किया जाता है वह भ्रम है जो कभी कभी जान बूझकर किया गया प्रतीत होता है। निस्संदेह यह अधिक लाभदायक है कि जब देश वजाय केवल द्विदेशीय सौदों के करने के जिनमें उभय पक्षीय समाशोधन का प्रबन्ध भी करना पड़ता है—बहुदेशीय व्यापार की योजनाओं में सम्मिलित हो जिसमें उन देशों में मुले व्यापार की आज्ञा होती है। ऐसा करना बहुधा संभव होता है। जबकि यह नितान्त अव्यवहारिक होगा कि वही सुविधाएं सभी देशों को दे दी जावें। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका को टाररों की अत्यन्त कमी होने की दशा में वही सुविधा नहीं दी जा सकती। इस प्रकार के बहुदेशीय समझौतों को इस आधार पर कि वे सर्वदेशीय नहीं हैं रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत पृथ्वी की वर्तमान स्थिति में यथार्थ रूप में व्यापारिक सम्बन्धों को अधिक उदार बनाने की बहुदेशीय समझौतों से ही आशा की जा सकती है।

इस प्रकार के सौदों के विरोध का वास्तविक आधार दो तरह का है। पहला यह कि वे अमेरिकन निर्यात करने वालों की इस इच्छा के बाधक हैं कि पृथ्वी के समस्त बाजारों में उनकी असीमित पहुंच हो। क्योंकि डालर अधिकांश देशों के लिए दुर्लभ मुद्रा है अस्तु स्पष्ट ही यह प्रवृत्ति है कि द्विदेशीय सौदे कर लिए जावें जिससे उन आयातों की आवश्यकता कम हो जावे जिनका भुगतान डालरों में करना होगा। इस प्रकार वे देश जिनके पास डालरों की कमी है उन देशों से आवश्यक आयातों को प्राप्त करने का प्रबन्ध करते हैं जो विनिमय में उनकी वस्तुओं को लेने को तैयार हैं, और जिस सीमा तक यह होता है अमेरिकन निर्यात करने वाले शिकायत करते हैं कि उन्हें उन बाजारों से जिनमें अन्यथा वे अपना माल भेजते बाहर निकाला जा रहा है। इस कथन में इस अत्यन्त संगत तथ्य की अपेक्षा की जाती है कि अन्य देश अमेरिकन वस्तुओं को फिर चाहे उनका मूल्य प्रतिस्पर्धात्मक ही हो नहीं खरीद सकते जब तक कि उनका मूल्य चुकाने के साधन उनके पास न हों। यदि अमेरिकन शुल्क के कारण और अमेरिकन उपभोक्ता का देशी वस्तुओं को खरीदने के लिए घाघह होने के कारण वस्तुओं में आयातों का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता, तो जब तक कि अमेरिकन अपने निर्यातों के लिए वित्त-व्यवस्था खरीददारों को अपना माल भेंट-रूप में देते रहकर स्वयं करने के लिए तैयार न हों उनका मूल्य चुकाने का अन्य कोई साधन नहीं है। उनको ऋण रूप में न देकर भेंट-रूप में ही देना होगा, क्योंकि

अमेरिका के शुल्क के रहते आगे चलकर वस्तुओं के निर्यात के द्वारा उन ऋणों को चुकाने का कोई रास्ता नहीं है। यह सरलता से इंगित किया जा सकता है कि अमेरिकनों द्वारा यह आशा करना मूर्खता होगी कि पृथ्वी के सभी बाजार उनके लिए खुले रहेंगे जब तक कि वे उस रूप में मूल्य के भुगतान को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होंगे जिस रूप में वास्तविक भुगतान किया जा सकता है। जहाँ तक तर्क का सम्बन्ध है यह उत्तर चाहे जितना ही विश्वास दिलाने वाला क्यों न हो परन्तु वह व्यवहार में अमेरिकन व्यापारियों के सुसंगठित प्रभाव डालने वाले समूहों को निःशस्त्र करने अथवा संयुक्तराज्य अमेरिका की कांग्रेस को उन देशों की आवश्यकताओं के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने के लिए जिनकी परिस्थितियाँ उससे बहुत भिन्न हैं प्रेरित नहीं कर सकता।

अमेरिकन व्यापारियों के इस दृष्टिकोण का एक दूसरा कारण यह है कि द्विदेशीय सौदों का स्पष्ट उद्देश्य एक हद तक राज्य द्वारा व्यापार या कम से कम राज्य के संरक्षण के अन्तर्गत व्यापारिक संगठनों द्वारा व्यापार को बढ़ावा देना है। अमेरिकनों द्वारा उनका विरोध एक प्रकार से 'न्यू डील' और ऐसी सभी बातों के जिनमें समाजवाद की तनिक भी गंध आती हो या फिर उन क्षेत्रों में जो अभी तक निजी साहस के लिए सुरक्षित थे राज्य की हलचल के विरुद्ध संघर्ष का एक भाग है। बहुत बड़ी राशि में वस्तुओं के विनिमय के सौदे दो राज्यों के मध्य के अलावा अन्य दूसरी तरह से कर सकना कठिन है। या फिर वे उन व्यापारिक संगठनों के बीच हो सकते हैं जिन्हें राज्यों ने स्थापित किया हो अथवा जिनका राज्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध हो। आयातों अथवा उनके भुगतान करने के साधनों का रार्शनिंग करना जिसमें सभी प्रकार के समाशोधन समझौते भी सम्मिलित हैं उनमें अनिवार्य रूप से राज्य अथवा कम से कम राज्य की आज्ञा से कार्य करने वाला केन्द्रीय बैंक का दखल होना अनिवार्य है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि शुल्कों के लगाने में भी राज्य का दखल अनिवार्य है जिनके विरुद्ध घोर व्यक्तिवादी अमेरिकन भी आपत्ति नहीं उठाता। किन्तु शुल्कों तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति को प्रभावित करने के अन्य साधनों में अन्तर यह है कि राज्य जब एक बार शुल्क लगा देता है तो उसको इकट्ठा करने के अतिरिक्त राज्य को और कुछ करना नहीं रहता जबकि कोटा पद्धति तथा विनिमय नियंत्रण को क्रियान्वित करने का अर्थ यह होता है कि एक लोक अधिकारी का निरन्तर प्रशासनिक हस्ताक्षेप रहे। इसके सिवाय यदि देशों के मध्य होने वाला व्यापार किसी प्रकार के मात्रात्मक नियमन के अन्तर्गत आ जाता है तो राज्य अथवा राज्य द्वारा नियंत्रित प्रवन्ध के लिए दरवाजा खुल जाता है। बड़ी राशि में खरीद करने और बेचने के लिए आयात और निर्यात बोर्ड स्थापित करने के लिए, तथा निजी व्यापारी और निजी व्यापारी बैंकर को उनके परम्परागत कारोबार के कुछ क्षेत्र में निष्प्रभाव कर देना राज्य के लिए अनिवार्य हो जाता है।

बहुधा यह कारण बतलाए नहीं जाते और राज्यों के मध्य परस्पर वस्तुओं के विनिमय के किसी भी प्रकार के विशेष प्रवन्ध के विरोधी रुढ़िवादी अर्थशास्त्रियों के द्विदेशीय व्यापार के विरुद्ध बहुदेशीय व्यापार के पक्ष में दिए गए तर्कों का आश्रय लेते हैं। राज्यों के मध्य बड़ी मात्रा में वस्तुओं के विनिमय के होने वाले सौदों में बहुदेशीय व्यापार के विरुद्ध तब तक कुछ नहीं होता जब तक कि इन सौदों का दो देशों के बीच होने वाले कुल आयात-निर्यात को बराबर करना होता है। यदि ग्रेट-ब्रिटेन, डेनमार्क को निश्चित मात्रा में कोयला और मशीनें देकर बदले में सुअर का मांस लेने का सौदा करता है तो यह किसी प्रकार भी आपत्तिजनक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है जब तक वह उस सौदे का एक अंग है जिससे कि डेनमार्क और ग्रेट-ब्रिटेन के मध्य कुल व्यापार संतुलित हो।

निस्सन्देह द्विदेशीय समाशोधन समझौतों में द्विदेशीय व्यापार के संतुलन का विचार यथार्थरूप से सन्निहित है। अतएव उनका समर्थन इसी आधार पर किया जा सकता है कि जब देशों की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल होती है तो विवश होकर उन्हें उसको एक कार्यसाधक के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। यह मूर्खता की बात होगी कि हम उन तर्कों को जो कि व्यापक द्विदेशीय अथवा उभयपक्षीय समाशोधन समझौतों के विरुद्ध लागू होते हैं और जिसके अन्तर्गत वे सभी प्रकार के भुगतान आ जाते हैं जो दो देशों के बीच हो सकते हैं—सभी प्रकार के उभयपक्षीय व्यापार के विरुद्ध चाहे फिर वह सीधे वस्तुओं के विनिमय के द्वारा हो अथवा किसी वित्तीय नियंत्रण के रूप में हो—उपस्थित करें।

हम अब इन सामान्य सिद्धान्तों को स्थिति विशेष के सम्बन्ध में लागू करेंगे। यह साफ है कि भविष्य में बहुत वर्षों तक ग्रेट-ब्रिटेन के लिए आयातों का मूल्य चुकाने के लिए यथेष्ट साधन उपलब्ध करना कठिन होगा। महायुद्ध के पूर्व तीन वर्षों के औसत के आधार पर (1950, 51 और 52) सुअर के मांस की घटार्द हुई मात्रा के आयात का मूल्य 5 करोड़ 90 लाख पाँड था जिसमें से डेनमार्क को 3 करोड़ 80 लाख पाँड मिलता था। महायुद्ध के पूर्व आयात 68 लाख हंडरवेट से घटकर 1952 में 48 लाख हंडरवेट रह गया। इस कमी का कुछ भाग देश के उत्पादन में वृद्धि से पूरा हुआ, किन्तु फिर भी ब्रिटिश उपभोक्ता बाजार में सुअर के मांस की कमी हो गई। उसमें सन्देह नहीं कि देश में सुअर के मांस का उत्पादन और अधिक बढ़ाना सम्भव होगा परन्तु यह उपभोक्ता के लिए सुअर को मांस का मूल्य बढ़ाकर ही हो सकता है। ग्रेट-ब्रिटेन और डेनमार्क के मध्य इस प्रकार के सौदे में क्या अनुचित और असंगत बात है कि सुअर के मांस का विनिमय ब्रिटेन को उन निर्यात वस्तुओं से कर लिया जाय जिनकी डेनमार्क को जरूरत है। इस प्रकार के सौदे के फलस्वरूप डेनमार्क निवासियों को एक ऐसी वस्तु के निर्यात को बढ़ाने का अवसर मिलता

है जिसका विकास करने में उन्होंने विशेष कुशलता दिखलाई है। ब्रिटेनवासियों को उनकी पसन्द की चीज़ मिल जाती है और यदि डैनमार्क ब्रिटेन के इतने निर्यात ले लेता है जिससे सुअर के मांस का मूल्य संतुलन हो जावे तो उसमें विनिमय की कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। यह संतुलन दोनों पक्षों को आयात वस्तुओं और खाद्य पदार्थों—जो निर्यात वस्तुओं में सम्मिलित हैं, और खाद्य पदार्थों के आयात पर होने वाली वचत जोकि ग्रेट-ब्रिटेन में सुअर का मांस उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है—को निकाल कर मालूम होगा। इसमें यह मान लिया गया है कि यदि हम सुअर का मांस खरीदने से इन्कार करेंगे तो डैनमार्कवासी ब्रिटेन के निर्यात को नहीं खरीदेंगे। डैनमार्क के पिछले वर्षों के निर्यात आकड़ों को देखते हुए यह मान्यता सही है। निश्चय ही यदि ब्रिटेन उनके मांस को खरीदना बन्द कर दे तो उन्हें अन्य कहीं बेचने में बड़ी कठिनाई होगी।

इस प्रकार का द्विदेशीय सौदा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन में रुकावट डालने के बजाय निश्चित रूप से उसको बढ़ाता है। किन्तु इसमें एक कठिनाई है। जहां ग्रेट-ब्रिटेन के लिए एक निश्चित मूल्य पर डैनिश सुअर का मांस बड़ी राशि में खरीदना सरल होगा और यदि कोयला उपलब्ध हो तो डैनमार्क को उसके अधिकांश भाग के विनिमय में कोयला ले सकना सरल होगा, परन्तु कोयले के सिवाय ब्रिटेन के बहुत कम ऐसे निर्यात हैं जो कि बड़ी राशि में निश्चित मूल्य पर डैनिश राज्य को अथवा उसके लिए अन्य किसी ऐजेन्सी को बेचे जा सकें। कोयले के सिवाय ब्रिटिश निर्यात मुख्यतः निर्मित वस्तुयें (तैयार माल) है जो विभिन्न प्रकार की होती हैं और जिनको आसानी से बड़ी राशि में नहीं बेचा जा सकता। इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है यदि डैनिश सुअर के मांस का मूल्य लंदन पर साख देकर चुकाया जावे जो कि किसी भी प्रकार के ब्रिटिश माल पर जिसकी डैनिश खरीददारों को जरूरत हो खर्च किया जा सकता है। यह अविरुद्ध साख होगी जोकि विशेष प्रवन्व के सिवाय केवल ब्रिटिश वस्तुओं के खरीदने पर ही व्यय की जा सकेगी। इस आधार पर उसके विरुद्ध आपत्ति उठाई जावेगी परन्तु प्रश्न यह है कि और किस तरह से ब्रिटेन भुगतान कर सकता है? यदि ग्रेट-ब्रिटेन दुनियां के बाज़ार में कुल मिलाकर इतने पर्याप्त निर्यात बेचने पर निर्भर हो सकता कि जिससे सम्पूर्ण आवश्यक आयातों का भुगतान किया जा सके तो कोई कठिनाई नहीं होगी। यदि यह स्थिति होती तो जहां तक ब्रिटेन का प्रश्न है समझौता करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। यदि ऐसी स्थिति नहीं है तो अवश्य ही ब्रिटेन के लिए यह अधिक अच्छा है कि वह डैनिश सुअर के मांस का भुगतान वतलाए हुए तरीके से करे बजाय इसके कि वह उसे विलकुल खरीद ही न सके।

इस प्रकार का द्विदेशीय सौदा वास्तव में एक बिन्दु तक 1930 के बाद किया गया था और पुनः युद्ध के बाद किया जा रहा है। 1930 की व्यापारिक मंदी काल में ग्रेट-ब्रिटेन ने स्कैंडिनेविया के देशों से इस प्रकार के समझौते किए जिनके अन्तर्गत उन्होंने ब्रिटिश बाजारों को अपने कुछ निर्यातों के बदले ब्रिटिश कोयले की निश्चित मात्रा को आयात करना स्वीकार किया। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि इन समझौतों के कुछ दोष थे। पोलैंड का कोयला जो अन्यथा स्कैंडिनेविया में अपना बाजार ढूँढता अन्य देशों को विशेषकर भूमध्यसागर के देशों को भेजा गया और उसने वहाँ के बाजारों में ब्रिटिश कोयले से सबसे अधिक तीव्रता से प्रतिस्पर्धा की। स्कैंडिनेविया देशों द्वारा ब्रिटिश कोयले की खरीद से ब्रिटेन के कुल कोयला निर्यात में उतनी वृद्धि नहीं हुई। परन्तु उन समझौतों के फलस्वरूप ग्रेट-ब्रिटेन ने मंदी के काल में जितना कोयला वह समझौतों के बिना निर्यात करता उससे काफी ज्यादा निर्यात किया।

यह कहा जा सकता है कि यह ठीक है परन्तु यह लाभ पोलैंड को हानि पहुँचा कर हुआ। मैं उसके बारे में निश्चित नहीं हूँ। क्योंकि स्कैंडिनेविया से ब्रिटेन में आयातों को पूर्ववत् बचाए रखने के फलस्वरूप उसके बिना जितना विदेशी व्यापार होता उससे अधिक कुल विदेशी व्यापार होना सम्भव हुआ। परन्तु जिस हद तक ब्रिटेन ने पोलैंड के कोयले को हटाया क्या उसके लिए ब्रिटेन दोषी हैं? ब्रिटिश लोग उन वस्तुओं का जिनका मूल्य चुकाने की वे क्षमता नहीं रखते थे निरन्तर आयात करते नहीं रह सकते थे। आयात करने के लिए उन्हें निर्यात के लिए बाजारों की जरूरत थी। यदि दुनिया का बाजार इतना छोटा है कि वह दुनिया की उत्पादन क्षमता को पूरी तरह काम में लगाए नहीं रख सकता तो उसका इलाज यह नहीं था कि ग्रेट-ब्रिटेन आयातों का भुगतान अपने विदेशी विनियोग को घटाकर असंतुलित स्थिति को बनाए रखकर करता वरन् उसका इलाज यह था कि दुनिया राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार-वादी नीतियों को अपनाकर जिनका उद्देश्य कुल बाजार को बढ़ाना होता पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के लिए कदम उठाती।

युद्ध-काल में तथा युद्ध के पश्चात् अपने विदेशी विनियोग के अधिकांश भाग को खो चुकने के बाद तथा नए ऋणों के रहते जिन्हें लेने के लिये ब्रिटेन विवश हो गया था ब्रिटिश जनता से यह आशा नहीं जा सकती कि वह ऐसी स्थिति को स्वीकार कर ले जिसमें एक मात्र विकल्प आयातों को कम करके ब्रिटेन के जीवन स्तर को नीचा करना हो। इसमें संदेह नहीं कि यदि अन्य कोई वास्तविक विकल्प न हो तो ब्रिटेन को यही स्वीकार करना पड़ता। परन्तु यदि ग्रेट-ब्रिटेन अपनी उत्पादित वस्तुओं को जो परस्पर विनिमय के आवार के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार विदेशों को नहीं बेची जा सकती थीं देकर अतिरिक्त आयात प्राप्त कर सके तो क्या ब्रिटिश राज-

नीतिज्ञों से यह आशा की जा सकती है कि वे इस प्रकार के सौदों को केवल इसलिए करना छोड़ देंगे क्योंकि विदेशी व्यापार किन सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिये इस सम्बन्ध में अमेरिकन दृष्टिकोण उनके विरुद्ध हैं । अमेरिकन सम्भवतः यह सिद्ध नहीं कर सकते—कि इस प्रकार के कारोबार से दुनियां का कुल व्यापार कम हो जावेगा । वे यह भी नहीं कह सकते कि उनसे संयुक्त राज्य अमेरिका को हानि होगी । ऐसा केवल इस असाधारण मान्यता पर ही कहा जा सकता है कि अमेरिकन निर्यात आधिक्य चाहे कितना ही क्यों न हो अमेरिकन सदैव अन्य देशों को भेंट स्वरूप या ऋण स्वरूप जितने द्रव्य की उन्हें खरीदने के लिए आवश्यकता होगी देने के लिए तैयार रहेंगे और अन्य देश यदि उन्हें भेंट के बजाय ऋण दिया जावे तो वे उसको आवश्यक मात्रा में स्वीकार करने को तैयार रहेंगे । जिसका परिणाम यह होगा कि उनकी भावी देनदारी बढ़ जावेगी । यह पागलों का अर्थशास्त्र है, फिर भी 1945 के पूर्व और पश्चात् संकट के वर्षों में यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में अमेरिका की दीर्घकालीन नीति का आधार प्रतीत होता था जबकि युद्धोत्तर व्यापारिक और मौद्रिक नीतियां निर्धारित की जा रही थीं । तब से अमेरिकनों को कठोर वास्तविकता के सामने अपने रुख को बदलने पर विवश होना पड़ा है परन्तु वही मान्यताएं उनके दीर्घकालीन विश्वासों की अब भी आधार बनी हुई प्रतीत होती हैं ।

महत्वपूर्ण बात यह है कि द्विदेशीय प्रवन्धों को विलकुल ही समाप्त न किया जावे परन्तु जब उनकी आवश्यकता हो तो उनका उपयोग इस प्रकार किया जावे कि वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सीमित करने के बजाय बढ़ावें । कभी कभी अर्थशास्त्री इस प्रकार की स्थिति की कल्पना करते हैं कि समस्त पृथ्वी एक आर्थिक क्षेत्र है जिसमें न केवल वस्तुएं परन्तु मनुष्य और पूंजी भी एक स्थान से दूसरे स्थान को केवल आर्थिक कारणों से राष्ट्रीय सीमाओं की नितान्त अवहेलना करके प्रवास करती है । इस प्रकार की स्थिति न कभी पहले रही और निश्चय ही न निकट भविष्य में कभी रहने वाली है । मनुष्य यह निश्चित करने में कि वे कहां रहें यदि कभी उन्हें ऐसा निर्णय करना ही पड़ता है तो केवल मात्र आर्थिक स्वार्थों से ही प्रभावित नहीं होते हैं । किसी भी सामाजिक पद्धति में जिससे अभी तक संसार परिचित है न अधिकांश मनुष्य वास्तव में आर्थिक लाभों को खोजने के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए स्वतन्त्र रहे हैं । यह किसी भी देश के लिए महत्वहीन बात नहीं हो सकती कि केवल शुद्ध आर्थिक आधार पर उसकी जनसंख्या को अन्य किसी स्थान पर इस लिए भेजा जाय या फिर उसको निश्चित रूप से जीवन का नीचा स्तर स्वीकार करना पड़े क्योंकि यदि उसकी जनसंख्या और उद्योग उसकी भूमि को छोड़ दें तो पृथ्वी का कुल धन अधिक हो सकता है । शायद भविष्य में किसी दिन प्रादेशिक सीमाएं समाप्त हो जावें और एक विश्व सरकार का जन्म हो । लेकिन ऐसा

होने पर भी क्या अंग्रेजों के लिये यह कोई महत्व की बात नहीं रहेगी कि इंग्लैंड की समृद्धि समाप्त हो जावे। आज भी उत्तरी वेल्स तथा स्काटलैंड के हाईलैंड प्रदेश के लोगों के साथ ऐसा नहीं है। सच तो यह है कि किन्हीं लोगों के साथ ऐसा नहीं है। विभिन्न राज्यों की प्रादेशिक सीमाओं के टूट जाने मात्र से राष्ट्रीय और स्थानीय भावनाएं समाप्त नहीं हो जावेंगी। न एक विश्व राज्य अपने समस्त प्रदेश में अधिकतम उत्पादन के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए अपने प्रत्येक भाग के हितों की अवहेलना ही कर सकता है। देशों को स्वयं अपने कल्याण तथा साथ ही विश्व के कल्याण की बात भी सोचनी होगी। यह अत्यन्त असम्भव होगा कि एक विश्व सरकार जिसने एक देश के कल्याण की इस कारण उपेक्षा की कि जिससे समस्त पृथ्वी का उत्पादन अधिकतम हो इतने लम्बे समय तक जीवित रह सके कि वह जान सके कि वह अपने उद्देश्य में असफल हो गई।

इसका यह कहने का अर्थ नहीं है कि प्रवास लाभदायक नहीं हो सकता। निश्चित ही वह लाभदायक हो सकता है। विशेषकर जहां कि तेजी से बढ़ती हुई जीवित रहने की दर है और भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता हुआ भार जनसंख्या को स्वेच्छा से प्रवास करने के लिये प्रोत्साहित करना एक बात है और, जनसंख्या को अपनी मातृभूमि से आर्थिक कारणों के बिना उनका निराकरण करने का प्रयत्न किए निकाल बाहर करना दूसरी बात है। आर्थिक विकास में निरन्तर स्थिति अनुकूल परिवर्तन करते रहने की जरूरत होती है। परन्तु बिना सामाजिक विनाश के देश जिस गति से अपने को उसके अनुकूल बना सकते हैं उसकी भी एक सीमा है। देशों को यह अधिकार है कि वे उन विश्व शक्तियों से अपनी रक्षा करें कि जिनका प्रभाव अत्यन्त बलवान है और वह अनुकूलता के युक्तसंगत उपायों से रोका नहीं जा सकता। यह परिवर्तन की दुनियां में एक प्रकार के संरक्षणवाद के पक्ष में मूलभूत दलील है। यह वह मामला है जिसका अहस्तक्षेप सिद्धान्त कोई निदान तो नहीं कर सकता केवल उसकी उपेक्षा भर करता है।

हमें यह मान लेना चाहिए कि संरक्षणवाद का—विशेष कर जहां शक्तिशाली निहित स्वार्थ मौजूद हैं और जो उसको समुदाय के लिए नहीं अपने लिए चाहते हैं—दुरुपयोग हो सकता है। परन्तु यह स्वीकारोक्ति कि दुरुपयोग होना सरल है लक्ष्य को छोड़ देने के पक्ष में तर्क नहीं हैं; परन्तु उसको अधिक अच्छी तरह प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने के पक्ष में हैं जिससे कि जनता के हितों की प्राप्ति हो सके। यदि कोटा, लाइसेंस, द्विदेशीय प्रवन्धों तथा विनिमय नियन्त्रों को सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रक्रिया और आर्थिक सम्बन्धों के एक भाग के रूप में स्वीकार करना है तो यह आवश्यक होगा कि यह सुनिश्चित कर लिया जावे कि इन तरीकों में जो भी कुछ किया जावे वह स्पष्ट रूप से सोचे हुए उत्पादन और व्यापार के राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं की आवश्यकता के अनुसार हो। वे योजनाएं अकेले में न बनाई

जावें वरन् अन्य देशों से जिनकी समान योजनाएं हैं निकट परामर्श करके इस प्रकार बनाई जावें कि विभिन्न देशों के आयोजकों में अधिकतम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित हो सके ।

ग्रेट-ब्रिटेन इस क्षेत्र में जो कुछ वह मुद्रा के मूल्यों को निश्चित करने के क्षेत्र में कर सकता था उससे अधिक कुछ नहीं कर सकता । वह अपनी राष्ट्रीय नीति को निर्धारित करने की स्वतन्त्रता नहीं छोड़ सकता और न वह विश्व अहस्तक्षेप पद्धति को ही स्वीकार कर सकता है जिसका कि आज की स्थिति में अर्थ होगा अमेरिका का अधिराज्य । फिर भी ग्रेट-ब्रिटेन और अन्य देशों से—लगातार केवल धनी अमेरिकनों की प्रसंगोक्ति पर कि कल्याण को अधिकतम करने का यही मार्ग है, या अमेरिकन व्यापारिक स्वार्थों के इस आश्वासन पर कि यदि अन्य देश और विशेषकर ग्रेट-ब्रिटेन विश्व को निजी उद्योग के लिए सुरक्षित बनाने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में राज्यों के हस्ताक्षेप के खतरे के विरुद्ध उनसे सहयोग करें तो वे उनके साथ अच्छा व्यवहार करेंगे—ठीक यही करने को कहा जा रहा है ।

आंशिक रूप से विभिन्न देशों में व्यक्तियों के बीच असंगठित स्वतंत्र खरीद विक्री के रूप में और आंशिक रूप से आवश्यक आयातों की इकट्ठी खरीद के वास्ते संगठित सौदों के रूप में जो कि अब या तो ब्रिटेन के निर्यात विशेषों से सीधे विनिमय किए जाते हैं अथवा जिनका परोक्ष रूप से अधिक विभिन्न निर्यातों से विनिमय किया जाता है और जिसके लिए माल भेजने वालों के पक्ष में ग्रेट-ब्रिटेन में साख खोल दी जाती है ग्रेट-ब्रिटेन का भावी व्यापार अब इसी नींव पर आधारित है । ऐसी मिली जुली पद्धति के बहुत लाभ हैं उसके कारण इकट्ठे आयातों के लिए बाजार को दीर्घकालीन करार (संविदा) के द्वारा स्थिरता प्रदान करना सम्भव होता है, जिससे कि माल भेजने वाले देश आगे के लिए उत्पादन की योजना बना सकें । उससे सम्बन्धित वस्तुओं के मूल्य और उत्पादन दोनों स्थिर होते हैं । इससे माल भेजने वालों को यह आश्वासन मिलता है कि उन्हें अपनी वस्तुओं का मूल्य उन वस्तुओं में मिलेगा जिनकी वास्तव में उन्हें आवश्यकता है और वे उस मूल्य पर मिलेंगी जिनके निश्चित करने में उनका भी हिस्सा होगा । इस पद्धति को कुल आयात और निर्यात के सूक्ष्मांश से अधिक के लिए लागू करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि आयोजित इकट्ठे आयात और उसके विनिमय के लिए आयोजित इकट्ठे निर्यात की विक्री की सफलता के लिए बड़े अनायोजित मार्जिन (छूट) की अनिवार्य आवश्यकता है । सम्पूर्ण क्षेत्र के कितने बड़े भाग पर इस प्रकार का प्रबन्ध होना चाहिए या वह कितने देशों के साथ लागू होना चाहिए यह कौन कह सकता है । मूल बात यह है कि ग्रेट-ब्रिटेन अमेरिकनों के साथ किसी दीर्घकालीन व्यापारिक

अथवा मौद्रिक बन्धन-सौदों को नहीं कर सकता जिनके कारण बिना अन्तर्राष्ट्रीय वचनों को तोड़े उसको इस प्रकार के प्रयोग कर सकना असम्भव हो जावे ।

यहां उन तर्कों को विस्तार से दोहराने की आवश्यकता नहीं है जिन्हें मैंने दस वर्षों पूर्व उपस्थित किया था । उन्हें अत्यन्त संक्षेप में वर्णन करना ही काफी है ।* 1936-38 के वर्षों में औसत ब्रिटिश आयातों का मूल्य 86 करोड़ 60 लाख पाँड था और ब्रिटेन के शुद्ध निर्यातों का मूल्य 47 करोड़ 80 लाख पाँड था । दिव्यता हुआ विपरीत व्यापार का अन्तर 38 करोड़ 80 लाख पाँड था । विदेशों में लगी हुई पूंजी पर मूद्र और लाभार्थ से यह घाटा लगभग 20 करोड़ 30 लाख पाँड कम हो जाता था और जहाजी और वित्तीय सेवाओं से 14 करोड़ 50 लाख पाँड और कम हो जाता था । इस प्रकार शुद्ध घाटा 4 करोड़ पाँड का रहता था जो या तो ऋण लेकर पूरा हो सकता था अथवा विदेशों में लगी ब्रिटिश पूंजी को वापस देश में लौटाने से हो सकता था । इन आयातों में मुख्यतः खाद्य पदार्थ कच्चा मान तथा वीच की वस्तुएं थीं जो उद्योग धंधों के लिए आवश्यक थीं । तैयार मान इनका एक बहुत थोड़ा सा अनुपात होता था । 1938 के पश्चात् विदेशों में लगी पूंजी से होने वाली आय का बहुत बड़ा भाग समाप्त होगया और बहुत बड़ी मात्रा में नया विदेशी ऋण लिया गया । इसके अतिरिक्त युद्ध के पूर्व के मूल्यों पर आयात निर्यात की अपेक्षा सस्ते थे । इसका अर्थ यह कि तकनीकी भाषा में व्यापार की शर्तें ब्रिटेन के पक्ष में थीं । 1945 के पश्चात् पहले की अपेक्षा जहां तक खाद्य पदार्थ और कच्चे माल का सम्बन्ध है वे बहुत कम पक्ष में हैं । दुनियां के हित की दृष्टि से यह एक अच्छी बात है । क्योंकि पृथ्वी के बहुत से मुख्य उत्पादकों का बुरी तरह शोषण किया गया है और उनको सापेक्षिक अच्छे मूल्य मिलने चाहिए । परन्तु इसका अर्थ यह है कि युद्ध के पूर्व की मात्रा में आयात करने के लिए अधिक ब्रिटिश निर्यात की आवश्यकता होगी । अधिक निर्यातों के लिए अधिक आयात वस्तुओं की आवश्यकता होगी । क्योंकि कोयले को छोड़कर निर्यातों का एक तिहाई मूल्य उन वस्तुओं का होता है जो उन निर्यातों को तैयार करने के लिए आयात की जाती हैं, उनको बनाने समय जो इस देश में मूल्य वृद्धि होती है उसका नहीं । पूर्ण रोजगार और सामाजिक सुरक्षा दोनों का अर्थ है कि उद्योगों में उपयोग के लिए कच्चे माल की और अधिक मांग होगी और खाद्य पदार्थों तथा अन्य वस्तुओं का और अधिक उपभोग होगा । 1942 में यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं थी कि युद्ध के उपरान्त ग्रेट-ब्रिटेन को पूंजी निर्यात करने (एक्सपोर्ट कैपिटल) के अलावा शुद्ध निर्यातों को 1938 के मूल्यों पर 47 करोड़ 80 लाख पाँड से बढ़ाकर एक अरब पाँड करना होगा ।

*सम्पूर्ण तर्कों के लिए 'ग्रेट-ब्रिटेन इन पोस्टवार वर्ल्ड' (नोवेंबर 1942) देखिए ।

वहुत वर्ष हो गये जब से मैंने अनआयोजित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विरुद्ध आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पक्ष समर्थन करना आरम्भ किया था और अनियंत्रित पूंजीवादी उद्यम के भक्तों के विरुद्ध इस प्रकार के आयोजन के लिये खुली छूट बनाए रखने के महत्व पर बल दिया था। युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों से मैंने लगातार इस पर बल दिया था। साथ-साथ यह प्रयत्न और किया कि ब्रिटेनवासी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं की पूर्ण गम्भीरता से अवगत हो जावें। 1942 में मैंने जब कहा था कि ब्रिटेनवासियों के जीवन स्तर को बनाये रखने के लिये कम से कम युद्ध पूर्व के निर्यातों को दुगना करना होगा तो बहुतों ने मुझ पर चरम सीमा की अतिशयोक्ति करने का दोषारोपण किया था। उस समय यह सामान्य धारणा थी कि 50 या 60 प्रतिशत वृद्धि आवश्यकता को पूरा करने के लिये यथेष्ट होगी। किन्तु मैं अपनी बात पर दृढ़ रहा और बहुत समय हो गया जबकि यह पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया कि मैं ठीक था। युद्ध के पश्चात ब्रिटिश आयातों की मात्रा की युद्ध पूर्व के आयातों से तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि जिस आधार पर सांख्यिकी को एकत्रित किया जाता है वही बदल गया है। परन्तु यह गलत नहीं होगा कि 1953 तक युद्धोत्तर आयातों की मात्रा केवल एक वर्ष 1951 में 1938 की मात्रा के आस-पास पहुँची और उस वर्ष भुगतान के अन्तर का घाटा जो 1950 में आयात वस्तुओं के स्टॉक में बहुत कमी हो जाने के कारण समाप्त हो गया था बहुत अधिक ऊँचा चढ़ गया। 1951 के बहुत अधिक आयात वास्तव में कोरिया युद्ध के छिड़ जाने से युद्ध के भय के कारण स्टॉक के इकट्ठा हो जाने से हुये थे। वे नितान्त असाधारण आयात थे। 1953 तक अन्य युद्धोत्तर वर्षों में आयातों का वास्तविक स्तर 1939 के पूर्व के वर्षों से बहुत नीचे था फिर भी इस गिरे हुये स्तर पर अमेरिका की सहायता के बावजूद आयातों का मूल्य चुकाने में बहुत अधिक कठिनाई हुई, विशेषकर डालरों में। यह निर्यातों की मात्रा में वृद्धि होने के बावजूद थी जो 1950 तक 60 प्रतिशत 1938 के स्तर से अधिक हो गये थे। यद्यपि वे पुनः 1952-53 में उक्त स्तर से नीचे गिर कर लगभग 50 प्रतिशत रह गये।

1951 तक ब्रिटिश निर्यातकों को साधारणतया विक्रेताओं का बाजार लाभ प्राप्त होता रहा। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि जो कुछ भी बेचने को उनके पास था उसको वे लाभदायक कीमतों पर बेच सके। यद्यपि निर्यात विक्री देश के अन्दर विक्री के समान सदैव उतनी लाभदायक नहीं थी। 1951 के उपरान्त निर्मित वस्तुओं का बाजार अत्यधिक स्पर्द्धामय हो गया क्योंकि बहुत से देशों ने अपने भुगतान के अन्तर के संकट का सामना करने के लिए आयातों को अनियंत्रित कर दिया, जर्मनी और जापान अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के बहुत से भागों में गम्भीरतापूर्वक पुनः वापस लौटकर आ गये थे इस स्थिति के विरुद्ध जबकि अमेरिका की सहायता तेजी से

कम की जा रही थी और निकट भविष्य में उसको विलुप्त समाप्त कर दिया जाने का खतरा था यह सोचना असंगत आशावादिता थी कि विश्व-बाजार में जिस पर अमेरिका का प्रभुत्व स्थापित हो ग्रेट ब्रिटेन बिना इस बात का विशेष प्रयत्न किए कि वह उन देशों से जितना सम्भव हो अपने आवश्यक आयातों को प्राप्त करे जो उनके बदले ब्रिटिश वस्तुओं को लेने को तैयार हों—अपने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की संतुलित करने की कठिनाईयों से बचने की आशा कर सकता था फिर चाहे समस्त पृथ्वी पर अधिकांश देश आर्थिक राष्ट्रवाद के आधार पर नहीं बरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्तर को उठाने के लिए अन्य देशों से स्वेच्छा पूर्वक सहयोग करने की तैयारी के आधार पर पूर्ण रोजगार की नीतियों का सक्रिय रूप से अनुसरण करते और इसके सिवाय यदि संयुक्तराज्य में कोई विपरीत प्रभाव प्रगट न होते। परन्तु इन सब शर्तों के पूरी होने पर कौन भरोसा कर सकता था। इनमें से पहली शर्त के भी उस समय तक पूरे होने की कोई सम्भावना नहीं है जब तक कि अधिकांश देशों में राज्य स्वयं राष्ट्रीय आर्थिक आयोजन में केवल सक्रिय भाग ही नहीं लेता साथ ही वह अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन के लिए परस्पर संबंध भी स्थापित करता है—अर्थात् अन्य देशों से इकट्ठी वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय का निश्चित आश्वासन होता है। जैसे ही आयोजना शुद्ध राष्ट्रीय श्रेणी से आगे बढ़ती है उसमें जिसे हम द्विदेशीयवाद कहते हैं उसका अंश विद्यमान हो जाता है। यदि आयोजना को राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता के मार्ग पर चलने पर विवश किया जावे तो उसका परिणाम दुःखद होगा। क्योंकि उसको एक विश्व ढाँचे में रहना होगा कि जिसमें एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच सब प्रकार के संविदा या समझौते भ्रामक विश्व व्यापारी विनिमय स्वतंत्रता के नाम पर वजित हैं। यदि ग्रेट ब्रिटेन से अधिक दृष्टिसे पिछले देशों के आर्थिक विकास के लिए उनको पूँजी निर्यात करने में सक्रिय भाग लेने की आशा की जाती है तो ग्रेट ब्रिटेन के दृष्टिकोण से यह तर्क और भी मजबूत हो जाता है। ग्रेट ब्रिटेन किस प्रकार पूँजी का निर्यात कर सकता है जब तक कि आयातों का पूरा मूल्य निर्यातों से नहीं चुका दिया जाता और जब तक कि ब्रिटेन के विदेशी ऋणों को चुकाने की व्यवस्था नहीं कर दी जाती। पूँजी के निर्यात में यह ध्वनि है कि निर्यातों का आयातों पर आधिक्य हो। जिसमें अदृश्य आयात और निर्यात भी शामिल हों। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन अभी इस प्रकार के आधिक्य की आशा कर सकता है जब कि युद्ध पूर्व के निर्यातों को दुगना करने का कठिन कार्य वह नफान्नापूर्वक पूरा करे। ग्रेट ब्रिटेन उन वस्तुओं को पूँजी ऋण के रूप में निर्यात नहीं कर सकता जिन्हें खरीदार खरीदेंगे और यदि ब्रिटेन की ओर से उन्हें ऋण न दिया जाय तो उसके मूल्य को चुकाने के साधन हूँद निकालेंगे। ग्रेट ब्रिटेन जो कुछ निर्यात करता है उसके मूल्य का भुगतान उसे उस बिन्दु तक चाहिए कि जो उसके अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के खातों को संतुलित कर दे। इन में कोई नदेह नहीं कि ग्रेट ब्रिटेन

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का अन्तर उसके ऋण तथा उपहार में देता रहा है। किन्तु यह या तो अमेरिका के दिए हुए उपहारों में से अथवा विदेशों में दीर्घकालीन और अल्पकालीन ऋण लेकर वह कर सका। यदि अमेरिकन भविष्य में ग्रेट ब्रिटेन को उसके निर्यातों की मांग बढ़ाने के लिए विदेशों में विनियोजन करने के लिए मुद्रा का ऋण देने को तैयार भी हों—जो एक असम्भव मान्यता है—तो क्या ग्रेट-ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका से और अधिक ऋण लेने की स्थिति में है और क्या उसको चुका सकने की कोई वास्तविक आशा है। इस सब का निष्कर्ष यह है कि एक बिन्दु तक द्विदेशीयवाद न तो बुरा है और न प्रतिवन्धात्मक है जैसा कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने उसे बताने का प्रयत्न किया है। उसका उपयोग व्यापार को बढ़ाने के लिए साथ ही उसको सीमित करने के लिए भी किया जा सकता है। और कठिन समयों में व्यापार को बढ़ाने के लिए एक साधन के रूप में उसमें बहुत सी अच्छाईयों के होने की सम्भावना है। अथवा कम से कम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संकुचन के विरुद्ध यह एक सुरक्षा का साधन तो है ही। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिए यह एक अत्यन्त मूर्खता पूर्ण बात होगी कि वे अपने को इस प्रकार बांध लें कि उसका उपयोग ही न कर सकें। अमेरिकनों के लिए उसको यह कह कर कि यह विभेदात्मक रीतियाँ हैं अवज्ञापित करना सरल हैं क्योंकि उनके भुगतान के अन्तर की स्थिति उन्हें उन रीतियों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं करती। किन्तु बहुधा वास्तविक उद्देश्य विभेद को दूर करना नहीं होता वरन राज्य द्वारा व्यापार के मार्ग में रुकावट डालना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग को नियंत्रित करने के लिए सरकारें जो पूर्ण रोजगार की नीतियों को अपनाती हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय आधार पर योजना बनाने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकतीं क्योंकि उनकी योजना के अन्तर्गत निर्यात और आयात तथा देश में उपयोग के लिए देश में उत्पादन आना ही चाहिए। द्विदेशीयवाद के आयंत्रित स्वरूप के और सामान्यजन हितों के अनुकूल न होकर स्थिर स्वार्थों के हितों के अनुकूल किए जाने वाले सौदों के विरुद्ध हम अवश्य सावधानी रखें परन्तु बहुदेशीयवाद के नाम पर हमें ऐसे नियमों को स्वीकार करने के जाल में नहीं फँस जाना चाहिए कि जिनके कारण हमारे लिए अपने जीवन स्तर को बनाए रखने के लिए आवश्यक आयातों को बनाए रखना असम्भव हो जावे। या फिर संतोषजनक श्रम विभाजन के आधार पर पूर्ण रोजगार की योजना बनाना असम्भव हो जाय।

विदेशी विनियोजन और पिछड़े देशों का विकास

अब हम राष्ट्रों की सीमा के आर पार दीर्घकालीन पूंजी-विनियोजन की समस्याओं का अध्ययन करेंगे। जब एक देश दूसरे देश को पूंजी उधार देता है तो उसका प्रभाव यह होता है कि क्रय शक्ति ऋण देने वाले देश से ऋण लेने वाले को स्थान्तरित हो जाती है। ऋण चाहे किसी भी देश की मुद्रा में दिया जा सकता है और कभी कभी वह तीसरे देश की मुद्रा में भी दिया जाता है। यदि ऋण देने वाले देश की मुद्रा में दिया जाता है और यदि उस द्रव्य को ऋण देने वाले देश में वस्तुओं को खरीदने में व्यय किया जाता है तो उन वस्तुओं में शामिल आयात सामग्री का मूल्य चुकाने और यदि वस्तुओं को लाने में विदेशी यातायात एजेंसी का उपयोग किया गया है तो उनकी सेवाओं का मूल्य चुकाने के अतिरिक्त और कोई मौद्रिक समस्या उत्पन्न नहीं होती। इन चीजों के अलावा ऋण वस्तुओं के रूप में बाहर जाता है और वस्तुओं के अलावा मुद्रा को उस देश में बाहर जाने की जरूरत नहीं होती। किन्तु यह कभी भी पूरी तरह से घटित नहीं होता। पूंजी को उधार देने वाले अवश्य ही ऋण का कम से कम एक भाग अपने देश में वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय करना चाहेंगे और सम्भवतया एक दूसरा भाग अन्य देशों में वस्तुएं खरीदने के लिए व्यय करना चाहेंगे। अतएव वे थोड़े ऋण को अपनी मुद्रा में और कुछ को अन्य देशों की मुद्रा में बदलना चाहेंगे। यदि ऋण लेने वाले देशों की मुद्रा में दिया गया है तो ऋण देने वाले देश की मुद्रा को ऋण लेने वाले की मुद्रा में बदलने की समस्या तत्काल उत्पन्न हो जावेगी। यद्यपि उसमें से कुछ भाग पुनः वापस ऋण देने वाले देश को लौट सकता है यदि ऋण का एक भाग उस देश में बनी वस्तुएं खरीदने पर व्यय किया जावे। यदि ऋण-देने वाले देश की मुद्रा में साख के रूप में दिया गया है तो साख का वह भाग जो कि वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में बाहर नहीं ले जाया जावेगा उसे किसी अन्य मुद्रा में बदलने की जरूरत होगी। या तो ऋण लेने वाले देश की मुद्रा में या फिर उस देश की मुद्राओं में उनको बदलने की आवश्यकता होगी जहां से वस्तुएं और सेवाएं उस ऋण की रकम में ले खरीदनी हैं।

इस प्रकार पूंजी के निर्यात के कारण जिस नीमा तक ऋण उस देश में पैदा हुई सामग्री से बनी हुई वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय नहीं किया जाना उसनी पूर्ण मात्रा तक उनका देने वाले देश के विनियम पर दबाव पड़ता है। उन्मा अर्थात् यह

है कि एक देश उसी सीमा तक दीर्घकालीन ऋण का निर्यात कर सकता है जिस सीमा तक या तो (अ) चालू खाते में अदृश्य वस्तुओं को मिलाकर उसको आयातों के ऊपर निर्यातों का आधिक्य प्राप्त हो, (क) या ऋण को देने का वह इस प्रकार प्रवन्ध करे कि देने वाले देश से ऋण वस्तुओं और सेवाओं के रूप में दिया जावे (ख) या वह किसी अन्य देश से पूंजी का ऋण प्राप्त कर उसे पुनः निर्यात कर सके ।

कभी कभी होता यह है कि एक देश विदेशों के अल्पकालीन कोप जो उस देश के द्रव्य बाजार में जमा हैं वह उसमें से दीर्घकालीन ऋण दे देता है । तब कहा जाता है कि वह अल्पकालीन ऋण लेता है और दीर्घकालीन ऋण देता है । यह व्यवहार भयंकर होता है क्योंकि दीर्घकालीन ऋण में दी हुई पूंजी को वापस बुला सकने के बहुत पहले ही अल्पकालीन ऋण वापस बुला लिए जा सकते हैं । 1931 में ग्रेट ब्रिटेन इसमें फँस गया । वह इस कठिनाई में इतना इस कारण नहीं फँसा कि ब्रिटिश वित्तप्रबंधक जान बूझ कर अल्पकालीन कोप को लम्बे समय के लिये दे रहे थे वरन् वह इस कारण फँसा कि वह ऋण जो अल्प सूचना पर प्रतिसंहार्य माने जाते थे । (जैसे जर्मनी को दिए गए ऋण) आर्थिक अवसाद के कारण प्रतिसंहार्य प्रमाणित नहीं हुए । वास्तव में जर्मन लोग व ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका से प्राप्त अल्पकालीन ऋणों को लम्बे समय के लिए पुनः दे रहे थे, और जब जर्मनी ने उन रकमों के पुनः भुगतान को रोक दिया तो पहले के अल्पकालीन ऋण दाताओं ने पाया कि उनको उनकी इच्छा के विरुद्ध दीर्घकालीन ऋणदाता में परिणित कर दिया गया ।

अस्तु लम्बे समय के लिये विदेशों को ऋण उस पूंजी में से दिया जाना चाहिए जिसको ऋणदाता यथेष्ट लम्बे समय के लिए फँसाने के लिए स्वतंत्र हों । इसका अर्थ यह नहीं है कि क्योंकि एक व्यक्ति या कम्पनी लम्बे समय के लिए ऋण दे सकती है या विनियोग कर सकती है और यह अनुभव करती है कि वह द्रव्य को लम्बे समय के लिए फँसा देने की स्थिति में है तो वह देश भावी ऋणदाता जिसका निवासी है उसको लम्बे समय के लिए विदेशों में विनियोजन करने दे । वहाँ विदेशी विनियोजन और देश के अन्दर विनियोजन में अन्तर है । देश के अन्दर वचतों की मात्रा जो विनियोजन के लिए है, और एक देश की विदेशों में विनियोजन क्षमता में कोई अनिवार्य सम्बंध नहीं है । जब एक देश, या कोई व्यक्ति, या कम्पनी अपनी सीमा के अन्दर अपनी पूंजी का एक भाग विदेशों में विनियोजन के उपयोग के लिए अलग रखता है तो राज्य सरकार या उस देश के केन्द्रीय राष्ट्रीय बैंक को देश की मुद्रा के बदले उस विदेशी मुद्रा को देने की व्यवस्था करने का भार अपने ऊपर लेना पड़ता है जिनकी विनियोजन के लिए आवश्यकता हो । विदेशी मुद्रा की पूर्ति जो इस कार्य के लिए उपलब्ध की जा सकती है वह सम्बंधित देश में कितनी वचत की जा रही है

इस पर विलकुल भी निर्भर नहीं होती। वह भुगतान के अन्तर की स्थिति पर निर्भर होती है जो कि विलकुल ही भिन्न बात है। यदि किसी देश के निर्यात जिनमें चालू खाते के अदृश्य निर्यात भी शामिल हों उसके आयातों जिनमें उसी प्रकार अदृश्य आयात शामिल हों—से अधिक हों तो वास्तव में अल्पकालीन पूंजी का निर्यात हो रहा है। चाहे फिर किसी ने उसकी योजना की हो या न की हो। यदि यह उस देश के और उसके राष्ट्रियों की विदेशों में दीर्घकालीन विनियोजन की तत्पत्ता से अधिक है तो इसका प्रभाव यह होता है कि उसके बैंक इच्छा अथवा अनिच्छा से अल्पकालीन विदेशी विनियोजन करते हैं। ऐसा वे या तो विदेशी बैंकों में शेष के रूप में विदेशी मुद्रा के स्वामी बनकर अथवा विदेशों में अल्पकालीन द्रव्य बाजार में विनियोजन करके करते हैं। इस प्रकार के शेष यदि कर्जदार देश इस कार्य के लिये स्वर्ण बेच सकने की स्थिति में हैं—तो स्वर्ण में चुकाए जा सकते हैं। अथवा उनका उपयोग साहूकार देश में आयात करने के लिए वस्तुएं खरीदने में किया जा सकता है। यदि उनका इस प्रकार परिशोधन नहीं किया जाता तो उनको किसी प्रकार चुकाया ही नहीं जा सकता और वह राशियां या तो विदेशों में अल्पकालीन शेषों के रूप में बनी रहेंगी और समय समय पर जब नवीकरण की आवश्यकता हो उनका नवीकरण किया जावेगा अथवा उनको दीर्घकालीन विदेशी विनियोजन में परिणित कर दिया जावेगा।

यह वस्तु स्थिति का पूरा लेखा नहीं है। यदि एक देश का चालू भुगतान का अन्तर पक्ष में है अथवा विपक्ष में है तो उसके अन्तर की स्थिति पर विदेशों को पूंजी ऋण देने से कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा—शर्त यह है कि पूंजी का नमस्त ऋण ऋणदाता देश में बनी हुई वस्तुओं और सेवाओं के अतिरिक्त निर्यात के रूप में जाता है। उसका अर्थ यह हुआ (अ) यदि निर्यात स्वयं उसकी उत्पादित वस्तुओं का है तो साहूकार देश पूंजी निर्यात करके अपने अनुकूल व्यापार के अन्तर को समाप्त नहीं कर सकता। क्योंकि उस प्रकार के निर्यात खाते के दोनों ओर निम्ने जावेंगे और व्यापार का अन्तर अप्रभावित रहेगा (क) एक ऋणी देश पूंजी का निर्यात चालू भुगतान का अन्तर प्रतिकूल होने पर भी उस सीमा तक जित सीमा तक वह देश में बनी हुई वस्तुओं के रूप में अतिरिक्त निर्यात करता है—कर सकता है। यह सच है कि इस प्रकार के देश का कोई शुद्ध विदेशी विनियोजन दिग्गदाई नहीं देगा क्योंकि उसका पूंजी निर्यात अन्तिम आंकड़े बनाते समय चालू खाते में घाटे के विरुद्ध लिखा जावेगा। लेकिन इतना होने पर भी वह कुछ देशों को पूंजी का निर्यात करता है जबकि अन्य देशों से वह ऋण लेता है। नाजीकाल ने एवं जर्मनी पूर्वीय योरोप को पर्याप्त पूंजी ऋण देता था और साथ ही बहुत से वर्षों में चालू खाते में उसके घाटा था और बहुत बड़ी मात्रा में वह विदेशी पूंजी उपार लेता था। वास्तव में वही उसकी पूंजी ऋण दे सकने की क्षमता के श्रोत थे।

1931 के अवसाद या मंदी के पूर्व जर्मनी के लिए यह सम्भव था क्योंकि जर्मन बैंक विदेशी पूंजी उधार ले सकते थे और पुनः ऋण देने में उपयोग कर सकते थे। इस प्रकार के पूंजी ऋणों को छोड़कर जिस देश को चालू भुगतान में घाटा है उसके लिए वास्तव में यह सम्भव ही नहीं है कि वह विदेशी विनिमय की स्थिति को पूंजी निर्यात करके अप्रभावित छोड़ दे। क्योंकि पूंजी निर्यात कभी भी पूरा का पूरा केवल ऋण देने वाले देश में उत्पन्न अतिरिक्त वस्तुओं और सेवाओं के रूप में ही नहीं जाते हैं। उस दशा में भी जब कि सम्पूर्ण ऋण या उसका पर्याप्त भाग 'बंधा' हो अर्थात् वह केवल ऋण देने वाले देश में उत्पन्न वस्तुओं पर ही व्यय किया जावेगा—उन वस्तुओं के उत्पादन में अवश्य कुछ सामग्री ऐसी लगेगी जो अन्य देश में उत्पन्न होती है। ऋण का एक भाग बहुत करके भाड़ा व्यय को पूरा करने के लिए व्यय होगा उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह वस्तुएं ऋण देने वाले देश के जहाजों में भेजी जावें। विदेशी ऋण फिर वह चाहे कितना ही बंधा हुआ क्यों न हो उसके कारण व्यवहार में सदैव ही ऋण देने वाले देश के बैंकों से कुछ अतिरिक्त विदेशी विनिमय की मांग होगी और वह उसके विदेशी विनिमय पर कुछ शुद्ध भार डालेगा।

यह ठीक है कि यह सिद्धान्त विपरीत स्थिति में लागू होता है। यदि एक देश जिसका चालू खाते में भुगतान का अन्तर उसके पक्ष में है दीर्घकालीन ऋण देता है और उसको इस प्रकार बांध देता है कि उस ऋण का उपयोग केवल उसकी अपनी उत्पादित वस्तुओं के खरीदने में किया जा सकता है और वह इस बात का आग्रह करता है कि वह वस्तुएं उसके ही जहाजों में ले जाई जावेंगी फिर भी उस तैयार माल में जो ऋण देने के फलस्वरूप निर्यात किया गया है कुछ आयात सामग्री अवश्य लगी होगी अस्तु ऋण का कुछ भाग उसके अनुकूल चालू भुगतान को कम कर देगा। किन्तु जब विशेषकर वह देश मुख्यतः देश में उत्पन्न सामग्रियों का ही उपयोग करता है तो विदेशी वस्तुओं पर व्यय होने वाला ऋण का भाग बहुत कम होगा। यह विशेषकर दुर्भाग्यपूर्ण है जबकि वे देश जिनका चालू अन्तर पक्ष में है अपने ऋण के साथ 'बंधन' लगाने का आग्रह करते हैं, और इस प्रकार उनमें से सूक्ष्मांश को छोड़कर अधिकतर देशों को अपने अन्तर्राष्ट्रीय खाते को समान करने से रोकते हैं। ठीक यही संयुक्त राज्य अमेरिका करता आ रहा है—उदाहरण के लिए आयात निर्यात बैंक ने जो ऋण दिए वह इसी प्रकार के थे।

एक और भी उलझन है अभी तक जो कहा गया उसमें यह मान लिया गया है कि जब वस्तुएं विदेशी ऋण की रकम से खरीदी जाती हैं तो जो विक्री की गई है वह अतिरिक्त विक्री है और यदि उनकी वित्तीय व्यवस्था करने के लिए ऋण न दिया जाता तो कोई विक्री नहीं होती। व्यवहार में अधिकतर ऋण के द्वारा जो

खरीद की जाती है उनमें से कुछ खरीद बिना ऋण दिए भी की जाती और अतिरिक्त खरीद के रूप में जो शुद्ध परिणाम आता है वह ऋण से कम होता है। वह विशेषकर उन देशों के बारे में लागू होता है जिनके पास विदेशी विनिमय की कमी है। यदि एक देश जिसके चालू भुगतान के अन्तर में घाटा है एक विदेशी ऋण देता है तो उसके प्रभाव का एक अंश यह होगा कि उसके उन निर्यातों के मूल्य का भुगतान नहीं होगा जो कि यदि ऋण न दिया जाता तो बिक जाते और उनका भुगतान हो जाता। इससे ऐसे देश कि जिसका विदेशी व्यापार में चालू घाटा है उसके विदेशी ऋण देने की क्षमता संकीर्ण रूप से सीमित हो जाती है। यदि वह विदेशी ऋण देता है तो उसका अन्तर तीन स्पष्ट तरीकों से उसके विरुद्ध हो जावेगा। (अ) ऋण के किसी भाग को इस प्रकार व्यय करना जिससे कि ऋण देने वाले पर अतिरिक्त विदेशी विनिमय की सीधी मांग उत्पन्न हो जावे। (क) देश में निमित्त वस्तुओं जिन पर ऋण व्यय किया जावे उनको तैयार करने में काम आने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त आयात का मूल्य चुकाने की आवश्यकता के कारण (ग) ऋण न देने की दशा में भी जिन वस्तुओं को खरीदा जाता और उनका मूल्य चुकाया जाता उस विदेशी मुद्रा की हानि के कारण।

यह हम देख चुके हैं जबकि एक देश अथवा उसके नागरिक विदेशों में विनियोजन करते हैं तो उसके परिणाम स्वरूप उस देश के केन्द्रीय बैंक को जितनी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है देनी पड़ती है। यदि देश के पास विदेशी मुद्रा की कमी है तो केन्द्रीय बैंक ऐसा कर सकने की स्थिति में नहीं होता है और जता कि हम देख चुके हैं देश अपने नागरिकों द्वारा विदेशों में विनियोजन पर नियंत्रण और रोक लगाने के विभिन्न तरीकों को प्रयोग में लाता है।

आने वाले कुछ समय तक संयुक्त राज्य अमेरिका ही एकमात्र ऐसा देश होगा जिसको चालू सौदों अर्थात् चालू विदेशी व्यापार से विदेशी विनिमय का आधिक्य प्राप्त होगा और जो विदेशों में विनियोजन के लिए उपलब्ध होगा। परन्तु ऐसे देश हैं जिनके पास युद्ध काल में वस्तुओं और सेवाओं को देने के फलस्वरूप जिनका भुगतान वस्तुओं अथवा स्वर्ण में न किया जाने के कारण विदेशी विनिमय की बहुत बड़ी राशि एकत्र हो गई। भारत इनमें सर्वोपरि है, निकट पूर्व तथा मध्य पूर्व के राज्य, आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अमेरिका के कुछ राज्य तथा ब्रिटिश उपनिवेशों के कुछ प्रदेशों को इन वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य केवल उस अर्थ में चुकाया गया कि जो खसम उनको देनी थी वह उस देश की मुद्रा में जिसने वस्तुएं और सेवाएं खरीदी थीं जमा कर दी गई। वे 'स्टैलिंग वैलेंस' जो कि लंदन में उन देशों के नाम जमा थे उनका उपयोग वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने में नहीं किया जा सकता था उनका वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने में उसी सीमा तक उपयोग किया जा सकता था कि

जितने स्टर्लिंग वैंलैस को वस्तुओं के खरीदने के लिए मुक्त किया जाता। युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन भारी स्टर्लिंग ऋण के भार को लेकर निकला। चालू भुगतान का अन्तर विपक्ष में होने के कारण उसके लिए उस ऋण को चुका सकने का प्रश्न ही नहीं उठता था। उसका भुगतान केवल बहुत ही धीरे धीरे या तो ब्रिटिश माल के निर्यात के रूप में अथवा अन्य देशों की मुद्राओं में उसका विनिमय करके दिया जा सकता था जिससे उसका उपयोग अन्य देशों में और सेवाओं को खरीदने में किया जा सके। कुछ समय के लिए यह स्टर्लिंग वैंलैस 'रोक' दिए गए और संबंधित देशों की अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए ही उनकी अविलम्ब मांग पर कुछ रकम मुक्त की जाती थी। जब उधार पट्टा को समाप्त किया जा रहा था 1945-46 में संयुक्त राज्य अमेरिका से ऋण लेने का प्रयत्न किया जा रहा था तब संयुक्त राज्य अमेरिका ने ब्रिटेन को दवाया कि वह अपने स्टर्लिंग लेनदारों से व्यवस्थापन करले। जिसके अन्तर्गत इन ऋणों के एक भाग का अपलेखन हो जाता* परन्तु संबंधित देशों में से बहुत से निर्धन थे, उनको अपने विकास के लिए अविलम्ब पूंजी की आवश्यकता थी, साथ ही उनको चालू भुगतान सम्बंधी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था—उनके लिए यह अप्राकृतिक नहीं था कि उन्होंने अपने दावों (ऋणों) को कम करना अस्वीकार कर दिया और कुछ वर्षों में धीरे धीरे मुद्रा को मुक्त करने का समझौता करके अपने भुगतान पर रोक लगी रहना स्वीकार करना पसंद किया।

उन समझौतों के अनुसार युद्ध की समाप्ति के बाद भुगतान का अन्तर प्रति-कूल होने पर भी ग्रेट ब्रिटेन धीरे धीरे युद्धकालीन ऋणों को चुका रहा है। किन्तु बड़ी मात्रा में चुका देने पर भी 1945 की अपेक्षा 1953 के अन्त में कुल स्टर्लिंग वैंलैस में 50 करोड़ पाँड की वृद्धि हो गई। 1948 और 1952 के वर्षों को छोड़ कर युद्ध के बाद प्रत्येक वर्ष स्टर्लिंग वैंलैस की कुल राशि में वृद्धि हुई। पुराने ऋण जिस गति से चुकाए जा रहे थे उससे अधिक तीव्र गति से नए स्टर्लिंग ऋण एकत्र होते जा रहे थे। इसके बहुत से कारण थे। पहला कारण तो यह था कि दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर स्टर्लिंग क्षेत्र के देश अपने स्वर्ण और डालर रक्षित कोषों को ग्रेट ब्रिटेन में स्टर्लिंग क्षेत्र के सामान्य रक्षित कोष के एक भाग के रूप में रखते थे जिसका प्रबंध उन सब देशों की ओर से ग्रेट ब्रिटेन करता है। उसका अर्थ यह है कि उनके भुगतान के अन्तर में यदि कोई सुधार होता है तो ग्रेट ब्रिटेन की उनके प्रति उतनी ही स्टर्लिंग देयता में वृद्धि हो जाती है। और यदि डालर क्षेत्र अथवा अन्य कठोर मुद्रा देशों से उनके भुगतान के अन्तर में सुधार होता है तो उसके साथ ही ब्रिटिश रक्षित

*यह ध्यान देने की बात है कि 1946 में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा ग्रेट ब्रिटेन को दिए गए ऋण की स्पष्ट शर्त यह थी कि उसका युद्धकाल में जमा हो जाने वाले स्टर्लिंग वैंलैसों को चुकाने में उपयोग नहीं किया जावेगा।

सारिणी २५

1945—1953 तक ग्रेट ब्रिटेन की स्टलिग देयता

	लाख पाँडों में								
	वर्ष के अन्त में :								
	1945	1946	1947	1948	1949	1950	1951	1952	1953
यूनाइटेड किंगडम के उपनिवेशों को	4470	4950	5020	5560	5820	7540	9680	10760	11610
अन्य स्टलिंग क्षेत्र के देशों को	20070	19220	17860	18090	17710	19800	18250	16060	17740
	24540	24170	22880	23650	23530	27340	27930	26820	29350
डालर क्षेत्र को	360	350	210	190	310	790	380	340	620
अन्य पश्चिमीय गोलार्द्ध के देशों को	1640	2130	2350	1350	800	450	570	60	400
ओ० ई० ई० सी० देशों को	4210	4240	4810	3700	4390	3950	4090	3210	3050
अन्य देशों को	6130	6320	5720	5310	5140	4920	5140	3940	3660
मैर प्रादेशिक मंडलों को	--	260	3880	3980	5760	5770	5660	5670	5090
जोड़	36880	37470	39850	38180	39930	43220	43770	40040	42170

(२२२)

कोप में वृद्धि हो जाती है—क्योंकि वास्तव में वह स्टर्लिंग क्षेत्र का स्वर्ण और डालर रक्षित कोप है। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन की स्टर्लिंग देयता में वृद्धि जहां तक स्वर्ण और डालर निधि (धारण) की वृद्धि से पूरी हो जाती है कोई अतिरिक्त भार नहीं है, क्योंकि स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों ने लंदन में अपने रक्षित कोपों का अपनी स्वयं की मुद्रा के विरुद्ध पुनः स्थापन कर दिया तदनुसार ग्रेट ब्रिटेन के स्टर्लिंग के ऋणों में वृद्धि हो गई। फिर भी वास्तव में 1953 के अन्त में ग्रेट ब्रिटेन के स्वर्ण और डालर रक्षित कोप संयुक्त राज्य अमेरिका के डालरों में 1945 के अन्त में रक्षित कोप से थोड़े ही अधिक थे। अर्थात् 2,476,000,000 की तुलना में 2,518,000,000 थे। जून 1951 में वे इससे बहुत अधिक थे उस समय उनकी राशि 3,876,000,000 डालर थी। वह मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा कोरिया संकट के समय स्टॉक को इकट्ठा करने के फलस्वरूप मूल्यों के बहुत ऊंचा उठ जाने से संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में मूल्य चुकाने के परिणाम थे। परन्तु उसके उपरान्त 1951 में ऊंचे मूल्यों पर ब्रिटेन द्वारा सामग्री तथा खाद्य पदार्थों की खरीददारी के परिणाम स्वरूप स्वयं ग्रेट ब्रिटेन का भुगतान का अन्तर उसके विरुद्ध हो गया और कतिपय अन्य देशों, मुख्यतः आस्ट्रेलिया ने भी सामान्य रक्षित कोप से बहुत अधिक डालर निकाले। अस्तु वह रक्षित कोप शीघ्रता से कम होता गया। 1951 का वित्तीय संकट तथा उसके पश्चात् आयातों की कठोर कटौती रक्षित कोप में से भारी मात्रा में मुद्रा राशि निकालने का ही परिणाम थी इसका परिणाम यह हुआ कि जहां विशेषकर भुगतान स्वर्ण या डालर में करना था उन भुगतानों के लिए समस्त स्टर्लिंग क्षेत्र द्वारा लंदन स्थिति शेप (रक्षित कोप) से मुद्रा राशि निकालने पर कठोर प्रतिबंध लगाना पड़ा। वस्तु स्थिति यह थी कि 1951 में ग्रेट ब्रिटेन—यद्यपि केवल वही एक मात्र दोषी नहीं था—समस्त स्टर्लिंग क्षेत्र के स्वर्ण और डालर कोप का उपयोग अपने आयातों की मांग को पूरा करने के लिए कर रहा था। एक अंश में इसका अर्थ यह था कि स्वर्ण और डालर के धारण (कोप) का स्थान स्कंध तथा अन्य सामग्री के धारण में वृद्धि ने ले लिया। परन्तु क्योंकि उनको बहुत बढ़े हुए ऊंचे मूल्य पर खरीदा गया था और आगे चलकर उनमें से बहुत सी वस्तुओं का मूल्य नीचे गिर गया तो हानि रक्षा (Cover) अपर्याप्त हो गया। इसके अतिरिक्त व्यय की जाने वाली राशि का एक भाग चालू उपभोग के ऊंचे मूल्य वाले आयातों पर किया गया था। 1953 में रक्षित कोप पुनः बढ़ गया, किन्तु वर्ष के अन्त में वे पुनः 1950 के मध्य के स्तर पर वापस आ गए।

जिस सीमा तक बढ़ी हुई स्टर्लिंग देयता स्वर्ण और डालर रक्षित कोप में वृद्धि अथवा वास्तविक मूल्य पर सामग्री के स्कंध से पूरी नहीं हो गई वहां तक ग्रेट ब्रिटेन की वास्तविक देयता में वृद्धि हो गई। सारिणी से यह देखा जा सकता है कि 1953 के अन्त में कुल स्टर्लिंग देयता 1949 के अन्त की तुलना में लगभग

30 करोड़ पाँड अधिक थी। जबकि स्वर्ण और डालर रक्षित कोष में भी लगभग इतनी ही रकम की वृद्धि हुई। परन्तु देयताओं (Liabilities)—की रचना बढ़ गई थी। ब्रिटिश उपनिवेशों के प्रति देयताएं 582,000,000 पाँड से बढ़कर 1,161,000,000 पाँड हो गई जबकि अन्य स्टलिंग क्षेत्र के देशों के प्रति देयताएं करीब करीब पूर्ववत् ही अर्थात् पाँड 1,774,000,000 रहें। और गैर-स्टलिंग क्षेत्र के देशों के प्रति देयताओं में २६ करोड़ पाँड की कमी हो गई। यह परिवर्तन अधिकतर उपनिवेशों और विशेषकर-मलाया को अमेरिका द्वारा व्यापारिक अभिवृद्धि काल में ऊँचे मूल्य पर खरीदे हुए माल के मूल्य को चुकाने से प्राप्त रकम के फल-स्वरूप हुआ। किन्तु इसने एक विभिन्न विरोधी स्थिति को जन्म दे दिया। प्रत्येक यह आशा करेगा कि उपनिवेशों के क्षेत्र जिनका जीवन स्तर नीचा है उनको अपने आर्थिक विकास के लिए पूंजी की बहुत जरूरत होगी और वे अधिक विकसित देशों से बड़ी मात्रा में पूंजी का आयात करने वाले होंगे। किन्तु तथ्य यह था कि उपनिवेशों के विकास पर धनराशि व्यय होने पर भी वे ग्रेट ब्रिटेन को पूंजी उधार देने वाले शुद्ध साहूकार बन गए। जो अपनी भुगतान के अन्तर की कठिनाई का सामना करने के लिए उनके द्रव्य का उपयोग करता रहा था। यह ठीक है कि इस प्रकार जो धन-राशि उपनिवेशों से उधार ली गई उसमें से जितनी धनराशि उपनिवेशों की मुद्रा के विरुद्ध रक्षित कोष के रूप में रखी गई उसको छोड़कर शेष धनराशि को चुकाना होगा। परन्तु स्पष्ट है कि इस बीच उसको उपनिवेशों के विकास पर व्यय करने से हटा कर अन्य दिशा में मोड़ दिया गया है।

इस विचित्र स्थिति के पक्ष में यह कहा जाता है कि उपनिवेशों की साम-ग्रियों की कीमतों में अभिवृद्धि से प्राप्त होने वाली-दैय-आय को तुरन्त उपनिवेशों की जनता को अधिक क्रय शक्ति के रूप में दे देना भूल होती क्योंकि उसका परिणाम होता मुद्रा स्फीति और यकायक उपभोग में वृद्धि—जो कि अभिवृद्धि के समाप्त हो जाने पर बनाए रखी नहीं जा सकती थी। यह भी कहा गया कि उस दैय-आय के अधिकांश भाग को भविष्य में सामग्री के मूल्यों के एक साथ गिर जाने के विरुद्ध रक्षित कोष के रूप में इकट्ठा होने देना अधिक अच्छा था। इसके अतिरिक्त यह तक भी दिया गया कि यदि उपनिवेश उस बहुत बड़ी धनराशि का, जो उनके पक्ष में जमा हो रही थी उपयोग-उपभोग वृद्धि के लिए करने के स्थान पर केवल पूंजी विनियोग के लिए ही करना चाहते तो भी वह अव्यवहारिक होता। आवश्यक अतिरिक्त पूंजी-वस्तुओं, तथा योग्य प्रविधिजों को प्राप्त करना, अथवा अपने पूंजी विनियोजन के कार्यक्रमों को यकायक बढ़ा देना बिना आन्तरिक मुद्रा स्फीति उत्पन्न किए कठिन था। इन तर्कों में तथ्य था परन्तु यह स्पष्ट है कि उपनिवेश तथा आर्थिक दृष्टि से अन्य पिछड़े देशों को अपने उत्पादन के साधनों की उन्नति करने के लिए जितनी भी पूंजी वे विनियोजन के लिए पा सकें उसकी उनको आवश्यकता है। और यह चोँका देने वाली

असंगति है कि पूंजी का आयात करने के बजाय वे वास्तव में ग्रेट ब्रिटेन को पूंजी उधार दे रहे हैं। यह स्थिति देर तक नहीं रह सकती। स्टर्लिंग देयताओं की वृद्धि के रूप में जो बनराशि उधार ली गई है वह तेजी से चुकानी होगी—फिर उसके कारण चाहे ब्रिटिश भुगतान के अन्तर पर बहुत अधिक दबाव ही क्यों न हो।

यह कहा जा सकता है कि यह समस्या मुख्यतः विनियोजन की नहीं वरन् अल्पकालीन निधि के प्रवास की समस्या है। किन्तु जहां तक भारत का जो कि स्टर्लिंग का सबसे बड़ा साहूकार है—सम्बंध है बात ऐसी नहीं है। एकत्रित शेषों का सर्वोत्तम उपयोग यही हो सकता है कि उनका एक बड़ा अनुपात ब्रिटेन में तैयार की गई पूंजीगत वस्तुओं में दीर्घकालीन विनियोजन के उद्देश्य से इस प्रकार लगाया जावे जिससे कि उनके (शेषों) स्थानान्तर में विनिमय सम्बंधी कठनाई कम से कम हो। उस द्रव्य के विदेशी वस्तुओं पर व्यय किए जाने की तुलना में ऐसी नीति ब्रिटिश सरकार को उस (द्रव्य) को तेजी से मुक्त करने के योग्य बना देगी। और इस प्रकार भारत के आर्थिक विकास को तेज कर सकेगी। परन्तु इस प्रकार की कोई भी नीति उस समय तक व्यवहारिक नहीं हो सकती जब तक कि ग्रेट ब्रिटेन इस स्थिति में न हो कि वह इन ऋणों को वस्तुओं के रूप में चुकाने का प्रबंध कर सके, और पृथ्वी में कहीं भी वस्तुओं को खरीद सकने के लिए ब्रिटेन में विदेशी विनिमय के बावजूद निधियों को स्थान्तरित करने की स्वतंत्रता की अपरिमित मांग से उसकी रक्षा न की जावे।

पिछड़े देशों में दीर्घकालीन विनियोजन की अधिक साधारण समस्याओं के सम्बंध में इससे भी कहीं अधिक बड़े प्रश्न उत्पन्न होते हैं। यदि इन देशों को अपनी कृषि से सम्बंधित अति-जनसंख्या की कठिनाइयों से छुटकारा रखना है और अपनी आर्थिक कार्यक्षमता को यथोचित रूप में ऊँचे स्तर तक उठाना है तो उन्हें बहुत अधिक मात्रा में पूंजी वस्तुओं की आवश्यकता होगी।* जिसका मूल्य वे सम्भवतः चालू निर्यात के द्वारा नहीं चुका सकते, जब तक कि उन्हें इतना समय न दिया जावे कि जिसमें उनका उत्पादन बहुत अधिक बढ़ न जावे। अतएव उनको दीर्घकालीन पूंजी के लिए बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी ऋणों की आवश्यकता होगी।

*इसके अतिरिक्त क्योंकि ऋण के द्वारा सम्भव होने वाली पूंजी वस्तुओं को निर्माण करने वाले कारखाने मुख्यतः ऋण लेने वाले देश में खड़े होंगे। और इस प्रकार वे अपने ही देशवासियों को आय के रूप में बहुत अधिक अतिरिक्त रकम देंगे, और क्योंकि बड़ी हुई आय का कुछ भाग आयात किए हुए उपभोक्ता पदार्थों पर व्यय किया जावेगा अस्तु विदेशी विनियोजन का प्रभाव साधारण तौर पर यह होगा कि उपभोक्ता तथा पूंजी वस्तुएं दोनों का ही आयात बढ़ जावेगा।

इस कार्य के लिए आवश्यक पूंजी के अधिकांश भाग का प्रत्यक्ष श्रोत संयुक्त राज्य अमेरिका है जो कि महान 'आधिव्य' वाला देश है। संसार का मुख्य साहूकार राष्ट्र और महान निर्यात् करने वाला देश होने के नाते संयुक्त राज्य अमेरिका इस स्थिति में है कि वह शेष संसार से पिछले दिनों उसमें जितना कुछ खरीदने की इच्छा प्रगट की उससे बहुत अधिक मात्रा में आयात करे। जब तक कि अमेरिका की व्यापार नीति में आज तक होने वाले परिवर्तनों से बहुत अधिक उग्र परिवर्तन न हो तब तक इस असमानता के बढ़ते ही जाने की सम्भावना है। विदेशों की प्रथम शक्ति के स्तर के बराबर अमेरिका द्वारा आयातों को बढ़ाने की अनिच्छा आंशिक रूप में अमेरिका के उद्योग के लिए अधिकांश सामग्रियों के साधनों का देश में ही बड़ी मात्रा में उपलब्ध होना और आंशिक रूप में अमेरिका के प्रशुल्कों हैं। प्रशुल्कों की प्रतिरक्षा शक्तिवान व्यवसायी स्वार्थों द्वारा तथा इस तर्क के आधार पर की जाती है कि अन्य देशों में निर्मित कम मजदूरी वाली उत्पादित वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा से अमेरिका के जीवन स्तर की रक्षा करना आवश्यक है। यह अत्यन्त असम्भव प्रतीत होता है कि अमेरिकन अपने शुल्कों को उस सीमा तक कम करने के लिए रजामंद होंगे जो कि बढ़े हुए आयात के रूप में 'आधिव्य' (Surplus) को समाप्त करने के लिए आवश्यक होंगे। यह और भी अधिक संदेहास्पद है कि क्या सम्पूर्ण शुल्कों को समाप्त कर देने की असम्भावित घटना भी इस परिणाम को ला सकेगी। यह ठीक है कि अमेरिका अपने शुल्कों को जितना अधिक घटाने और विदेशों की निर्मित वस्तुओं को जितना अधिक लेने के लिए तैयार होगा उतना ही समस्त संसार के लिए अच्छा होगा। किन्तु यह उसका अपना मामला है जिसके धारे में कोई भी उसको आदेश नहीं दे सकता।

जब तक कि "आधिव्य" रहता है* अमेरिकन उसको चार तरह से समाप्त कर सकते हैं। वे स्वर्ण का आयात कर सकते हैं जैसा कि उन्होंने वास्तव में अत्यधिक मात्रा में तब तक किया जब तक कि अधिकांश देशों के पास भेजने के लिए स्वर्ण रहा ही नहीं और जैसा वे अभी हाल में खानों से निकाला हुआ नया सोना आयात करके पुनः कर रहे हैं। या वे उसको लम्बे समय के लिए अन्य देशों की दीर्घकालीन प्रतिभूतियों को खरीद कर नए व्यवसायों को, अथवा अमेरिकन व्यवसायों के सहायक व्यवसायों को विदेशों में स्थापित करके विनियोजित कर सकते हैं। या वे अल्प काल के लिए ऋण दे सकते हैं। यह वह "आधिव्य" का बिना विनियोजन किए जिस देश में वह उत्पन्न हुआ है उसमें उसे छोड़कर उस पर बिना कुछ मूद कमाए अथवा बहुत थोड़ा मूद कमाकर कर सकते हैं। अथवा वे उसको बैंट स्वरूप

*अर्थात् जब तक अमेरिकन लोग जानबूझ कर अपने निर्यातों को कम करके "आधिव्य" को समाप्त न कर दें।

देते रह सकते हैं । 1920 के उपरान्त अमेरिकनों ने मुख्यतः दीर्घकालीन ऋण दिया : कहने का अर्थ यह है कि उन्होंने विशेषकर जर्मनी में और कुछ हद तक करीब करीब सभी देशों में दीर्घकालीन विदेशी प्रतिभूतियों के स्वामित्व को बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त कर लिया । संसार के आर्थिक संकट काल में इनमें से बहुत से विनियोगों का मूल्य बहुत कम हो गया, नए दीर्घकालीन विनियोग करीब करीब समाप्त हो गए, और बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशाब्द में (1930 के उपरान्त) भी उनका मूल्य पुनः थथेष्ट ऊंचा नहीं चढ़ा । परिणाम स्वरूप जब भयंकर मंदी के समाप्त होने पर अमेरिका का “आधिव्य” फिर अधिक बढ़ा तो अमेरिकनों ने अनिच्छित स्वर्ण भारी मात्रा में आयात करने के अतिरिक्त बड़ी मात्रा में अल्पकाल के लिए ऋण दिए । उन्होंने अन्य देशों में अपनी जमा या लेनी को छोड़ दिया जिसे वे, संयुक्त राज्य अमेरिका में आयात के लिए वस्तुओं में, अथवा दीर्घकालीन विदेशी प्रतिभूतियों में बदलने के लिए तैयार नहीं थे । इस अल्पकालीन ऋण देने का बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव पड़ा । जिन देशों में वह द्रव्य जमा किया गया उनको इस बात का कोई आश्वासन नहीं था कि वे उसको रखे रह सकते थे और न वे उसका दीर्घकालीन विनियोजन के लिए सुरक्षित रूप से उपयोग ही कर सकते थे, और न अधिकांश देशों में उसकी अल्प कालीन द्रव्य बाजार में आवश्यकता ही थी । उसको ग्रेट ब्रिटेन में विनिमय समीकरण कोप के द्वारा निष्क्रिय बना दिया गया । इसका प्रभाव आन्तरिक मामले में वैकों की मुद्रा संकुचन नीति के समान ही हुआ । संसार की क्रय शक्ति का एक बड़ा भाग चालू उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के काम में न लाया जाकर उसकी मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका में अथवा विभिन्न विनिमय-समीकरण कोपों में निष्क्रिय तालाबन्दी कर दी गई ।

युद्ध के पश्चात् अमेरिकनों को उसी दुविधा का सामना करना पड़ा । उन्होंने विशेष कर ग्रेट ब्रिटेन को ऋण देना आरम्भ किया । 1946 के अमेरिकन ऋण का उपयोग न केवल ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था को बरन् मध्य योरोप की अर्थ-व्यवस्थाओं को एक केन्द्रीय विन्दु पर बनाए रखने के लिए किया गया । उसका एक बड़ा भाग मध्य योरोप के देशों को हस्तान्तरित कर दिया गया था । तब अमेरिकनों ने आशा की थी कि यह ऋण युद्ध से प्रतिकूल प्रभावित देशों और विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन को अपनी अर्थ-व्यवस्थाओं और भुगतान के अन्तरों को पुनर्स्थापित करने में सहायक सिद्ध होगा किन्तु तथ्य यह था कि ऋण शीघ्रता से पा लिया गया और यदि अमेरिकन और अधिक ऋण देने के लिए तैयार होते तो भी न तो ग्रेट ब्रिटेन और न दूसरे देश ही भविष्य में अपने भार को बढ़ाने के मूल्य पर ऋण लेने की स्थिति में थे । अतएव अमेरिकनों ने मार्शल योजना के अन्तर्गत-सीधे उपहार (भेंट) देना शुरू किया । उनको आशा थी कि इन उपहारों के परिणाम-स्वरूप प्राप्तकर्ता देशों में तेजी से आर्थिक पुनरुत्थान होगा और वे अपनी स्थिति को सुधार सकेंगे । अत्यंत

परिमित सीमा को छोड़कर ऐसा नहीं हुआ और उसी समय आर्थिक सहायता के बाद सैनिक सहायता दी गई। योरोप के आर्थिक पुनरुत्थान की दृष्टि ने सैनिक सहायता बहुत हद तक उद्देश्य के विरुद्ध थी क्योंकि जिन देशों को यह सहायता दी गई उसके कारण उन देशों पर पुनः शस्त्रीकरण का व्यय लाद दिया गया जिसे सहन करने की उनमें सामर्थ्य नहीं थी। वित्तीय भार के अलावा पुनः शस्त्रीकरण के लिए ठीक उन्हीं उत्पत्ति के साधनों की मांग आर्थिक पुनर्स्थापन और विकास के लिए पूंजी वस्तुओं की पूर्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। विभिन्न देश एक साथ भारी मात्रा में पुनः शस्त्रीकरण और अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के दोनों काम नहीं कर सकते थे। अस्तु पूंजी विनियोजन गति को विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन में इस कारण सीमा करना पड़ा कि जिससे शस्त्र निर्माण को अपेक्षित प्राथमिकता दी जा सके। जिन देशों ने अपने अधिकतर उत्पादन के साधनों को पुनः शस्त्रीकरण की ओर मोड़ दिया उनके सामने जैसे ही अमेरिका ने अपनी सहायता को बन्द कर दिया अथवा उसको अधिक कम कर दिया संकट की सम्भावनाएं उठ खड़ी हुईं।

केवल बहुत अधिक मात्रा में लम्बे समय तक लगातार स्थिर रूप से अमेरिका द्वारा दीर्घकालीन पूंजी विनियोजन ही योरोप के आर्थिक पुनरुत्थान को पुनः शस्त्रीकरण के अनुकूल बना सकता था। किन्तु इसके कारण विनियोजित राशि पर दिया जाने वाला मूद योरोप के डालर ऋण को समान रूप से बढ़ा देता। इस तथ्य को यदि छोड़ भी दें कि योरोपीय देश स्वभाविक रूप से अपने उत्पादन के साधनों का स्वामित्व अधिकाधिक अमेरिकियों के हाथ में जाते हुए देशों के अनिच्छुक थे, यह व्यवहार बिना अमेरिका द्वारा योरोप में निमित्त आयातों को बहुत अधिक बढ़ी हुई मात्रा में लेने के लिए तैयार हुए दिना नहीं उठाया जा सकता था। उन देशों में जो सामाजीकरण की नीतियों का पालन करने की ओर तनिक भी झुकाव नहीं दिखलाते इसके विरुद्ध कड़ी आपत्ति है। विदेशी स्वामित्व समाजीकरण नीतियों के मार्ग में गम्भीर रुकावटें उपस्थित करेगा। ग्रेट ब्रिटेन जैसे देशों के लिए जिनमें संकटकालीन युद्धोपरान्त के वर्षों में समाजवादी सरकारें सत्ताशुद्ध थीं यह और भी कम प्रसन्नता की बात थी कि उन उद्योगों में जिनका कि वे समाजीकरण करना चाहते थे अमेरिकन पूंजी के विनियोजन की सम्भावना ही। अमेरिकियों ने खनिज तेलशोधन जैसे कुछ विशेष उद्योगों को छोड़कर—ग्रेट ब्रिटेन और मंच तो यह है कि पश्चिमी योरोप के अधिकांश भाग में बढ़ी मात्रा में निजी पूंजी का विनियोजन करने की कोई व्यवस्था नहीं की। बढ़ी मात्रा में निर्यातों तथा विद्यमान विनियोग से होने वाली आय का आयातों की तुलना में आधिक्य द्वारा उपनिवेश की गई समस्तियों का सामना करने में वे नितान्त असफल सिद्ध हुए। वे केवल अस्थायी अनुत्पादन के रूप में पूर्ण उपहार देकर ही उनका सामना कर सके। 1943 की दोन्ना योजना की यह एक मुख्य बात थी—जिनका विचार दाद में लिया जायेगा—जि उनमें

इस विन्दु को प्रगट किया गया कि बुरे लेनदार और साथ ही बुरे देनदार भी हो सकते हैं। यह एक देश का शोष संसार के प्रति अपराध है कि वह ऋणी हो जावे और अपने बाह्य कर्जों को चुका सकने में असमर्थ हो जावे जिससे कि उसको किसी भी प्रकार अपने लेनदार को उगने पर विवश होना पड़े। क्या यह एक देश के लिए अपराध नहीं है कि वह अपनी अन्तर्राष्ट्रीय क्रय शक्ति के एक भाग का उपयोग करने से मना करके शोष संसार को गम्भीर कठिनाई में डाल दे। यह कहा जा सकता है कि अन्य देश अमेरिका से खरीदने के लिए बाध्य नहीं हैं और यदि वे न खरीदें तो अमेरिका का निर्यात अंधिक्य नहीं रहेगा। परन्तु जो स्थिति है वह यह है कि अन्य देशों का अमेरिका की वस्तुओं तथा उन अन्य वस्तुओं के बिना काम नहीं चल सकता जिनका स्वर्ण या डालर में मूल्य चुकाना पड़ता है। और जब वे इन वस्तुओं को ऐसी वस्तुओं से बदलना चाहते हैं कि जिसका वे आसानी से भुगतान कर सकते हैं—उदाहरण के लिए वर्जिनिया तम्बाकू के स्थान पर रोडेशिया का तम्बाकू—तो उनके विरुद्ध तुरन्त यह दोषारोपण होता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध विभेद किया जा रहा है। यह सत्य है कि युद्धोत्तर संकटकालीन स्थित का वहाना लेकर अमेरिका ने बहुत अधिक विभेद को सहन किया है (और विभिन्न रूपों में उसका उन्होंने स्वयं यथेष्ट प्रयोग भी किया है) फिर भी वे यह बराबर तर्क देते रहे कि सब प्रकार के विभेद को अविलम्ब हटा दिया जाय और भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढाँचे से इस प्रकार के व्यवहार को विलकुल निकाल दिया जाय।

यह भी कहा जा सकता है कि 1945 से अमेरिका सम्पूर्ण उपहार देने में बहुत उदार रहा है जिससे कि अन्य देशों के लिए अमेरिका की वस्तुओं को उससे बहुत अधिक मात्रा में खरीदते रहना सम्भव हो सका जितनी कि वे बिना अमेरिका की सहायता के खरीद सकते थे। यह कहना विलकुल ठीक है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से उन्होंने इस सहायता के साथ पुनः शस्त्रीकरण और राजनीति के सम्बंध में ऐसे बंधन लगा दिए हैं जिससे कि उसके लाभदायक होने में बहुत अधिक संदेह हो गया है। उन्होंने यह नहीं किया और स्पष्ट है कि वह ऐसा नहीं करेंगे कि जो व्यापारिक नीति एक महान् लेनदार या साहूकार देश के उपयुक्त है उसको—अर्थात्—आयातों को स्वतंत्रतापूर्वक आने देना—वे अपना लें, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन ने अपने लेनदार या साहूकार होने के दिनों में किया था और इस प्रकार अन्य देशों को अपनी वस्तुओं के बदले संयुक्त राज्य अमेरिका की वस्तुओं को प्राप्त करने दें।

संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति में इस प्रकार के परिवर्तन को बहुत से स्थिर स्वार्थी का कड़ा विरोध का सामना करना पड़ेगा। कुछ अमेरिकन मजदूर संघ भी इसका विरोध करेंगे। अत्यन्त दृढ़ प्रतिज्ञ प्रेसीडेंट के लिए भी उदार से उदार कांग्रेस को जिसकी कि कल्पना की जा सकती है उसे स्वीकार करने के लिए राजी कर

सकना कठिन होगा। इसका आंशिक कारण तो यह है कि अमेरिकन कांग्रेस का गठन इस प्रकार का है कि वह राजनीतिक दबाव डालने वाले समूहों को दबाव डालने के बहुत अधिक अवसर प्रदान करती है। और आंशिक कारण यह है कि अमेरिकनों ने अपने स्वभाव को इस प्रकार बना लिया है कि वे उन समूहों के दबाव को न्योत्तार करते हैं और सच तो यह है कि वे अपने राजनीतिक आचरण को प्रतिद्वन्द्वी दबावों के अनुसार ही मूर्तरूप देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रेमीडेंटों ने अपने विशेष अधिकारों के अन्तर्गत जो कि संकट काल के समय उन्हें पारस्परिक मुक्त सम्बन्धी रियायतों के बारे में समझौता करने के लिए दिए गए थे संयुक्त राज्य अमेरिका के मुक्त को तनिक उदार बनाने के लिए थोड़ा प्रयत्न किया है। परन्तु इन संशोधनों ने उस अन्तर को पूरा करने में अधिक सहायता नहीं मिली कि जिसको पूरा करने की आवश्यकता थी। मेरा विचार है कि वास्तव में कोई भी यह आशा नहीं करता कि अमेरिका की व्यापार नीति में इन बाधाओं के रहते दीर्घकाल तक कोई बड़ा परिवर्तन आ सकता है।*

मैं यह पहले ही कह चुका हूँ कि यदि संयुक्त राज्य अमेरिका अभी मुक्तों को समाप्त करदे तो भी मुझे संदेह है कि यह अन्तर पूरा हो नयेगा। सब मिलाकर अमेरिकन लोग एक सीमित क्षेत्र में कुछ योरोप की विशेष वस्तुओं को और अवश्य ही उन सामग्रियों को जिन्हें वे बड़े पैमाने में अपने देश में उत्पन्न नहीं कर सकते— छोड़कर अपने देश की वस्तुओं को ही पसंद करते हैं। फिर भी अमेरिका की प्रमुख नीति में भारी परिवर्तन होने पर इस अन्तर में बड़े पैमाने पर कमी हो जायेगी और यदि संयुक्त राज्य अमेरिका अपने निर्यातों को वर्तमान स्तर से कम नहीं करना चाहता तो कभी न कभी उसको परिवर्तन करना ही होगा। उसके अन्य विकल्प केवल दो हैं। या तो आधिक्य को उपहार के रूप में देते रहना, जिसका निश्चय ही कांग्रेस समर्थन करना अस्वीकार कर देगी, अथवा दीर्घकालीन विदेशी विनियोग का विस्तार उस पैमाने पर करना कि प्राप्तकर्ता देशों को उसका मूद्र न चुका सकने का हान न हो सकने वाली समस्या का सामना करना पड़े जबतक कि मूद्र विनियोग ने न चुकाया जा सके। इस अन्तिम विकल्प का अर्थ यह हुआ कि अमेरिकनों को कभी भी उनका बर्ज नहीं चुकाया जायेगा सिवाय इसके कि वे स्वयं अपने को अपना कर्ज चुकाने रहें, और उनका अर्थ यह होगा कि अमेरिका के विदेशी विनियोग की मात्रा में थोड़ी कमी होने पर भी तत्काल ऋण प्राप्त करने वाले देशों में वित्तीय संकट उत्पन्न हो जाये।

कीन्स योजना** का एक लक्ष्य किसी भी 'आधिक्य' वाले देश को या तो उसका उपयोग अतिरिक्त आयातों को खरीदने में अथवा दीर्घकालीन विदेशी विनियोग

*इस प्रश्न के सम्बंध में पृष्ठ 400 देखिए जहाँ 1954 की रेट्रोलैट रिवॉल्यूट की वाद की घटनाओं की व्याख्या की गई है। (मूल पुस्तक)

**देखो पृष्ठ-339 मूल पुस्तक।

में करने के लिए प्रेरित करना था। उस योजना के अन्तर्गत 'आधिक्य' का अधिक भाग संसार के अल्पकालीन द्रव्य-वाजारों में बेकार पड़े रहने के बजाय प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ (इन्टरनेशनल क्लियरिंग यूनियन) की पुस्तकों में आकलन शेष (क्रेडिट बैलेन्स) में परिणित हो जाता। जहाँ वह अन्य देशों के विकलन शेषों (डेबिट बैलेन्सेज) से ठीक पूरा समाप्त हो जाता। सच तो यह है कि प्रस्तावित समाशोधन संघ के प्रत्यय (साख) की यंत्ररचना चालू अमेरिकन 'आधिक्य' को घाटे वाले देशों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण स्वरूप देने के लिए उपाय था। उसका अर्थ यह नहीं है कि उससे सब कुछ ठीक हो जाता क्योंकि घाटे या कमी वाले देश जितना शीघ्र हो सकता चाहते कि वे घाटे वाले देश न रहें। वे या तो अपने निर्यातों को अपने आयातों की लागत को पूरा करने के लिए बढ़ाते अथवा वे विदेशों से दीर्घकालीन पूंजी उधार लेते। कीन्स योजना में यह व्यवस्था थी कि केवल घाटे वाले देशों पर ही अपने विकलन शेष (डेबिट बैलेन्स) को कम करने के लिए दवाव न डाला जावे वरन् 'आधिक्य' वाले देशों को भी समाशोधन संघ में जमा आकलन शेष से अपना पीछा छुड़ाने के लिए अर्थात् उनको समाप्त करने के लिए दवाव डाला जावे कि वे अधिक आयातों को स्वीकार करें अथवा घाटे वाले देशों में दीर्घकालीन उद्यमों में उसका विनियोग करें।

इसको सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए जो एकमात्र दृढ़ प्रस्ताव रखा गया वह यह था कि 'आधिक्य' वाले देश अपने आकलन शेषों (क्रेडिट बैलेन्सेज) पर जिन्हें वे दीर्घकालीन विनियोग में परिणित करने से असमर्थ रहे सूद प्राप्त करने के बजाय उस पर जितना सूद विदेशों से ऋण लेने वाले देशों को देना होता है उतना व्यय दें। दूसरे शब्दों में आकलन शेषों पर नाकारात्मक सूद की दर प्राप्त की जावे। यह नाकारात्मक सूद की दर जैसा कीन्स योजना में था तभी आरम्भ होने वाली थी जबकि किसी देश का शेष उसके सम्पूर्ण अभ्यंश (कोटा) के एक चौथाई से अधिक हो जाता। अभ्यंश (कोटा) के आवे से अधिक जो भी शेष हो उस पर एक प्रतिशत नाकारात्मक सूद की दर रखी गई। जिन देशों का विकलन शेष था उन्हें भी यही सूद की दरें देनी थीं। दोनों ही दशाओं में देश विशेष का समाशोधन संघ में जो शेष हो उससे निकालकर मूल्य (सूद) चुकाया जाना था। कहने का अर्थ यह है कि घाटे वाले देशका विकलन शेष (डेबिट बैलेन्स) और 'आधिक्य' वाले देश का आकलन शेष—अन्तर्राष्ट्रीय साम्य की अवस्था से हटने के परिणाम स्वरूप हुए जुर्माने की रकम से बढ़ जावेगा।

इसमें बहुत संदेह है कि इन छोटे जुर्मानों का 'आधिक्य' वाले देशों पर कोई बड़ा प्रतिरोधक प्रभाव पड़ता और न सम्भवतः यह वांछित ही था कि उनको अधिक भारी किया जाता, क्योंकि वे जो भी वे घाटे वाले देश के लिए अनावश्यक रूप से

प्रतिरोधक हो सकते थे जिसे अपनी अर्थ व्यवस्था के व्यवस्थापन के लिए ममत्व की आवश्यकता थी। अवश्य ही यह सम्भव हो सकता था कि 'आधिक्य' वाले देशों के लिए जुमर्ना अधिक कर दिया जाता और घाटे वाले देशों के लिए जैसा था वैसा ही रहने दिया जाता या उसको उतने से भी कम कर दिया जाता। परन्तु सम्भवतः उसको राजनीतिक दृष्टि से अव्यवहारिक माना गया। दोनों के साथ समान व्यवहार के प्रस्ताव को ही स्वीकार किये जाने की वास्तविक आशा की जा सकती थी। उस प्रवचन में जुमर्ने की राशि कितनी हो यह इतनी मर्म की बात नहीं थी जितनी कि उसमें व्वनित इस बात की स्वीकारोक्ति कि लेनदार और कर्जदार दोनों उनके लिए उत्तरदायी हैं, और यदि अमेरिकन लोग उसको स्वीकार करने के लिए तैयार होते तो जुमर्ने की अपेक्षा उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव बहुत अधिक हो सकता था। परन्तु उन्होंने उसको स्वीकार नहीं किया।

कीन्स योजना के इस अंश की एक कमी यह थी कि उसमें "आधिक्य" वाले देशों को यह छूट थी कि वह बिना अधिक आयात स्वीकार किए और बिना दीर्घ कालीन विनियोग खरीदे—अपने आधिक्य से पीछा छुड़ा सकते थे। वे अपने निर्यात को कम करके या स्वर्ण का आयात करते रह कर अपने आधिक्य को समाप्त कर सकते थे। जो कि समाशोधन मंथ की पुस्तकों में जमा के रूप में प्रगट नहीं होते। यदि स्वर्ण का आयात होता तो पहले की अपेक्षा स्थिति अधिक गंराव नहीं होती परन्तु यदि आधिक्य को समाप्त करने के उद्देश्य से निर्यातों को जानबूझ कर कम किया जाता तो घाटे के देशों को अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं में वंचित रहना पड़ता और समस्त संसार में निरंकुशता की शक्तियों को प्रोत्साहन मिलता। यह सम्भावित खतरा सम्भवतः ऐसा नहीं था जिसके विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन मंथ जैसी संस्था चौकसी रख सकती। यह खतरा कितना वास्तविक होता यह आंशिक रूप से इस बात पर निर्भर करता कि आधिक्य वाले देश अतिरिक्त आयातों को स्वीकार करने का विरोध कितनी दृढ़ता से करते और अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घकालीन विनियोग के विकास के उपायों को कितनी सफलता मिलती।

तो इस दूसरे उद्देश्य के सम्बन्ध में क्या किया जा सकता है। इनके सम्बन्ध में एक बड़ी कठिनाई यह है कि विदेशों में दीर्घ कालीन विनियोग तब तक आवश्यक नहीं होता जब तक कि तीन घटें साथ साथ पूरी नहीं होती। उचित लाभ की आर्थिक सम्भावनाएं अच्छी होनी चाहिए, राजनीतिक परिस्थितियां ऐसी होनी चाहिए जिससे कि जितने द्रव्य का विनियोग हुआ है उसकी उचित सुरक्षा हो सके और विनियोगकर्ता को इस बात का उचित आश्वासन होना चाहिए कि उसको उतनी मुद्रा अथवा ऐसी मुद्रा में जिसे वह अपनी मुद्रा में बदल सके भुगतान किया जायेगा। अतः यह है कि आज दुनिया जिन संकट काल का सामना कर रही है उसमें इन बातों में

से कोई भी शर्त कहां तक पूरी हो सकने की सम्भावना है ? उचित सुरक्षा के लिए पहली शर्त राजनीतिक परिस्थिति को लें । एक निजी ऋण दाता जो किसी राज्य विशेष की सरकार को अथवा उस राज्य की सीमा के अन्तर्गत किसी व्यापारिक फर्म या कारपोरेशन को ऋण देता है जब तक कि उसको अपनी निज की सरकार गारंटी नहीं दे देती तब तक उसको उस देश में राजनीतिक अस्थिरता की जोखिम उठानी पड़ती है । चरम स्थिति में यदि उस देश में साम्यवादी क्रान्ति हो जाती है तो उसको अपने सम्पूर्ण विनियोग के ज्वत् कर लिए जाने की जोखिम उठाना पड़ती है । यदि क्रान्ति उतनी पूर्ण नहीं भी हुई तो भी व्यवहार में उसके परिणाम स्वरूप मुद्रा की गड़बड़ हो जाने अथवा उससे होने वाली सब आय के रोक दिए जाने से उसके विनियोग की हानि हो सकती है । अतएव विदेशी वौड-वारियों का किसी भी सरकार के जिसके संरक्षण में उन्होंने द्रव्य का ऋण दिया है स्थायित्व में दृढ़ स्थिर स्वार्थ होना स्वाभाविक है । चाहे फिर उन्होंने स्वयं सरकार को ही ऋण दिया हो अथवा किसी व्यापारिक संस्था को दिया हो जो उसके अधिकार क्षेत्र में हो । ऐसी दशा में जहां तक छोटे और पिछड़े हुए राज्यों का सम्बंध है स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो सकती है । उनकी सरकारें फिर चाहे वे कितनी ही अप्रतिनिधि क्यों न हों विदेशी विनियोग करने वाले स्वार्थ उनका पूरी शक्ति के साथ समर्थन करते हैं और उन्हें बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं । इसको छोड़ दें तो भी ऋण देने वालों को आकर्षित करने लिए राजनीतिक अस्थिरता की जोखिम की क्षतिपूर्ति ऋण पर दी जाने वाली सूद की दर में करनी होती है । जब कि दुनिया की स्थिति अस्थिर होती है अथवा वे वित्तदाता (फाइनेन्सियर) जो विदेशी ऋणों की व्यवस्था करते हैं ऐसा मानते हैं तो स्वभावतः ऋण लेने वालों से लिए जाने वाले सूद की दर को उस स्तर तक ऊंचा कर दिया जाता है जिस पर बहुत से सम्भावित पूंजी ऋण लाभ प्राप्त की दृष्टि से अत्यन्त खर्चिले हो जाते हैं । परिणाम यह होता है कि विनियोग की गति धीमी हो जाती है ।

आर्थिक जोखिमों को पूर्णतया राजनीतिक जोखिमों से अलहदा नहीं किया जा सकता । स्पष्टतः पूंजी को लाभ के साथ उपयोग करने की सम्भावनाएं उस देश कि जिसमें विनियोग किया जाने वाला है—की राजनीतिक स्थिति और साथ ही उस देश की आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक पात्रता से प्रभावित होती हैं । ऋण लेने वाले देश की सरकार जो नीति अनुसरण करती है वह उसकी सीमा के अन्दर क्रय शक्ति के स्तर और उसके वितरण को और साथ ही देश में उपभोक्ताओं की मांग को पूरा करने के लिए स्थापित उद्यमों में लाभों की सम्भावनाओं को भी प्रभावित करती है । बहुत से विनियोग सम्भावित लाभों की दृष्टि से तभी आकर्षक होते हैं जब और भी विनियोग किए जावें । उदाहरण के लिए एक रेलवे लाइन तभी लाभदायक होगी जबकि उस क्षेत्र का जिसमें से होकर वह निकलती है विकास

करने के लिए पूंजी लगाई जावे । एक शक्तिगृह तभी लाभदायक होगा जबकि उससे उत्पन्न शक्ति का उपयोग करने के लिए स्थानीय उद्योग हों इत्यादि । बहुत प्रकार के उद्यमों में विनियोग की सम्मिलित नीति प्रत्येक विनियोग विशेष के लाभ की सम्भावनाओं को बढ़ा सकती है ।

आज की परिस्थितियों में तीसरी शर्त का पूरा होना सबसे अधिक कठिन है जब तक विनियोग की प्रकृति ही ऐसी न हो कि उसको पूरा कर सके । यदि विदेशों में विनियोग को उन वस्तुओं के उत्पादन में लगाया जावे कि जिनको विनियोग करने वाला देश अधिकाधिक आयात करना चाहता है तो पूंजी पर सूद का भुगतान वस्तुओं के रूप में अर्थात् विनियोग करने वाले देश में उन वस्तुओं को बेच कर किया जा सकता है । ऐसा दिखलाई देता है कि यह समस्या का उत्तर है परन्तु इसमें ऋण लेने वाले देश को गहरी हानि होती है । उन्हें पूंजी प्राप्त करने के लिए इस बात के लिए विवश किया जाता है कि वे इस बात का वचन दें कि वे ऋण को उन विनियोगों पर व्यय नहीं करेंगे जिन्हें वे अपनी सामान्य जनता के हित में पसंद करते हैं परन्तु उस प्रकार के विनियोग पर व्यय करेंगे कि जो विनियोग करने वाले देश के पूंजीपतियों के अनुकूल हो । आमतौर पर खनिज का विकास, तेल निकालने का उद्योग, तथा कई प्रकार के बगीचा उद्योगों को ऋण लेने वाले देश के लिए आवश्यक वस्तुएं उत्पन्न करने वाले अथवा उत्पादन का सामान्य मान ऊंचा उठाने वाले विनियोगों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जावेगी । इन परिस्थितियों के अन्तर्गत होने वाला विनियोग आर्थिक साम्राज्यवाद की परम्पराओं को कायम रखेगा और उससे प्रभावित जनता के कल्याण की ओर बिना अधिक ध्यान दिए उसका अनुसरण किया जावेगा । यह भी बहुत सम्भव है कि उससे (जनता को) हानि हो । इस प्रकार विनियोगों को वर्तमान काल में बहुत से देशों में कड़े राष्ट्रीय विरोध का सामना करना होगा और यह उसकी राजनैतिक असुरक्षा को बढ़ा देगा ।

यह विचारणीय बिन्दु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों के लिए ऐसी विनियोग नीति के औचित्य की ओर संकेत करते हैं कि जो सूद की दरों को नीचा से नीचा रख सके और एक समन्वित आर्थिक विकास के कार्यक्रम को बढ़ावा दे सके जिसके अन्तर्गत प्रत्येक उद्यम दूसरे को उसके पैरों पर खड़ा होने में मदद दे । परन्तु ऐसे विनियोजकों को पा सकने की अधिक आशा नहीं है कि जो राजनीतिक और आर्थिक जोखिमों के होते हुए भी पिछड़े देशों को अत्यन्त विशेष परिस्थितियों को छोड़कर बिना सूद की वह दरें लिए जो कि बहुत लम्बे समय तक ऋण लेने वालों को दे सकना बहुत कठिन अथवा सच तो यह है कि असम्भव होंगी पूंजी उधार देने के लिए रजामंद हों । वे पिछड़े देश उन ऊंची सूद की दरों को और अधिक ऋण लेकर ही दे सकेंगे । विदेशी बाँडों में विनियोग करने वाले ऊंची सूद की दरों से बहुत सरलता

से प्रलोभित हो जाते हैं जिनके साथ हानि अथवा कर्ज के न चुकाए जाने की बहुत अधिक जोखिम जुड़ी होती है। उनकी अपेक्षा वे अपने द्रव्य पर अपेक्षाकृति कम किन्तु निश्चित प्रतिफल या प्रत्याय मिलने के आश्वासन से उतने प्रलोभित नहीं होते। 1930 के दशाब्द में विदेशी प्रतिभूतियों में विनियोजित समस्त पूंजी पर जो वास्तविक प्रत्याय हुई यदि उसका औसत निकाला जावे तो कर्जदार से जो सूद की दर प्राप्त हुई वह सम्भवतः अत्यन्त साधारण दिखलाई देगी। विनियोजकों को वास्तव में औसत कम प्रत्याय हुई परन्तु उन्हें अधिक प्रत्याय का वचन दिया गया था और उनमें से कुछ को ऊंचा प्रत्याय प्राप्त भी हुआ। जबकि दूसरों को केवल कुछ मिला ही नहीं वरन अपनी (प्रतिभूतियों के) धारण का मूल्य गिर जाने से ऋण दी हुई पूंजी का बड़ा भाग अथवा समस्त पूंजी की ही हानि हो गई।

यह कहीं अधिक अच्छा होता कि ऐसी प्रणाली पर लौट जाने के बजाय जिसके अन्तर्गत पूंजी के प्रत्येक कर्ज लेने वाले को ऊंचा सूद देने का वायदा करना पड़े और यदि वह चुका सकने की क्षमता रखता है तो चुकाना पड़े जबकि ऋण दाता को सूद की हानि और पूंजी के मूल्य में हुई हानि को निकाल कर औसतन कम प्रत्याय प्राप्त हो—जोखिमों को मिलाकर इकट्ठा कर लिया जावे और जहां तक सम्भव हो उनको कम किया जावे जिससे कि विनियोजकों की आय को बिना कम किए कर्ज लेने वालों से लिए जाने वाले सूद की दर घटाई जा सके। यह किस प्रकार किया जा सकता है ?

सबसे सीधा तरीका यह होगा कि द्रव्य निजी विनियोजकों के द्वारा उधार न दिया जाकर सरकारों द्वारा किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा दिया जावे। जैसा कि हम देखेंगे कि ब्रिटेनबुडस* में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक द्वारा कुछ हद तक वास्तव में यही किया जा रहा है। यद्यपि यह बैंक औद्योगिक विकास के लिए सरकारों को ऋण दे सकता है किन्तु उसके अधिकार पत्र (चार्टर) में उसको निजी विनियोग को हटाने का प्रयत्न करने पर रोक लगा दी गई है। न उसके वित्तीय साधन ही इतने अधिक हैं कि वह इस दिशा में अधिक कुछ सहायता कर सके जब तक कि वह निजी विनियोजकों को इस क्षेत्र में जितनी धनराशि वह स्वयं दे सकता है उससे बहुत अधिक धनराशि लेकर आने के लिए प्रलोभित न कर सके। इसके अलावा उसके ऋणों के लिए उन देशों की सरकारों की जिनमें कि विनियोग किया जा रहा है गारंटी आवश्यक है। इससे सम्बन्धित सरकारों पर जो वित्तीय उत्तरदायित्व आ जाता है। वे उसे उठाने के लिए बहुधा समर्थ नहीं होतीं।

फिर भी वर्तमान परिस्थितियों में यह बतलाना सरल नहीं है कि अन्य किस प्रकार ऋण दिए जा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक एक मूल्य-

वान आरम्भ है परन्तु वह बहुत अधिक मूल्यवान हो यदि निजी विनियोग की मैकरैल (एक मछली की जाति जो बहुत बड़ी होती है) को पकड़ने की आशा में क्षुद्र बहुला (अत्यन्त छोटी मछली) को फेंकने के बजाय स्वयं स्वीकृत विकास योजनाओं के लिए मुख्य ऋणदाता बन जावे। और इस कार्य के लिए जो अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता हो वह उनसे प्राप्त करे जिनके पास ऋण देने के लिए द्रव्य है और जिनसे आशा की जा सकती है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की गारंटी पर अधिक सरलता से ऋण दे देंगे। यदि निजी विनियोजक पिछड़े हुए देशों के ऋण लेने वालों को ऋण न देकर एक अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग निगम अथवा इस प्रकार के निगमों की शृंखला को ऋण दे सकते, उनमें से प्रत्येक एक कार्य क्षेत्र विशेष में कार्य करता, और यदि उससे भी अधिक वे निगम उस द्रव्य को पिछड़े हुए देशों में सरकारों या उद्यमों को एक समनुगत और सुसन्तुलित आर्थिक विकास की योजना के अनुसार पुनः ऋण देते तो बिना किसी सहाय्य के पूँजी को कम सूद की दर पर उपलब्ध किया जा सकता था। जिससे कि सम्बंधित क्षेत्रों में पूँजी की मांग में वृद्धि होती और विनियोजकों को सुरक्षित प्रतिफल (आय) प्राप्त होती। इसके अतिरिक्त एक अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग बैंक के इस प्रकार काम करने से एक अत्यन्त मूल्यवान उद्देश्य यह पूरा होता है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घकालीन पूँजी की मात्रा की गति को स्थायित्व प्रदान करने में सहायता प्रदान करता और परिकल्पी ज्यादातियों तथा धनराशियों को यकायक निकालने के प्रयत्नों को जैसा कि 1929 में हुआ रोकता।

सामान्य तौर पर कुछ इसी प्रकार का ढांचा जिसके साथ साथ विभिन्न कार्यों के लिए विनियोग करने वाली एजेंसियां कार्य करती हैं जिन्हें एक साधारण समन्वय करने वाली संस्था एक दूसरे से जोड़ती हैं, अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में होना जरूरी है। आज की परिस्थितियों में जब कि व्यापारी मनोवृत्ति वाला संयुक्त राज्य अमेरिका ही अधिकांश आवश्यक धनराशि के प्राप्त करने का एक मात्र उपलब्ध श्रोत है, इसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन उन्नतिशील देशों की उपलब्ध पूँजी को अधिक पिछड़े हुए देशों के विकास के लिए प्राप्त करने में अधिकतम सफलता प्राप्त कर सकता है। फिर भी हमें इस बात पर बल देना होगा कि इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कोई भी संयंत्र उस समय तक प्रभावकारी नहीं होगा जब तक कि ऋण लेने वालों को यदि पूँजी उपहार स्वरूप नहीं दी जा रही है तो सस्ती दर पर पूँजी नहीं मिलती। निर्वन देश ऊँचे सूद की दर पर अधिक मात्रा में ऋण नहीं ले सकते। यदि सूद की ऊँची दर ली जाती है तो यह होगा कि विकास के लिए चुने जाने वाले उद्यम वह नहीं होंगे जो कि पिछड़े क्षेत्रों की वन-उत्पादन क्षमता और जीवन स्तर को अधिकतम ऊंचा करने वाले हों, वरन् वे होंगे जिन्हें विकसित देशों के पूँजीपति स्वयं अपने उद्योगों के उपयोग के लिए आवश्यक सामग्री श्रोत के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। सम्बंधित देशों के घरेलू बाजारों के लिए सस्ते उपभोक्ता पदार्थों को उत्पन्न करने

वाले उद्योगों अथवा उन उद्योगों—जो देश के कच्चे माल को मध्य स्थिति तक तैयार करते हैं—की तुलना में निस्सारक उद्योगों पर अत्यधिक बल दिया जावेगा। और ग्रामीण क्षेत्रों को यातायात, शक्ति, और सिंचाई के द्वारा खोल देने के लिए अथवा कृषि प्रविधि के ऊँचे मानों का विकास करने के लिए कुछ नहीं किया जावेगा। भूतकाल में अधिकतर यही हुआ। पिछड़े देशों में विनियोजित पूंजी का अत्यधिक भाग, विदेशी व्यवसायी समूहों के हित में जो स्वयं अपने उद्योग विशेष के सहायक उद्यम को विकसित करने इच्छुक थे लगाया गया और उस देश की जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने अथवा सामान्यतः देश में उत्पादन के ऊँचे मानों का विकास करने के लिए विनियोजित पूंजी का बहुत कम भाग लगाया गया।

भविष्य के लिए यदि संयुक्त राष्ट्र संघ की सरकारें अपनी इच्छाओं का अनुसरण करती हैं जिनकी उन्होंने घोषणा की है तो अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग नीति का मुख्य लक्ष्य अभाव के विरुद्ध संगठित अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न के द्वारा संसार के प्रत्येक भाग में आहारपोषण के अच्छे मानों का विकास करना और सामान्य रहन सहन की परिस्थितियों का सुधार करना होगा। इस प्रकार के उद्देश्य की घोषणा करना केवल मात्र आदर्शवाद नहीं है। क्योंकि अन्ततः यह अनुभव किया जाने लगा है कि अधिक उन्नतशील जातियों की उत्पादन क्षमता का पूरा उपयोग कर सकने की सम्भावना कम विकसित देशों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने पर निर्भर है जिससे कि विकसित औद्योगिक प्रविधियों के लिए निरन्तर फैलता हुआ बाजार प्राप्त हो सके। अधिक उन्नत देशों के निवासियों को अपने निर्धन पड़ोसियों को धनी बनने में सहायता देने से लाभ होगा। यह कल्पना करना गलत है कि पिछड़े देशों के आर्थिक विकास से औद्योगिक राष्ट्रों के बाजारों के छिन जाने का भय है। इसका ठीक उलटा सही है क्योंकि भूतकाल में बाजारों के सीमित होने का कारण दुनियाँ के उपभोक्ताओं की निर्धनता से उत्पन्न हुआ है।

इसमें संदेह नहीं कि पिछड़े देशों के औद्योगीकरण से अधिक उन्नत देशों के निर्यातों के स्वरूप में परिवर्तन होता है। इन देशों का उन वस्तुओं का व्यापार जो कि अपेक्षाकृत अकुशल श्रमिकों के द्वारा सरलता से बनाई जा सकती है और जिनकी निर्धन वर्गों में बहुत अधिक मांग होती है समाप्त हो जाता है। इस प्रकार की वस्तुओं को कम विकसित देश भविष्य में स्वयं बनावेंगे अथवा ऊँचे जीवन स्तर वाले देशों से उनका आयात करने के बजाय अन्य निर्धन देशों से उनका विनिमय कर लेंगे। किन्तु जैसे जैसे सस्ते और सरलता से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता जाता है उसके साथ ही बढ़िया और सुंदर वस्तुओं का बाजार भी फैलेगा और इस प्रकार की वस्तुएँ जिनमें उन उद्योगों की मशीनें भी सम्मिलित हैं जो कि सर्वसाधारण के लिए बड़ी मात्रा में उपभोग के लिए वस्तुएँ तैयार करते हैं वे बहुत करके विदेशों

से जानी होंगी । वे अधिक विकसित देश जो अत्यधिक तत्परता और सफलता से अपने उद्योगों को इस प्रकार की वस्तुओं का उन मूल्यों पर जो अकुशलता अथवा एकाधिकार लाभ से बढ़ा नहीं दी गई है निर्यात करने के लिए व्यवस्थापन कर लेंगे । वे पिछड़े देशों के आर्थिक विकास के परिणाम स्वरूप समृद्धिशाली होंगे । जो कि इन व्यवस्थापनों को करने में असफल रहेंगे वे पिछड़ जायेंगे ।

इसके अतिरिक्त यदि औद्योगीकरण का अर्थ खनिज उद्योगों और निर्माण उद्योगों को पिछड़े देशों में प्रोत्साहित करना है तो औद्योगीकरण—इन देशों में पूंजी विनियोग के द्वारा जिन उद्योगों को प्राप्त करना अभीष्ट है उनमें से केवल एक उद्देश्य है । उबार ली ही पूंजी का बहुत अधिक भाग औद्योगिक उद्यमों पर नहीं बरन् खेती के उत्पादन के मानों को ऊंचा करने तथा यातायात और खेती की पैदावार की विक्री के साधनों को उन्नत करने में अत्यन्त लाभप्रद ढंग से व्यय किया जा सकता है—निस्संदेह यदि ऋण ली हुई पूंजी पर व्यय (सूद) को पूरा करना है तो इसमें यह सन्निहित है कि विदेशों की बाजारें बढ़ती हुई मात्रा में खेती की पैदावार का आयात करने के लिए विद्यमान हैं । क्योंकि अधिक पिछड़े देश अपने कृषि उद्योग का विस्तार करने के लिए तब तक ऋण नहीं ले सकते जब तक कि वे ऋण के लागत व्यय को पूरा करने के लिए यथेष्ट खेती की पैदावार का निर्यात नहीं कर सकते ।* परन्तु जिस सीमा तक विदेशी ऋण का कृषि उत्पादन तथा पैदावार की विक्री की उन्नति के लिए उपयोग किया जाता है उन्नत देशों को उतने तक अपने निर्यातों के हटाए जाने का भय कम होता है । सच तो यह है यदि कम उन्नत देशों को अपनी मुख्य पैदावारों के लिए बाजार प्राप्त करने दिया जाता है तो उनके निर्यात बढ़ने की आशा होती है । उससे उनकी निर्माण की हुई वस्तुओं जिनमें पूंजी वस्तुएं भी सम्मिलित हैं और जो देश में नहीं बनाई जा सकतीं—के खरीदने की शक्ति बढ़ती है ।

पिछले पैराग्राफों में वर्णित जिन उद्देश्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को स्थापित किया जावेगा, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि उनका नियंत्रण करने में ऋण लेने वाले तथा ऋण देने वाले देशों का हिस्सा हो । भूतकाल में विदेशी विनियोग बहुधा उस सिद्धान्त पर किया गया कि केवल ऋणदाताओं को अधिकार है । व्यय की दृष्टि से ऋण लेने वाले का कम-से-कम ऋण देने वाले के बराबर ही अधिकार

*स्वाभाविकतया जब कि आधे भूखे किसान अपनी पैदावार बढ़ाने की स्थिति में होते हैं तो उनकी उत्पादन वृद्धि का अधिक भाग देश में अधिक उपभोग में चला जाता है । परन्तु नक़द-फसलों विशेष कर खेती से पैदा होने वाले कच्चे-माल अथवा विशेष प्रकार के खाद्य-पदार्थों जैसे कहवा, कोकोआ, या सोयाबीन के बारे में ऐसा नहीं होता ।

है। जो विनियोग किया गया है उसकी प्रतिक्रिया अच्छी या बुरी जो भी हो वह मुख्यतः ऋणी देश की जनता पर होगी। ऋणदाताओं द्वारा उनके अपने नियंत्रण में ऋणी देशों की भूमि तथा वहां की जनता की संस्थाओं पर अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की नीति को कार्यान्वित करने से अधिक और कोई बात उन देशों के बीच उग्र कलह खड़ा कर देने वाली नहीं हो सकती। जिस बात पर बल देना चाहिए वह है इस बात की आवश्यकता कि सब सम्भावित तरीकों से उन योजनाओं के विरुद्ध चौकसी रखी जावे कि जो अविक्सित देशों के कथित हितों की वृद्धि करने के लिए तैयार की गई हों। वे एक नए प्रकार के आर्थिक साम्राज्यवाद का जो कि बड़े औद्योगिक प्रभावशाली समूह के हितों पर आधारित हो—रूप न ले लें।

यदि यह शर्तें पूरी हो सकती हों तो दीर्घकालीन विदेशी विनियोग की प्रणाली जो उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हुई उसका पुनः निर्माण करना और उसका विस्तार करना व्यवहारिक होगा। और यह समस्त पृथ्वी के लाभ के लिए होगा। जैसा कि हमने देखा कि एक अनिवार्य शर्त यह है कि सूद की दर नीची हो जिससे कि ऋण लेने वालों को जो कि ऋण लें, ऋण के भारी बोझ से दवा न दिया जावे और अविक्त उन्नत देशों के पूंजीपतियों के हितों के लिए पिछड़े देशों की जनता का शोषण न किया जावे। नीची सूद की दरों में विनियोग की जोखिम का सामूहीकरण और उसके कारण जोखिम का कम होना और ऋणदाता राष्ट्रों की सरकारों का प्रत्यक्ष भाग लेना सन्निहित है। परन्तु अमेरिका से यथेष्ट पूंजी प्राप्त करने के लिए सरकारें तथा साथ साथ निजी पूंजीपतियों दोनों को ही विनियोग करने के लिए कहना होगा, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि अमेरिका का जनमत उस योजना का समर्थन नहीं करेगा जो पूरी तरह केवल राज्य द्वारा ऋण देने पर आधारित हो। यहां यह और जोड़ दिया जाना चाहिए कि जहां भी प्रत्युत्सर्जन की दरों का उपयोग किया जावे वे नीची होनी चाहिये और सम्भवतः यह आवश्यक होगा कि ऋण लेने वाले देशों में ही शोषननिधि के पुनः विनियोग की व्यवस्था की जावे।

कीन्स और व्हाइट मुद्रा योजनाएं

युद्ध के समाप्त होने से पूर्व युद्ध की स्थिति से सामान्य स्थिति के बीच के संक्रमण काल में जिन द्रव्य सम्बंधी प्रबंधों की आवश्यकता होगी तथा द्रव्य-नीति और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विनियोग का क्या रूप होगा इस सम्बंध में पिछले दिनों बहुत अधिक चर्चा हुई। बहुत कुछ यह चर्चा ब्रिटिश ट्रेजरी के प्रतिनिधियों और संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्य विभाग के बीच हुई। इसमें लार्ड कीन्स ब्रिटेन की ओर से मुख्य वातचीत करने वाले थे और हैनरी-व्हाइट अमेरिका का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। अन्य देश विशेषकर फ्रांस भी इस वातचीत में सम्मिलित हुए परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में मुख्य वातचीत ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच ही हुई। वास्तव में तीन परस्पर निकट ग्रथित प्रश्नों को हल करना था। एक वह जिनका सम्बंध मुद्रा और साख की व्यवस्था से था, दूसरा वह जिनका सम्बंध दीर्घकालीन पूंजी विनियोग से था, और तीसरा वह जिनका सम्बंध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति से था। इन तीन मुख्य प्रश्नों से जुड़ी हुई ऐसी विशेष समस्याएं थीं—जैसे उधार-पट्टा तथा उसी तरह की युद्ध-कालीन व्यवस्थाओं को समाप्त करना, युद्ध काल में जो ऋण इकट्ठे हो गए उनको चुकाने के साधन, और इसकी पृष्ठभूमि में जर्मनी से हर्जाना वसूल करने का प्रश्न। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति से निकटतर जुड़ा हुआ प्रश्न रोजगार नीति का था। क्योंकि इस बात को स्वीकार कर लिया गया था कि इस सम्बंध में जो सम्भावित स्थिति होगी उससे राष्ट्रीय व्यापार नीति बहुत अधिक प्रभावित होगी। बहुत अधिक सीमा तक इन विभिन्न प्रश्नों पर अलग चर्चा हुई परन्तु वे सब बहुत निकट से सूत्रबद्ध थे। इस अध्याय में जहां तक सम्भव है उनमें से केवल एक अथवा बहुत करके दो मुद्रा और साख की ही चर्चा करेंगे। उस विस्तृत समस्या के इन दो स्वरूपों की केवल 1944 में ब्रिटेनबुड्स के समझौते के पूर्व की स्थिति का ही यहां वर्णन किया जावेगा।

इस प्रारम्भिक वातचीत के बीच जो मुख्य प्रश्न उठे मेरे विचार से नीचे लिखे थे :—

१. यदि पुराना स्वनियंत्रित स्वर्णमान जैसा कि स्पष्ट है कि वह 1930 में टूट गया, उस स्थिति में क्या यह सम्भव या वांछनीय था कि उसको कुछ बदले हुए

रूप में पुनः स्थापित किया जाता, अथवा उसके लिए कोई स्थानापन्न खोज निकाला जाता जो कुछ हद तक प्रमुख देशों की मुद्राओं की विनिमय दरों को स्थायित्व प्रदान करने का काम कर सकता।

२. लेनदार और ऋणी देशों के बीच युद्ध के पूर्व जो कठिन स्थिति विद्यमान थी और जिसका पुनः अधिक उग्र रूप में प्रकट होना निश्चित था ऐसी दशा में क्या ऐसा कोई उपाय निकाला जा सकता था कि उन देशों के मध्य सन्तुलन के अभाव को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पंगु बना डालने से रोका जा सके। जिसका परिणाम होता है प्रतिवर्धित विनिमय नियंत्रण का फैला हुआ जाल, द्विदेशीय व्यापारिक समझौते, तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य जो कि युद्ध पूर्व के आर्थिक राष्ट्रीयवाद को बहुत बड़े पैमाने पर पुनः उत्पन्न करते हैं।

३. क्या व्यय न की गई अल्पकालीन पूंजी को संसार के द्रव्य केन्द्रों में संचित रखने की प्रथा को और इस पूंजी—(क्षुब्ध-राशि) को एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में जाने से रोक सकना सम्भव है जिसका द्रव्य के स्थायित्व पर बहुत अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।

४. क्या दीर्घकालीन विदेशी विनियोग प्रणाली (जो 1930 के उपरान्त अधिकतर समाप्त हो गई) का इस प्रकार पुनः निर्माण कर सकना सम्भव है कि अल्पकालीन आविष्य को दीर्घकालीन ऋण में ऋण लेने वाले देशों पर बिना ऐसी शर्तें लादे जिन्हें वे असहनीय अनुभव करें अथवा बिना ऐसा भार डाले जिसे वे उतार न सकें बदला जा सके।

५. क्या बैंकिंग सिद्धान्त या बैंक साख जो कि प्रत्येक उन्नत देश के अन्दर लागू की जाती है अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर भी लागू की जा सकती है ?

६. क्या स्वर्णमान का स्थान लेने के लिए अथवा उसके सम्पूर्ण स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शेषों का चुकारा करने के साधन के रूप में कोई नए प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य होना चाहिए।

७. क्या युद्ध के पश्चात् प्रत्येक देश को स्वर्ण या विदेशी विनिमय के जितने साधन उनके पास हैं उनके अतिरिक्त कुछ अन्तर्राष्ट्रीय व्यय की जा सकने वाली क्रय शक्ति देकर आरम्भ करने के लिए कोई कदम उठाना चाहिए।

८. क्या उन देशों को जिनका निर्यात आयात से अधिक है (वर्तमान दीर्घकालीन पूंजी की रकमों को शामिल करके) इस बात के लिए उत्साहित या विवश किया जाना चाहिए कि वे 'आविष्य' को या तो अतिरिक्त आयात में अथवा

दीर्घकालीन विदेशी विनियोग में बदल दें अथवा यदि इन दोनों तरह से वे शेष खर्च न किए जावें तो उनको समाप्त कर दिया जावे ?

६. क्या उन देशों को जिनका आयात निर्यात से अधिक है (वर्तमान दीर्घकालीन पूंजी और नवीन दीर्घकालीन पूंजी आयात को शामिल करके) इस बात के लिए उत्साहित या विवश किया जाना चाहिए कि वे अपने विकलन (व्यापार के प्रतिकूल अन्तर) को कम करें और क्या ऐसा कोई कदम दुनिया की अर्थव्यवस्था पर बिना मुद्रा संकुचन का प्रभाव डाले उठाया जा सकता है ।

१०. क्या विभिन्न देशों के मध्य चालू आर्थिक सौदों (पूँजी के सौदों को छोड़कर) का वित्तीय उपचार पूँजी के सौदों के वित्तीय उपचार से पृथक् किया जाना चाहिए अथवा उन दोनों को किसी भी युद्धोत्तर मुद्रा सम्बन्धी विनिमय में एक साथ लेना चाहिए ?

११. किस सीमा तक मुद्रा संबंधी प्रश्न के समझौते को विदेशी व्यापार और रोजगार के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों से जोड़ा या उस पर आश्रित किया जाना चाहिए जैसा कि साम्राज्यान्तर्गत रियायतों को छोड़ देने या उसे संशोधित करने का समझौता, कोटा योजनाएं, द्विदेशीय व्यापारिक समझौते, अथवा सरकारों द्वारा पूर्ण रोजगार बनाए रखने के लिए आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों सम्बंधी समझौते ।

१२. क्या प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्राधिकारी अथवा संघ जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग अभिकरण भी सम्मिलित हैं—को सभी देशों के लिए (क) छोटे या पिछड़े देशों (ख) शत्रु देशों के लिए खुला रखना चाहिए, और यदि ऐसा हो भी तो—किस सीमा तक संकीर्ण मौद्रिक-संघों और समझौतों जैसे कि विशेष राज्यों के मध्य में स्टर्लिंग क्षेत्र के समझौते को अवैध या आयन्वित कर दिया जावे ।

यह बारह प्रश्न उस समस्त भूमि को नहीं ढकते कि जो कि ब्रिटेन-युड्स समझौतों के पहले विवाद का विषय थी परन्तु उनमें अधिकांश महत्वपूर्ण विचार-विन्दुओं का समावेश है । जैसा कि होना अनिवार्य था विवाद का क्षेत्र बहुत विस्तृत था और एक चीज दूसरी से इस प्रकार बंधी हुई थी कि उनको अलहदा करके उन पर विचार कर सकना कठिन था । ऐंग्लो-अमेरिकन लम्बी चर्चा जहां तक जनता का उससे सम्बंध है 1943 में दो मुद्रा योजनाओं के प्रकाशित होने से आरम्भ हुई । ब्रिटिश ट्रेजरी द्वारा प्रकाशित "कीन्स योजना" और संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा 'व्हाइट-योजना' । यह दोनों योजनाएं अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घकालीन विनियोग की समस्याओं—अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति का प्रासंगिक निर्देश से अधिक किए बिना केवल

विशेष रूप से द्रव्य या मुद्रा संबंधी समस्याओं पर विचार करने का प्रयत्न थीं। केवल शुद्ध मुद्रा संबंधी समस्याओं को पृथक् करने के प्रयत्न के कारण कुछ कठिनाइयां उठ खड़ी हुईं। परन्तु यही सबसे अच्छा दिखलाई पड़ा कि इन्हीं दोनों योजनाओं की रूप रेखा देने और आलोचना करने से आरम्भ किया जावे क्योंकि इस बात के यही प्रथम स्पष्ट संकेत थे कि ब्रिटिश और अमेरिकन सरकार के जिम्मेदार वित्तीय सलाहकारों के मस्तिष्क में क्या था। इस कारण भी इन योजनाओं की रूप रेखा देना और आलोचना करना ठीक था क्योंकि उनमें कुछ रोचक प्रस्ताव सम्मिलित थे जो बाद को छोड़ दिए गए।

‘कीन्स’ और ‘व्हाइट’ दोनों ही योजनाओं को प्रकाशित करने के साथ साथ इस बात की घोषणा कर दी गई थी कि जो सरकारें उनको जनता के समक्ष उपस्थित करने के लिए उत्तरदायी थीं वे उनसे वचन बद्ध नहीं थीं। फिर भी स्पष्ट था कि वे उनकी यदि इच्छाओं का नहीं तो आशाओं का प्रतिनिधित्व करती थीं और उनके मतभेदों और समानताओं के साथ वे उस मार्ग की ओर इंगित करती थीं कि जो दोनों देशों के विशेषज्ञों की दृष्टि में दोनों सरकारों के बीच होने वाली चर्चा में अनुसरण किया जाना चाहिए। उस अवस्था में सोवियत यूनियन अथवा अन्य किसी सरकार या विशेषज्ञों से सलाह नहीं की गई। फिर भी जो प्रश्न विचाराधीन थे वे समस्त संसार के लिए अत्यधिक महत्व के थे।

‘कीन्स’ और ‘व्हाइट’ दोनों योजनाओं का प्रस्ताव था कि एक नई प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय लेखाशोधन मुद्रा (मनी आफ अकाउन्ट्स) को चलाया जावे जिसे ‘कीन्स योजना’ में ‘वैंकर’ और ‘व्हाइट’ योजना में ‘यूनिटास’ कहा गया। दोनों योजनाओं में यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्वर्ण का प्रतिनिधित्व करती और कुछ निश्चित शर्तों के अन्तर्गत उसको स्वर्ण में बदला जा सकता था। ‘व्हाइट’ योजना में ‘यूनिटास’ का स्वर्ण का सम मूल्य विशेष रूप से निश्चित कर दिया गया था। उसका मूल्य 37½ ग्रेन स्वर्ण था (वह संयुक्त राज्य अमेरिका के दस डालरों के बराबर था) ‘कीन्स योजना’ में ‘वैंकर’ का स्वर्ण में क्या मूल्य होगा यह दिया नहीं गया था और यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि उसका मूल्य एक बार सदैव के लिए निश्चित कर देने की आवश्यकता नहीं है। जिन अर्थों में साधारण व्यक्ति मुद्रा शब्द का साधारण तौर पर प्रयोग करते हैं उन अर्थों में न तो ‘वैंकर’ और न ‘यूनिटास’ ही मुद्रा थीं। कोई निजी नागरिक कभी भी उनमें से किसी को अपने पास अथवा बैंक के खाते में भी कभी नहीं रखता। ‘वैंकर’ अथवा ‘यूनिटास’ का उपयोग किसी ऋण के परिशोधन में होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। ‘वैंकर’ और ‘यूनिटास’ समान रूप से केवल लेखाशोधन मुद्रा के अर्थों में ही व्यवहार में आते जिनका अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के परिशोधन के लिए स्वामित्व और उपयोग करने का अधिकार केवल

सरकारों अथवा केन्द्रीय बैंकों के हाथ में रहता । उनका उपयोग सभी अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का परिशोधन करने के लिए नहीं वरन केवल उन्हीं का परिशोधन करने के लिए किया जाता जो कि वर्तमान साधनों का उपयोग कर चुकने के उपरान्त भी चुकने से बच जाते । वे मूलतः उस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय शेषों के परिशोधन के साधन थे जो कि पहले तो स्वर्ण को भेजकर अथवा स्वर्ण का पृथक्-रक्षण करके अथवा एक देश में दूसरे देश के लिए निधि को जमा रखकर चुकाए जाते थे । प्रस्तावित 'अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ' अथवा 'संयुक्त राष्ट्र स्थायीकरण निधि'—(प्रस्तावित नई संस्था का अमेरिकन नाम)—के ग्राहक राज्य सरकारें अथवा केन्द्रीय बैंक होते न कि निजी व्यक्ति अथवा कम्पनियां । केवल 'कीन्स' योजना में इस बात की भी अपेक्षा की गई थी कि समाशोधन-संघ को उन अभिकरणों को जो कि सहायता देने तथा पुनः प्रतिष्ठापन के लिए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की योजनाओं के विकास के लिए स्थापित की जावें—के लिए भी काम करना चाहिए ।

प्रस्तावित नई लेखशोधन मुद्रा केवल उस मान को प्रस्तुत करती जिससे विभिन्न देशों की मुद्राओं का सम्बंध स्थापित होता । 'व्हाइट' योजना के अन्तर्गत न केवल 'यूनिटा' वरन प्रत्येक राष्ट्र की मुद्रा किसी एक समय पर स्वर्ण के एक स्थिर वजन का प्रतिनिधित्व करती और इसलिए उसका 'यूनिटा' और स्वर्ण में एक स्थिर मूल्य होता । इसका अर्थ अत्यन्त सारभूत रूप में स्वर्णमान पर लौटने का प्रस्ताव था । अर्थात् प्रत्येक मुद्रा का स्थिर स्वर्ण मूल्य हो और उसके साथ विभिन्न मुद्राओं की व्यवहार में स्थिर दर हो । सच तो यह है कि ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे योजना के मूल रूप में मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्य पुराने स्वर्णमान के अन्तर्गत स्थिर होने वाले मूल्यों से भी अधिक परिदृढ़ता से स्थिर किए जाते । क्योंकि उस दशा में सामान्यतः शेषों का नई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की पुस्तकों में हस्तान्तरित करके न कि स्वर्ण को हस्तान्तरित करके परिशोधन किया जाता जिससे कि विनिमय दरों का स्वर्ण बिन्दुओं में बीच घटना बढ़ना समाप्त हो जाता । कीन्स योजना में भी प्रत्येक राष्ट्र की मुद्रा के मूल्य को 'बैंकर' में निर्धारित करने की अपेक्षा थी परन्तु उसमें उन मूल्यों के बदले जा सकने के लिए गुंजाइश थी जिसमें कि उन मूल्यों को ठीक किया जा सके जो कि सम्बंधित देशों की आन्तरिक परिस्थितियों से मेल नहीं खाते थे । कीन्स योजना में यह स्पष्ट रूप से अपेक्षा की गई थी कि समय समय पर राष्ट्रीय मुद्राओं के 'बैंकोर-मूल्यों' में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ सकती थी । वास्तव में कीन्स का उद्देश्य वजाय इसके कि एक नए अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में स्थायी स्थायित्व प्राप्त किया जाय अल्पकालीन विनिमय दरों का स्थायित्व प्राप्त करना और बिना उचित कारण के उनमें परिवर्तनों का रोकना था ।

कीन्स योजना में प्रत्येक राज्य को दूसरों की सहमति से 'वैंकर' में अपनी मुद्रा का प्रारम्भिक मूल्य निर्धारित करने की छूट का प्रस्ताव था। जब विभिन्न देशों की मुद्राओं का 'वैंकर' में एक बार मूल्य निर्धारित हो गया तो वह कुछ निश्चित परिस्थितियों के ही अन्तर्गत बदला जा सकता था। किसी राज्य को जब कि उसके भुगतान के अन्तर में दो वर्ष तक पर्याप्त घाटा रहा हो तो उसको अपनी मुद्रा को वैंकर में पांच प्रतिशत से अधिक घटाने का अधिकार नहीं था। किन्तु यह केवल एक बार किया जा सकता था, और अन्य सभी परिवर्तनों के लिए समाशोधन संघ की अनुमति की आवश्यकता थी। संघ बोर्ड को किसी राज्य द्वारा चाहने पर उसकी मुद्रा के 'वैंकर' मूल्य में परिवर्तन करने का अधिकार था और निरन्तर गम्भीर घाटे की अवस्था में उस देश से मूल्य कम कराने का सीमित अधिकार था। कीन्स योजना में एक प्रारम्भिक काल की अपेक्षा की गई थी जिसमें राष्ट्रीय मुद्राएं क्रमशः स्थाई सापेक्षिक मूल्यों पर बैठ जावेंगी और उसके उपरान्त ऐसी पद्धति की अपेक्षा की गई थी जिसमें यह मूल्य विशेष दशाओं में विरले अवस्था में ही बदले जा सकते थे।

इसमें बहुत हद तक स्वर्णमान को पुनः स्थापित करने की बात थी। किन्तु इसमें कम से कम ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए अन्यथा जिसका सामना केवल उग्र आन्तरिक मुद्रा संकोचन से ही किया जा सकता था—अन्तर्राष्ट्रीय सम्मत विनिमय दरों में परिवर्तन करने के लिए द्वार खुला था। इसके विपरीत 'व्हाइट' योजना में दरवाजा बन्द कर दिया गया था। उसमें 'स्थायीकरण निधि' में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक देश को निधि द्वारा अन्य देशों की मुद्राओं की जो विनिमय दर निर्धारित कर दी गई थी उन्हें उपयुक्त क्रिया द्वारा बनाए रखने के लिए विवश किया गया था। इसका अर्थ क्या होगा, यह कहीं भी स्पष्टरूप से बतलाया नहीं गया था, परन्तु उसका अर्थ उससे अन्य क्या हो सकता था कि यदि किसी देश की मुद्रा कठिनाइयों में फँस जावे तो सम्बंधित देश को पुराने तरीके के स्वर्ण मान के अनुसार मुद्रा संकुचन को अपनाना पड़ता। इसके लिए वचन बद्ध होने के लिए देशों से कहना उनके लिए बहुत अधिक था जबकि उन्हें यह ज्ञात था कि इसका अर्थ यह होगा कि जब कभी संयुक्त राज्य अमेरिका में मंदी हो तो उस मंदी को—अन्य देशों में एक विस्तृत क्षेत्र में फैला दिया जावे और वे देश यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाए रखने के लिए अपरिहार्य उपाय काम में लाना चाहें तो उन्हें उन मौद्रिक अभ्युपायों को अपनाने से मना कर दिया जावे। वास्तव में व्हाइट योजना वापस स्वर्ण मान को उसकी सम्पूर्ण कठोरता में लागू करना चाहती थी, वह उसको एक बंधनकारी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते में समाविष्ट कर पुनः आरोपित करना चाहती थी, और असंतुलित विनिमय स्थिति को सुधारने के लिए देशों को पुराने बंदनाम विस्फ्रीति के तरीके को वापस अपनाने के लिए विवश करना चाहती थी।

अवश्य ही यह समझना सरल है कि अमेरिकनों ने जो योजना विचारायें उपस्थित की उसके अन्दर स्वर्ण के मूल्य को बनाए रखने और उसकी पवित्रता को कायम रखने का आग्रह क्यों था ?

कीन्स योजना में भी जो इस दृष्टि से व्हाइट-योजना की तुलना में अति-श्रेष्ठ थी स्वर्ण मान को वापस अपने पीठ पर स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया गया था । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-विनियमन की संमत योजना के अंश के रूप में यह वांछनीय हो सकता है कि किसी देश द्वारा अपने निर्यातों को बढ़ाने के लिए अपनी मुद्रा के विनियम मूल्य को घटाने की एक पक्षीय कार्यवाही के विरुद्ध जिससे कि दूसरे देशों के हितों की हानि हो कुछ अभिरक्षण वरता जावे । केवल अनिवार्य आवश्यकता को छोड़कर देशों से यह अपेक्षा करना उचित होगा कि वे बिना पूर्व सूचना और परामर्श के अपनी मुद्रा के मूल्य में कोई परिवर्तन न करें । किन्तु इसके आगे वे उचित रूप से यह दावा कर सकते हैं कि उनको अन्ततोगत्वा अपनी मुद्रा के मूल्य को निश्चित करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जावे, क्योंकि पूर्ण रोजगार की नीतियों का अनुसरण करने की स्वतंत्रता की यह आवश्यक शर्त है । सूचना देने तथा पूर्व परामर्श करने के प्रावधानों पर युक्तसंगत आग्रह रखा जा सकता है—यद्यपि पूर्व सूचना देना मुद्रा सम्बंधी सट्टे के नियंत्रण में कतिपय भट्ठी समस्याओं को जन्म देता है । किन्तु अवश्य ही यह प्रत्येक देश को तय करने के लिए छोड़ देना चाहिए (अथवा देशों के समूह को जहां इस-प्रकार के मामले में कई देश एक साथ कार्य कर रहे हों) कि वह अन्ततोगत्वा यह निश्चय करें कि उनकी निज की मुद्रा का क्या अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य होगा ।

जब मैं यह कहता हूँ कि देशों को अन्ततोगत्वा बिना अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अपनी मुद्राओं का नियमन करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए तो मेरे कहने का यह अर्थ कदापि भी नहीं है कि देशों को समान मुद्रा नीतियों का अनुसरण करने अथवा अपनी मुद्राओं को बिना किसी रोक के विनियम साध्य बनाने का मैं विरोध करता हूँ । इसके विपरीत जहां कहीं अन्तर्निहित परिस्थितियाँ बिना किसी देश के कल्याण का शक्तिशाली देश के आदेश पर त्याग किए अथवा स्वर्ण मान को वेदवाक्य मानकर इस प्रकार के प्रबंधों के करने की सुविधा प्रदान करती हैं इस प्रकार के प्रबंध अत्यन्त वांछनीय हैं । स्टर्लिंग क्षेत्र एक अच्छी चीज है क्योंकि वह कई देशों के बीच व्यापार की बाधाओं को हटाता है जो यदि अपनी अनेक मुद्राओं की व्यवस्था बिना परस्पर व्यवस्थापन के करने लग जावें तो सब देशों की स्थिति खराब हो जावे । इसी प्रकार योरोपियन भुगतान संघ इन्हीं कारणों से एक अच्छी चीज है । इनमें से कोई भी संस्था बिना संघर्ष के पूर्णता से काम नहीं करती । आस्ट्रेलिया ने स्टर्लिंग क्षेत्र के डालर-पूल से अधिक डालर निकाल कर कदाचारपूर्ण व्यवहार किया और योरोपियन भुगतान संघ में फ्रांस ने निरन्तर ऋणी रहने के कारण अपने डालर निकालने के अधिकारों का

उपयोग अपने यहां कीमतों का फ्रैंक के अवास्तविक स्वर्ण मूल्य से यथार्थिक सम्बंध स्थापित करने की आवश्यकता को ढालते रहने के लिए किया। किन्तु ऐसे दुरुपयोग जैसा कि ग्रेट-ब्रिटेन ने उपनिवेशों के डालरों का उपयोग करके किया आपाती थे। इस पुस्तक में जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ यह नहीं है कि द्रव्य सम्बंधी राष्ट्र-वाद आर्थिक राष्ट्रवाद के समान ही बुराई के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

मैं जिस बात पर बल दे रहा हूं वह यह है कि अविभेदी व्यापार की भांति ही द्रव्य सम्बंधी अन्तर्राष्ट्रीयता के लाभ भी उन्हीं देशों और क्षेत्रों में सीमित होते हैं जिनमें या तो मूलभूत साम्य उपलब्ध होता है अथवा उसको स्थापित किया जा सकता है। स्टर्लिंग क्षेत्र उत्तम है क्योंकि उसको चलाया जा सकता है। वह पृथ्वी के एक बड़े भाग में अबाध क्रय-विक्रय व्यवहार को स्थापित करने में सहायता पहुंचाता है क्योंकि यह क्रय विक्रय व्यवहार उस क्षेत्र में आधिक्य और घाटे वाले देशों के बीच संकट उपस्थित किए बिना अबाध रूप से किए जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि उस क्षेत्र में कोई चिरकालिक 'दुष्प्राप्य मुद्रा' नहीं है। योरोपियन भुगतान संघ मुख्यतः फ्रांस की अस्थिरता के कारण अपेक्षाकृत कम अच्छी तरह चलता है। फिर भी यह कुछ न से बहुत बेहतर है। इस प्रकार के प्रवन्ध-विश्व-व्यापी द्रव्य सम्बंधी समझौतों से जो अबाध परिवर्त्यता की शर्तों पर उन देशों को एक साथ बांध देते हैं जिनमें मूलभूत आर्थिक विसंतुलन मौजूद है—बहुत अधिक भिन्न आधार पर होते हैं। क्योंकि द्रव्य सम्बंधी संघ उनको दूर करने में असमर्थ रहते हैं और जहां वे मौजूद होते हैं, स्थिर विनिमय दरों पर अबाध परिवर्तनशीलता का अवश्यम्भावी परिणाम होता है 'संकट', जिसका अनुसरण अत्यन्त त्वरित रूप में राष्ट्रीय आयन्त्रण की भगदड़ में होता है।

कीन्स और व्हाइट योजनाओं के स्वर्ण मान सम्बंधी स्वरूप पर पहले विचार किया गया क्योंकि उन्होंने ही मूलभूत आपत्तियों को जन्म दिया। वजाय ऐसी प्रणाली को स्वीकार करने के जिसमें पुराने समय के वांछित विस्फीत पर पुनः वापस लौटना पड़े यह अधिक अच्छा होगा कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली न हो। परन्तु यह ठीक है कि न तो कीन्स और न व्हाइट योजना ही का अप्रिभाय विस्फीतकारी था। उससे बिल्कुल उल्टा था। दोनों योजनाओं का उद्देश्य युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करने के लिए आधार उपलब्ध करना और उस स्थिति का सामना करना था जिसमें विशेष उपायों के अभाव में बहुत से देश विदेश में अपने लिए नितान्त अपरिहार्य वस्तुओं को खरीदने के साधनों से अपने को सर्वथा वंचित पाते। दोनों ही योजनाओं में सबसे अधिक साकारात्मक विशेषता यह थी कि युद्धोत्तर काल की कठिनाइयों को पार करने के लिए सभी हस्ताक्षर करने वाले देशों के आधीन अन्तर्राष्ट्रीय क्रय शक्ति की प्रारम्भिक राशि रखने की वह युक्ति

थी । दोनों योजनाओं में इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जो प्रस्ताव किया गया उसका अर्थ एक नई अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग संस्था की पुस्तकों में एक निश्चित अधिकतम राशि तक अधिक अन्तर्राष्ट्रीय-क्रय शक्ति निकाल सकने की सुविधा प्रदान करना था । जिस प्रकार प्रत्येक देश में बैंक साख का निर्माण करते हैं ठीक उसी प्रकार इस संस्था को अन्तर्राष्ट्रीय क्रय शक्ति की नई राशि का निर्माण करना था, प्रत्येक देश को एक अभ्यंश (कोटा) देने का प्रस्ताव था जिससे वे अपनी विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विदेशी विनिमय निकाल सकते थे । सभी देश जो—दोनों में किसी भी योजना में सम्मिलित होना स्वीकार करते उन्हें उस नए अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य को उसका जो भी मूल्य निर्धारित होता उस पर स्वर्ण के समान मानना स्वीकार करना पड़ता और नई संस्था की पुस्तकों में जमा के हस्तान्तर को देशों या केन्द्रीय बैंकों के बीच ऋण परिशोधन के रूप में स्वीकार करना पड़ता ।

सच तो यह है कि ब्रिटिश योजना की तुलना में अमेरिकन योजना खुलकर यह स्वीकार करने में बहुत अधिक संकोचशील थी कि उसने जो प्रस्ताव रक्खा है वह वास्तव में एक नए अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य का निर्माण है जो किसी एक देश के अन्दर साख निर्माण के सदृश्य है । व्हाइट योजना का प्रस्ताव था कि 'स्थायीकरण निधि' को सदस्य राष्ट्रों से अनिवार्य चन्दा लेकर आरम्भ करना चाहिए जो कि अंशतः स्वर्ण में और अंशतः राष्ट्रीय-मुद्रा और प्रतिभूतियों में चुकाया जा सकता था । जिससे कि ऐसा प्रतीत हो कि नया द्रव्य इन निक्षेपों का प्रतिनिधित्व करता है और वह नव निर्मित प्रतीत न हो । जिस सीमा तक व्हाइट योजना में जमा स्वर्ण में करना आवश्यक था जिससे कि वह साख कम हो जाती जिसे स्वर्ण जमा करने वाले देश स्वयं इन स्वर्ण निक्षेपों से निर्माण कर सकते थे—वहां तक नए द्रव्य का निर्माण नहीं होता । किन्तु शेष के लिए वावजूद उसकी लड़िवादी शब्दावलि के व्हाइट योजना ने वास्तव में एक नये अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य के निर्माण की धारण की थी जो कि कीन्स योजना द्वारा खुले रूप में—आम समर्थित द्रव्य सिद्धान्त से भिन्न नहीं था ।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य के निर्माण का यह विचार पूर्णतः ठीक था । समस्त संसार का एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक क्यों न हो, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिए साख निर्माण करने का उसी प्रकार अधिकार हो जिस प्रकार केन्द्रीय बैंकों को अभी तक राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिए साख निर्माण करने का अधिकार था । अवश्य ही इस प्रकार के साख निर्माण से संसार के भुगतान के साधनों की राशि में वृद्धि होगी । यदि उसको छोड़कर संसार के सभी देशों में पूर्ण रोजगार और ऊंचे स्तर के व्यापार की वित्त व्यवस्था करने के लिए यथेष्ट प्रभावकारी क्रय शक्ति होती तो वह 'स्फीतकारी' होती । किन्तु स्पष्ट है कि संसार इस स्थिति में नहीं था और न उसके उस स्थिति में तब तक आने की सम्भावना है जब तक कि उसको लाने के लिए

विक्षेप उपाय न किए जावें। यदि स्वर्ण की कुछ राशि इस प्रयोजन को पूरा करने के लिए यथेष्ट होती तो भी जो कुछ आवश्यक था वह नहीं कर सकती क्योंकि अधिकांश स्वर्ण संयुक्त राज्य अमेरिका का था और वह संसार के उत्पादन और व्यापार की वित्त-व्यवस्था के लिए उपलब्ध नहीं था। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका अपने स्वर्ण को दे देने के लिए तैयार होता, विभिन्न देशों में उनकी आवश्यकता के अनुसार वह सोना बांट देता तो युद्धोत्तर काल के व्यापार का उड़्डीय आरम्भ करने के लिए नई क्रय-शक्ति का निर्माण अनावश्यक हो सकता था। किन्तु यह स्पष्ट था कि संयुक्त राज्य का इस प्रकार आचरण करने का कोई विचार नहीं था। केवल अन्य देशों को स्वर्ण उधार देने के लिए राजी होना उस प्रयोजन के लिए जो ध्यान में था उसका कोई उपयोग नहीं था क्योंकि देश या तो संयुक्त राज्य के पहले ही ऋणी थे अथवा ऋणी होने ही वाले थे, ऐसी दशा में उस स्वर्ण को उधार लेने की उनकी सामर्थ्य नहीं थी। अतएव यह स्पष्ट था कि यदि युद्ध से क्षीण हुए राष्ट्रों को ऐसी स्थिति में लाना था कि वे एक दूसरे की वस्तुओं को उचित मूल्य पर खरीद सकें तो उन्हें आरम्भ करने के लिए बड़ी मात्रा में साख देना आवश्यक था। उनसे भी अधिक साख की आवश्यकता उन देशों को थी जिनका भीषण विध्वंस हुआ था और तब तक उनको आंशिक रूप से साख पर जीवित रहना था जब तक कि उन्हें अपनी उत्पादन शक्ति को पुनर्स्थापित करने के लिए समय न मिल जाता।

एक नए प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय क्रय शक्ति का जिसका आधार आवश्यक रूप से विश्व द्वारा पूर्ण रोजगार की परिस्थितियों में उत्पादन करने की क्षमता पर था—निर्माण करने का प्रस्ताव एक अच्छा विचार था। परन्तु जैसे ही हम उन तरीकों की ओर दृष्टि करते हैं जो कि दोनों योजनाओं में उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सुझाए गए हमें ज्ञात हो जाता है कि दोनों में कितना बड़ा अन्तर था। कीन्स योजना का प्रस्ताव था कि प्रत्येक देश को उपलब्ध किए जाने वाले साख अर्भ्यंश का आधार प्रत्येक देश के महायुद्ध से पूर्व का विदेशी व्यापार (आयात निर्यात) होना चाहिए। आरम्भ में प्रस्तावित अर्भ्यंश युद्ध के पूर्व तीन वर्षों के प्रत्येक देश को विदेशी व्यापार के औसत मूल्य का 75 प्रतिशत था। बाद की सम्बन्धित देशों के युद्धोत्तर व्यापार के अनुसार उसके संशोधन की व्यवस्था थी। इस सूत्र के अनुसार युद्ध पूर्व के समस्त स्वर्ण आरक्षित कोष का आरम्भिक अर्भ्यंश मोटे रूप में दो तिहाई होता परन्तु अवश्य ही वह बहुत अधिक सन्तुलित बंटा होता। व्हाइट योजना में अर्भ्यंश किस सूत्र के अनुसार विभाजित होंगे उसका कोई उल्लेख नहीं था। परन्तु उसमें जितनी कुल निधि की व्यवस्था की गई थी वह बहुत थोड़ी मात्रा में थी। उसके अन्तर्गत अनेक उलभन भरे प्रावधानों से—जिसमें किसी एक देश द्वारा कितनी रकम का उपयोग किया जा सकता था उसको सीमित कर दिया गया था और उन सभी देशों को जो उस योजना में प्रवेश करते, बड़ी मात्रा में स्वर्ण जमा करना आवश्यक था।

इन दोनों ही प्रावधानों के कारण वास्तविक साख की रकम और अधिक घटा दी गई थी। उन स्वर्ण निक्षेपों को जिनका स्वयं का प्रभाव विस्फोटकारी होता जहां उन देशों के संचित कोषों से निकालना पड़ता जिन्हें साख की आवश्यकता होने की सम्भावना थी यदि केवल रूढ़िवादिता को छोड़ दें तो उन स्वर्ण निक्षेपों का विचार कर सकने योग्य उद्देश्य संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा उन देशों को स्वर्ण उधार देने में सहायक होना था जिनमें स्वर्ण को खरीदने की सामर्थ्य नहीं थी।

सभी देशों को अभ्यंश देना ही वास्तव में दोनों योजनाओं की मूल्यवान विशेषता थी। उससे संसार का व्यापार पुनः आरम्भ होता। परन्तु यह महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखने की है कि अभ्यंश केवल आरम्भिक साख के लिए ही रखा गया था। दोनों ही योजनाओं में यह मान्यता अन्तर्हित थी कि यदि देशों को कुछ वर्ष युद्धोत्तर स्थिति को सम्हालने के लिए मिल जावें तो वे साम्य की स्थिति में पहुँच सकेंगे जिसमें उन्हें जितना उससे विदेशों को चुकाना होगा उसका संतुलन उन्हें जो विदेशों से प्राप्त करना होगा, हो सकेगा। इसका अर्थ यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय 'समाशोधन संघ' अथवा 'स्थायीकरण निधि' की पुस्तकों में प्रत्येक का खाता संतुलित हो जावेगा।

जहां कोई अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण नहीं है और प्रत्येक देश एक पृथक् वित्तीय इकाई की तरह व्यवहार करता है वहां एक अर्थ में संतुलन सर्वदा स्थापित हो जावेगा। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान तीन पृथक् धाराओं से मिलकर बनते हैं। चालू व्यापार के सौदों से उत्पन्न होने वाले भुगतान, दीर्घकालीन पूँजी के सौदों से उत्पन्न होने वाले भुगतान, तथा अल्पकालीन पूँजी भुगतान। पहले में चालू व्यापार, यातायात, और बीमा के सिवाय विद्यमान विनियोगों पर सूद और लाभांश का भुगतान भी शामिल होते हैं। दूसरे प्रकार में नवीन दीर्घकालीन विनियोगों के सम्बन्ध में भुगतान होता है। तीसरे में स्वर्ण का आना जाना, एक द्रव्य से दूसरे केन्द्र को दिए गए अल्पकालीन ऋण, और वह धनराशि जो कि प्राप्त हो गई है परन्तु जो उस देश से निकाली नहीं गई अथवा जो उस देश में जिसमें निधि को छोड़ दिया गया है दीर्घकालीन विनियोग में लगा दी गई है—शामिल है। देश के अन्दर आने और बाहर जाने वाले इन सब व्यापारिक सौदों का योग सदैव संतुलित होगा, क्योंकि एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा से होने वाले प्रत्येक विनिमय में दो तरफा सौदा उपलब्ध होता है। किन्तु समस्त सौदों के संतुलन का अर्थ पृथक् सौदों का संतुलन नहीं होता। यदि उपहारों को छोड़ दें, तो एक देश जितना निर्यातों तथा नौवहन, और बीमा सेवाओं, तथा विदेशों में विनियोगों के प्रतिफल के द्वारा चुका सकता है यदि उससे अधिक आयात करता है तो वह उस अन्तर को स्वर्ण का निर्यात करके पूरा

कर रहा हो अथवा उसके विकल्प में दीर्घकालन पूंजी आयातों में से* (अर्थात् जहां विदेशी उसके उद्योगों में हिस्से खरीद रहे हों अथवा वह अपने पुराने विदेशी विनियोगों को बेच रहा हो) अथवा अल्पकालीन पूंजी के आयातों में से पूरा कर रहा हो। उसका यह अर्थ हुआ कि जो धनराशि उसके द्वारा अन्य देशों को देय है वह उस देश से निकाली नहीं जा रही है अथवा विदेशी लोग उस देश के द्रव्य बाजार में अल्पकालीन निधि जमा कर रहे हैं।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ अथवा उसके समान कोई संस्था विद्यमान है तो स्थिति कुछ बदल जाती है। क्योंकि उस दशा में चालू घाटे को पूरा करने के लिए संघ की पुस्तकों में यदि कोई जमा उपलब्ध है तो उसको निकालकर घाटे को पूरा करने के लिए एक अतिरिक्त सम्भावना उपस्थित हो जाती है। जो देश ऐसा करता है वह विशेष देशों अथवा विशेष देशों के नागरिकों का कर्जदार न होकर संघ का ऋणी हो जाता है। परिणाम स्वरूप उसके भुगतान तभी संतुलित होंगे जब कि ऋण को भी हिसाब में शामिल किया जावेगा।

जो देश निरन्तर समाशोधन संघ के ऋणी रहते हैं जब हम उनसे व्यवहार करने के सम्बन्ध में प्रस्तावों पर विचार करते हैं तो यह प्रश्न महत्वपूर्ण बन जाता है। यदि कोई देश अपने विदेशी वचनबन्ध को पूरा करने के लिए संघ में अपने अकलन शेष से बराबर निकालता रहे तो अन्त से उसका अम्यंश समाप्त हो जावेगा और वह और अधिक नहीं निकाल सकेगा। सच तो यह है कि दोनों ही योजनाओं में यह प्रस्ताव किया गया था कि उसके अम्यंश के समाप्त होने के पहले ही उसको सुधारने के उपाय काम में लाए जाने चाहिए। कीन्स योजना में किसी भी राज्य को एक वर्ष में अपने अम्यंश के एक चौथाई से अधिक विकलन शेष में बिना शासी प्रमण्डल (गवर्निंग बोर्ड) की अनुमति के वृद्धि करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती थी। यदि दो वर्ष से ऊपर उसके विकलन शेष का औसत उसके अम्यंश के एक चौथाई से अधिक रहे तो उसको अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने की आज्ञा दी जा सकती थी, किन्तु पांच प्रतिशत से अधिक नहीं। यदि उसका विकलन-शेष उसके अम्यंश का आधा हो जावे तो उसको आनुषंगिक प्रतिभूति जमा कराना पड़ सकता था। वह विकलन शेष में शासी प्रमण्डल (गवर्निंग बोर्ड) की कतिपय अपेक्षाओं को पूरा किए बिना अपने अम्यंश के आधे से अधिक की वृद्धि नहीं कर सकता था, जिसके अन्तर्गत और अधिक अवमूल्यन, पूंजी के आवागमन पर नियंत्रण, अपने निज के स्वर्ण और विदेशी विनिमय के संचित कोष का एक भाग दे देना—सम्मिलित थे, और यह सब

*अवश्य ही इसमें सार्वजनिक पूंजी भी सम्मिलित है जब कि एक सरकार दूसरी सरकार को द्रव्य उधार देती है।

शासी प्रमण्डल के विवेक पर निर्भर था । इसके अतिरिक्त शासी प्रमण्डल सदस्य राज्य को उसकी अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने वाले ऐसे आन्तरिक उपायों को अपनाने की सिफारिश कर सकता है जो उसके अन्तर्राष्ट्रीय शेष का साम्य पुनर्स्थापित करने के लिए उपयुक्त प्रतीत होते हों । यदि किसी देश के वर्ष भर के औसत का विकलन शेष उसके अर्थ्यंश के तीन चौथियाई से अधिक हो जावे तो शासी प्रमण्डल (गवर्निंग-बोर्ड) को और अधिक उपाय काम में लाने का अधिकार था और यदि वह उचित समझे तो उस देश को और अधिक साख देना अस्वीकार कर सकता था ।

स्पष्ट है कि कीन्स योजना के अन्तर्गत साख की सुविधाओं को बहुत सी शर्तों से घेर दिया गया था । उनका स्पष्ट उद्देश्य यह था कि सदस्य देश अपने अर्थ्यंश को ऐसी राशि न मानने लगे जिससे वे उसके समाप्त होने तक अघाघ रूप से निकालते रह सकते थे, वरन् उसको वे अग्रिम के रूप में मानें जो कि प्रत्येक देश को संतोषपूर्ण व्यापार शेषों की स्थिति को प्राप्त करने के लिए उचित समय प्रदान करता था ।

व्यापार शेष की संतोषजनक स्थिति उसको मनाना चाहिए जिसमें कोई देश अपने निर्यातों द्वारा उसके पास इकट्ठी होने वाली राशि में से अपने बाह्य ऋण को चुका सके । निर्यातों में अदृश्य निर्यात तथा वह शुद्ध रकम जो विदेशी उस देश में दीर्घकाल के लिए विनियोग कर रहे हों सम्मिलित है परन्तु ऊपर वर्णित अल्पकालीन विदेशी ऋण उनमें सम्मिलित नहीं हैं । यदि राष्ट्रीय सीमाओं के आरपार होने वाले सभी व्यापारिक सौदे एक समाशोधन संघ की पुस्तकों में दर्ज होकर हों तो संघ को सभी सम्बद्ध कारणों का ज्ञान रहेगा और वह यह बतलाने की स्थिति में होगा कि उसकी पुस्तक में लिखा हुआ विकलन किसी देश के वास्तविक विकलन (नामे) को कहां तक प्रगट करता है । किन्तु ऐसा प्रस्ताव नहीं किया गया । न तो कीन्स योजना में प्रस्तावित समाशोधन संघ और न व्हाइट योजना में, 'स्थायीकरण निधि' ही समस्त अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सौदों का प्रबंध करने वाला था । उनमें से कोई भी दीर्घकालीन पूंजी के आवागमन का प्रबंध करने के लिए नहीं था और न किसी के पास अल्पकालीन सौदों के प्रबंध का ही एकाधिकार था । अतएव संघ की पुस्तकों में विकलन शेष किसी देश द्वारा उसके चुकाने की वास्तविक सामर्थ्य से अधिक खरीदने के कारण उत्पन्न न होकर उसके द्वारा निधि के एक भाग—जिसका उपयोग चालू विकलन शेष को चुकाने में किया जा सकता था—का उपयोग विलकुल दूसरे ही कार्य के लिए किए जाने से उत्पन्न हो सकता था । जैसे कि उस देश से पूंजी का पलायन । पूंजी पलायन या तो विदेशों में दीर्घकालीन विनियोग के द्वारा अथवा अवमूल्यन के खतरे से बचने के लिए अल्पकालीन निधि के वहिर्गमन के द्वारा, अथवा अन्य किसी कारणवश हो सकता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ अथवा उस जैसे अन्य निकाय को दिए गए नियंत्रण

का बुद्धिमानों से उपयोग कर सकने के लिए यह जानना अपरिहार्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सौदों के सम्पूर्ण क्षेत्र में क्या घटित हो रहा है। केवल उन सौदों के बारे में जानने से जो उसके हाथ निकले हैं उसका काम नहीं चल सकता। और यदि देश अपने चालू खाते के घाटों को पूंजी के पलायन से और अधिक बढ़ने देना नहीं चाहते तो पूंजी के आवागमन पर नियंत्रण स्थापित करना अपरिहार्य हो जावेगा। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि जिन देशों का अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन खाते में बहुत अधिक विकलन (नामे) हो गया हो उनसे संव्यवहार करने के लिए एक उपाय कीन्स योजना में पूंजी के वहिर्गमन पर प्रस्तावित नियंत्रण स्थापित करने का था। किन्तु उसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि इस नियंत्रण के अन्तर्गत अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही निधियों का समावेश होना था। उसको प्रभावकारी बनाने के लिए यह आवश्यक होता और उस प्रकार का नियंत्रण स्थापित करने के लिए अत्यन्त उचित कारण भी थे। यह नियंत्रण जब विकलन उत्पन्न हों तो उसको ठीक करने के लिए असामान्य उपाय के रूप में नहीं बरन् प्रत्येक देश के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय नियमन की यंत्ररचना के एक सामान्य पुर्जे के रूप में स्थापित होना जरूरी था।

कीन्स योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित समाशोधन संघ बारह से पंद्रह सदस्यों के एक शासी प्रमंडल से प्रशासित होता। जिन राज्यों का अभ्यंश अधिक बढ़ा था उनका प्रत्येक का एक प्रतिनिधि रहता और अन्य राज्यों को प्रतिनिधित्व के लिए समूहों में बांट दिया जाता। मतदान व्यक्तियों को गिन कर नहीं बरन् अभ्यंश के आधार पर होता और प्रत्येक राज्य को फिर चाहे उसका शासी प्रमंडल पर प्रतिनिधित्व हो या न हो अपना एक अभिकर्ता (एजेंट) रखने का अधिकार था जो अपने देश के मामले की चर्चा होने के समय शासी प्रमंडल में उपस्थित रहता। व्हाइट योजना इस सम्बंध में कम स्पष्ट थी परन्तु उसमें समस्त शक्ति एक संचालक मंडल को देने का प्रस्ताव था। संचालक मंडल में प्रत्येक देश का सीधा प्रतिनिधित्व होता। मतदान मोटे रूप में अभ्यंशों के आधार पर इस प्रावधान के अन्तर्गत होता कि किसी देश के मत सम्पूर्ण मतों के एक चौथाई से अधिक नहीं होंगे। इसका अर्थ होता एक बड़ा संचालक मंडल। व्हाइट योजना में उसमें से एक कार्यकारिणी समिति के चुने जाने का प्रस्ताव था जिसके पास व्यवहार में बहुत अधिक शक्ति रहती। व्हाइट योजना के प्रावधान इस तरह के बनाए गए थे कि उसकी कठोर शर्तों में किसी प्रकार का पर्याप्त संशोधन करने के लिए वास्तव में संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ में प्रभावकारी निषेध रहता।

दोनों योजनाओं का उद्देश्य संसार के प्रमुख द्रव्य केन्द्रों में अल्पकालीन शेषों के एक भाग को 'बैंकर' अथवा 'यूनिटास' में अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की पुस्तकों में आकलन शेष के रूप में हस्तान्तरित करके इकट्ठा होने से रोकना था। किन्तु

अल्पकालीन शेषों का विदेशों में इकट्ठा होना विलकुल रुक नहीं जाता क्योंकि इस प्रकार का कोई प्रस्ताव नहीं था कि नई संस्था को अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सौदों का एकाधिकार दिया जाय । अतएव व्यक्तिगत देशों के लिए यह आवश्यक होता कि वे अल्पकालीन पूंजी आवागमन का नियंत्रण करने के लिए स्वयं निज का यंत्र स्थापित करें ।

यथेष्ट सीमा तक यह स्पष्ट है कि चालू और पूंजी के सौदों का प्रबंध एक साथ करना चाहिए । ब्रिटिश और अमेरिकन दोनों ही प्रस्ताव स्पष्टतः अपूर्ण थे जब तक कि उनको समान पूंजी के दीर्घकालीन और अल्पकालीन आवागमन सम्बंधी समानान्तर प्रस्तावों से पूर्ण नहीं कर दिया जाता । एक शुद्ध वित्तीय समझौता जिसमें देशों को द्विदेशीय व्यापारिक नीतियों का अनुसरण न करने के लिए बांध दिया जाता अवश्य ही टूट जाता । जब तक कि उसके साथ एक समानान्तर समझौता या समझौते न किए जाते कि जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और रोजगार सम्बंधी नीतियों के मुख्य प्रश्न को संतोषजनक रूप से हल कर सकते ।

दोनों योजनाओं में कमी इस बात की थी कि उनमें इस बात की कोई चर्चा नहीं की गई थी कि यदि देश अपनी साख सुविधाओं को समाप्त करदे और एक असंतुलित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति फिर भी विद्यमान रहे तो क्या किया जावे । उनमें से किसी एक में भी उस आवश्यकता की ओर संकेत नहीं था जो 1945 के शीघ्र ही वाद अनुभव हुई—अर्थात् संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अन्य देशों को अकस्मात् गिर जाने से बचाने के लिए बड़ी राशि में उपहार देना ।

अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग और जीवन-स्तर

दोनों योजनाओं में जिनकी चर्चा पन्द्रहवें अध्याय में की जा चुकी है केवल अल्पकालीन अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की समस्याओं का अध्ययन किया गया था। उनके प्रकाशन के शीघ्र बाद ही एक दूसरी अमरीकी योजना प्रगट हुई। इस बार उसके साथ कोई प्रतिस्पर्धी ब्रिटिश मसविदा नहीं था। इस दूसरी व्हाइट योजना में एक अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग बैंक को स्थापित करने का प्रस्ताव था जिसकी आरम्भिक पूंजी दो अरब डालर से बढ़कर अन्त में कुल दस अरब डालर हो जाती। यह निधि सभी सदस्य राष्ट्रों अर्थात् ऋण देने वालों और लेने वालों द्वारा मिलकर दी जानी थी। स्पष्ट था कि प्रथम बार वह अधिकांश पूंजी संयुक्तराज्य अमेरिका से प्राप्त होती क्योंकि वही अकेला राष्ट्र था कि जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग के लिए पर्याप्त आधिक्य हो सकता था। राष्ट्रों के अर्धश आंशिक रूप से स्वर्ण में और आंशिक रूप से सदस्य देश की मुद्रा में चुकाए जाने थे। कुल अर्धश का अनुपात जो स्वर्ण में रखना था उसकी अधिकतम सीमा पांचवा हिस्सा थी। जिन देशों के पास स्वर्ण की कमी थी उनके लिए उससे कम अनुपात रक्खा गया था। किन्तु उसके अतिरिक्त प्रत्येक देश का प्रतिवर्ष दो प्रतिशत के हिसाब से अपनी मुद्रा को स्वर्ण से बदल देने का दायित्व था। स्पष्ट था कि अन्त में सम्पूर्ण दस अरब डालर को स्वर्ण में बदल देना अभीष्ट था। इस संबंध में यूनिटास अथवा बैंकोर का स्वर्ण के स्थानापन्न के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया गया। प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का पूर्व-व्हाइट योजना में अपेक्षित स्थायीकरण निधि से किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न नहीं किया गया।

सदस्य देशों की सरकारों द्वारा दी गई पूंजी के अतिरिक्त बैंक को संसार के निजी विनियोग बाजारों में ऋण लेकर और अधिक पूंजी में वृद्धि करने का अधिकार दिया गया था। अस्तु इस योजना में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग के लिए कितनी पूंजी की व्यवस्था हो सकती थी उसकी कोई सीमा नहीं थी।

किन्तु इस सम्भाव्य विशाल पूंजी राशि का उपयोग किन उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है इस पर बहुत अधिक सीमाएं लगाई गई थीं। उसकी व्याख्या करते हुए जापन में इस बात को दोहराया गया कि प्रस्तावित बैंक निजी अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को अधिलंघन करने, अथवा उसके प्रतिस्पर्धी के रूप में खड़ा नहीं किया जा रहा है। उसका उपयोग केवल उन योजनाओं के लिए किया जावेगा जो निजी क्षेत्र

के बाहर की हों, अथवा वे योजनाएं जो निजी विनियोग के क्षेत्र के बाहर हों, क्योंकि उनको विशाल पैमाने पर शुरू करने की जरूरत है। जापन में इस बात पर भी बल दिया गया था कि बैंक केवल सरकारों अथवा सरकारी अभिकरणों (एजेन्सियों) से ही व्यवहार करेगा। वह तब तक निजी निकायों को ऋण नहीं देगा जब तक कि संवन्धित देशों की सरकारें उसकी गारन्टी न दे दें। सामान्य तौर पर बैंक स्वयं ऋण देने के बजाय सरकारों अथवा सरकारी अभिकरणों को दिए गए निजी ऋणों की गारन्टी देने को प्राथमिकता देगा। स्पष्ट था कि यह सभी प्रावधान उन आलोचकों को निरुत्तर करने के लिए थे कि जो उस प्रस्ताव का विरोध निजी उद्यम क्षेत्र का अतिक्रमण कहकर करते।

इस बैंक योजना में पुनः एक बार अमेरिका की स्वर्णमान को पुनर्स्थापित करने और उसको अन्तर्राष्ट्रीय अनुमोदन से सुदृढ़ बनाने की इच्छा प्रगट हुई। यही कारण था कि पहले अंश में स्वर्ण अभिदान देने का प्रवधान था और अन्त में बैंक की सम्पूर्ण दस अरब डालर की प्रस्तावित पूंजी स्वर्ण में परिणत करने की व्यवस्था थी। जिन देशों को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से पूंजी प्राप्त होती उन्हें स्वर्ण की तत्काल आवश्यकता नहीं थी, उनको वस्तुओं की आवश्यकता थी। यदि वे स्वर्ण अथवा उस पर आधारित साख का उपयोग वस्तुओं को प्राप्त करने में कर सकते तो बहुत ठीक था। परन्तु वह हो किस प्रकार? चालू खाते में संयुक्तराज्य अमेरिका आधिव्य वाला देश है। उसका आधिव्य निर्यात का है जिसका मूल्य उसको प्राप्त करने वाले देश चुका सकने की सामर्थ्य नहीं रखते। जब तक कि संयुक्तराज्य अमेरिका जानबूझ कर अपने निर्यातों को नहीं घटाता—अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन तभी स्थापित हो सकता है कि जब इन निर्यातों का एक अंश दीर्घकालीन ऋण में परिणत कर दिया जावे। किन्तु यदि संयुक्तराज्य अमेरिका इस प्रकार पूंजी का वस्तुओं के रूप में अभिदान करता है तो वह साथ ही स्वर्ण के रूप में उधार लेने वाले देशों के कुल ऋण को और अधिक बढ़ाए बिना अभिदान नहीं कर सकता। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण था कि उधार लेने वाले देशों का ऋणभार न्यूनतम रखा जावे, वह उनके साधनों के प्रभावकारी विकास के लिए वास्तव में आवश्यक था। उनको स्वर्ण खरीदने के लिए विवश करके जो कि उनकी सामर्थ्य के बाहर था उनके भार को बढ़ाना अवश्य ही भारी भूल थी।

यह आलोचनाएं दूसरी अमरीकी योजना के स्वरूप की हैं न कि उसके अन्तर्निहित अभिप्राय की। यह अत्यन्त वांछनीय था कि पिछड़े देशों के साधनों का विकास करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घकालीन विनियोग की एक बड़ी योजना तैयार हो। यह स्पष्ट था कि इस प्रकार की योजना के लिए आवश्यक वित्त का एक बड़ा हिस्सा संयुक्तराज्य अमेरिका को देना पड़ता। यदि संयुक्तराज्य अमेरिका उधार लेने वाले देशों के लिए आवश्यक पूंजी वस्तुओं के रूप में देता तो उसका परिणाम यह

होता कि संयुक्तराज्य अमेरिका के कुल निर्यात तदनुरूप बढ़ जाते और निर्यातों का आयात की तुलना में विद्यमान आधिक्य ज्यों का त्यों अच्छता बना रहता । इस आधिक्य को कम करने का एकमात्र उपाय यह था कि अमेरिकन अपने चालू आधिक्य का भुगतान—योजना से उत्पन्न होने वाले आधिक्य के अलावा—विदेशी उपक्रमों में अंशों या बांडों के रूप में अथवा सरकारी ऋणों के रूप में प्राप्त करते । इस प्रकार उपलब्ध किया हुआ द्रव्य अमेरिकन वस्तुओं पर खर्च न किया जाकर उन देशों में निर्मित पूंजी वस्तुओं पर व्यय किया जाता जिन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिकूल व्यापार शेष को पूरा करना था । दूसरे शब्दों में अमेरिका के ऋण को चुकाने के लिए उधार लेने वाले देशों को ब्रिटिश तथा अन्य योरोपीय देशों की वस्तुएं भेजना आवश्यक हो जाता । और इस प्रकार उत्पन्न होने वाली पूंजी परिसम्पत्ति का स्वामित्व या तो संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार का अथवा अमेरिका के निजी विनियोजकों का होता । सीधे उपहार देने के अलावा अमेरिका के चालू आधिक्य का उपयोग घाटे वाले देशों की पूंजी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए केवल मात्र यही एक उपाय था ।

अवश्य ही इसका यह अर्थ नहीं था कि उधार लेने वाले देशों को अमेरिका की पूंजी वस्तुएं भेजी ही नहीं जा सकती थीं । स्पष्ट है कि इस प्रकार की शर्त लगाने का प्रश्न ही नहीं था । परन्तु अमेरिका के विदेशी विनियोग जिनका रूप अमेरिका में निर्मित पूंजी वस्तुओं का था (अथवा वस्तुतः उपभोक्ता वस्तुएं) यदि उपहार के रूप में मुफ्त ही न दे दी जातीं तो वे अमेरिका के आधिक्य के आकार को घटाने में तनिक भी सहायक नहीं हो सकती थीं । तदनुसार यदि योजना को चलाना था तो अमेरिकनों ने जितनी अतिरिक्त वस्तुएं अथवा सोना भेजा उससे कहीं अधिक पूंजी विदेशों को उधार देने की आवश्यकता थी । उन्हें उन पूंजी-साधनों के स्वामित्व को स्वीकार करना होगा कि जो या तो उधार लेने वाले देशों में उत्पन्न किए गए हों अथवा जिनका आयात उन देशों से किया गया हो जिन्हें संयुक्तराज्य अमेरिका से चालू खरीद की मद में द्रव्य देना हो ।

इस प्रत्यक्ष सत्य का स्पष्ट उल्लेख जान बूझकर इसलिए नहीं किया गया कि यदि अमेरिकन लोग बजाय इसके कि वे यह जानते कि अधिकांश वस्तुएं अन्य कहीं तैयार होंगी; भावी विक्रेता होने के नाते यदि वे स्वयं यह देखते कि किन पूंजी वस्तुओं की आवश्यकता होगी तो अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की बड़ी योजनाओं के लिए वित्त प्रवृत्त करने का विचार उनको अधिक अपील करता । परन्तु इस अनिवार्य आवश्यकता से बचने का कोई उपाय नहीं था । एक देश जितना आयात करने के लिए तैयार है उससे अधिक निर्यात करता नहीं रह सकता जब तक कि वह या तो अपने आधिक्य को दे देने के लिए अथवा उसके भुगतान में विदेशी पूंजी सम्पत्ति को

स्वीकार करने के लिए तैयार न हो। यदि विदेशों में विशाल अल्पकालीन सम्पत्ति के एकत्रित हो जाने की कठिनाईयों को असहनीय माना जाता है तो ऋणी देशों के श्रम और पूँजी साधनों से निर्मित विदेशी दीर्घकालीन पूँजी धारणों को प्राप्त करना ही केवल बाकी रहता है।

स्पष्ट है कि दीर्घकालीन विनियोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बनाने के प्रस्ताव पर केवल प्रस्तावित समाशोधन संध अथवा स्थायीकरण निधि के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् अस्थायी रूप से गठित संयुक्तराष्ट्र सहायता तथा पुनर्स्थापन प्रशासन के तत्वावधान में अल्पकालीन सहायता और पुनर्स्थापन के प्रस्ताव पर भी विचार करना होगा। संयुक्तराष्ट्र सहायता तथा पुनर्स्थापन प्रशासन (यू. एन. एन. आर.) के विधान के अन्तर्गत उसका प्रशासन एक केन्द्रीय कमेटी के आधीन था जिसमें चार बड़े राष्ट्रों—संयुक्तराज्य, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ, तथा चीन का प्रतिनिधित्व था। केन्द्रीय कमेटी जनरल काँसिल अथवा व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति से उसका प्रशासन करती जिसमें सभी भाग लेने वाले देशों का प्रतिनिधित्व होता। वह मुख्यतः उप-समितियों के द्वारा काम करती। कुछ समितियाँ सहायता की पूर्ति की व्यवस्था का काम करतीं जिन पर पूर्ति देने वाले देशों का प्रतिनिधित्व था। अन्य उपसमितियाँ प्रादेशिक आधार पर निर्मित होतीं जो उन मुख्य प्रदेशों, जिन्हें तुरन्त सहायता की आवश्यकता थी—जैसे योरप, मध्यपूर्व, सुदूरपूर्व और शायद अन्य प्रदेशों में सहायता के वितरण और उनके उत्थान के लिए सहायता देने का जिम्मा लेतीं।

अन्ततः युद्धोत्तर वित्तीय और आर्थिक पुनर्संगठन की योजनाओं के चित्र चित्रण करने में 1943 के हाटस्प्रिंग सम्मेलन में निर्धारित संसार की अहार-पोषण नीति सम्बन्धी योजनाओं को भी ध्यान में रखना होगा (जिसमें से वर्तमान खाद्य और कृषि संगठन उत्पन्न हुआ), और पैदावारों सम्बन्धी समझौतों के द्वारा कीमतों और कई मुख्य खाद्य-पदार्थों की पूर्ति की परिस्थितियों को स्थिरता देने के लिए जिनकी संसार भर में उन्नत अहार-पोषण के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यकता थी विशेष उपाय काम में लाने के प्रस्तावों को भी ध्यान में रखना होगा। जिस सीमा तक कि मुख्यतः खाद्य पदार्थों तथा औद्योगिक कच्चे माल को उत्पन्न करने वाले देश इन तथा अन्य समझौतों के परिणाम स्वरूप तैयार माल में अपनी पैदावार की अधिक कीमत और साथ ही जितना सब वे पैदा कर सकेंगे उसके लिए एक बड़ा हुआ बाजार पा सकेंगे उनके भुगतान के अन्तर की समस्या सरल हो जावेगी और अपने निज के आन्तरिक आर्थिक विकास के लिए देशी पूँजी को देने की क्षमता बढ़ जावेगी। उन्हें विदेशी भेंट अथवा ऋणों की आवश्यकता कम होगी और विदेशों से जो भी सहायता मिलेगी उससे वे और बड़ी विकास की योजनाओं को कार्यान्वित कर सकेंगे। अस्तु उन्नत अहार-पोषण की योजनाओं तथा

कृषि की पैदावार की अच्छी कीमतों ने अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही की शेष योजनाओं का साथ केवल इस धारणा के कारण दिया कि इन योजनाओं ने वास्तव में बाजार का विस्तार किया है न कि पूर्ति की कमी पर आधारित आयातक कीमतों को ऊंचा किया। आरम्भ में सब लोगों के लिए उन्नत आहार-पोषण की विश्व नीति का अनिवार्य परिणाम होता उन्नत देशों पर भार पड़ना, क्योंकि जिन लोगों को कम आहार मिलता था उनको अधिक आहार तभी दिया जा सकता था जबकि अधिक आहार पाने वाले लोग उस समय के लिए जिसमें पिछड़े क्षेत्रों में उत्पादन का स्तर ऊंचा उठाया जा सके कम खाना स्वीकार करें। इस कम खाने का अर्थ था कि धनी देशों को जान बूझकर अपनी श्रेष्ठ-क्रय शक्ति को अभावग्रस्त देशों से खाद्य-पदार्थों को अपनी ओर मोड़ने से रोकना।

इसमें एक कठिनाई उपस्थित हुई। खाद्य-पदार्थों की कीमतों को ऊंचा उठाने का अधिक सफल तरीका था कि जितना ही अधिक खाद्य-पदार्थ अभावग्रस्त देशों से धनी देशों की ओर मोड़ा जावेगा उतनी ही कीमत ऊंची होगी। अस्तु धनी देशों के लिए यह आवश्यक था कि जब तक संसार की खाद्य-पदार्थों की कमी पूरी न हो जाती न केवल वे अधिक न खावें वरन् वे उन्नत आहार-पोषण की विश्व-नीति की आवश्यकताओं के अनुसार अभावग्रस्त देशों को खाद्य-पदार्थों की पूर्ति के वितरण का मूल्य चुकावें। एक सीमा तक 1946 के अन्त तक यह आवश्यकता युद्धोत्तर सहायता के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र-खाद्य और कृषि संगठन (यू. एन. आर. आर.) के कार्यों से और 1946 में संसार के दुर्भिक्ष का सामना करने के लिए जो विशेष उपाय देरी से काम में लाए गए उनसे पूरी हुई। परन्तु 1946 के दुर्भिक्ष ने यह स्पष्ट कर दिया कि आहार-पोषण के स्तरों की समस्या उस क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत है जितने को संयुक्तराष्ट्र खाद्य—और कृषि संगठन (यू. एन. आर. आर.) से घेरने की अपेक्षा की गई थी, और यह कि पूरे संसार के लिए उससे अच्छी आहार-पोषण नीति के लिए धनी देशों द्वारा उससे कहीं अधिक पूँजी विनियोजन और साथ ही कहीं अधिक त्याग की आवश्यकता थी जो कि 1945 में संयुक्तराष्ट्र खाद्य और कृषि संगठन (यू. एन. आर. आर.) के स्थापित किए जाते समय अपेक्षित दिखलाई दी।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह विचार हमें द्रव्य के विषय से बहुत दूर ले गए, परन्तु उनको छोड़ा भी नहीं जा सकता था क्योंकि वे अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग तथा देशों के बीच भुगतान शेषों की समस्याओं से बहुत अधिक बन्धे हुए हैं। पिछड़े देश तब तक अपने आहार-पोषण के स्तर को ऊंचा करना आरम्भ नहीं कर सकते थे जब तक कि या तो वे देश में अधिक खाद्य-पदार्थ पैदा करते, अथवा विदेशों से अधिक खाद्य-पदार्थों का आयात करते अथवा अपने आयातों के मूल्य चुकाने के लिए कम खाद्य पदार्थ निर्यात करते अथवा तीनों को ही एक साथ करते। वे अपने

उत्पादन का स्तर विना विदेशी पूँजी की सहायता के ऊँचा नहीं उठा सकते थे। वे तब तक अधिक आयात नहीं कर सकते थे जब तक कि वे उसके मूल्य को चुकाने के साधन प्राप्त न करते अथवा उनकी मूल्य चुकाने के साधन दिए न जाते, अथवा साधन उधार नहीं दिए जाते। यदि खाद्य-पदार्थों के निर्यात की सापेक्षिक कीमतें ऊँची हो हो जातीं तो कुछ हद तक उनकी कठिनाईयाँ सरल हो जातीं परन्तु वे विल्कुल समाप्त नहीं हो जातीं। इसके अतिरिक्त यदि उनकी क्रय शक्ति बढ़ाई जाती तो वे (अथवा उनके सामुदाय के सदस्य जिन्हें अतिरिक्त क्रय शक्ति प्राप्त होती) उसका अधिक भाग साधारण जनता के आहार-पोषण के स्तर को ऊँचा उठाने में व्यय न करके विदेशों से विलासिता की अधिक वस्तुएं मंगाने में व्यय कर सकते थे। राष्ट्र की त्रय शक्ति में वृद्धि का माँग पर क्या प्रभाव होगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उस क्रय-शक्ति का जनता के विभिन्न वर्गों में वितरण किस प्रकार का है। जहाँ अभावग्रस्त देशों में जनता के मुख्य भाग के वजाय शक्ति और धन सामन्ती अथवा व्यापारी शासक वर्ग के पास होता है वहाँ सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय में यथेष्ट वृद्धि हो जाने पर भी हो सकता है कि आहार-पोषण के स्तर में बहुत थोड़ा अथवा विल्कुल भी उन्नति न हो सके। अच्छे आहार-पोषण की विश्व-नीति तभी सफल हो सकती है कि जब निर्वन देशों में शक्ति संतुलन निश्चित रूप से सर्वसाधारण लोगों के पक्ष में हो जावे।

क्या उस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण जिसका अमेरिकनों ने पिछड़े देशों में विनियोग की क्रिया का पर्यावेक्षण करने के लिए प्रस्ताव किया, वास्तव में उस प्रकार काम करेगा जिससे कि वह इन आवश्यकताओं के अनुकूल हो। इस बात का स्पष्ट खतरा था कि वह ऐसा न करे। उसका जन्म मुख्यतः ऐसे अभिकरण के रूप में हुआ जिसका स्वयं का विनियोग करने के वजाय निजी विनियोग को प्रोत्साहित करना और उसकी गारन्टी देना था। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक यदि इसमें सफल भी हो गया तो भी यह खतरा तो रहेगा कि वह विनियोग के उन प्रकारों को प्रोत्साहन दे जो ऋण देने वाले देश के पूँजीपतियों को प्रिय हों और ऋण लेने वाले देशों के सस्ते श्रम के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के बदले उसका शोषण करने का एक औजार बन जावे। अवश्य ही यदि ऋण लेने वाले देशों में दृढ़ संकल्प वाली जनतन्त्री सरकारें हों जो उसको रोकने के लिए कृत संकल्प हों और यदि ऋण देने वाले देश अपने पूँजी-पतियों के दवाव के विरुद्ध भी विश्व जनतन्त्री भावना से प्रेरित होकर दृढ़ संकल्प के साथ काम करें तो ऐसा नहीं भी हो सकता है।

वास्तव में यह बहुत कुछ स्वयं इस नए अभिकरण (बैंक) द्वारा किए गए अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग के स्वरूप और मात्रा पर न कि उसकी गारन्टी से प्रोत्साहित निजी विनियोजकों के विनियोग पर निर्भर करेगा। हमने यह देखा कि अमेरिकी योजना में इस प्रकार का सीधा विनियोग केवल उन्हीं परियोजनाओं तक सीमित

था जो कि या तो निजी विनियोग के क्षेत्र के बाहर था अथवा उनकी प्रतिपोधात्मक लागत व्यय होने के कारण निजी विनियोग की सामर्थ्य के बाहर था। इसमें ऐसा प्रतीत होता था कि जिन परियोजनाओं के लिए बैंक सीधा उत्तरदायी होगा अमेरिका में टिनैसी घाटी प्राधिकरण के समान ही विस्तार और स्वरूप में बहुत बड़ी योजनाएं होंगी अर्थात् ऐसी विशाल योजनाएं जो कि विद्युत् शक्ति, और सिंचाई अथवा भूमि जलोत्सारण विकास के द्वारा विस्तृत क्षेत्र की सेवा करें अथवा स्थल और जल याता-यात की बड़ी परियोजनाएं हों। डेन्यूव घाटी प्राधिकरण अथवा उसी प्रकार की योजनाएं जिनमें कई पड़ोसी राज्यों का एकीकृत विकास सन्निहित हो—के स्थापित करने की चर्चा बहुधा होती थी जो कि अधिकांश में अस्पष्ट थी। और यह स्पष्ट था कि जितनी ही अधिक ऐसी योजनाएं—चाहे वे फिर उन योजनाओं की तुलना में कम विस्तृत पैमाने पर ही क्यों न होतीं जिन्हें योजनाकारों ने सुझाया था यदि राष्ट्रीय सीमाओं के आर पार विकसित की जा सकतीं तो उतनी ही अधिक यह आशा थी कि राष्ट्रीय राज्यों में आत्मनिर्भरता की प्रवृत्तियों को समाप्त किया जा सकता जिसे अतलांतिक चार्टर के द्वारा संयुक्तराष्ट्रों की सरकारें पुनर्स्थापन करने के लिए वचन-बद्ध थीं। और बड़े पड़ोसी देशों द्वारा छोटे देशों का इस प्रकार के साम्राज्यवादी आधिपत्य से बचाव किया जा सकता था कि जिसमें कि वे उन बड़ी शक्तियों के जिन से उनके घनिष्ट राजनीतिक सम्बन्ध थे आर्थिक उपग्रह बन जाते।

यदि इस प्रकार की और इस परिणाम की परियोजनाएं प्रत्येक बड़ी योजना के लिए स्थापित एतदर्थ अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम के अभिकरणों द्वारा क्रियान्वित की जाती; उनको प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कार्यों में बड़ा स्थान दिया जा सकता तो यह आशा की जा सकती थी कि वे आर्थिक साम्राज्यवादी शोषण के खतरे की शिकार नहीं होंगी जैसा कि निजी विनियोग अभिकरणों द्वारा पुरस्कृत की गई परियोजनाओं को खतरा था। इस सम्बन्ध में जब हम टिनैसी घाटी प्राधिकरण के प्रति अधिकांश अमेरिकन व्यवसायियों के गहरे विरोध के प्रदर्शन का ध्यान करते हैं तो इस सम्बन्ध में आवश्यक होना सरल नहीं था कि बैंक को समान कार्य-प्रणाली को अपनाने के लिए स्वतन्त्रता दी जावेगी और उसे निजी उद्यम के वैध क्षेत्र पर आक्रमण करने का दोषी नहीं ठहराया जावेगा। न इस बात को ही भुलाया जा सकता था कि पूंजी विकास की योजनाओं में जब कभी सोवियत और पश्चिमीय प्रभाव क्षेत्रों की संदिग्ध सीमा को पार करना अथवा उन क्षेत्रों में जिसके सम्बन्ध में दो में भगड़ा है वहां कार्य करना सन्निहित होगा तो वे अनिवार्य रूप से कठिनाई में पड़ जावेंगी। केवल समस्त संयुक्तराष्ट्रों में सामान्य विश्व कार्यवाही करने का समझौता ही इस कठिनाई को दूर कर सकता था और 1945 के उपरान्त इस प्रकार की कार्यवाही की आशाएं शीघ्रता से लुप्त होती गईं।

अध्याय १७

ब्रैटेन-बुड्स

कीन्स और व्हाइट द्रव्य सम्बंधी योजनाओं से प्रथम एक मिली जुली योजना निकली जिस पर ब्रिटिश और अमेरिकन विशेषज्ञ सहमत थे । और उसके उपरान्त संयुक्त राष्ट्रों का निश्चित मौद्रिक समझौता 1944 की जुलाई में ब्रैटेन-बुड्स में तैयार किया गया । ब्रैटेन-बुड्स सम्मेलन में सोवियत यूनियन और फ्रांस साथ ही संयुक्त-राज्य अमेरिका और ब्रिटेन सहित 44 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था । सम्मेलन ने दो योजनाओं को स्वीकार किया—एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लिए दूसरा—अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक के लिए जो कि क्रमशः मौद्रिक उपायों और दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग के कार्य से सम्बंध रखते । जहां तक उनके स्वरूप का प्रश्न था वे दोनों योजनाएं मुख्यतः व्हाइट योजनाओं पर आधारित थीं जिन्हें अमेरिका के स्टेट विभाग ने उपस्थित किया था और मौद्रिक कोष तत्त्वतः कीन्स योजना के वजाय 1943 की व्हाइट योजना के अत्यन्त निकट था । ब्रैटेन-बुड्स संरचना के इन दो आधारों पर पृथक विचार करना और आरम्भ में योजना के मौद्रिक भाग पर विचार करना अत्यन्त सुविधाजनक होगा ।

ब्रैटेन-बुड्स मौद्रिक समझौते के आलोचकों ने बराबर इस बात का आग्रह किया कि सार रूप में इसके अन्तर्गत स्वर्णमान पर पुनः लौटना सन्निहित है जबकि उसके समर्थकों ने इसको किसी भी प्रकार अंगीकार करना अस्वीकार किया । इसमें कोई भी विवाद नहीं था कि योजना के अन्तर्गत स्वर्ण विभिन्न राष्ट्रों की मुद्राओं के मूल्यों को निश्चित करने के लिए मापदण्ड का काम देगा ऐसा अभीष्ट था और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में उनके सापेक्षिक मूल्य निश्चित होंगे । किन्तु ब्रैटेन-बुड्स समझौते के समर्थकों ने इस बात पर बल दिया कि जिस प्रकार स्वर्णमान में राष्ट्रीय मुद्राओं का अपरिवर्त्य स्वर्ण मूल्य निर्धारित करने की कल्पना की जाती है उस प्रकार ब्रैटेन-बुड्स समझौतों में राष्ट्रीय मुद्राओं के स्वर्ण मूल्य अपरिवर्त्य नहीं होते । उनका स्वर्ण में मूल्य केवल इस अर्थ में ही निर्धारित किया जाता है कि किसी क्षण प्रत्येक राष्ट्रीय मुद्रा की इकाई एक निश्चित स्वर्ण मात्रा का प्रतिनिधित्व करती है और उससे उसका विनिमय हो सकता है । इसके साथ यह प्रावधान है कि या तो सब देशों में एक साथ कार्यवाही के द्वारा अथवा अधिकांश में बिना विनिमय दरों में परिवर्तन किए स्वर्ण मूल्यों में परिवर्तन करके अथवा किसी एक मुद्रा के सम्बंध में कार्यवाही के द्वारा जिससे कि अन्य मुद्राओं में उसकी विनिमय दर बदली जा सके,

यह स्वर्ण साम्य समय-समय पर समझौते के द्वारा बदला जा सकता है। सब मुद्राओं का अथवा अधिकांश का स्वर्ण मूल्य बदलने के लिए एक साथ क्रिया तभी की जा सकती है कि जब बड़ी संख्या में देशों में समझौता हो। उसका प्रभाव होगा वस्तुओं में स्वर्ण का मूल्य बदलना, और ऐसा करने से स्वर्ण निकालने का उद्योग कम (अथवा अधिक) लाभदायक होने के कारण सीमान्त खानों को सक्रियता से बाहर ढकेल कर (अथवा अतिरिक्त खानों को सक्रिय बनाकर) वह स्वर्ण उत्पादन की दर को प्रभावित करेगा। अवश्य ही इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि व्यवहार में यदि कभी भी उसका उपयोग हुआ तो उत्पादन बढ़ाने की अपेक्षा कम करने में होगा जो कि 1939 के पूर्व जैसा हमने देखा बहुत ऊँचे स्तर पर था। अन्य वस्तुओं की भांति ही स्वर्ण की मात्रा का उत्पादन भी उसकी लाभदायिकता पर निर्भर होता है और वह उसके उत्पादन-व्यय और विक्री की कीमतों के आपसी सम्बंध पर निर्भर रहता है। स्वर्ण का उत्पादन उस कारण अधिक था क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका डालरों में उस कीमत पर अपरिमित मात्रा में स्वर्ण लेने को तैयार था जिसपर कि स्वर्ण का उत्पादन लाभदायक था। संयुक्त राज्य अमेरिका में जितने स्वर्ण की आवश्यकता हो सकती थी उससे कहीं अधिक स्वर्ण को प्राप्त करने की यह तैयारी अंशतः इस कारण थी क्योंकि अमेरिकन प्रशुल्क के रहते स्वर्ण के अतिरिक्त और कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका अपने चालू भुगतान के अन्तर के उस आधिव्यय को प्राप्त कर सकता जिसको उसके नागरिक विदेशी विनियोगों में परिणित करने के लिए तैयार नहीं थे और अंशतः इस कारण कि यदि अमेरिका द्वारा स्वर्ण खरीद की कीमत कम कर दी जाती तो जो स्वर्ण का विशाल स्टॉक अमेरिका के पास पहले से ही मौजूद था उस पर अत्यधिक कागजी हानि होती।

युद्ध काल में तथा युद्ध के पश्चात् वस्तुओं की कीमतों में जो मूलभूत तेजी आई उसने इस स्थिति को बदल दिया। डालर की स्वर्ण मात्रा पूर्व के समान अपरिवर्तित रही अतएव वस्तुओं में स्वर्ण का मूल्य तेजी से गिर गया। तदानुसार स्वर्ण उत्पादन घट गया, और स्वर्ण खनिज उद्योग स्वार्थों ने यह मांग की कि स्वर्ण की डालर कीमत बढ़ाई जावे। किन्तु अमेरिकनों के पास उनको जितनी आवश्यकता थी उससे अधिक सोना था अतएव अतिरिक्त सोने की पूर्ति के लिए अधिक मूल्य देने का उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं था। अन्य देशों जिन्होंने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया उन्होंने अवश्य ही उस स्वर्ण का जैसे जैसे उसे खरीदा अधिक मूल्य दिया किन्तु वे उसे अधिक मात्रा में खरीद सकने की स्थिति में नहीं थे और स्वर्ण की डालर कीमत निश्चयकारक थी। अस्तु इस बात की सम्भावना दिखलाई नहीं पड़ती थी कि ब्रैटन-वुड्स योजना में जो मुद्राओं के स्वर्ण मूल्य में एक साथ सामान्य परिवर्तन करने का प्रावधान था उसका उपयोग कीमत को बढ़ाने में किया जावेगा। जहां तक कीमत घटाने की बात थी उसकी भी—उन परिस्थितियों में

जो कि डालर को अन्य मुद्राओं की तुलना में अधिक मूल्यवान बना देतीं—सम्भावना नहीं थी। क्योंकि अन्य देश अपने द्रव्य का अवमूल्यन केवल डालर की सापेक्षता में उसके मूल्य को घटा कर ही कर सकते थे।

ब्रैटेन-वुड्स समझौते में इस बात का समावेश कर दिया गया था कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा भी स्वर्ण में एक साथ विभिन्न मुद्राओं का पुनर्मूल्यन किया जावे तो भी किसी देश को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन करने पर विवश नहीं किया जा सकता। इस प्रकार एक साथ पुनर्मूल्यन कतिपय मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्यों में परिवर्तन ला सकता था। परन्तु स्पष्ट इच्छा यह थी कि जहां तक सम्भव हो सभी मुख्य मुद्राएं एक साथ घटे वढ़ें जिससे कि उनकी विनिमय दरें पूर्ववत् बनी रहें।

मुद्राओं के मूल्यों के प्रश्न पर ब्रैटेन-वुड्स समझौते की मुख्य धारा से यह सम्पूर्ण प्रावधान विलकुल अलग है। स्वर्ण-मान के विरोधी आलोचकों की मुख्य आपत्ति यह थी कि उसमें देश विशेष की राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तनों के अनुसार विनिमय दरों में समायोजन करने के लिए सापेक्षिक मुद्रा मूल्यों को बदलने के लिए बहुत संकुचित क्षेत्र रह जाता है विशेषकर प्रत्येक देश को उन द्रव्य सम्बन्धी उपायों को अपनाने के लिए स्वतंत्र नहीं छोड़ा जाता कि जो पूर्ण रोजगार को बनाए रखने के लिए तथा संकट तथा वेरोजगारी की छूत को एक देश से दूसरे देश में फैलने को रोकने के लिए आवश्यक हों।

इस बिन्दु पर ब्रैटेन-वुड्स समझौते में व्हाइट योजना के विपरीत जिस पर वह आधारित था कुछ लचीलापन था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य बनने वाले देशों को प्रथम बार यह अनुमति थी कि वे अपनी राष्ट्रीय मुद्राओं का जो भी वह चाहें स्वर्ण साम्य निर्धारित कर दें। कम से कम यह मूल सदस्यों के लिए तो लागू था ही। यद्यपि बाद के सदस्यों के लिए लागू होने के सम्बन्ध में वह इतना स्पष्ट नहीं था। क्योंकि व्यवहार में उनको सदस्य बनाना अस्वीकार किया जा सकता था जब तक कि वे अपनी मुद्राओं का वह मूल्य निर्धारित करता स्वीकार न करते कि जो कोष पर नियंत्रण रखने वालों द्वारा अनुमोदित होता। प्रारम्भिक मूल्यों के निर्धारित हो जाने पर भी हेर फेर के लिए थोड़ी गुंजाइश थी क्योंकि प्रत्येक देश को अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य में एक अथवा अधिक बार में कुल दस प्रतिशत हेर फेर करने की अनुमति थी। यह वह एकपक्षीय कर सकता था परन्तु इस बिन्दु के आगे वह कोष का नियंत्रण करने वालों की सहमति के बिना नहीं जा सकता था, इसका अर्थ हुआ कि जब तक वह कोष के समस्त कर्जों को चुका कर कोष की सदस्यता न छोड़ दे जो कि अत्यन्त दुष्कर कार्य था। कोष पर जिनका नियंत्रण हो उनकी सहमति से प्रारम्भ में निर्धारित मूल्य से दूसरे दस प्रतिशत तक और अधिक हेर फेर

की अनुमति दी जा सकती थी। कोप के संचालकों को इन सीमाओं के अन्तर्गत जो भी प्रस्ताव हों उसको वहत्तर घंटे के अन्दर या तो स्वीकार अथवा अस्वीकार करना होगा यदि वह देश जो कि परिवर्तन करना चाहता है ऐसी मांग करें। इसके आगे, बिना किसी सीमा के उनकी सहमति से जो कि कोप का नियंत्रण करते हों हेर फेर करने की आज्ञा अधिक लम्बे परन्तु अनिश्चित काल की सूचना पर दी जा सकती थी। यह एक सर्वोपरि शर्त थी कि कोई भी सदस्य अपनी मुद्रा के सममूल्य में परिवर्तन करने का प्रस्ताव मूलभूत असंतुलन को ठीक करने के अतिरिक्त और किसी बात के लिए नहीं करेगा। यह अविनियम भी बनाया गया कि कोप यदि संतुष्ट हो कि मूलभूत असंतुलन को ठीक करने के लिए परिवर्तन आवश्यक है तो वह प्रस्तावित परिवर्तन को अस्वीकार नहीं करेगा। विशेषकर परिवर्तन का प्रस्ताव करने वाले सदस्य की घरेलू, सामाजिक, अथवा राजनीतिक नीतियों के कारण कोप प्रस्तावित परिवर्तन के विरुद्ध आपत्ति नहीं उठायेगा।

क्या इन प्रावधानों का अर्थ स्वर्णमान का पुनर्स्थापन था ? स्पष्ट था कि अपेक्षित यह था कि प्रारम्भिक काल के बाद जिस में संकुचित सीमाओं के अन्तर्गत देशों को एकपक्षीय कार्यवाही के द्वारा अपनी मुद्राओं के स्वर्ण मूल्यों को पुनर्समा-योजित करने का अधिकार था। विश्व परस्पर जुड़ी हुई सारी की सारी स्वर्ण से सम्बन्धित मुद्राओं का निश्चित स्वर्णमूल्य होगा जो कि केवल परस्पर सहमति से ही बदला जा सकेगा। यह पुराने प्रकार का स्वर्णमान नहीं है और यह इस अर्थ में कम कठोर है कि उसमें कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रीय मुद्राओं के स्वर्ण साम्यों में परिवर्तन की आवश्यकता की अपेक्षा की जाती है। किन्तु उसके विपरीत यह इस अर्थ में पुराने स्वर्णमान से अधिक कठोर है कि पुराने स्वर्णमान में जब भी कोई देश चाहे उसे अपनी मुद्रा के स्वर्ण मूल्य को बदलने में कोई रुकावट नहीं थी—जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1933 में बिना किसी अन्य देश की सहमति मांगे किया। जबकि ब्रैटैन-वुड्स योजना में प्रारम्भिक हेर फेर की अनुमति को छोड़कर उसके बाद सभी इस प्रकार के परिवर्तनों के लिए एक ऐसी निकाय से अन्तर्राष्ट्रीय अनुमोदन प्राप्त करने की आवश्यकता होगी जिसके सम्बन्ध में कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह बहुत अधिक मात्रा में अमेरिकन प्रभाव के अधीन होगी। यह पुराने स्वर्णमान से आगे बढ़ना माना जा सकता है कि गम्भीर विनियम असंतुलन की स्थिति में मुद्रा मूल्यों में लचीलेपन की आवश्यकता को मनवाया जा सका। किन्तु यह लाभ अकेले देशों अथवा उन देश समूहों जिनकी मुद्रा प्रणाली समान थी—के हाथों से मुद्रा समायोजन का नियंत्रण निकालकर और उस नियंत्रण को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के संचालकों को हस्तान्तरित करने के मूल्य पर ही प्राप्त किया जा सका।

व्यवहार में 1945 से ही आर्थिक असंतुलन की परिस्थितियाँ इस प्रकार की थीं कि यदि अमेरिका अपनी सहायता न उड़ेलता जिसकी अपेक्षा ब्रैटेन-युड्स योजना को बनाते समय नहीं की गई थी तो बहुत से हस्ताक्षर करने वाले देश किसी भी समय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप से अपनी मुद्राओं का बहुत अधिक अवमूल्यन करने की अनुमति मांगने के अधिकारी हो जाते और मुद्रा कोप के संचालकों को आपत्ति करने का कोई अधिकार नहीं होता। इस सहायता के बावजूद भी 1949 में ब्रिटिश अवमूल्यन और उसके परिणाम स्वरूप अन्य मुद्राओं के अवमूल्यन के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई गई। निर्धारित स्वर्ण मूल्यों को पुनर्स्थापित करने का ब्रैटेन-युड्स योजना का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ, और न वह किसी आश्वासन के साथ तब तक हो सकता है जब तक कि मूलभूत आर्थिक असंतुलन विद्यमान है।

जब ब्रैटेन-युड्स योजना के आलोचकों ने आग्रह किया कि जो समझौते किए गए उनमें स्वर्णमान पर वापस लौटना सन्निहित था तो उनका अर्थ उन शर्तों से था जिन पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप स्थापित किया गया था। अर्थात् प्रत्येक देश मुद्रा प्रबंध को बिना अन्य देशों की अनुमति के पूर्ण रोजगार नीति के एक साधन के रूप में उपयोग करने की अपनी स्वतंत्रता को तिलांजलि दे देता है। जिस परिस्थिति का उन्हें भय था वह उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि मूलभूत असंतुलन विद्यमान रहा और क्योंकि उस खाई को अस्थायी तौर पर अमेरिकन सहायता से पाट दिया गया। ब्रैटेन-युड्स समझौते की स्पष्ट इच्छा स्वर्णमान को संशोधित रूप में पुनर्स्थापित करने और राष्ट्रों को उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य करने की थी। और यह संयुक्त राज्य अमेरिका का घोषित उद्देश्य रहा है। परन्तु अमेरिकन सहायता के होते हुए भी इस उद्देश्य को कार्यान्वित करना असम्भव रहा है।

इस अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण का केवल मुद्रा-मूल्यों के समायोजन में लागू होना ही अभीष्ट नहीं था वरन् मुद्रा के सौदों को प्रभावित करने वाले सभी प्रकार के विनिमय विनियमन में लागू होना था। एक संक्रमण काल के बाद ब्रैटेन-युड्स समझौते की वारा आठ के अनुसार चालू अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के लिए भुगतानों अथवा स्थानान्तर पर सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का पूर्ण निषेध आरोपित कर दिया गया था। और आगे सभी विभेदकारी मुद्रा व्यवस्था अथवा बहु-मुद्रा-व्यवहारों को—जबतक कि वे स्वयं कोप में विशेष रूप से प्राधिकृत न किए गए हों अथवा कोप के संचालकों की सहमति से न लगाए गए हों मनाही कर दी गई थी। जहाँ उस प्रकार के व्यवहार पहले से ही जारी हों उनके लिए यह प्रावधान था कि वे कोप के परामर्श से क्रमशः हटा दिए जावें।

इन खंडों में देशों को व्यक्तिगत रूप से जब पूंजी सौदों के कारण विदेशी भुगतान

उत्पन्न हुए हों तो उन पर—चालू सौदों के विपरीत—नियंत्रण करने की आज्ञा दी गई थी। सच तो यह है कि यह आरम्भ से ही स्पष्ट था कि योजना तब तक विलकुल काम नहीं करेगी जबतक कि देशों को अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के आरपार पूंजी की गतिविधि को नियंत्रित करने की आज्ञा नहीं दी जावेगी। परन्तु पूंजी सौदों को नियंत्रित करने की स्वतंत्रता में चालू सौदों से उत्पन्न हुए प्रतिकूल व्यापार अन्तर को ठीक करने के लिए विनिमय नियंत्रण को एक साधन के रूप में काम में लाने का अधिकार सम्मिलित नहीं था। उस सम्पूर्ण योजना की एक शर्त यह थी कि प्रत्येक सदस्य को सब समय चालू सौदों के लिए अन्य किसी दूसरे देश द्वारा निकाली हुई विदेशी मुद्रा की जितनी मात्रा की मांग हो उसकी पूर्ति करने के लिए तैयार रहना चाहिए। कहने का अर्थ यह है कि प्रत्येक देश को एक निश्चित दर पर अपनी मुद्रा को अन्य सदस्य देशों की मुद्रा से अबाध परिवर्तन किए जाने देने के लिए बांध लेना था।

इस 'स्वर्ण नियम' का सचमुच एक अपवाद था। यह होना ही था अन्यथा सम्पूर्ण योजना उन मांगने वालों की भीड़ के कारण टूट जाती जो कि अन्य मुद्राओं की धारणों को डालर में बदलवाना चाहते और इस प्रकार अपनी क्रय-शक्ति को अमेरिका में स्थान्तरित कर देते। यदि इस प्रकार की अत्यधिक मांग होती तो निश्चित विनिमय समदर पर उपलब्ध डालरों की पूर्ति बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती और योजना ढह जाती। अतएव समझौते में 'दुर्लभ मुद्राओं' के बारे में विशेष प्रकार से व्यवस्था करने का प्रावधान किया गया। 'दुर्लभ मुद्राओं' से वास्तव में अर्थ डालर से था। जब कोप के संचालकों द्वारा मुद्रा 'दुर्लभ' घोषित कर दी गई हो (किन्तु केवल तभी) तब कोई भी देश अपने केन्द्रीय बैंक के द्वारा उस मुद्रा विशेष की पूर्ति पर विनिमय प्रतिबंध लगा सकता था। किन्तु समझौते में बहुत सी वचाव करने वाली बातें हैं जो कि उन प्रतिबंधों की सीमा और समय को सीमित कर देती हैं। प्रतिबंध लगाने का अधिकार उसी दशा में दिया जाता है जबकि स्वयं कोप के दुर्लभ मुद्रा की पूर्ति को पूरा करने के साधन ही समाप्त हो गए हैं। साधारणतया इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रैटेन-वुड्स समझौते में एक ऐसी मुद्रा प्रणाली की कल्पना की गई जिसमें एक मुद्रा दूसरी मुद्रा में एक निश्चित दर पर बदली जा सके। और देश विशेषों के बीच कोई भी ऐसा विशेष प्रबंध नहीं होगा जिससे उनके परस्पर व्यवहार शेष संसार की तुलना में अधिक सरल हों। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप सम्बन्धी समझौते में यह स्पष्ट कल्पना की गई थी कि अन्त में स्टर्लिंग क्षेत्र अथवा अन्य कोई विश्व-व्यापी मुद्रा समूह से कम मुद्रा क्षेत्र पूर्ण रूप से समाप्त हो जावेगा। और यदि 'दुर्लभ मुद्रा' के प्रावधान को लागू करना ही पड़े तो भी ब्रैटेन-वुड्स योजना के सदस्य देशों को चालू सौदों के सम्बन्ध में औपचारिक दृष्टि से घोषित 'दुर्लभ' मुद्रा के अतिरिक्त अन्य किसी भी मुद्रा में कारवार पर किसी प्रकार के नियंत्रण को स्थापित करने से रोका जावेगा।

उस समय स्टर्लिंग खंड (ब्लॉक) को नष्ट करने की इच्छा स्पष्ट थी और सच तो यह था कि अमेरिकनों ने उस प्रकार की व्यवस्था के प्रति अपनी नापसंदगी को अथवा अपनी वित्तीय शक्ति के पूर्ण प्रभाव से उसे निश्चयात्मक रूप से समाप्त कर देने के निश्चय को कभी छिपाया नहीं।

यह सब ब्रैटेन-बुड्स योजना का नाकारात्मक पक्ष है जिसका घोषित एक मुख्य उद्देश्य चालू सौदों के सम्बन्ध में सदस्य देशों के बीच भुगतान की एक बहु-पक्षीय प्रणाली की स्थापना और विदेशी विनिमय के प्रतिबंधों को जो कि विश्व व्यापार के विकास को रोकते हैं समाप्त करना था। इस वाक्य की ध्वनि यह है कि पूँजी सौदों तक सीमित प्रतिबंधों को छोड़कर सभी प्रतिबंध विश्व व्यापार के विकास को रोकते हैं। यह एक अत्यन्त विवादास्पद सिद्धान्त है परन्तु उस समय अमेरिका का राज्य विभाग अत्यन्त दृढ़ता के साथ उस सिद्धान्त को मानता था और उसको ब्रैटेन-बुड्स के ढाँचे में निश्चयात्मक रूप से लिख दिया गया। अब हम अधिक सकारात्मक प्रावधानों की ओर मुड़ेंगे, जिन पर समझौते के मूलपाठ में किया हुआ यह दावा आधारित है कि यह समझौता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और संतुलित विकास को सहज बनाने के लिए और उसके द्वारा रोजगार के ऊँचे स्तर तथा वास्तविक आय को बढ़ाने और बनाए रखने के लिए और सभी सदस्यों के उत्पत्ति के साधनों को विकसित करने के लिए अर्थ नीति के मुख्य उद्देश्य के रूप में किया गया है। यह दावा जहां तक उसकी अभिपुष्टि की जा सकती है योजना के उन प्रावधानों पर आधारित है जिनके द्वारा देशों को चालू घाटे को चुकाने के लिए अस्थायी रूप से विदेशी विनिमय की पूर्ति प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साधनों से ले लेने का अधिकार दिया गया था। आवश्यक प्रावधान यह है कि प्रत्येक सम्मिलित होने वाले देश के लिए एक अम्यंश निर्धारित किया गया है जिसका कि साधारणतया प्रति पाँच वर्षों के उपरान्त संशोधन किया जाता है। प्रावधान यह है कि अम्यंश में चार-पाँच का बहुमत हुए बिना तथा बिना सम्बन्धित सदस्य राष्ट्र की सम्मति के कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इस प्रकार अम्यंशों में परिवर्तन करना कठिन बना दिया गया था। कोष से कुछ भी निकालने के पूर्व प्रत्येक सदस्य को अपने अम्यंश की कुल राशि आंशिक स्वर्ण में और 'आंशिक' अपनी मुद्रा में चुकाना आवश्यक था। साधारण तौर पर स्वर्ण में चुकाया जाने वाला अम्यंश का अनुपात या तो अम्यंश का एक चौथाई अथवा देश की स्वर्ण की समस्त धारणों और संयुक्त राज्य अमेरिका के डालरों की सम्मिलित राशि का दसवां भाग जो भी कम हो—होगा। युद्ध में जिन देशों की भूमि पददलित की गई थी उनके बारे में विशेष प्रावधान रखे गए थे। परन्तु उनसे साधारण सिद्धान्तों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्ण के स्टाक के साथ तथा प्रत्येक देश की उसके निर्धारित अम्यंश के तीन चौथाई के बराबर उसकी मुद्रा के साथ आरम्भ

हुआ, और वह इस स्थिति में था कि यदि वह चाहता तो स्वर्ण को डालरों में अथवा परोक्ष रूप से किसी भी अन्य मुद्रा में जिसकी पूर्ति को पूरा करने की उसे आवश्यकता हो बदल सकता था ।

इस प्रकार निर्मित उस कोष से प्रत्येक सदस्य को अधिकार था कि वह अपनी मुद्रा सम्बन्धी उस मांग को जो कि व्यापार के सामान्य तरीके, अथवा अन्य व्यापारिक सौदों से उसे प्रत्यक्ष प्राप्त होने वाले चालू संसाधनों से वह नहीं चुका सकता था चुकाने के लिए निकाल सकें । परन्तु वह केवल सीमाओं के अन्दर ही निकाल सकता था और यदि वह कोष से जितना अन्य देश उसकी मुद्रा को निकालते हैं उससे अधिक अन्य मुद्राओं को निकालता है तो उसको दंड देना होगा । एक देश को जितनी राशि निकालने का अधिकार है वह उसके अम्यंश के बराबर है परन्तु उस योग के एक चौथाई से अधिक बारह महीने के काल में नहीं निकाला जा सकता । उस निकासी पर तीन चौथाई प्रतिशत व्यय लिया जावेगा जो कि स्वर्ण में चुकाना होगा ।

इस प्रकार सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास प्रत्येक देश के अम्यंश की तीन चौथाई उस देश की मुद्रा होगी, उसमें उन राशियों को जोड़ना होगा जो कि उस देश ने अन्य देशों की मुद्राओं को प्राप्त करने के लिए अपनी मुद्रा में दी है । उस योग में से उस देश की मुद्रा की वह राशियां घटानी होंगी जो कि अन्य देशों ने निकाली हैं । यदि सभी मुद्राओं की मांग पूरी तरह संतुलित हो जावे तो कोष के पास उनकी ठीक उतनी ही राशि होगी जितनी आरम्भ में देशों द्वारा कोष को दी गई थी । इसके विपरीत यदि ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और कई अन्य देश कोष से डालर खरीदते हैं और संयुक्त-राज्य अमेरिका उनकी मुद्राओं की बराबर राशियां नहीं खरीदता तो कोष के पास स्टर्लिंग, फ्रैंक इत्यादि की धारणों में वृद्धि हो जावेगी और उसकी डालर की धारणों में कम हो जावेगी । ऐसी दशा में उसको डालरों को स्वर्ण के बदले खरीद कर अथवा उसके विकल्प में यदि संयुक्त-राज्य अमेरिका उधार देगा तो संयुक्त-राज्य अमेरिका के मुद्रा अधिकारियों से डालरों का ऋण लेकर अथवा अन्य किसी देश से जिसके पास डालरों का आधिक्य हो डालरों का ऋण लेकर डालरों की पुनः पूर्ति करनी होगी । इस पर भी यदि कोष के पास डालरों की कमी हो जावे तो 'दुर्लभ मुद्रा' सम्बन्धी प्रावधान जिसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है लागू किया जा सकता है ।

क्योंकि कोष एक प्रकार की मुद्रा को दूसरे प्रकार की मुद्रा में विनिमय करने के लिए है, डालरों की धारणों में कमी का अर्थ है कि किसी दूसरी मुद्रा की धारणों में वृद्धि होना । उस दशा में दण्ड का प्रश्न उपस्थित होता है । यदि कोष के पास सम्बन्धित देश के अम्यंश से अधिक उसकी मुद्रा की धारणें जमा हो जाती हैं तो वह

नीचे लिखी दर से उस देश पर जिसकी मुद्रा का उसके पास आधिक्य हो जाता है खर्चा लगाता है ।

१. अभ्यंश के पच्चीस प्रतिशत आधिक्य से जो राशियां अधिक नहीं हैं उन पर पहले तीन महीने कोई खर्च नहीं लगाया जाता । अगले ६ महीनों के लिए आधा प्रतिशत प्रतिवर्ष लगाया जाता है और उसके उपरान्त प्रत्येक वर्ष के लिए अतिरिक्त आधा प्रतिशत खर्च लगाया जाता है ।

२. उन राशियों पर जो पच्चीस प्रतिशत से अधिक और पचास प्रतिशत से अधिक नहीं हैं प्रथम वर्ष के लिए अतिरिक्त आधा प्रतिशत और प्रत्येक अगले वर्ष के लिए अतिरिक्त आधा प्रतिशत खर्च लगाया जाता है ।

३. अभ्यंश से अधिक प्रत्येक अतिरिक्त पच्चीस प्रतिशत पर प्रथम वर्ष के लिए अतिरिक्त आधा प्रतिशत और प्रत्येक अगले वर्ष के लिए अतिरिक्त आधा प्रतिशत लगाया जाता है ।

यह ध्यान देने की बात है यह सब खर्च सामान्य रूप से सम्बन्धित देश की मुद्रा में न चुकाए जाकर स्वर्ण में चुकाए जाते हैं । उनका उद्देश्य देशों को अपने अन्तर्राष्ट्रीय शेषों के भुगतान में निरन्तर घाटे की स्थिति में बने रहने से निरुत्साहित करना है । फिर भी उसमें एक निवारण खण्ड है जिसके अनुसार यदि किसी देश के मौद्रिक संसाधन उसके अभ्यंश के आधे से कम हैं तो उसको खर्च का केवल वह अनुपात ही स्वर्ण में देना होगा जो उसके मौद्रिक साधनों और आधे अभ्यंश का है और शेष वह अपनी मुद्रा में चुका सकता है ।

मूल कीन्स योजना में न केवल उन देशों को ही दंडित करने का प्रावधान था कि जो अन्य देशों द्वारा उनकी जितनी मुद्रा कोप से निकाली गई हो उससे अधिक अपनी निज की मुद्रा कोप में दें वरन् उन देशों को भी दंडित करने का प्रावधान था कि जो अन्य देशों की मुद्राओं को प्राप्त कर सकने के लिए अभ्यंश का उपयोग कर सकने में विफल रहे । दूसरे अर्थों में घाटे वाले देशों के साथ समान रूप से आधिक्य वाले देशों को भी दंडित करने का प्रावधान था । परन्तु यह अमेरिकियों के लिए बहुत अधिक था और अन्तिम योजना में से निकाल दिया गया जो केवल ऋणी देशों को ही दंडित करती है और यह स्वीकार नहीं करती कि उन साहूकार देशों का भी कोई दोष है जो अपने ऋणी देशों की वस्तुओं को खरीदने में अपनी मुद्रा का उपयोग नहीं करते । ऋणी देश केवल दंडित ही नहीं किए जाते वरन् उनको उस अनुपात के अनुसार दुहा जाता है जिससे दंड की मात्रा ऋण की राशि और काल दोनों के ही अनुसार बढ़ती जाती है ।

फिर भी योजना के बारे में यह कहना होगा कि उसमें सम्मिलित होने वाले प्रत्येक देश को विदेशी विनिमय पर प्रारम्भिक अधिकार प्राप्त हो गया जिसका वह भुगतान के शेष का अस्थायी असंतुलन चुकाने में उपयोग कर सकता था, और स्पष्ट था कि उससे समस्या हल हो जाती यदि यह कल्पना की जा सकती कि जिस असंतुलन को ठीक करना है वह अल्पकालीन और अल्पराशि का है। चालू भुगतान के प्रतिकूल शेष में तीन विभिन्न प्रकार के असंतुलन प्रगट होते हैं। उनमें से पहला और सबसे सरल केवल एक अल्पकालीन घटना मात्र है जो फसलों के नष्ट हो जाने अथवा ऐसे उद्योग में जिस पर देश अधिकतर अवलम्बित है असाधारण मंदी आ जाने, अथवा केवल मौसमी असंतुलन मात्र होता है जैसा कि वर्ष के समय विशेष में नियमित रूप से ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के विनिमय को प्रभावित करता था—जैसे कारणों से उत्पन्न होता है। इस प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिए स्पष्टतया ब्रैटेन-बुड्स का तंत्र पर्याप्त है। दूसरे प्रकार का असंतुलन अधिक गम्भीर होता है जो युद्ध से उत्पन्न होता है जिसके कारण कुछ देश अपनी आयात आवश्यकताओं की विदेशों से चालू प्राप्ति से वित्त व्यवस्था करने में असमर्थ हो जाते हैं, जब तक कि उन्हें अपनी अर्थव्यवस्थाओं का पुनः निर्माण करने और पुनर्व्यवस्थापन करने के लिए समय न मिले। केवल यह तथ्य कि ब्रैटेन-बुड्स समझौते की वातचीत के साथ-साथ ग्रेट-ब्रिटेन को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका से एक बहुत बड़े डालर ऋण के लिए बात करे प्रगट करता है कि कम से कम ब्रिटेन के मामले में ब्रैटेन-बुड्स योजना से जितनी साख उपलब्ध की गई वह आवश्यकता को पूरा करने के लिए बहुत कम थी। सच तो यह है कि युद्ध से उत्पन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जिस मात्रा में साख की आवश्यकता थी उसको पूरा करना अभीष्ट नहीं था। तीसरे प्रकार का असंतुलन वह है जो दीर्घकालीन परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। उसमें किसी देश विशेष की बिना विदेशी सहायता के चालू आयात आवश्यकताओं को पूरा कर सकने की असमर्थता सन्निहित रहती है। दोनों युद्धों के बीच अधिकांश समय आस्ट्रेलिया ऐसी स्थिति में था, और उसका बार बार लीग आव नेशंस के ऋणों तथा विदेशी बैंकों द्वारा साख देकर पोषण किया गया। स्पष्ट है कि इस तीसरे प्रकार के असंतुलन से ब्रैटेन-बुड्स योजना को प्रत्यक्ष संव्यवहार नहीं करना है। वस्तु स्थिति यह है कि उससे संव्यवहार करने का इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है कि या तो दीर्घकालीन ऋण दिए जावें जिनका उन परिस्थितियों में चुकाना संदेहजनक होना अवश्यम्भावी है, अथवा पूर्ण रूप से उपहार दिया जावे, अथवा अर्थव्यवस्था में परिवर्तन किया जावे जो भुगतान के शेष को या तो आयातों के कम करने की सीधी कार्यवाही से अथवा मुद्रा पुनर्व्यवस्थापन से, अथवा आन्तरिक मुद्रा संकोचन से, अथवा इन तरीकों के संयोग से वापस संतुलन में ले आवे। ब्रैटेन-बुड्स में युद्धोत्तर असंतुलन दूसरे प्रकार का माना गया

जबकि वह वास्तव में तीसरे प्रकार का था और इसी लिए प्रावधानों की अपर्याप्तता शीघ्र प्रगट हो गई।

कीन्स योजना अपने मूल रूप में वस्तुतः संस्फीतिकारी थी। उसने एक नए अन्तर्राष्ट्रीय लेखाशोधन 'मुद्रा-वैंकर' की सृष्टि करने का और प्रत्येक देश के हिसाब में वैंकर की एक राशि जमा करने का प्रस्ताव किया गया था जो उसकी इच्छा पर किसी भी राष्ट्रीय मुद्रा में बदली जा सकती थी और जो 1939 के पूर्व प्रत्येक देश के विदेशी व्यापार की राशि पर आधारित होती। इसके विपरीत ब्रैटेन-बुड्स योजना ने एक नए प्रकार के द्रव्य के प्रस्ताव को छोड़ दिया और प्रत्येक देश के लिए साख का एक निश्चित अंश निर्धारित किया जिससे वह निकाल सकते थे। यूनाइटेड किंगडम का यह अंश 130 करोड़ संयुक्त राज्य अमेरिकन डालर अथवा तत्कालीन विनिमय दर के अनुसार लगभग 32 करोड़ 50 लाख पौंड निश्चित किया गया था। किन्तु इस राशि तक चार वर्षों के काल में निकाल सकने के लिए ग्रेट-ब्रिटेन को अपने अंश का एक चौथाई अपने हिस्से के एक अंश के रूप में स्वर्ण में चुकाना था। अतएव योजना के फलस्वरूप उसकी साख में वास्तविक वृद्धि 32 करोड़ 50 लाख पौंड न होकर केवल 24 करोड़ 40 लाख पौंड थी जो कि ब्रिटेन की तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों में जबकि यह योजना स्वीकार की गई एक वर्ष के घाटे को भी पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं थी। संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़ अन्य सब देशों को यूनाइटेड किंगडम से कम अंश दिया गया। अपने मूल रूप में कीन्स योजना में यूनाइटेड किंगडम को उसके युद्ध पूर्व के विदेशी व्यापार के मूल्य की 75 प्रतिशत साख दी जाती (और अवश्य ही अन्य देशों को भी उसी के सदृश साख दी जाती) इसका अर्थ होता कि आयात और निर्यात के मूल्यों का हिसाब लगाने में जिन तरीकों का उपयोग किया जाता था उनके अनुसार साख 100 करोड़ से 110 करोड़ पौंड होती। उस समय यह राशि भी अपर्याप्त होती परन्तु सम्भावित घाटे की मात्रा से उसका कुछ सम्बंध तो होता। जबकि ब्रैटेन-बुड्स योजना में जो राशि उपलब्ध की गई वह दूसरे अथवा तीसरे प्रकार के असंतुलन से उत्पन्न होने वाले घाटे का जहां तक सम्बंध था कुछ भी नहीं थी। कीन्स योजना की स्पष्ट इच्छा थी कि जबकि सब देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्व्यवस्थापन कर रहे हैं तब तक नई अन्तर्राष्ट्रीय प्रकार की व्यवस्था करके जिससे सब देश साख ले सकेंगे बहुत बड़े अन्तःसरकारी ऋणों के समझौतों को अनावश्यक बना दें। ब्रैटेन-बुड्स योजना का उद्देश्य बहुत अधिक सीमित था। वह पहले प्रकार के अस्थायी असंतुलन को ठीक करने के लिए साधन उपलब्ध करने के लिए तैयार की गई थी। अन्य दो प्रकार के अत्यधिक गम्भीर असंतुलन को ठीक करने के लिए वह नहीं बनाई गई थी। वास्तव में ब्रैटेन-बुड्स मौद्रिक समझौते के ऋणों के सम्बंध में उस सीमित उद्देश्य के प्रकाश में निर्णय किया जाना चाहिए न कि उसका परीक्षण अधिक गम्भीर रूपों के असंतुलन को ठीक

करने की शक्यता के आधार पर किया जाना चाहिए। उनके सम्बन्ध में यदि उसको देखें तो वह स्पष्ट ही अपर्याप्त है और ऐसा ही अभिप्रेत भी था। अमेरिकनों के मस्तिष्क में जो मुख्यतः उसके लिए उत्तरदायी थे वह वास्तव में एक स्वयं में पूर्ण योजना न होकर एक विस्तृत योजना का अंश था जिसमें उसके अतिरिक्त दीर्घकालीन विदेशी नियोजन के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिस्थितियों का बहुदेशीय तथा अविभेदी सिद्धान्तों पर नियंत्रण करने, और जैसा कि बाद को प्रगट हुआ ऋण लेने वालों द्वारा उन दायित्वों को स्वीकार करने—जो कि उसके साथ जोड़े जाने वाले थे—की शर्त पर ही ऋण देने का प्रस्ताव था।

परिणाम यह हुआ कि वास्तविक युद्धोत्तर परिस्थिति के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अपर्याप्तता तेजी से प्रगट हो गई। एक महत्वपूर्ण कारण युद्ध समाप्ति के उपरान्त कीमतों का बहुत तेजी से ऊंचा उठना था।* संयुक्त-राज्य अमेरिका में कच्चे माल की कीमतों को देशनांक 1945 में 65 से 1948 में 100 हो गया और खेती की पैदावार की कीमतें 67 से बढ़कर 100 हो गईं जबकि तैयार पक्के माल की कीमतों का देशनांक 64 से ऊंचा उठकर 100 हो गया। उसी काल में यूनाइटेड-किंगडम में कच्चे माल की कीमतों का देशनांक 63 से ऊंचा उठकर 100 हो गया किन्तु तैयार माल की कीमतों में वृद्धि केवल 76 से 100 हुई। 1946 में में ब्रिटिश आयातों की औसत कीमतें 1938 के स्तर से 10 प्रतिशत अधिक थीं और ब्रिटिश निर्यातों की 96 प्रतिशत अधिक थीं। 1948 तक आयातों में 158 प्रतिशत वृद्धि हुई और निर्यातों में केवल 142 प्रतिशत ही वृद्धि हुई। इस प्रकार व्यापार की शर्तें पहले की अपेक्षा खराब होकर 108 में 117 हो गईं। (1938=100) यह कोरियन संकट से बहुत पहले घटित हो चुका था, जिसके कारण ब्रिटिश आयात की औसत कीमत 1938 के स्तर से 331 प्रतिशत ऊंची उठ गई, और कच्चे पदार्थों के आयातों की कीमत 500 प्रतिशत ऊंची हो गई। उसके विरुद्ध निर्यात होने वाले तैयार माल की औसत कीमत केवल 200 प्रतिशत ऊंची हुई और सब निर्यातों की कीमत 203 प्रतिशत ही ऊंची उठी। 1951 में व्यापार की शर्तें विगड़ कर 141 हो गईं और निर्मित वस्तुओं के निर्यात के विरुद्ध कच्चे माल के आयात का अनुपात 200 हो गया। इस प्रकार एक निश्चित आयात की मात्रा की कीमत चुकाने के लिए दुगनी निर्मित वस्तुओं का निर्यात करना पड़ता था। यह ठीक है कि 1951 एक असाधारण वर्ष था किन्तु 1950 में भी व्यापार की शर्तें ग्रेट-ब्रिटेन के विरुद्ध 1938 में 100 की तुलना में 124 थीं और कच्चे माल की तुलना में निर्मित वस्तुओं में निर्यात का अनुपात 159 था।

*कीमतों के साधारण परिवर्तन के बारे में पृष्ठ 78 पर आठवीं तालिका देखें।

व्यापार की शर्तों में परिवर्तन का अर्थ आयातों की मुद्रा लागत तथा वास्तविक लागत दोनों में ही तेज वृद्धि था। यह बात केवल ग्रेट-ब्रिटेन के लिए ही नहीं वरन् अन्य बहुत से देशों के लिए भी सही थी और साथ ही कीमतों में आम वृद्धि के कारण ग्रेट-ब्रिटेन-बुड्स समझौते में निर्धारित अग्र्यंश देशों की युद्धोत्तर तात्कालिक समस्याओं से पार पाने के लिए भी नितान्त अपर्याप्त थे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जिससे अपेक्षा थी कि वह व्यापारिक और वित्तीय समृद्धि का मुख्य साधन बनेगा घटकर बहुत महत्वहीन हो गया। मार्शल सहायता के आगमन पर—जो ग्रेट-ब्रिटेन-बुड्स योजनाओं की अपर्याप्तता के अनुभव का सीधा परिणाम थी—वह जरूरतमंद देशों के लिए निधियों के श्रोत के रूप में महत्वहीन हो गया।

अब हम ग्रेट-ब्रिटेन-बुड्स में तैयार किए गए प्रलेख के दूसरे भाग पर आते हैं जो कि दूसरी व्हाइट योजना पर आधारित था—जिसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घकालीन ऋण देने से था। दूसरा भाग अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक को स्थापित करने के समझौते में मौजूद था। इस संस्था की पूंजी नाममात्र को 10 अरब संयुक्त राज्य अमेरिकन डालर रखी गई। जो एक लाख हिस्सों में विभाजित थी। परन्तु यह बड़ा अंक एक हद तक भ्रमोत्पादक है। क्योंकि बैंक की प्रत्यक्ष पूंजी ऋण देने की शक्ति दो अरब डालर तक सीमित थी और शेष नाममात्र पूंजी का उपयोग केवल ऋणों की गारंटी करने के लिए अभीष्ट था जिसके लिए वास्तविक पूंजी अन्यत्र उधार ली जाने को थी। सदस्य राज्यों को प्रथम बार अपनी नाममात्र की धारणों की राशि का केवल दो प्रतिशत ही चुकाना था। अपनी धारणों की नाममात्र की राशि का प्रारम्भिक चुकारा केवल युद्ध में ध्वंस हुए देशों को छोड़कर तुरन्त ही स्वर्ण अथवा डालर में करना था। नाममात्र की पूंजी का और 18 प्रतिशत जो सदस्यों की मुद्रा में चुकाना था उस समय मांगा जाने वाला था जब बैंक को ऋण देने के लिए वित्त की आवश्यकता हो। शेष 80 प्रतिशत का मांगा जाना बिलकुल आवश्यक नहीं था। परन्तु यदि बैंक द्वारा दी गई गारंटी को पूरा करने के लिए उसके किसी अंश की याचना करनी पड़े तो याचना राशि या तो स्वर्ण में अथवा डालरों में अथवा उन मुद्राओं में देनी होगी जिनकी बैंक को अपने दायित्व को पूरा करने के लिए वास्तव में आवश्यकता हो। विधान में एक प्रावधान ऐसा था जिससे शासी-प्रमंडल (गवर्निंग बोर्ड) द्वारा तीन चौथाई मत से बैंक की कुल पूंजी दस अरब डालर से अधिक बढ़ाई जा सकती थी।

अस्तु बैंक का मुख्य प्रयोजन निजी विदेशी विनियोग की गारंटी करना है न कि प्रत्यक्ष ऋण देना। तथापि बैंक उन ऋणों में हिस्सा ले सकता है जिनका अधिकांश अन्यत्र लिया गया हो। वह स्वयं उसी समय ऋण देता है जबकि निजी पूंजी उचित शर्तों पर उपलब्ध न हो। और उसकी गारंटियां भी इस शर्त के अधीन

हैं कि बैंक को इस बात का संतोष होना चाहिए कि वर्तमान बाजार की परिस्थितियों में कर्ज लेने वाला देश अन्यथा उन शर्तों पर कर्ज नहीं पा सकेगा जो कि बैंक की सम्मति में कर्ज लेने वाले के लिए उचित हैं। ऋणों की गारंटी उसी समय दी जा सकती है जबकि बैंक सूद की दर, अन्य खर्च, और अदायगी की शर्तें बैंक के विचार से उचित हों, और प्रत्येक दशा में बैंक को गारंटी देने के लिए उचित व्यय लेना ही होगा। इसके अतिरिक्त जब ऋण लेने वाली राज्य सरकार न हो—जो बैंक की सदस्य है—तो सदस्य राज्य सरकार अथवा उसके केन्द्रीय बैंक, अथवा अन्य उपयुक्त अभिकरण (एजेंसी) को मूल और सूद दोनों की पूरी गारंटी करनी होगी।

स्पष्ट है कि बैंक का परिनियम सावधानी से ऐसा बनाया गया कि उसे विदेशी ऋण देने में निजी उद्यम का प्रतिस्पर्द्धी होने से रोका जा सके। सच तो यह है कि उससे यह स्पष्ट अपेक्षा की गई थी कि उसके निज के ऋण मुख्यतः ऐसे प्रयोजनों के लिए हों कि जिनकी ओर निजी विनियोजकों के आकर्षित होने की सम्भावना नहीं थी। ऐसा या तो उनके क्षेत्र के कारण था अथवा वे उन देशों में दिए जाने वाले थे जिनकी पूंजी विनियोग बाजार में स्थिति नीची थी। यह स्पष्ट नहीं है कि जब बैंक किसी ऋण विशेष में निजी विनियोजकों के साथ भागीदार होगा तो यह किस प्रकार कार्य में परिणित किया जा सकेगा। सामान्य अवस्था में ऋण तथा गारंटी दोनों ही पूंजी विकास की विशिष्ट योजनाओं अथवा पुनर्निर्माण से बांध दी गई थीं और बैंक को बिना राजनैतिक, अथवा गैर-आर्थिक प्रभावों या विचारों की परवाह किए इस बात को सुनिश्चित करने का प्रबन्ध करना था कि ऋण की रकम उसी प्रयोजन के लिए व्यय की गई जिसके लिए ऋण दिया गया था। यह और तय किया गया कि बैंक तथा उसके पदाधिकारी किसी सदस्य देश के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और न वे सम्बन्धित सदस्य अथवा सदस्यों के राजनैतिक स्वरूप से अपने निर्णयों में प्रभावित होंगे। यह भी निश्चित किया गया कि उनके निर्णयों के लिए केवल आर्थिक विचार ही सुसंगत होंगे।

वास्तव में बैंक की 10 अरब डालर की निर्धारित नाम मात्र की पूंजी में से ब्रैटन-वुड्स सम्मेलन में प्रति निहित 44 देशों को केवल 8 अरब 80 करोड़ डालर ही नियत किए गए थे। शेष अन्य देशों के लिए नियत करने के लिए छोड़ दिए गए जो वाद की योजना में शामिल हो सकते थे। उस 8 अरब 80 करोड़ में से संयुक्त राज्य अमेरिका 3 अरब 17 करोड़ 50 लाख के लिए जिम्मेदार हो गया और इस प्रकार वह सबसे अधिक बड़ा हिस्सेदार था।

ब्रैटन-वुड्स सम्मेलन में स्थापित किया जाने वाला बैंक उस प्रकार का था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक दोनों के बारे में अब इस बात पर

विचार करना शेष रहता है कि ब्रैटेन-वुड्स समझौते में उनका वास्तविक नियंत्रण कहाँ निहित था। यह ठीक है कि किसी एक देश का बहुमत नहीं है परन्तु दोनों ही संस्थाओं पर संयुक्त राज्य अमेरिका के पास सबसे अधिक मताधिकार है। ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के कुल मताधिकार से कहीं अधिक। संयुक्त राज्य अमेरिका के उपरान्त सबसे बड़े भागीदार यूनाइटेड किंगडम और सोवियत संघ (जिन्होंने अन्त में ब्रैटेन वुड्स समझौते पर हस्ताक्षर न करने का निश्चय किया) थे। उनके पीछे उनसे कुछ अन्तर पर चीन, फ्रांस और भारत थे। योजना के दोनों भागों में पाँचों सबसे बड़े भागीदारों को विशेष विशेषाधिकार प्राप्त थे। कोप और बैंक दोनों ही बोर्ड आव गवर्नर (शासक मंडल) के अधीन रखे गए जिसमें प्रत्येक सदस्य देश को एक गवर्नर नियुक्त करना था (और उसकी अनुपस्थिति में कार्य करने के लिए एक स्थानापन्न नियुक्त करना था) किन्तु मुख्य प्रशासनिक कार्य एक कार्यकारी संचालकों के निकाय को सौंप दिया गया था। जो अपने तथा गवर्नरों के बाहर से एक प्रबन्ध संचालक (मैनेजिंग-डायरेक्टर) नियुक्त करता है, बैंक में जिसे प्रेसीडेंट (अध्यक्ष) कहते हैं। इन कार्यकारी संचालकों में से जिनकी संख्या प्रत्येक संस्था में चारह है पाँच सबसे बड़े भागीदार प्रत्येक एक की नियुक्ति करते हैं, और अन्य भागीदार शेष को आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर चुनते हैं। मुद्रा कोप के बारे में एक विशेष प्रावधान है जिसके कारण कुछ विशेष प्रयोजनों के लिए साहूकार देश के मतों में वृद्धि करदी जाती है और ऋणी देश के मतों में कमी करदी जाती है। किन्तु साधारणतया मताधिकार विभिन्न देशों के लिये नियत अम्यंशों पर आधारित होता है।

1954 में भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के समापन का मूल्यांकन कर सकना कठिन है। उसके परिनियमों में प्रावधान हैं जो उसे निर्देश करते हैं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दीर्घकालीन संतुलित वृद्धि का विकास करे, और सदस्यों के उत्पादक साधनों का विकास करने के लिए विनियोजन को प्रोत्साहित कर भुगतानों के शेषों का संतुलन बनाये रखे। उसके द्वारा उत्पादक जीवन स्तर और मजदूरों की दशा को उनके प्रदेशों में ऊँचा उठाने में मदद दे और अन्य श्रोतों से दिए गए अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के सम्बन्ध में अपने द्वारा दिए हुए अथवा गारंटी किए हुए ऋणों के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रबन्ध करे कि जिससे समान रूप से बड़ी और छोटी अधिक उपयोगी योजनाएँ पहले ली जावें। स्पष्ट तात्पर्य यह था कि बैंक मुद्रा कोप से निकट रह कर कार्य करे और चालू खाते के आधिकार्यों को दीर्घकालीन विदेशी विनियोगों में इस प्रकार रूपान्तरित करने को प्रोत्साहित करे कि जिससे प्रत्येक देश के सम्पूर्ण भुगतान शेष जहाँ तक सम्भव हों संतुलित हो जावें। परन्तु इस बात का का कोई आश्वासन नहीं था कि यह पूरा होगा। जिस सीमा तक निजी विनियोग को उन क्षेत्रों में जिनके विकास की आवश्यकता है आकर्षित करना व्यवहारिक होगा स्पष्ट है कि वह इस बात

पर निर्भर होगा कि अमेरिकन पूंजीपति का उन सौदों की लाभदायिकता के बारे में क्या अनुमान है। स्वयं जो सम्भावित ऋण लेने वाले देशों की अपनी अर्थव्यवस्था के पुनः स्थापन और उनके निर्यात व्यापार के विस्तार की सफलता पर निर्भर रहेगा। यह स्पष्ट था कि बैंक सुव्यवस्थित और व्यापारिक सिद्धांतों पर कार्य करे यही अभीष्ट था। अथवा जहां प्रतिफल की सम्भावनाएं गम्भीर संदेहजनक दिखलाई दें वहां भी ऋण देना अभीष्ट नहीं था। ऋण और गारंटी दोनों के ही बारे में यह स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया था कि बैंक इस प्रत्याशा का पूरा ध्यान रखेगा कि ऋण लेने वाला अपने दायित्व को पूरा करने की स्थिति में है और बैंक उस सदस्य विशेष जिसके प्रदेश में वह योजना स्थित है और सभी सदस्यों—दोनों के ही हितों में वृद्धिमत्तापूर्वक काम करेगा।

वह एक अनोखा और शायद प्रकाश में लाने वाला तथ्य है कि योजना की सम्पूर्ण शब्दावली में यह मान्यता प्रगट होती है कि जिन योजनाओं के लिए वित्त प्रवन्ध किया जावेगा वे प्रत्येक उदाहरण में एक देश के प्रदेश में ही सीमित होंगी। ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है जिससे यह ध्वनित होता हो कि उदाहरण के लिए बैंक राष्ट्रीय से परे योजनाओं की टिर्नैसी घाटी प्राधिकारी की तरह कोई विशेष निकाय बनाकर उनको वित्त देने का कार्य करे। निस्संदेह इस प्रकार की योजनाएं बैंक के कार्यक्षेत्र की सीमा में सम्बन्धित राज्यों की गारंटी लेकर अथवा उनको आंशिक योजनाओं में तोड़ कर प्रत्येक अंश की उन राज्यों में से एक राज्य द्वारा गारंटी देने पर लाई जा सकती हैं। परन्तु इस दूसरे तरीके के विरुद्ध गम्भीर आपत्तियां हैं। और यह किसी भी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि पहला तरीका किस प्रकार ब्रैटेन-वुड्स-प्रलेखों की शब्दावली से मेल खा सकता है।

यह पहले से ही स्पष्ट था कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा कोई बड़े परिणाम प्राप्त करने में व्यवहारिक सफलता इस बात पर निर्भर होगी कि संसार के प्रमुख देश अपने राजनैतिक मतभेदों का व्यवस्थापन करने और सहकारी आर्थिक कार्यवाही के लिए एक आधार स्थापित करने में किस सीमा तक सफल होते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रैटेन-वुड्स योजना के दोनों अर्धभाग साथ साथ कार्यान्वित किए जावें यही अभीष्ट था और यद्यपि यह सर्वथा निर्धारित तो नहीं कर दिया गया था परन्तु यह अपेक्षित था कि दोनों की सदस्यता एक ही होनी चाहिये और परिणाम में सोवियत संघ के साथ समस्त पृथ्वी को आच्छादित करना चाहिये। तथापि उस अवस्था में सोवियत रूस अलग रहा और योजना के दोनों भाग प्रधानतः संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में विकसित हुए। इसके अतिरिक्त संसार की अर्थव्यवस्था में शीघ्र ही यह दिखलाई देने लगा कि जैसी आरम्भ में कल्पना की गई थी संतुलन का अभाव बहुत अधिक गम्भीर और निश्चय ही बहुत अधिक लम्बे काल के लिये

होगा । घाटे वाले देशों के मौद्रिक ढांचे को ध्वस्त होने से बचाने के लिये एक के बाद दूसरे नए उपाय काम में लाने पड़े और यह अगले कदम कोप और बैंक दोनों के ही बाहर उठाने पड़े । प्रथम 1946 में ग्रेट-ब्रिटेन को अमेरिका और कनाडा द्वारा ऋण दिया गया और तत्पश्चात् आर्थिक और सैनिक सहायता की उत्तरोत्तर योजनाएं घाटे के देशों के लिये तैयार की गई जिन्होंने इस सहायता को प्राप्त करने के उद्देश्य से अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र में आना स्वीकार किया और इस प्रकार वे सोवियत संघ, उसके प्रभाव के देशों और उसके मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध पंक्तिबद्ध हो गए ।

अतएव यह सर्वोत्तम दिखलाई देता है कि कोप और बैंक के साफल्य के सम्बन्ध में विचार करना तब तक रोक दिया जावे जब तक कि हम उन दूसरी कार्यवाहियों के प्रभाव पर विचार न कर लें जो कि अल्पकालीन बहुत अधिक महत्व की रही हैं ।

अध्याय १८

युद्ध के पश्चात्

ब्रैटेन-वुड्स योजना के तुरन्त उपरान्त आपस में बातचीत होने के परिणाम-स्वरूप दिसम्बर 1945 में संयुक्त-राज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन की सरकारों में प्रस्तावित वित्तीय समझौता प्रकाशित किया गया। उस प्रलेख में यूनाइटेड-किंगडम को 3 अरब 75 करोड़ डालर का अमेरिकन ऋण दिए जाने का प्रस्ताव था जो कि समझौते के लागू होने और 1951 के बीच किसी समय भी प्राप्त किया जा सकता था और उस पर दो प्रतिशत सूद था। उस वर्ष के अन्त तक कोई सूद नहीं देना था परन्तु उसके उपरान्त दो हजारवें वर्ष तक सम्पूर्ण ऋण को चुका देने की दृष्टि से मूल और सूद सहित ऋण को पचास वार्षिक किस्तों में चुकाना था। कुछ परिस्थितियों में जिनका वर्णन बाद में किया जावेगा किसी वर्ष विशेष में दिया जाने वाला सूद विलोपित किया जा सकता था परन्तु मूल के चुकारे के लिए दी जाने वाली किस्त को विलोपित नहीं किया जा सकता था।

उस ऋण का प्रयोजन स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया था। उसका प्रयोजन यूनाइटेड-किंगडम द्वारा संयुक्त-राज्य अमेरिका में वस्तुएं और सेवाएं खरीदना, यूनाइटेड-किंगडम को चालू भुगतान शेष में संक्रमणकालीन युद्धोत्तर घाटे को चुकाने की सुविधा देना, यूनाइटेड-किंगडम को स्वर्ण और डालर की यथेष्ट संचिति बनाए रखने में सहायता देना, और यूनाइटेड-किंगडम की सरकार को बहुउद्देशीय व्यापार के इस तथा अन्य समझौतों में वर्णित दायित्व को उठाने में मदद करना था।

इस वाक्यांश का दंश उसके अन्त में था। ऋण की एक शर्त यह थी कि यूनाइटेड-किंगडम को ब्रैटेन-वुड्स योजना का पालन करना चाहिए और इस तरह अपनी मुद्रा का प्रबंध उसे अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में रख देना चाहिए और पूंजी के आवागमन को छोड़कर विदेशी विनिमय नियंत्रण न करने के लिए राजी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त साथ साथ संयुक्त-राज्य अमेरिका की सरकार ने एक विचित्र प्रलेख "व्यापार और रोजगार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के विचारार्थ प्रस्ताव"-शीर्षक रक्खा और यह अपेक्षा रखी कि ब्रिटिश सरकार इन प्रस्तावों के समर्थन करने का वचन देगी। यह वचन योजना के साथ एक और शर्त के रूप में जोड़ दिया गया। ब्रिटिश सरकार को ब्रैटेन-वुड्स योजनाओं तथा उस वचन दोनों से बंधे रहने

की स्वीकृति पहले ही देनी थी, तभी अमेरिकन सरकार उस ऋण को कांग्रेस की स्वीकृति के लिए उसके सामने उपस्थित करने के लिए राजी होती । उसके बिना ऋण नहीं दिया जा सकता था । वास्तव में दिसम्बर 1945 में दो सरकारों ने जो सम्मिलित वक्तव्य निकाला उसमें ब्रिटिश सरकार ने उन शब्दों में जैसा कि स्पष्टतः अमेरिकन राज्य विभाग ने आदेश दिया यह स्वीकार किया कि वह उन प्रस्तावों के सभी महत्वपूर्ण बिन्दुओं से पूर्णतया सहमत है । उसने आगे यह भी कहा कि वह उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के लिए आधार रूप में स्वीकार करती है और संयुक्त-राज्य अमेरिका की सरकार के साथ उसका यह भरसक प्रयत्न होगा कि अन्य देशों द्वारा प्रकट किए हुए विचारों के प्रकाश में उस वार्ता को सफल बनाया जावे । इस दूरगामी वाक्य के अन्तिम शब्द निस्संदेह ब्रिटेन की ओर से इस आशा का संकेत करते हैं कि अमेरिका के कुछ प्रस्तावों का अन्य देशों द्वारा विरोध उनको स्वीकार किए जाने से रोक सकेगा और इस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन को बहुत अधिक दुर्वहभार में से कुछ से जिसे आरोपित करने में स्वयं मदद देने का उसने वचन दिया है हल्का करेगा । किन्तु यह वचन कि वह अपना भरसक प्रयत्न अमेरिका के प्रस्तावों का समर्थन करने में करेगा निश्चित रूप से वचनकारी था ।

अस्तु दिसम्बर 1945 का ऋण प्रस्ताव किसी भी प्रकार साधारण व्यापारिक सौदा नहीं था । अमेरिकनों ने सूद वसूल करने के अतिरिक्त जो कि उस प्रकार के ऋण के लिए न्यायोचित व्यापारिक सूद की दर मानी जावेगी अपने प्रस्ताव में ऐसी शर्तें रख दीं कि जिनका अर्थ था कि ब्रिटिश व्यापारिक और मौद्रिक नीति अमेरिका के विचारों के पूर्ण रूप से अनुगत हो जावे और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक तथा व्यापारिक मामलों में ब्रिटेन अमेरिका के प्रभाव को स्वीकार करे ।

इससे पहले कि हम अमेरिका के व्यापार और रोजगार सम्बंधी प्रस्तावों के फलितार्थों पर विचार करें यह अच्छा होगा कि हम ऋण से जुड़ी हुई वित्तीय शर्तों का ही वर्णन पूरा कर लें । प्रथम यह देखने की बात है कि प्रस्तावित वित्तीय समझौते के अन्तर्गत ऋण के प्रावधान के अतिरिक्त एक अनुबंध था जिसमें उधार पट्टा, पारस्परिक सहायता, संयुक्त-राज्य की यूनाइटेड-किंगडम में युद्ध की अतिरिक्त जायदाद के उत्पन्न शेष दायित्वों, और युद्ध प्रयत्नों से उत्पन्न सभी समान दावों का पूर्ण निवटारा सन्निहित था । इस प्रस्तावित निवटारे के अन्तर्गत वे दायित्व नहीं थे जो यूनाइटेड-किंगडम ने अमेरिका में वह खरीददारी करके जो कि उधार पट्टा तथा पारस्परिक सहायता के समझौतों के अन्तर्गत नहीं थी पैदा कर लिए थे । परन्तु कतिपय गौण व्यवस्थापनों के अधीन उसने उधार पट्टा खाते में तथा अन्य समझौतों के कारण जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है तथा जायदाद के दावों का ब्रिटिश दायित्व 65 करोड़ डालर निश्चित कर दिया और उसमें यह निर्धारित कर दिया

गया कि यह कर्ज 1951 से उन्हीं शर्तों पर चुकाया जावेगा जो कि ऋण के सम्बन्ध में निर्धारित कर दी गई हैं ।

उधार पट्टा के विषय में दो मत हैं । संयुक्त-राज्य अमेरिका का युद्ध समाप्त होते ही समस्त उधार पट्टा सहायता बंद कर देने का निर्णय यूनाइटेड-किंगडम के लिए अप्रत्याशित था । वहां अधिकतर लोगों की यह भावना थी कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में विना संयुक्त-राज्य अमेरिका की सहायता के यूनाइटेड-किंगडम ने जो युद्ध का भार वहन किया उसके बदले संक्रांतिकाल में अमेरिकन सहायता को चालू रखना उचित था । तथापि यदि अमेरिकनों ने यह दृष्टिकोण नहीं अपनाया तो विजय दिवस के उपरान्त जो माल भेजा गया अथवा जो रास्ते में था उसके परिणाम स्वरूप जो ऋण जमा हो गया था उसका संव्यवहार करने के लिए जितनी आशा की जा सकती थी निवटारा उतना न्यायपूर्ण था । कम से कम ब्रिटिश सरकार के लिए यह जानना संतोषजनक था कि अमेरिका के उन दावों के सम्बन्ध में ब्रिटेन की क्या स्थिति है । फिर चाहे यह सरलता से स्पष्ट नहीं था कि 65 करोड़ डालर का चुकारा वास्तव में किस प्रकार किया जावेगा । विशेषकर जब कि उसके अतिरिक्त उससे भी बड़ा चुकारा उस ऋण समझौते के अन्तर्गत करना होगा ।

जबकि वे पूरी शर्तें जिन पर ऋण आधारित था निश्चित कर दी जावें तब चुकारे की सम्भावनाओं के सम्पूर्ण बड़े विषय पर विचार करना अच्छा होगा । यूनाइटेड-किंगडम द्वारा वास्तव में निकाले हुए ऋण के प्रत्येक एक अरब डालर के लिए प्रति वर्ष की किश्त के हिसाब से जहां तक ऋण का सम्बन्ध था चुकारा किया जाना था । इसका अर्थ यह होगा कि यदि ऋण की सम्पूर्ण राशि निकाल ली जावे तो प्रति वर्ष 3 करोड़ पाँच और वह राशि जो उधार पट्टा समझौते के सम्बन्ध में देनी हो, चुकानी होगी, । उसमें एक विशेषण वाक्यांश था जो कतिपय परिस्थितियों में सूद को न लेने की अनुमति देता था परन्तु मूल को नहीं छोड़ा जा सकता था । यह वाक्यांश यूनाइटेड-किंगडम की प्रार्थना पर उसी वर्ष लागू हो सकता था जब कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (अर्थात् ब्रैटेन-वुड्स योजना के अन्तर्गत) यह प्रमाणित करे कि यूनाइटेड-किंगडम के देश के अन्दर उत्पन्न वस्तुओं तथा उसके भुगतान शेष में चालू अदृश्य निर्यात सौदों से पिछले पाँच वर्षों की औसत आय यूनाइटेड-किंगडम के 1936-38 में हुए आयातों की औसत वार्षिक राशि जो 86 करोड़ 60 लाख पाँच निश्चित कर दी गई थी अथवा जो राशि उन आयातों के मूल्य स्तर में परिवर्तन होने के कारण व्यवस्थापन के उपरान्त बनती हो—से कम हो । इस सूत्र के साथ कतिपय विशेषण जोड़े गए थे परन्तु उनसे मूल सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता था ।

इस प्रकार सूद छोड़ देने की सुविधा तभी काम में लाई जा सकती थी जब कि ब्रिटेन के भुगतान शेष में दीर्घकाल तक केवल युद्ध पूर्व के आयातों की तुलना में

घाटा रहे। अधिक जन संख्या के कारण उन्नत भोजन, अथवा अधिक निर्यात के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त करने के लिए यदि अतिरिक्त आयात किए जावेगे तो उस दशा में ग्रेट-ब्रिटेन चालू सूद के छोड़े जाने का अविकारी नहीं होगा। यदि सूद का चुकारा छोड़ दिया गया तो वह विल्कुल समाप्त कर दिया जावेगा और केवल अगले वर्षों में नहीं ले जाया जावेगा।

उसमें और भी कई शर्तें थीं। अमेरिकन ऋण का कोई भी भाग अन्य देशों के वर्तमान ऋणों को चुकाने में काम में नहीं लाया जावेगा। इसका अर्थ यह था कि उस ऋण का कोई भी भाग भारत तथा अन्य देशों के ग्रेट-ब्रिटेन के ऊपर चड़े स्टर्लिंग ऋणों को कम करने के काम में नहीं लाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार को यह वचन देना पड़ा कि वह 1951 के अन्त के पूर्व राष्ट्र मंडल के अन्तर्गत किसी भी देश से अमेरिकन ऋण से अधिक अनुकूल शर्तों पर ऋण नहीं लेगा। सूद छोड़ देने का दावा उस समय तक नहीं किया जा सकता था जब तक कि स्टर्लिंग ऋणों और राष्ट्र-मंडलीय देशों से लिए जाने वाले भावी ऋणों को अनुपात में कम न किया जावे।

यही लगभग सब कुछ नहीं था। ऋण समझौते के लागू होने के केवल एक वर्ष के अन्दर* ब्रिटेन को युद्ध कालीन स्टर्लिंग-डालर निधि (पूल) को विल्कुल समाप्त कर देने का वचन देने पर विवश किया गया। यह निधि (पूल) एक व्यवस्था थी कि जिसमें स्टर्लिंग क्षेत्र जो कि वास्तव में कनाडा को छोड़ कर तथा मिश्र और इराक को शामिल करके ब्रिटिश राष्ट्र मंडल के देश थे—जो अपने चालू व्यापार से प्राप्त सभी डालर इकट्ठा करते थे और पूर्व निर्धारित अनुपात में उस निधि से जिनका मूल्य डालरों में चुकाना जरूरी हो उस खरीद का मूल्य चुकाने के लिए डालर निकालते थे। इसका प्रभाव यह था कि स्टर्लिंग डालर निधि के देशों की संयुक्त-राज्य अमेरिका की वस्तुओं के मूल्य का भुगतान कर सकने की क्षमता उस निधि से निकालने के अपने अधिकार तक सीमित थी। अमेरिका की सरकार ने ऋण की यह एक शर्त बना दी कि यह व्यवस्था समाप्त की जानी चाहिए और प्रत्येक स्टर्लिंग देश इस बात के लिए पूरी तरह स्वतंत्र होना चाहिए कि वह अपनी चालू डालर की प्राप्ति को जहां और जैसे चाहे खर्च करे। इसके अतिरिक्त कहीं भी व्यय कर सकने की स्वतंत्रता की वही शर्त स्टर्लिंग की प्राप्ति के सम्बंध में स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में लागू होनी थी जिससे कि प्रत्येक देश को ग्रेट-ब्रिटेन से यह मांग करने का अधिकार होगा कि वह उन स्टर्लिंगों को डालर में बदले जो कि उसने आयात का मूल्य चुकाने के

*जब तक कि संयुक्त-राज्य अमेरिका कोई अगली तारीख स्वीकार न करे।

†और बहुत से अर्थों में अफ्रीका जो कि कठिनाई से नाम मात्र के सदस्य ने अधिक है।

लिए दिए थे और जिनका ब्रिटिश निर्यातों के वजाय अमेरिकन निर्यात को खरीदने में उपयोग किया जा सके ।

ऋण समझौते में ग्रेट-ब्रिटेन को ग्रेट-ब्रिटेन में संयुक्त-राज्य अमेरिका की वस्तुओं को खरीदने पर कोई भी विनिमय नियंत्रण लगाने की अथवा अमेरिकन निवासियों के चालू स्टर्लिंग शेषों का उपयोग करने पर प्रतिबंध लगाने की मनाही कर दी गई थी । इसके उपरान्त उसमें एक और भी अधिक कठोर वाक्यांश जोड़ा गया जिसके अनुसार समझौते के लागू होने के एक वर्ष बाद जहां तक चालू सौदों का प्रश्न था सभी विनिमय नियंत्रणों की मनाही कर दी गई थी । यह मनाही उन शेषों के बारे में लागू नहीं होनी थी जो कि पहले ही इकट्ठे हो चुके थे—अर्थात् विद्यमान स्टर्लिंग शेष अथवा ब्रैटेन-बुड्स योजना के दुर्लभ मुद्रा वाक्यांश के अन्तर्गत जिन प्रतिबंधों को संयुक्त-राज्य अमेरिका ने स्वीकार कर लिया था । परन्तु वह अपने ध्वनितार्थ में बहुत विस्तृत था और उसका बुरा प्रभाव यह हुआ कि ब्रैटेन-बुड्स समझौते में अपेक्षित संक्रान्तिकाल को घटा कर उसने एक वर्ष का कर दिया ।

यह भी यथेष्ट नहीं था । वाक्यांश १ ने हस्ताक्षर करने वालों को बांध दिया कि यदि वे आयातों पर मात्रात्मक नियंत्रण लागू करें तो वे वैसा इसी आधार पर कर सकते हैं कि जिसमें किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में किसी दूसरे देश से विभेद नहीं होता हो । इस वाक्यांश को बिना इस बात का विचार किए कि कांग्रेस ऋण को किस तारीख में स्वीकार करती है, 1946 के अन्त से लागू किया गया था । उसका उद्देश्य यूनाइटेड-किंगडम द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आयातों का इस प्रकार नियंत्रण करने के प्रयत्न को विफल करना था कि जिससे वह स्टर्लिंग क्षेत्र के दूसरे भागों से आने वाले आयातों को प्राथमिकता न दे सके । इस परिणाम को प्राप्त कर सकने का परोक्ष तरीका भी जैसा कि हम व्यापार तथा रोजगार के प्रस्तावों में देखेंगे, रुद्ध कर दिया गया था ।

अन्त में वित्तीय समझौते में ग्रेट-ब्रिटेन के इकट्ठे हुए स्टर्लिंग ऋणों की समस्या पर विचार किया गया । यद्यपि निश्चय ही यह ऋण किस प्रकार चुकाए जावें इससे संयुक्त-राज्य अमेरिका को कुछ लेना देना नहीं था परन्तु अमेरिकन सरकार ने यूनाइटेड-किंगडम सरकार से उनके बारे में एक विशेष प्रकार से संव्यवहार करने की अपेक्षा की । स्टर्लिंग ऋणों को तीन भागों में बांटा जाना था । एक भाग तुरन्त मुक्त किया जाना था और चालू सौदों के उपयोग के लिये स्वतंत्रतापूर्वक स्टर्लिंग से किसी भी मुद्रा में बदला जा सकता था । दूसरा भाग पहले भाग की तरह अबाध परिवर्तन-शीलता के आधार पर मुक्त किया जाना था और वार्षिक किस्तों में चुकाया जाना था जो 1951 से आरम्भ होनी थी और तीसरे भाग का युद्ध के ऋण तथा युद्धोत्तर ऋण को चुकाने की ओर अंशदान के रूप में तथा सम्बन्धित

देशों को इन ऋणों के तसफिये से जो लाभ होने की आशा थी उसकी मान्यता के रूप में उसका व्यवस्थापन किया जाना था । वास्तव में यह एक ऐसी शर्त थी जिससे कि ब्रिटिश सरकार वावजूद इसके कि भारत और ब्रिटेन में युद्ध के व्यय को वांट लेने के सम्बन्ध में पहले से ही एक समझौता मौजूद था, भारतीयों पर भारतीय साधनों को युद्ध के प्रयत्न की ओर मोड़ कर जो कष्ट डाले गए उनके होते हुए, भारत को अपने उत्पादक साधनों की उन्नति करने के लिए पूंजी आयातों की अत्यन्त अविलम्ब आवश्यकता होते हुए, और भारतीयों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए एक प्रभावकारी नीति के आरम्भ की आवश्यकता के होते हुए भी, भारत को बोझा देने का भरसक प्रयत्न करने पर विवश होती ।

वित्तीय समझौते की यह स्पष्ट शर्तें थीं जिनके अन्तर्गत संयुक्त-राज्य सरकार ने ग्रेट-ब्रिटेन को ऋण देने के लिये कांग्रेस से स्वीकृति मांगने की अपनी रजामंदी घोषित की । उस प्रस्ताव के साथ जो और शर्तें जोड़ी गईं अब उनके सम्बन्ध में विचार करना शेष है । उनमें एक शर्त यह थी कि ग्रेट-ब्रिटेन ब्रैटेन-बुड्स में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संगठनों का सदस्य बन जावे और इस प्रकार पिछले परिच्छेद में बताया गए मुद्रा के नियंत्रण सम्बन्धी सभी दायित्वों को स्वीकार करे । अमेरिका के व्यापार तथा रोजगार सम्बन्धी प्रस्तावों के सभी महत्वपूर्ण बिन्दुओं की बलात्-स्वीकृति इससे भी अधिक गम्भीर थी । क्योंकि यह संयुक्त-राज्य अमेरिका से स्वतंत्र अर्थ नीतियों को अपनाने की ब्रिटिश स्वतंत्रता पर ब्रैटेन-बुड्स योजना अथवा वित्तीय समझौते से कहीं अधिक प्रतिबंध लगाने में और ग्रेट-ब्रिटेन के आर्थिक भाग्य को अमेरिका के आर्थिक भाग्य से मजबूती के साथ इस प्रकार बांध देने में कि ग्रेट-ब्रिटेन अमेरिका के आर्थिक परिवर्तनों तथा अमेरिकन आर्थिक और राजकोपीय नीतियों की दया पर निर्भर हो जावे आगे बढ़ी हुई थीं ।

यह सत्य है कि प्रस्तावों में उनको ब्रैटेन-बुड्स, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समझौते और संयुक्त राष्ट्र खाद्य और कृषि संगठन से सम्बन्धित करते हुए एक सामान्य प्रस्तावना के पश्चात् रोजगार के सम्बन्ध में प्रभावशाली शब्दों में कतिपय घोषणाएं की गई थीं । उनमें इस बात की पुष्टि की गई कि सभी देशों में ऊंचे स्तर का स्थायी रोजगार संतोषप्रद जीवन स्तर के लिए मुख्य शर्त है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के लिए अनिवार्य है जिस पर इन देशों* तथा अन्य देशों की पूर्ण समृद्धि निर्भर करती है और इसीलिए वह विश्व-शान्ति और सुरक्षा के लिए भी अनिवार्य है । इसके उपरान्त यह निर्धारित किया गया कि प्रत्येक हस्ताक्षर करने वाला राष्ट्र अपने अधिकार क्षेत्र में पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने और उसको बनाये रखने के लिए अपनी राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं के उपयुक्त उपायों के द्वारा

* अर्थात् संसार के बड़े औद्योगिक तथा व्यापारिक राष्ट्र ।

कार्य करेगा, और कोई भी राष्ट्र ऐसे उपायों से रोज़गार बनाए रखना नहीं चाहेगा जिनके द्वारा अन्य देशों में बेरोज़गारी उत्पन्न होने की सम्भावना हो अथवा जो इन अन्तर्राष्ट्रीय उपक्रमों की दृष्टि से असंगत हों जिनका उद्देश्य उत्पादन की तुलनात्मक कुशलता के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विनियोग की मात्रा को बढ़ाना हो ।

यह सब बहुत सुन्दर था परन्तु उसके साथ कठिनाई यह थी कि संयुक्त-राज्य अमेरिका की सरकार ने इस बात को स्वयं सिद्ध मान लिया था जैसा कि ब्रिटेन की व्यापारिक सर्वोच्चता के महान दिनों में ब्रिटिश प्रतिनिधियों के करने की सम्भावना थी कि जो कुछ संयुक्त-राज्य अमेरिका के लिए उपयुक्त है वह अवश्य ही प्रत्येक देश के लिए उपयुक्त होगा । अथवा कम से कम समस्त विश्व के लिए असंदिग्ध रूप से लाभ का होगा । नहीं इससे भी अधिक—अपनी सर्वोच्चता के महान दिनों में ब्रिटिश लोग कम से कम जो कहते थे उस पर आचरण करते थे । उन्होंने अपने देश के बाज़ार को समस्त संसार की वस्तुओं के लिए खोल दिया था । जब कि अमेरिकन लोग अपनी प्रशुल्क की ऊँची दीवारों के पीछे स्वतंत्रता के सिद्धान्त का प्रचार कर रहे थे और शेष संसार को यह विश्वास करने के लिए कह रहे थे कि किसी भी प्रकार रहस्यमय ढंग से विदेशी वस्तुएं उस प्रशुल्क दीवार के ऊपर से अमेरिका में आने दी जाएंगी जिससे कि अमेरिकन जितने निर्यात करने को तैयार हों उन सबका अन्य देश मूल्य चुका सकेंगे । अथवा यदि अन्तर रहा तो अमेरिका के विदेशी विनियोगों के द्वारा उसको सरलता और स्थिरता से पूरा किया जा सकेगा । उसके लिए अमेरिकन कुल मिला कर कभी भी किस प्रकार कोई प्रतिफल प्राप्त कर सकेंगे यह मालूम कर सकना सरल नहीं था । सभी प्रकार के विभेद की निन्दा करने के नाम पर और केवल मात्र उत्पादन की तुलनात्मक कुशलता के नियम के परिचालन पर ही आग्रह करने का अर्थ यह था कि केवल प्रशुल्क के विराट् अपवाद को छोड़कर, संयुक्त-राज्य अमेरिका ने अन्य देशों और विशेषकर ग्रेट-ब्रिटेन को उन उपायों को काम में लाने के अधिकार से जिनका उद्देश्य—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को कम करना नहीं बल्कि परस्पर सौदों के द्वारा जिनसे विनियम सम्भव हो सकता था, जो अन्यथा सम्भव नहीं था—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करना था, और जो प्रत्येक बड़े देश को अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक परिवर्तन की दया पर नहीं छोड़ देते—वंचित कर दिया ।

प्रस्तावों में रोज़गार के सम्बन्ध में पैराग्राफ में जो सुन्दर शब्द कहे गए थे वे प्रेसीडेंट रूजवेल्ट के काल में की गई पहले की अन्तर्राष्ट्रीय घोषणाओं की प्रतिध्वनि थे । वे जैसा कि हम अभी देखेंगे बाद के वाक्यांशों से बिलकुल निरर्थक और पुराने हो गए ।

प्रस्तावों का क्रियात्मक पक्ष संयुक्त-राष्ट्र के एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और उसके उद्देश्यों को निर्धारित करने से आरम्भ हुआ ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास की बाधाओं को दूर करने के कथित उद्देश्य से कतिपय साधारण सिद्धान्तों को गिनाने के पश्चात् प्रलेख में प्रशुल्कों और अधिमानों के सम्बन्ध में लिखते हुए कठोर आवन्धनों का विधान किया गया था। उस शीर्षक के अन्तर्गत उसमें प्रशुल्कों की पर्याप्त कमी और प्रशुल्क अधिमानों को समाप्त करने की व्यवस्था का प्रस्ताव किया गया था। दूसरे शब्दों में अमेरिकन अपने प्रशुल्कों को बनाए रखने वाले थे और केवल दूसरे देशों से परस्पर कमी करने के लिए सौदा भर करने की बात थी—जैसा कि उसके उपरान्त उन्होंने काफी हद तक किया यद्यपि वैसा उन्होंने सदैव सर्वथा अस्थायी तौर पर ही किया। इसके विरुद्ध ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के देशों को परस्पर प्रशुल्क अधिमानों को विलकुल समाप्त कर देने के लिए विवश किया जाना था। मानों समस्त विश्व की अपेक्षा उन देशों में जो परस्पर एक दूसरे से निकट व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करें कुछ अनैतिकता थी—जैसा कि वास्तव में अमेरिकन सोचते प्रतीत होते हैं कि उसमें अनैतिकता है।* प्रलेख में यह स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया था कि प्रशुल्क अधिमानों के सम्बन्ध में कार्यवाही करने के मार्ग में विद्यमान वचन बढ़ता को रूकावट नहीं डालने दी जावेगी और अति अनुग्रहित राष्ट्र प्रशुल्कों में जो भी कमी होगी वह स्वाभाविक रूप से अधिमान के लाभों को कम करने अथवा समाप्त करने का काम करेगी। यह भी प्रस्ताव किया गया था कि अधिमान के मार्जिनों (लाभों) में किसी भी दशा में वृद्धि नहीं की जावेगी और न कोई नए अधिमान लगाए ही जावेंगे। यह और जोड़ दिया गया था कि अधिमानों के सम्बन्ध में नहीं वरन प्रशुल्कों के सम्बन्ध में देश सम्बन्धित उत्पादकों को यकायक तथा विस्तृत हानि से बचाने के लिए संकटकालीन कार्यवाही कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में यदि किसी देश ने प्रशुल्क को उठा दिया हो या कम कर दिया हो वह जब चाहे उसे पुनः लगा सकता है, परन्तु ग्रेट-ब्रिटेन ने एक बार जिस अधिमान को छोड़ दिया अथवा संशोधित कर दिया उसको किसी दशा में पुनः वापस नहीं लगा सकेगा।

उसके उपरान्त प्रस्तावों में मात्रात्मक व्यापार प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में विचार किया गया। उस अंश का आरम्भ, अम्यंशों, निषेध-आज्ञाओं, तथा अन्य मात्रात्मक प्रतिबन्धों की साधारण निन्दा और प्रतिषेध से आरम्भ हुआ। जहाजों में स्थान की कमी अथवा युद्ध के कारण माल की कमी से उत्पन्न प्रतिबंधों को युद्ध समाप्ति के पश्चात् तीन वर्ष तक बनाए रखा जा सकता था। परन्तु उसके उपरान्त प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संध की स्वीकृति के बिना उनको नहीं रखा जा सकता था। खाद्य पदार्थों अथवा अन्य आवश्यक वस्तुओं की गम्भीर कमी को कम करने के लिए निर्यात प्रतिबंध लगाए जा सकते थे। विशेष वस्तुओं में व्यापार को नियंत्रित करने

*जब तक कि देश जिन्हें दंडित किया जाना हो लौह आवरण की गलत दिशा में न हों।

के लिए किए गए अन्तर्राष्ट्रियों के समझौतों के सम्बन्ध में आयात अथवा निर्यात अम्यंशों को लागू किया जा सकता था। अन्त में केवल कृषि की पैदावार के सम्बन्ध में आयात अम्यंश निश्चित करने की आज्ञा थी यदि उसके समानान्तर ही देश में होने वाली कृषि पैदावार पर भी प्रतिवन्ध लगा दिया जावे अथवा देश की पैदावार के अस्थायी आधिक्य को निकालना आवश्यक हो। तथापि यदि इस प्रकार के आयात अम्यंश लगाने पड़ें तो उनको पिछले प्रतिनिधि काल में हुए आयातों के आधार पर न्यायपूर्वक लगाना चाहिए। दूसरे शब्दों में उनका उपयोग किसी देश विशेष के आयातों के अनुपात को बढ़ाने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। ग्रेट-ब्रिटेन को स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्तर्गत खरीद में वृद्धि करने के लिए आयात अम्यंश का उपयोग करने की मनाही थी और न उनका उपयोग अत्यन्त कठोर शर्तों के अन्तर्गत छोड़कर फिर चाहे भुगतान शेष पर चाहे कितना ही भार हो इस प्रकार किए जाने की आज्ञा थी कि जिससे देश के उत्पादन की तुलना में आयातों को कम किया जा सके।

वे शर्तें इस प्रकार थीं, प्रथम—संक्रान्ति काल में भुगतान शेष की रक्षा करने के उद्देश्य से लगाए गए प्रतिवन्ध उन शर्तों से अधिक प्रतिवन्धात्मक नहीं होने चाहिए जो कि ब्रैटन-वुड्स योजना में उसी काल के लिये मौद्रिक प्रतिवन्धों के सम्बन्ध में निर्धारित की गई थीं। और दूसरे वे सर्वथा अविभेदकारी होने चाहिये—उसका अर्थ यह कि वे ऐसे न हों जो किसी देश विशेष से आयातों को प्रोत्साहन दें। समस्त अम्यंश पिछले वर्षों के काल में विभिन्न देशों से जो वास्तविक व्यापार हुआ उसकी मात्रा पर आधारित होना चाहिये, और जहां आयात लाइसेंसों का अम्यंशों के स्थान पर उपयोग किया गया हो वहां भी वही सिद्धान्त अपनाया जावेगा। जहां स्वयं राज्य किसी राज्य व्यापार संगठन के द्वारा आयात करने वाला हो वहां भी वही नियम लागू होंगे। दूसरे शब्दों में राज्य भी जहां से चाहे खरीदने के लिये स्वतंत्र नहीं होगा वरन् वह विवश होगा कि पिछले वर्षों में विभिन्न देशों से वास्तव में जिस मात्रा में उसने खरीदा था उसी आधार पर उसको अपने आर्डर विभिन्न देशों में बांटने होंगे।

ऊपर जिस वाक्यांश का उल्लेख किया गया वह वहीं लागू होगा जहां सम्पूर्ण आयातों को आयन्त्रित किया जा रहा हो। तथापि उसका यह अर्थ लगाया जा सकता था कि जब तक यह सिद्ध न किया जा सके कि वे अपनी सम्पूर्ण खरीद का आयंत्रण कर रहे हैं तब तक राज्य जहां से चाहे खरीदने के लिये स्वतंत्र हैं। यह अमेरिकियों के अनुकूल नहीं होता जो कि राज्य व्यापार संगठनों को उचित आचरण करने के लिये विवश कर देना चाहते थे मानों वे निजी व्यापारी हों और अधिकतम लाभ कमाने की टोह में हों। अतएव वाक्यांशों की एक और शृंखला में राज्य-व्यापार के सम्बन्ध में सावधान रूप से विचार किया गया। प्रस्तावों का यह अंश

यह निर्धारित करने के साथ आरम्भ हुआ कि वे राज्य जो व्यापार करते हैं उनको यह जिम्मेदारी लेनी चाहिये कि उनके राज्य व्यापार उद्यमों की विदेशी खरीद तथा विक्री केवल मात्र व्यापारिक विचारों से ही प्रभावित होगी, जैसे कि कीमत, गुण, विक्रेयता, यातायात, तथा खरीद विक्री की शर्तें। इसके बाद और भी प्रावधान थे उन सबों का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि राज्य व्यापार एकाधिकारों का उपयोग वे राज्य जिन्होंने उन्हें स्थापित किया था उन्हें विदेशी व्यापार को नियोजित करने का औजार न बना लें। बाद को एक वाक्यांश ऐसा था जिसने राज्यों को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वे व्यापार नियंत्रण के लिए विनिमय नियंत्रण को एक औजार के रूप में काम नहीं लावेंगे और इस प्रकार की कार्यवाही के विरुद्ध आश्वासन के रूप में ब्रैटन-वुड्स अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता स्वीकार करेंगे।

अन्य वाक्यांशों में राज्य द्वारा दी जाने वाली सहायता पर विचार किया गया। उनको मना नहीं किया गया परन्तु प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन उनकी आलोचना कर सकता था। तथापि यह निर्धारित कर दिया गया था कि राज्यों के निर्यातों को इस प्रकार सहायता नहीं देनी चाहिए जिससे कि विदेशों में देश के बाजारों की अपेक्षा वस्तुएं सस्ती बेची जा सकें। इसके अतिरिक्त यह भी निर्धारित कर दिया गया कि कोई भी देश निर्यात के लिए दी जाने वाली राज्य सहायता का उपयोग किसी वस्तु के विश्व व्यापार में सहायता देने के पहले जो उसका हिस्सा था उससे अधिक बढ़ाने के लिये नहीं करेगा।

उसके उपरान्त अपवादों की एक शृंखला दी गई थी। उनमें से वे सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे जिनमें सार्वजनिक नैतिकता के लिए आवश्यक आयांत्रण (उदाहरण के लिए औपधियों का व्यापार) शस्त्रों के ले जाने पर आयांत्रण, सोने और चांदी के आयात और निर्यात पर आयांत्रण, शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखने के दायित्व के सम्बन्ध में लगाए गये प्रतिबन्ध (उदाहरण के लिये संयुक्त राष्ट्र द्वारा दी गई निषेध आज्ञाएं, अथवा संयुक्त-राज्य अमेरिका द्वारा बाद के ऐसे उपायों जैसे 1951 का युद्ध अधिनियम—के अन्तर्गत निषेध को अन्य देशों पर लागू करना) और कला की वस्तुओं अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्रीय महत्व की वस्तुओं के व्यापार पर रोक लगाई गई थी। उसके उपरान्त एक वाक्यांश था जिसके द्वारा विशेष रियायतें देने के लिए अथवा शासक देश और उसके उपनिवेशों में अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कोई भी कार्यवाही करने से उन्हें मना कर दिया गया। एक और भी वाक्यांश था जिसके अन्तर्गत देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन से परामर्श करके और कतिपय स्वीकृत मानदंडों को पूरा करके कस्टम यूनियनों को बनाने की आज्ञा दी गई थी परन्तु वे मानदंड क्या होंगे उनकी परिभाषा कहीं नहीं की गई।

अमेरिका के शेष प्रस्ताव तीन भागों में थे। अध्याय चार में कीमतों और विक्री की शर्तों को निश्चित करने के लिए संयोग तथा समझौते करना, प्रदेशों और बाजारों को आपस में बांट लेना, उत्पादन अथवा निर्यात को सीमित करना, तकनीक अथवा अनुवेपण को दवाना, विशेष क्षेत्रों से उद्यमों को बाहर रखना अथवा विशेष फर्मों (प्रतिष्ठानों) के विरुद्ध विभेद करना अथवा उनका बहिष्कार करना—जैसे आयातित व्यापार व्यवहारों को रोकने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही करने का प्रस्ताव था। इस भाग के कोई अपवाद नहीं थे फिर चाहे उसके प्रावधानों को व्यवहारिक रूप देने में कितनी भी कठिनाई प्रतीत क्यों न होती हों। पांचवें अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं सम्बन्धी प्रवन्धों पर विचार किया गया था। उसका सम्बन्ध केवल मात्र मुख्य वस्तुओं से था और उसमें यह निर्धारित कर दिया गया था कि यदि किसी वस्तु विशेष की हाट बाजारी में कठिनाई उत्पन्न हो जावे तो उसके उपभोग को बढ़ाने का अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न किया जाना चाहिये। परन्तु यदि वह पर्याप्त न हो तो एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन जिसमें उत्पादक तथा उपभोक्ता देशों का प्रतिनिधित्व हो उत्पादन को कम करने की योजना को स्वीकार कर सकता है। उसमें उन शर्तों की व्याख्या करने वाले विस्तृत वाक्यांश थे जिनके अन्तर्गत इस प्रकार की योजनाओं की स्वीकृति दी जा सकती थी, परन्तु वे इस अध्याय के मुख्य विषय से इतने निकट सम्बन्धित नहीं थे कि उनका यहां वर्णन किया जावे। न अध्याय 6 के विषय का अध्ययन करना ही सुसंगत होगा जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के निर्माण और कार्य संचालन के लिए विस्तृत प्रस्ताव दिए गए थे।

मैं आशा करता हूँ कि अमेरिका के व्यापार तथा रोजगार सम्बन्धी प्रस्तावों के सम्बद्ध अंशों के बारे में ठीक ठीक कल्पना कर सकने के लिए पर्याप्त कहा जा चुका है। जिनके सभी महत्वपूर्ण बिन्दुओं से ब्रिटिश-सरकार को प्रस्तावित ऋण प्राप्त करने के लिए शर्त के रूप में पूर्ण सहमति प्रगट करने और यह वचन देने के लिए दिसम्बर 1945 में विवश किया गया कि वह अन्य देशों से उनको स्वीकार कराने के लिए भरसक प्रयत्न करेगा। इस पर किसी भी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता कि सचमुच ब्रिटिश सरकार ने उन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया था जब कि उसी महीने ऋण पर ब्रिटिश पार्लियामेंट में विवाद हुआ तो सरकार के प्रवक्ताओं ने उसके सरकार द्वारा स्वीकार किए जाने का बहाना तक नहीं किया। ऋण के प्रस्तावों को अमेरिका सरकार द्वारा उनके साथ जोड़ी हुई सब शर्तों सहित स्वीकार किए जाने की सिफारिश की गई और वे स्वीकार कर लिए गए। ऋण के प्रस्तावों को स्वीकार किए जाने की सिफारिश इस आधार पर की गई थी कि किन्हीं भी शर्तों पर ऋण पाना न पाने से उत्तम था और अमेरिकन व्यापार प्रस्तावों के कड़ू प्याले और पीने के बीच में बहुत सी घटनाएं हो सकती थीं। क्योंकि उन प्रस्तावों को एक अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार सम्मेलन की कसौटी से निकलना था जो कि सम्भवतः

उनमें से अधिकांश को अस्वीकार कर देगी। मेरे विचार से उन प्रस्तावों को कार्य रूप में परिणित न किए जाने की यह आशा ब्रिटिश सरकार द्वारा ऐसी नीति का समर्थन करने का औचित्य सिद्ध नहीं करती कि जो उसकी जानकारी में नितान्त अव्यवहारिक थी। परन्तु पार्लियामेंट के अधिकांश सदस्यों को राजी कर लिया गया और उन्होंने सरकार की सलाह को मान लिया। यह सलाह आंशिक रूप से बिना ऋण के अगले कुछ वर्षों को निकाल सकने की सम्भावना में यथार्थ संदेह के कारण, आंशिक रूप से अमेरिकनों से अच्छे सम्बंध बनाए रखने की विशुद्ध इच्छा ने फिर चाहे वे कितने ही अधिशासनात्मक रूप से असंगत क्यों न हों—के कारण, सम्भवतः अधिक करके इस भय से कि यदि मजदूर सरकार को ब्रिटिश जनता पर वास्तव में बहुत भारी कठिनाइयां लगानी पड़ें तो उसकी चुनाव सम्बंधी जन प्रियता समाप्त हो जावेगी—के कारण सरकार को देनी पड़ी।

इससे बहुत से प्रश्न उत्पन्न होने हैं। प्रथम—इस सम्भावना को यदि छोड़ भी दें कि उसका समर्थन करना स्वीकार करने से पूर्व अथवा वाद को कांग्रेस अन्य शर्तों को भी जोड़ सकती थी अमेरिकनों ने ऋण के साथ जो शर्तें जोड़ी थीं वे कितनी असंगत और दुर्बल थीं? दूसरे यदि शर्तें अत्यधिक दुर्बल प्रतीत होती थीं तो बिना ऋण के काम चलाने में क्या कठिनाइयां थीं? तीसरे यदि ऋण दे दिया जाता और भविष्य में यह स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगता कि उसकी शर्तों को पूरा करना सम्भव नहीं अथवा कम से कम बिना राष्ट्रीय सर्वनाश के उनको पूरा नहीं किया जा सकता तो क्या होता?

1945 में यह तर्क किया जा सकता था कि यदि युद्ध के प्रभावों से पूर्ण समुत्थान के लिए समय मिले तो संयुक्त-राज्य अमेरिका को प्रति वर्ष तीन या चार करोड़ पाँड सोने में अथवा डालर में चुकाना असम्भव नहीं होगा, बशर्ते कि (अ) विश्व व्यापार कुल मिला कर समृद्धिशाली और विस्तारी हो (क) ग्रेट-ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को इस प्रकार नियंत्रित करने की पूर्ण स्वतंत्रता हो कि अन्य कार्यों के लिए डालर देने की अत्यधिक भारी जिम्मेदारी को बचाया जा सके। (ख) संयुक्त-राज्य अमेरिका ऊँचे प्रशुल्कों की नीतियों अथवा खरीदने से इन्कार करने के अन्य तरीकों से भुगतान कर सकना असम्भव न बना दे। सूद की नीची अथवा तनिक ऊँची दर से कोई बड़ा अन्तर पड़ने वाला नहीं था। ऋण के वापस भुगतान की व्यवहारिकता को निश्चित करने वाले कारक मुख्यतः यही तीन थे। अवश्य ही निर्यात के लिए वस्तुओं और सेवाओं को उत्पन्न करने की ब्रिटिश उद्योग की कुशलता भी एक मुख्य कारक थी।

अतएव उन लोगों का भगड़ा जिनको उस ऋण योजना के विरुद्ध आपत्ति थी मुख्यतः प्रस्तावित सूद की दर अथवा ऋण चुकाने की शर्तों के विरुद्ध नहीं था। वह या तो उन और दायित्वों के विरुद्ध था जो कि स्वयं उस वित्तीय समझौते

में लगाए गए थे अथवा ब्रैटेन-वुड्स योजना के दायित्वों के विरुद्ध था जिसका सदस्य होना ऋण प्राप्त करने की एक शर्त थी। अथवा व्यापार और रोजगार के अमेरिकन प्रस्तावों के विरुद्ध था—अथवा अवश्य ही इनमें से एक से अधिक के विरुद्ध था। ब्रैटेन-वुड्स के प्रश्न पर ब्रिटिश जनमत में तीव्र मतभेद था। कुछ लोग विशेषतया नगरों में उसके पक्ष में थे जो कि अन्तर्राष्ट्रीय-मौद्रिक स्थायित्व को अधिक महत्व देते थे और कुछ उसका विरोध करते थे—विशेष कर वे लोग जो कि पूर्ण रोजगार के लिए प्रयत्न करने के लिए वित्तीय नियंत्रण की राष्ट्रीय स्वतंत्रता आवश्यक मानते थे। ब्रैटेन-वुड्स के समर्थकों में बहुत से ऐसे लोग थे जिनका मानना था कि ग्रेट-ब्रिटेन तब तक उसमें सम्मिलित नहीं हो सकता था जब तक कि ऋण न मिले, क्योंकि ऋण के अभाव में चालू तथा पूंजी सौदों के सम्बंध में विनिमय को नियंत्रित किए बिना काम चला सकने का प्रश्न ही नहीं उठता। और न स्टर्लिंग क्षेत्र को एक सम्मिलित मुद्रा समूह के रूप में बनाए रखने के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय किये बिना ही—जिसको स्वतंत्र कार्यवाही करने की पूर्ण स्वतंत्रता हो—काम चल सकता है। वास्तव में स्पष्टतः यह सरकारी दृष्टिकोण था क्योंकि सरकारने यह घोषित किया कि यद्यपि ग्रेट-ब्रिटेन ब्रैटेन-वुड्स समझौते पर हस्ताक्षर कर रहा है परन्तु यदि उसको ऋण नहीं दिया गया तो वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप की सदस्यता बनाए नहीं रख सकेगा।

ब्रैटेन-वुड्स के समर्थकों में भी वित्तीय-समझौते के उन वाक्यांशों के बारे में गम्भीर शंकाएं थीं जिनके द्वारा संक्रान्तिकाल को एक वर्ष या उससे भी कम कर दिया गया, जिसकी समाप्ति के पश्चात् चालू सौदों को विनिमय नियंत्रण से स्वतंत्र कर दिया जाना था। उन शंकाओं का आधार यह था कि ऋण मिलने पर भी जिसके उपयोग पर आबंध था—ग्रेट-ब्रिटेन सम्भवतया ऐसी स्थिति में नहीं हो सकता था कि वह डालरों के उन दावों को चुका सकता जो कि यदि प्रतिबंध इतने कम समय में ही हटा दिया गया तो शीघ्र ही ब्रिटेन के विरुद्ध उपस्थित होंगे। यह भी अनुभव किया गया कि इस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन पर जो दायित्व रक्खा जावेगा वह ब्रिटेन की एकत्रित स्टर्लिंग शेषों के यथेष्ट भाग को उन्मुक्त करने की शक्ति को बहुत अधिक सीमित कर देगा, और इस प्रकार वह ग्रेट-ब्रिटेन के अन्य लेनदारों और सबसे अधिक भारत के लिए अन्यायपूर्ण सिद्ध होगा।

तथापि सब से अधिक कड़ी आपत्ति जो व्यापार तथा रोजगार के प्रस्तावों के विरुद्ध अनुभव की गई वह विशेषकर उनके व्यापार भाग के विरुद्ध थी जिनसे वित्तीय और मौद्रिक शर्तें जुड़ी हुई थीं जिनके वे परिणाम थे। जितना ही अधिक ग्रेट-ब्रिटेन को मौद्रिक कार्यवाही के द्वारा भुगतान शेष की रक्षा करने से रोका जाता उतना ही अधिक अन्य तरीकों से रक्षा करना आवश्यक हो जाता। जितने अधिक डालर ग्रेट-ब्रिटेन को केवल ब्रिटिश आयातों का मूल्य चुकाने, और अमेरिका के ऋण

चुकाने के लिए ही नहीं वरन् अन्य देशों को डालरों में खरीददारी करने के लिए स्टर्लिंग को मुक्त करने के उद्देश्य से देने पड़ते उतनी ही अधिक इस बात की आवश्यकता होती कि आयातों को इस प्रकार नियंत्रित किया जावे कि ब्रिटिश खरीददारी को डालरों से ऐसी मुद्राओं की ओर मोड़ा जावे जिन्हें प्राप्त कर सकना सरल था, और इसको दृष्टि में रख कर राष्ट्र मंडल के तथा अन्य देशों से वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय के लिए राष्ट्रीय सौदे करने पड़ते। यह आवश्यकताएं बहुत स्पष्ट दिखालाई पड़ती थीं। फिर भी प्रस्तावों ने ऐसे प्रत्येक रास्ते को रोक दिया जिससे कि ग्रेट-ब्रिटेन भुगतान शेष को पुनः संतुलित कर सकने की आशा कर सकता अथवा निर्यातों के द्वारा उन आयातों को प्राप्त कर सकता जिनके बिना रहन सहन के स्तर को गिरने से बचाया नहीं जा सकता था।

1945 में सरकारी तौर पर अनुमान लगाया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय खातों को संतुलित करने के लिए ग्रेट-ब्रिटेन को अपने निर्यातों की मात्रा को 75 प्रतिशत बढ़ाना होगा। यह उन अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को छोड़कर आवश्यक होगा जो यदि ब्रिटेन को आगे चल कर स्वीकार करने पड़ें। ऋण सम्बन्धी वार्ता के बीच में ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल ने जो आंकड़े अमेरिकनों के सामने उपस्थित किए थे उनमें यह बतलाया गया था कि 1945 में ब्रिटिश विदेशी विनियोगों की आय युद्ध के पूर्व बहुत अधिक नीचे मूल्य स्तर पर 25 करोड़ पाँड से घट कर केवल दस करोड़ पाँड रह गई और एकत्रित स्टर्लिंग ऋणों को मिला कर विदेशों में ब्रिटिश सम्पत्ति के कुल शुद्ध मूल्यों में 400 करोड़ पाँड की कमी हो गई। अथवा दूसरे शब्दों में ब्रिटेन की लेनदार की स्थिति वास्तव में समाप्त हो गई जिससे कि ब्रिटेन के पास ब्रिटिश निर्यात तथा निर्यात की गई सेवाओं से प्राप्त आय के अतिरिक्त आयातों की लागत को और भविष्य में यदि कोई और ऋण लिए जावें तो उनको चुकाने के लिए कुछ शेष नहीं रहा। यह बताया गया कि ब्रिटेन में युद्ध में विध्वंस के परिणाम स्वरूप जो भौतिक विनाश हुआ उसको मिला कर समुद्री जहाजों की हानि, और संयंत्र को न बदल सकने के कारण उत्पादन क्षमता में गिरावट आने से कुल मिलाकर 300 करोड़ पाँड की आन्तरिक विनियोग हानि हुई। अर्थात् कुल मिला कर युद्ध के कारण ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था 700 करोड़ पाँड से अधिक से निर्धन हो गई। यह भी बतलाया गया कि युद्ध के परिणाम स्वरूप उपभोग पर ब्रिटिश व्यय 1938 में राष्ट्रीय आय के 87 प्रतिशत से घट कर 1944 में 57 प्रतिशत रह गया और ब्रिटेन का स्वर्ण सुरक्षित कोष 1938 में 86 करोड़ 40 लाख पाँड से घट कर 1945 में केवल 45 करोड़ 30 लाख पाँड रह गया जब कि विदेशी ऋण 76 करोड़ पाँड से बढ़ कर 335 करोड़ 50 लाख पाँड हो गए। अर्थात् जो कुछ सोना अब भी ब्रिटेन के पास था वह सर्वथा ब्रिटिश सम्पत्ति होने से बहुत दूर था। अन्त में यह भी बतलाया गया कि युद्ध प्रयत्न पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण 1938 की तुलना में ब्रिटिश

निर्यात की मात्रा गिर कर 1944 में 30 प्रतिशत रह गई और मुद्रा मूल्य में कीमतों के चढ़ जाने के बावजूद 47 करोड़ 10 लाख पौंड से घट कर 25 करोड़ 80 लाख पौंड हो गई ।

द्वितीय विश्व-व्यापी युद्ध के अन्त में ग्रेट-ब्रिटेन को जिस सीमा तक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा यह आंकड़े उसको यथेष्ट रूप से नापते हैं । स्पष्टतया उनका अर्थ यह था कि निर्यात-व्यापार को चाहे कितनी तत्परता से हाथ में क्यों न लिया जावे और व्यवहारिक सीमाओं के अन्तर्गत उपभोक्ता जनसमूह पर चाहे जितना मितोपभोग क्यों न लागू किया जावे और यदि कुछ भी न किया जावे तो भी कम से कम कुछ वर्षों तक ब्रिटेन के भुगतान शेष में लगातार घाटा बना रहना अनिवार्य था । स्पष्ट था कि ग्रेट-ब्रिटेन के लेनदारों—जैसे भारतवर्ष के लिए उनकी अपनी आर्थिक विकास की योजना के उपयोग में आने के लिए और उनके चालू खाते के तत्कालीन भुगतान शेष में घाटे को पूरा करने के लिए इकट्ठे हुए स्टर्लिंग शेषों के कुछ भाग को मुक्त करने के लिए कुछ तो करना ही था । स्पष्ट था कि किसी न किसी श्रोत से और साख लेना अनिवार्य था और यह भी कम स्पष्ट नहीं था कि संयुक्त राज्य उसकी अत्यधिक लेनदार की स्थिति में होने की दृष्टि से और वह जितने आयात विनिमय में लेने के लिए राजी था उससे कहीं अधिक पैमाने पर निर्यात करने के लिए उत्पादन करने की आवश्यकता के कारण साख देने की सबसे अच्छी स्थिति में था । यदि संयुक्त-राज्य बिना ऐसी शर्तों को लगाए साख नहीं देता जो कि अदायगी को असम्भव कर देतीं और निश्चित रूप से कर्ज लेने वालों को दीर्घकालीन समुत्थान के लिए आवश्यक उपायों को अपनाते से रोक देतीं तो आवश्यक तत्कालीन साखों को अन्यत्र कहां से प्राप्त किया जा सकता था ।

कनाडा कुछ दे सकता था परन्तु जिस मात्रा में साख आवश्यक थी, नहीं दे सकता था । सच तो यह था जिस समय संयुक्त-राज्य से बात चल रही थी उसी समय वास्तव में उस श्रोत से भी ऋण सम्बन्धी वार्ता चल रही थी और मई 1964 में ग्रेट-ब्रिटेन के लिए कनाडा का 31 करोड़ 20 लाख पौंड का ऋण स्वीकृत किया गया था । विश्व का सबसे बड़ा नव-खनिज स्वर्ण की प्राप्ति का श्रोत-दक्षिण अफ्रीका भी एक सम्भावित साख की पूर्ति का श्रोत हो सकता था । अरजैन्टाइना द्वारा और अधिक साख देने के लिए राजी होने को छोड़ा जा सकता था । सच तो यह है कि अरजैन्टाइना ने शीघ्र ही अपने आधिक्य को व्यय कर दिया और स्वयं अपनी विनिमय कठिनाइयों में फंस गया । स्पष्ट था कि भारत से और अधिक की आशा नहीं की जा सकती थी जिसे विद्यमान स्टर्लिंग शेष को निकालने की तत्कालीन आवश्यकता थी । वास्तव में यह बहुत स्पष्ट था कि ग्रेट-ब्रिटेन तुरन्त युद्ध के अन्त में तत्कालीन रहन सहन के स्तर पर पूर्ण रोजगार को बनाए रखने के लिये उन्नत रहन

सहन के स्तर के लिए और भी कम—आवश्यक आयातों को बिना संयुक्त राज्य अमेरिका की सहायता द्वारा उनके बिल को चुका कर प्राप्त नहीं कर सकता था। बहुत से अन्य देश भी इसी कठिनाई में थे। तत्कालीन घाटे को पूरा करने के लिए यदि समय और सहायता दी जाती तो यह आशा करना उचित था कि ब्रिटिश अर्थ व्यवस्था उतनी यथेष्ट उत्पादक बनाई जा सकती थी कि जो इन बातों को प्राप्त कर सकती। परन्तु यह दो शतों के पूरा होने पर ही हो सकता था। वे नीचे लिखे अनुसार थीं। (अ) कि या तो संयुक्त-राज्य निर्मित वस्तुओं के आयात को लेने की तत्परता में ऐसा परिवर्तन कर ले कि जिससे अमेरिका के बाजार में ब्रिटिश माल की बिक्री का अत्यधिक विस्तार सम्भव हो, अथवा ग्रेट-ब्रिटेन अपने डालर आयातों के अधिकांश भाग को ऐसे देशों के आयातों से प्रतिस्थापित कर दे कि जो विनिमय में ब्रिटिश माल को लेने के लिये तैयार हों। और (क) यह कि डालर आयातों को प्रस्थापित करने में जो परिवर्तन आवश्यक होगा उसको कर सकने के लिए ग्रेट-ब्रिटेन को द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों (अथवा विश्वव्यापी से कम) की वार्ता करने की और माल देने वाले देशों में विभेद करने की पूरी स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार के समझौतों और विभेदों की आवश्यकता स्पष्ट रूप से अधिकतर स्टर्लिंग क्षेत्र और विशेषकर ग्रेट-ब्रिटेन और खाद्य पदार्थों और कच्चे माल के उत्पादकों के रूप में राष्ट्र-मंडल के देशों में विनिमय को बढ़ाने के लिए होगी, और जहाँ कहीं उनका उपयोग परस्पर विनिमय को प्रोत्साहन देने के लिये आवश्यक हो वहाँ राष्ट्र मंडल के व्यापार को प्राथमिकता देने के लिए उनका उपयोग होगा। जहाँ मात्रात्मक नियंत्रण की आवश्यकता होगी वहाँ यह अधिमान केवल प्रशुल्कों के ही नहीं बल्कि अन्य देशों के भी होंगे, और जिस सीमा तक राज्य स्वयं आयात करता है वहाँ तक वे सार्वजनिक आयात मंडलों तथा समान निकायों की नीतियों के भी होंगे। अमेरिका के व्यापार और रोजगार के प्रस्तावों की शर्तों के अन्तर्गत इन सब प्रकार के अधिमानों को समाप्त कर देने में संयुक्त राज्य की सहायता करने के लिए ब्रिटिश सरकार को राजी होना पड़ा। इसमें संदेह नहीं कि अधिमानों के बिना भी राष्ट्र मंडल के देश ग्रेट-ब्रिटेन को बड़ी मात्रा में तब तक बेचते रह सकते थे जब तक कि ब्रिटेन के पास उनका मूल्य चुकाने के साधन रहते। परन्तु यह स्पष्ट था कि किसी श्रोत से बड़े ऋण के अभाव में ब्रिटेन के पास साधन नहीं होते। अतएव अमेरिकन ऋण के अभाव में टोमीनियन तथा अन्य सम्बन्धित देशों को निर्यातों के बड़े भाग को या तो अन्य दिशा में मोड़ना पड़ता अथवा यदि उन्हें दूसरे बाजार नहीं मिलते तो अपने उत्पादन को कम करना पड़ता। ब्रिटेन के रहन सहन का स्तर बहुत नीचा हो जाता और इसके अतिरिक्त आवश्यक कच्चे माल की कमी के कारण पूर्ण रोजगार को बनाए रखना, अथवा ब्रिटिश उत्पादन क्षमता के पुनर्स्थान के लिए आवश्यक कदम उठाना असम्भव हो जाता। यह सोचा जा सकता है कि तुरन्त ही निर्यात करने वालों को विश्व व्यापी

कमी के कारण जिसको पूरा करना था कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन ही अकेला नहीं था जिसके पास आवश्यक आयातों का मूल्य चुकाने के साधन नहीं थे। ब्रिटिश खरीददारी के कम हो जाने से अन्य देशों की क्रय शक्ति निश्चय ही गिर जाती और सम्पूर्ण बाजार और अधिक संकीर्ण हो जाता, अतएव जब तक कि संयुक्त-राज्य उन वस्तुओं को खरीदने के लिये तैयार न होता जिन्हें खरीद सकने की क्षमता ग्रेट-ब्रिटेन में नहीं रही थी अथवा वह अन्य देशों को उन्हें खरीदने के साधन न दे देता तो वे विपस्थित वस्तुएं बेची ही नहीं जा सकतीं। उस दशा में विश्वव्यापी मंदी और विश्वव्यापी दुर्भिक्ष एक साथ उपस्थित हो जाते। घाटे वाले देशों में जिस प्रकार 1931 में हुआ उससे भी बड़ी मात्रा में आम तौर पर अपने आयातों को घटाने के लिए होड़ उठ खड़ी होती।

अवश्य ही अमेरिकन इससे अच्छी तरह अवगत थे और वे ऐसे कदम उठाने की आवश्यकता से भी अवगत थे जिससे घाटे वाले देशों के हाथों में इस अनर्थ को रोकने के लिये क्रय शक्ति दी जा सके। उस अन्तर के एक भाग को वे यू०एन०आर० आर० के द्वारा भरना चाहते थे और दूसरे भाग को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से पूरा करना चाहते थे। परन्तु 1945-46 में वे भावी अन्तर की चौड़ाई का अथवा उसको पाटने में कितना समय लगेगा उसका अनुभव कर सकने से बहुत दूर थे। गम्भीर रूप से विध्वंस तथा क्षति ग्रस्त हुए क्षेत्रों को यू०एन०आर० आर० द्वारा अल्पकालीन सहायता देने से और ब्रैटन-वुड्स द्वारा प्रत्येक देश को तुरन्त व्यापार के लिए साख देने के फलस्वरूप वे व्यर्थ की यह आशा पोषित कर रहे थे कि सामान्य स्थिति शीघ्र ही लौट आवेगी और जब उन्होंने देखा कि यह उपाय सर्वनाश को रोक सकने के लिये पर्याप्त नहीं हैं फिर भी उनका विचार था कि अपनी स्वयं की शर्तों पर ग्रेट-ब्रिटेन को एक बड़ा ऋण देने से वे केवल स्टर्लिंग विनिमय दर को ही ऊंचा बनाए नहीं रख सकेंगे और संकट में फंसी ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था को ही केवल सहारा नहीं दे सकेंगे वरन् ग्रेट-ब्रिटेन के माध्यम से अन्य घाटे वाले देशों को भी बचा सकेंगे। ग्रेट-ब्रिटेन को दिए गए ऋण का उद्देश्य केवल पौंड को बचाना ही नहीं था वरन् उसका उद्देश्य अन्य देशों को दिया जाकर उन्हें भी पुनस्त्यान के लिये पर्याप्त सांस लेने का समय देना था।

अस्तु वास्तव में संयुक्त-राज्य से ऋण स्वीकार करने के परिणाम स्वरूप ग्रेट-ब्रिटेन अन्य देशों के तथा ब्रिटिश बाजार के आयातों के मूल्य चुकाने के साधनों की मांग को पूरा करने के लिये जिम्मेदार बना दिया गया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि इन परिस्थितियों में जब कि कीमतें तेजी से ऊंची चढ़ रही थीं और व्यापार की शर्तें औद्योगिक देशों के विरुद्ध हो रही थीं ऋण लिया हुआ ब्रह्म शीघ्र ही खर्च कर दिया गया। बात यह थी कि मांग का गड़हा पैदा रहित था जिसमें

द्रव्य उंडेला जा सकता था और जैसे ही चालू भुगतान के सम्बन्ध में स्टर्लिंग के बदले डालर की पूर्ति देने पर से नियंत्रण हटा लिया गया कोई भी पाँड पर आक्रमण को रोक नहीं सकता था जो कि ऋण को शीघ्रता से साफ कर देता फिर चाहे वह जितना था। उससे कहीं अधिक क्यों न होता। जब वह घटना घटी और स्टर्लिंग की परिवर्तनशीलता को विवश होकर उसके शुद्ध करने के कुछ सप्ताहों में पुनः समाप्त करना पड़ा तब बहुत अधिक विस्तृत सहायता की आवश्यकता का अनुभव हुआ और कुछ समय के बाद मार्शल सहायता की शुरुआत की गई। आगे और ऋणों के वजाय अधिकांश सहायता सीधे भेंट के रूप में दी गई और संयुक्त-राज्य और अन्य देशों के बीच में ग्रेट-ब्रिटेन के मध्यस्थ की भांति कार्य करने के वजाय कई देशों को सहायता सीधी दी गई। परन्तु यह किए जाने से पहले ग्रेट-ब्रिटेन को 1945 में विश्व की स्थिति के बारे में पूर्ण रूप से गलत हिसाब लगाने का शिकार बना दिया गया। और उसको केवल अतिरिक्त ऋण के बोझ को उठाने के लिए ही विवश नहीं किया गया जो उसकी सामर्थ्य के बाहर था वरन् उससे जुड़े हुए दायित्वों की शृंखला को स्वीकार करने पर भी विवश किया गया जो उसकी दीर्घकालीन आवश्यकताओं के अनुरूप स्थिति में विदेशी व्यापार को पुनः वापस लाने के प्रयत्न को भीषण रूप से रोकते थे।

मई 1946 में संयुक्त-राज्य कांग्रेस द्वारा वित्तीय समझौते के विनम्रित अनुसमर्थन ने तत्कालीन विश्व संकट को हटा दिया। किन्तु ऋण के दे दिए जाने से वे मुख्य प्रश्न हल नहीं हो गए जिनके सम्बन्ध में इस अध्याय तथा पिछले अध्याय में विचार किया गया। मई 1946 से यह माना जावेगा कि ग्रेट ब्रिटेन उस वचन के अनुसार जो ब्रिटिश सरकार ने ऋण लेने के सम्बन्ध में दिया था ब्रिटेन-युद्ध मुद्रा कोष का एक सक्रिय साभेदार बन जावेगा, चालू व्यापारिक सौदों के लिए विनियमों को शीघ्रता से मुक्त करने के सम्बन्ध में किए गये वित्तीय समझौते के दायित्व को पूरा करेगा, और जब भी यदि प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन संयुक्त-राज्य सरकार के व्यापार और रोज़गार के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए होता है तो वह उन प्रस्तावों का समर्थन करेगा। अस्तु ग्रेट-ब्रिटेन बहुपक्षीय व्यापार की योजना के हिस्से के रूप में जो सम्भवतः केवल एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के आधार पर ही कार्यान्वित हो सकती थी—अधिमानों को समाप्त करने का समर्थन करने के लिए वचनबद्ध था। अधिराज्य (डोमिनियन) स्वयामित्त राज्य होने के नाते इस मामले में ग्रेट ब्रिटेन का नेतृत्व स्वीकार करने के लिए किसी भी प्रकार वचनबद्ध नहीं थे और यह स्पष्ट था कि अमेरिकन प्रस्तावों के बहुत से अंशों का अन्य देशों द्वारा विरोध किए जाने की सम्भावना थी। यह आरम्भ से ही स्पष्ट था कि सोवियत रूस द्वारा उनके स्वीकार किए जाने की कोई सम्भावना नहीं थी। निश्चय था कि सोवियत रूस अपने राज्य व्यापार का व्यापारिक लाभ प्राप्ति के सिद्धान्त के

अनुसार प्रबंध करने के लिए कभी राजी होने वाला नहीं था जिसकी संयुक्त राज्य ने मांग की थी, अथवा न वह अन्य देशों से अपने सम्बन्ध में विभेद करने को ही छोड़ने वाला था। अब यह स्पष्ट दिखलाई दे सकता है कि 1945 के प्रस्तावों का उद्देश्य सोवियत यूनियन तथा उसके मित्र देशों को सम्मिलित करने का कभी नहीं था और सच तो यह है कि वे मौद्रिक तथा व्यापारिक नीतियों के सम्बन्ध में गैर-अमेरिकन विचारों के विरुद्ध श्वेत युद्ध का आरम्भ था। परन्तु 1945 में यह इतना स्पष्ट नहीं था जबकि विश्व व्यापी आधार पर आर्थिक सहयोग के विचार को कम से कम मौखिक समर्थन दिया जा रहा था। व्यापार प्रस्तावों के अन्तर्गत ग्रेट ब्रिटेन की वचन-वद्धता स्पष्ट थी। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्मेलन में ग्रेट-ब्रिटेन के प्रतिनिधि सभी मुख्य बिन्दुओं पर अमेरिकनों का समर्थन करने के लिए विवश थे, परन्तु कोई भी देश उन प्रस्तावों पर अमल करने के लिए विवश नहीं था जब तक कि वे निश्चयात्मक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते में समाविष्ट न हों और जो यथेष्ट प्रमुख देशों के द्वारा स्वीकार न कर लिया जाय जिससे कि प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का कार्य आरम्भ कर सकना व्यवहारिक हो सके।

दूसरी ओर वित्तीय जिम्मेदारियाँ विलकुल असंदिग्ध थीं और इस कारण कम वन्धन युक्त नहीं थीं क्योंकि सोवियत रूस तथा कतिपय अन्य देशों ने ब्रैटेन-बुड्स समझौते का तब तक अनुसमर्थन नहीं किया था। तुरन्त की कठिन स्थिति को हल्का करने के लिए दिए गए अमेरिकन ऋण के होते हुए भी इस तथ्य के कारण ग्रेट-ब्रिटेन को अत्यन्त भयावह समस्या का सामना करना पड़ा। 1946 की प्रथम तिमाही में ब्रिटिश निर्यात व्यापार 1938 के मूल्य का 84 प्रतिशत पहुँच गया, परन्तु कीमतों में परिवर्तन हो जाने के कारण 1938 की मात्रा को पुनः प्राप्त करने के लिए अभी भी उसे बहुत फासला पार करना था, और निर्यात की मात्रा में ७५ प्रतिशत वृद्धि जो सम्भावित भुगतान शेष के घाटे को पूरा करने के लिए आवश्यक समझी जाती थी उसको प्राप्त करने के लिए तो अत्यधिक दूरी पार करनी थी।

उस दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन जिसके बनाने के लिए अमेरिकनों ने आरम्भ में इतना प्रबल दबाव डाला था अस्तित्व में नहीं आया। जब उस संस्था के लिए प्रारूप राजलेख (ड्राफ्ट चार्टर) तैयार कर लिया गया तो स्वयं अमेरिकनों ने उसका अनुसमर्थन करने से इन्कार कर दिया यद्यपि उसमें बहुत से उन बिन्दुओं का समावेश था जो कि उन्होंने अपने मूल प्रस्तावों में रखे थे। अमेरिकनों द्वारा उसके अस्वीकृति कर दिए जाने का मूल कारण जानने लिए दूर जाने की जरूरत नहीं है। वातचीत के दौरान में यह शीघ्र स्पष्ट हो गया कि ग्रेट-ब्रिटेन तथा अन्य कई देशों द्वारा राजलेख (चार्टर) का स्वीकार किया जाना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संचालन सम्बन्धी प्रस्तावों पर निर्भर होगा जिनमें पूरक वाक्यांशों द्वारा हस्ताक्षर करने

वाले देशों को पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाए रखने की जिम्मेदारी स्वीकार करने के लिए पूरी तरह वचन-बद्ध कर दिया गया था। वे देश जो यह अनुभव करते थे कि उनकी अर्थव्यवस्था में अमेरिकन आर्थिक क्रिया में ऊंच नीच होने से गड़बड़ हो जाने का भय था वे व्यापारिक उपायों से जिन्हें वह राजलेख (चार्टर) वंजित करना चाहता था उन प्रभावों के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकने के अधिकारों में वंचित हो जाने की स्थिति में नहीं थे। किन्तु अमेरिकन कांग्रेस अपनी ओर से पूर्ण रोजगार को बनाए रखने के लिए आवश्यक कदम उठाने की अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी से अपने को बांध लेने के लिए किसी भी प्रकार तैयार नहीं थी और न वह अमेरिकन प्रभुत्व और व्यापार नीति को किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकारी के नियन्त्रण का विषय बनाने के लिए तैयार थी। यह सच है कि कांग्रेस ने प्रेसीडेंट को यह अधिकार दिया था कि वह कार्य पालन अधिनियम के द्वारा सर्वथा पारस्परिक आधार पर संयुक्त राज्य के प्रभुत्व में आंशिक परिवर्तन कर सकता था, परन्तु यह अधिकार केवल सीमित समय के लिए दिए गए थे और उनका बार बार कांग्रेस द्वारा नवीनीकरण किया जाना आवश्यक था। उस समय उनका सदा ही प्रभाव डालने वाले व्यापारी समूह के द्वारा घोर विरोध होता था। इस बात का कोई आश्वासन नहीं था कि किसी भी समय प्रेसीडेंट को दिए गए अधिकार कांग्रेस वापस ले नहीं लेगी और पुनः अधिक ऊंचे संरक्षण पर वापस लौटने के लिए बल नहीं देगी। न कांग्रेस अमेरिकन उत्पादन को अन्य तरीकों से सहायता करने के अधिकार को—उदाहरण के लिए कृषि के लिए राज्य सहायता को ही किसी भी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय समीक्षा के आधीन रखने के लिए तैयार थी। अमेरिकन सरकार विशेषकर जब तक कार्डल-हल राज्य विभाग में रहे वास्तव में घटे हुए संरक्षण के तथा विभेद न करने और मुद्राओं की पूर्ण परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त पर आधारित विश्व व्यापार के ढांचे के पक्ष में थी। किन्तु डेमोक्रेटों के सत्ता में होते हुए भी अमेरिकन कांग्रेस कार्डल-हल की उदार पूंजीवादी धारणाओं से सहमत नहीं थी। जहां तक अमेरिकन स्वार्थों का सम्बंध था वह संरक्षणवादी और राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाली बनी रही।

अतएव अमेरिकन सरकार को कांग्रेस से दीर्घकाल के लिए वचन बद्ध होने के लिए कहे बिना जहां तक सम्भव था अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करना पड़ा। इसका अर्थ था कि प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय राजलेख (चार्टर) को समुद्र में फेंक दिया जावे जिसकी कि वह प्रमुख प्रचारक थी। यह निश्चित घोषणा कर दी गई कि राज-लेख (चार्टर) को कांग्रेस के अनुसमर्थन के लिए पेश नहीं किया जावेगा। उसका अर्थ था कि सम्पूर्ण परियोजना समाप्त हो गई क्योंकि कोई भी देश बिना अमेरिका के भाग लिए आगे बढ़ने को तैयार नहीं था। तब अमेरिका सरकार ने एक दूसरी क्रिया-रेखा को पकड़ा। जिस समय राजलेख (चार्टर) पर वादविवाद चल रहा था उस समय भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उस काल में जो कि उसको लागू करने में

लगना अनिवार्य था नियंत्रण करने के लिए अन्तःकालीन प्रवन्ध करने के समझौते की वार्ता करने के प्रयत्न चालू थे। उन वार्ताओं में से व्यापार और प्रशुल्कों का जेनेवा जनरल ऐग्रीमेंट जिसे सामान्य तौर पर जी. ए. टी. टी. कहते थे निकला। आरम्भ में यह केवल आन्तरिक व्यवस्था थी जो कि 1954 तक चलने वाली थी। परन्तु जब प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन धराशायी हो गया तो जी०ए०टी०टी० ने वास्तव में उसका स्थान ले लिया, यद्यपि वह फिर भी अस्थायी आधार पर ही था। जी०ए०टी०टी० के संरक्षण में क्रम से बहुत से सम्मेलनों में हस्ताक्षर करने वाले देशों ने मुख्यतः द्विदेशीय सौदों के द्वारा परस्पर प्रशुल्क रियायतों की एक लम्बी शृंखला पर वार्ता की। परन्तु स्वयं जी०ए०टी०टी० में ही अधिकतम अनुग्रहीत राष्ट्र का सिद्धान्त समाविष्ट था, अस्तु वे सभी रियायतें स्वतः अन्य हस्ताक्षर करने वाले देशों को भी लागू हो गईं। संयुक्त-राज्य का प्रेसीडेंट उन अस्थायी अधिकारों को जो उसे कांग्रेस ने दिए थे जी०ए०टी०टी० के अन्तर्गत परस्पर प्रशुल्क रियायतें देने के लिए उपयोग कर सकता था परन्तु इस बात का कोई आश्वासन नहीं दिया गया कि जिस काल के लिए उसको अधिकार दिए गए हैं उसके आगे भी वे बने रहेंगे। इन सीमाओं के अन्तर्गत जी०ए०टी०टी० ने प्रशुल्कों में जो आंशिक परिवर्तन कराने में सफलता प्राप्त की वह नगण्य नहीं थी। यद्यपि वह इतनी पर्याप्त नहीं थी कि ऋणी देशों के निर्यातों के लिए अमेरिका के वाजारों को इस मात्रा पर खोल दे कि जिससे कि डालरों की दुर्लभता समाप्त हो जावे।

तथापि जी०ए०टी०टी० परस्पर प्रशुल्क कम करने के लिए वार्ता करने के साधन मात्र से बहुत अधिक थी। अमेरिकन उसमें उन प्रस्तावों में से बहुतों को लिखने में सफल हो गए थे जो उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की मूल योजना के लिए उपस्थित किए थे। और जिन देशों ने उस पर हस्ताक्षर किए उन्होंने व्यापार नीति के सम्बन्ध में व्यापक दायित्वों को स्वीकार कर लिया। उन आवश्यकताओं में से जो विशेषकर ग्रेट-ब्रिटेन के सम्बन्ध में लागू होतीं थीं। जी०ए०टी०टी० के अन्तर्गत विद्यमान राष्ट्र-मंडलीय रियायतें ज्यों की त्यों रखी जा सकतीं थीं परन्तु ग्रेट-ब्रिटेन ने अपने को बांध दिया कि न तो वह किसी विद्यमान रियायत को बढ़ा सकेगा और न कोई नई रियायत दे सकेगा। जी०ए०टी०टी० में व्यापार में विभेद की मनाही के सम्बन्ध में तथा इस निषेध को राज्य व्यापार एजेंसियों (अभिकरणों) तथा स्वयं राज्यों पर लागू करने के सम्बन्ध में व्यापक प्रावधान थे। अभ्यंशों अथवा लाइसेंसों अथवा अन्य किसी रूप में आयातों का मात्रात्मक नियंत्रण भी अनियमित कर दिया गया था। तथापि उसमें संक्रान्तिकालीन प्रावधान थे जो देशों को अभ्यंशों और अपने भुगतान शेष की रक्षा करने के लिए अनुज्ञप्तियों (लाइसेंसों) को बनाए रखने की इजाजत देते थे। (वर्षों कि वे विभेदकारी न हों) और निर्गमन वाक्यांश भी थे जो कि देशों को अपने उन उद्योगों को जिन्हें आयातों के राशिपातन से खतरा था

अथवा उन उद्योगों को भी जो ऐसे आयातों की प्रतिस्पर्धा से जिन्हें राशिपातन नहीं कहा जा सकता गम्भीरतापूर्वक ग्रस्त थे—संरक्षण देने की आज्ञा देते थे। इस प्रकार आशाएं पर्याप्त थीं परन्तु सम्पूर्ण समझौता इस मान्यता पर तैयार किया गया था कि उनमें से अधिकांश प्रावधान थोड़े समय तक ही रहेंगे और हस्ताक्षर करने वाले देश इस बात के लिए वचन बद्ध हैं कि वे उन्हें अधिक समय तक अथवा जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उनकी इजाजत दी गई थी उनके लिए जिस सीमा तक वे नितान्त आवश्यक थे उस सीमा से अधिक उनको जारी नहीं रखेंगे।

सम्पूर्ण समझौता आरम्भ में 1947-48 से केवल तीन वर्षों के लिए किया गया था। यह मान लिया गया कि 1950-51 तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राजलेखा (चार्टर) उसका अधिलक्ष्य कर देगा। परन्तु उस समय तक अमेरिकन व्यापारिक स्वार्थों के बढ़ते हुए विरोध के सामने यह स्पष्ट होता जा रहा था कि राजलेखा (चार्टर) का अनुसमर्थन नहीं होगा। तब जी०ए०टी०टी० के समझौतों को दूसरे तीन वर्षों तक जारी रखा गया जो 1954 में समाप्त होने वाले थे।

जैसा कि हमने देखा अमेरिका का जी०ए०टी०टी० में शामिल होना कांग्रेस द्वारा प्रेसीडेंट को दिए हुए अधिकारों पर निर्भर है जिनके नियमित रूप से अव नवीनीकरण किए जाने की आवश्यकता है। 1953 में रिपब्लिकन नियंत्रित कांग्रेस ने एक विशेष निकाय को 1954 के मध्य तक भावी व्यापार नीति के सम्पूर्ण प्रश्न पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए स्थापित किया। जी०ए०टी०टी० के द्वारा दी गई रियायतों का जारी रहना, और स्वयं अमेरिका का जी०ए०टी०टी० में शामिल होना उस निर्णय पर निर्भर है जो इस रिपोर्ट के प्रकाश में लिया जावेगा। जहां तक अन्य हस्ताक्षर करने वाले देश हैं उनके सम्बन्ध में भविष्य के बारे में विभिन्न मत हैं। जर्मनी के प्रवेश से कुछ शंकाएं उत्पन्न हुईं और 1953 में जब जापान ने जी०ए०टी०टी० की सदस्यता के लिए प्रार्थना-पत्र दिया तो उससे कहीं अधिक भय उत्पन्न हुआ था। यदि जापान को ले लिया जाता तो अवश्य ही उसको अधिकतम अनुग्रहीत राष्ट्र सम्बन्धी प्रावधानों का लाभ मिलता। परन्तु बहुत से देश जिनका अगुआ ग्रेट-ब्रिटेन था इन शर्तों पर जापानी प्रतिस्पर्धा को विशेषकर अपने उपनिवेशों के बाजारों में इजाजत देने के लिए अत्यन्त अनिच्छुक थे। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी जापान को जी०ए०टी०टी० में लिए जाने के घोर विरोधी थे। जापान के विरुद्ध दोपारोपण यह था कि उसकी कम-मजदूरी वाली वस्तुओं की कतिपय बाजारों में बाढ़ आजावेगी जिससे योरोपियन निर्यातकों को भारी क्षति उठानी पड़ेगी और यह भी प्रस्ताव किया गया कि जापान को अधिकतम—अनुग्रहीत राष्ट्र के व्यवहार से जिसको प्रत्येक वर्तमान हस्ताक्षर करने वाला देश पालन करने के लिए वचनबद्ध है—वंचित कर दिया जावे और उसको केवल सीमित सदस्यता दी जावे। तथापि यह एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है कि योरोपीय तथा अन्य शक्तियों को जिनके अधिकार में उपनिवेश

हैं क्या यह अधिकार है कि वे उन क्षेत्रों के लोगों को जो अधिकांश में बहुत निर्धन हैं उन मजदूरों द्वारा उत्पन्न की गई सस्ती जापानी वस्तुओं को खरीदने के अधिकार से वंचित कर दें कि जिनके रहन सहन का दर्जा निश्चित रूप से उनके स्वयं के रहन सहन के दर्जे से नीचा नहीं है ।

ऐसी दशा में 1953 के शरद काल में जी०ए०टी०टी० के सम्मेलन में समझौते के विद्यमान प्रावधानों को और अधिक समय के लिए बढ़ा दिया गया जिससे कि जब अमेरिकन यह तय कर लें कि उनकी भावी व्यापार नीति क्या होगी तब सम्पूर्ण ढांचे पर पुनर्विचार किया जा सके । ब्रिटिश विरोध के कारण जापान उस समय के लिए एक प्रकार के अर्द्ध-सदस्य की तरह आने दिया गया । वे देश जो कि जापानियों से व्यापार वार्ता करने के लिए तैयार थे वे इस सिद्धान्त के आधार पर वैसा कर सकते थे कि जो भी रियायतें किसी एक देश को दी जायेंगी वे उन सभी देशों को भी दी जायेंगी जो कि अधिकतम अनुग्रहीत राष्ट्र की शर्तों के अनुसार वार्ता करने के लिए राजी थे । किन्तु जी०ए०टी०टी० का कोई भी देश जापान से वार्ता न करने के लिए स्वतंत्र था और जापानी उस देश के निर्यातों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए स्वतंत्र थे । उसी सम्मेलन में ग्रेट-ब्रिटेन ने राष्ट्र मंडलीय रियायतों के सम्बन्ध में एक छोटी सी रियायत प्राप्त कर ली । उसको विदेशों से आने वाली कुछ मौसमी कृषि पैदावार पर बिना राष्ट्र मंडल के देशों की पैदावार पर समान आयात कर लगाए आयात कर लगाने की आज्ञा मिल गई । यह आज्ञा इस शर्त के आधीन थी कि उस रियायत का उपयोग राष्ट्र मंडल के देशों के आयातों के द्वारा विदेशी आयातों को हटा देने के लिए नहीं किया जावेगा । क्योंकि राष्ट्र मंडल के देशों से वे वस्तुएं कठिनाई ही से कुछ आती थीं और क्योंकि ब्रिटिश मांग का उद्देश्य ब्रिटेन के किसान को संरक्षण प्रदान करना था अस्तु वह प्रावधान विल्कुल भी दुर्वह नहीं था । ब्रिटेन द्वारा जी०ए०टी०टी० को प्रार्थना करने की ज़रूरत केवल इस लिए पड़ी क्योंकि समझौते की सामान्य शर्तों के अनुसार कोई भी नई राष्ट्रमंडलीय रियायतें नहीं दी जा सकती थीं और क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन ने अधिराज्यों (डोमिनियनों) को जो वचन दे रक्खा था उसके कारण वह राष्ट्रमंडल की कृषि उपज पर प्रशुल्क नहीं लगा सकता था । अस्तु साधारणतौर पर जी०ए०टी०टी० सम्मेलन ने केवल विद्यमान व्यवस्था को और अधिक काल के लिए बढ़ा दिया और संयुक्त-राज्य के दवाव के कारण जापान को उस योजना में अस्थायी आधार पर सम्मिलित कर लिया ।

भावी अमेरिकन नीति की अनिश्चितता तथा और अधिक सामान्य आधार पर दोनों ही कारणों से जी०ए०टी०टी० का सम्पूर्ण भविष्य ही अनिश्चित है क्योंकि उसका मुख्य ढांचा इस मान्यता पर आधारित है कि विश्व के युद्धोत्तर भुगतान शेष का असंतुलन केवल अस्थायी है और समझौते के मुख्य प्रावधानों में नीति की पूर्ण

कठोरता के विरुद्ध जो अपवाद समाविष्ट किए गए हैं शीघ्र ही अदृश्य हो जावेंगे। इसमें संदेह नहीं कि यदि संयुक्त राज्य उनको रखने के लिए तैयार हो तो कुछ आंशिक परिवर्तनों के साथ वे और अधिक काल के लिए नए किए जा सकते थे। परन्तु यह स्पष्ट है कि यदि इच्छा विद्यमान हो तो भी उन अपवादों को दीर्घकाल तक समाप्त कर देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। निश्चय ही वह इच्छा विद्यमान नहीं है।

इस बात पर बल देने की जरूरत है कि जहां जी०ए०टी०टी० के मुख्य प्रावधान जो व्यवहार में संयुक्त-राज्य द्वारा आदेशित थे दोनों अर्थात् मात्रात्मक व्यापार नियंत्रण तथा आयातों के सम्बंध में एक देश तथा दूसरे देश के बीच विभेद के सभी रूपों के विरुद्ध अत्यन्त कठोर हैं परन्तु वे उस प्रकार नियंत्रण तथा विभेद के लिए खुली छूट देते हैं जो अमेरिकन व्यापार के लिए अनुकूल हैं। इस प्रकार नौबहन राज्य सहायताएँ विलकुल भी नियंत्रित नहीं हैं और कृषि की पैदावारों को संरक्षण देने के लिए आयात प्रतिबंध लगाने अथवा राज्य सहायता देने की खुली छूट रखी गई है। जी०ए०टी०टी० बहुत कुछ अमेरिका द्वारा प्रोत्साहित प्रलेख है जिसको दूसरे देशों ने अमेरिका के दबाव के कारण तथा अमेरिका के प्रशुल्क में रियायतों के लाभ को प्राप्त करने के लिए स्वीकार कर लिया है। तथापि उसके एकपक्षीय होने पर भी संयुक्त-राज्य अमेरिका में उसका कड़ा विरोध होने से नहीं बचा। उसके सम्बंध में कहा गया कि वह अमेरिका की आर्थिक प्रभुसत्ता को सीमित करता है, वह अन्य देशों को अपने अस्थायी प्रावधानों में बहुत अधिक रियायतें देता है, और राज्य व्यापार की वैधता को स्वीकार करता है। (इस प्रकार के व्यापार पर जो बहुत से प्रतिबंध लगाता है उसके रहते हुए भी)।

ब्रैटैन-वुड्स में जिन नीतियों को स्वीकार किया गया था अब हम उनके अधिक शुद्ध मौद्रिक स्वरूप के 1945 के पश्चात के विकास की ओर पुनः लौटते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जिसने 1945 के अन्त में कार्य करना आरम्भ किया और जिसकी प्रारम्भिक पूंजी 88000 लाख डालर थी उसके वास्तविक कार्य संचालन के सम्बंध में अधिक कुछ कहना नहीं है। साधारण रूप में उसने अपने प्रथम कर्तव्य अर्थात् सदस्य देशों की अन्तर्राष्ट्रीय क्रय शक्ति देने के कार्य को पूरा किया। परन्तु इस प्रकार उपलब्ध की गई रकम की—विशेष कर कीमतों में वृद्धि और 1945 के पश्चात् व्यापार की शर्तों में परिवर्तनों को देखते हुए प्रकट अपर्याप्तता ने घटना चक्र पर कोई बड़ा प्रभाव डालने के लिए उसके पास कोई साधन नहीं छोड़े। यह शीघ्र ही अनुभव कर लिया गया कि डालर के अन्तर के आकार और उसकी अनुलम्बना का अन्दाज कल्पनातीत रूप से बहुत कम था। उस अन्तर को उस समय पाटने में पहले संयुक्त-राज्य और कनाडा के ऋणों ने मुख्य हिस्सा लिया और उनके शीघ्रतापूर्वक

समाप्त हो जाने पर मार्शल सहायता ने उस अन्तर को पाटा । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का दूसरा कार्य था कि उन देशों की मुद्राओं की जिन्होंने उसे स्थापित किया था स्वर्ण आधारित मुद्राओं में परिवर्तनशील मुद्रा प्रणाली में पुनः वापस लावे, परन्तु जैसा कि हमने देखा इसका अर्थ था कि विनिमय संतुलित हो और राष्ट्रीय सीमाओं के आर पार खरीदने और बेचने की विस्तृत स्वतंत्रता हो । इस प्रकार की स्वतंत्रता का इस तथ्य के विरुद्ध कोई प्रश्न ही नहीं उठता था कि परिवर्तनशीलता का अर्थ होता कि अमेरिका की वस्तुएं खरीदने के लिए डालर के लिए विश्व व्यापी भागदौड़ होती और उस दौड़ को आयातों पर बहुत कड़े मात्रात्मक प्रतिबंधों को लगा कर और द्विदेशीय व्यापार-सौदों की एक विराट प्रणाली का निर्माण करके ही रोका जा सकता था जो व्यापार के उदारीकरण के सिद्धान्त के प्रत्यक्ष विपरीत होती । उसके विपरीत होती जिसके लिए हस्ताक्षर करने वाले देश वचन बद्ध थे ।

वास्तव में तीन उपाय—और केवल तीन ही उपाय हैं जिनसे कोई देश जो कि अपनी विनिमय पर दबाव अनुभव कर रहा हो उस दबाव को हटाने के लिए कार्य कर सकता है । वह मुद्रा संकोचन कर सकता है, वह मुद्रा सम्बंधी सौदों का नियंत्रण कर सकता है, और ऊंचे प्रशुल्क और मात्रात्मक नियंत्रण के द्वारा आयातों का आयन्त्रण कर सकता है । जब मुद्रा संकोचन पर्याप्त सीमा तक किया जाता है तो वह आयातों की मांग को कम करके और साथ ही कम कीमतों के द्वारा मुद्रा की क्रय शक्ति को बढ़ा कर विदेशी मुद्रा की अतिरिक्त मांग को समाप्त कर देता है । परन्तु वह विस्तृत बेरोजगारी भी उत्पन्न कर देता है । उसके कारण मजदूरी तथा अन्य आयों के सार्वजनिक व्यय में भी कमी करना आवश्यक हो जाता है । 1945 के उपरान्त जो स्थिति विद्यमान थी कोई भी बड़ा देश आवश्यक मात्रा में मुद्रा संकोचन का सामना नहीं कर सकता था । उसका अर्थ होता गहरा सामाजिक संघर्ष और जो भी कोई सरकार ऐसे किसी देश में जिसमें मजदूर आन्दोलन एक शक्तिशाली शक्ति थी उसको करने का प्रयत्न करती उसका पतन कर देता । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अमेरिका जो उसके मुख्य वित्तदाता थे उन्हें इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ा ।

एक कारण कि उस मात्रा में मुद्रा संकोचन जिसकी अतिरिक्त मांग को समाप्त करने के लिए आवश्यकता होती सम्भव नहीं था । था यह कि 1947 के उपरान्त पश्चिमीय योरोप के देशों पर निरन्तर बढ़ता हुआ दबाव था कि वे पुनः शस्त्रीकरण करें । जो कुछ भी अस्त्रशस्त्रों पर व्यय किया जाता था उसको क्रय-शक्ति के साधारण निधि से ही लेना पड़ता था । अस्तु पुनः शस्त्रीकरण मांग का एक और अतिरिक्त कारण बन गया जिसने मुद्रा स्फीति की प्रवृत्तियों को जो कि सम्बन्धित देशों में पहले से ही मौजूद थीं और अधिक बढ़ा दिया । अमेरिकन जो उत्तर-अटलांटिक संघ के अपने भागीदारों पर गहरा पुनः शस्त्रीकरण करने के लिए दबाव

डाल रहे थे—जब इस प्रकार अपने पर भार बढ़ा रहे थे—मुद्रा संकोचन के उपायों को अपनाने पर जोर न दे सके जिनको वे 1944 में पसंद करते थे । पुनःशस्त्रीकरण या तो उपभोग अथवा विनियोग को अथवा दोनों को ही कम करके ही हो सकता था । व्यवहार में उसके परिणाम स्वरूप असामरिक उद्योगों में विनियोग की बहुत अधिक कमी करना आवश्यक हो गया और इस प्रकार उसने आर्थिक पुनरुत्थान को घीसा कर दिया और अमेरिका के उत्पादन की तुलना में योरोप की क्षमता को घटा दिया । विशेषकर आयात किए जाने वाले खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल की तैयार माल की तुलना में बढ़ती हुई लागत के परिणाम स्वरूप उपभोग में भी कमी करनी पड़ी । यद्यपि विनियोग और उपभोग दोनों को ही कम करना पड़ा परन्तु यह बिना स्फीतिकारी दवाव में वृद्धि किए नहीं हो सका । देश एक साथ एक ही समय अधिक उपभोग नहीं कर सकते । यदि केवल बढ़ती हुई जन संख्या को ही देना हो, न अपने उत्पादन के ढांचे को बदलने के लिए और अति गहन शस्त्रीकरण के लिए ही अधिक विनियोग कर सकते हैं—और जैसा ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस के सम्बन्ध में हुआ खर्चीले औपनिवेशिक युद्ध लड़ सकते हैं । अथवा यह कहना चाहिये कि वह यह उस समय तक नहीं कर सकते जब तक कि उनके पास विशाल अप्रयुक्त संसाधन न हों जिन्हें वे काम में ला सकते हों—उन सब बातों को एक साथ करने में जो स्फीतिकारी दवाव सन्निहित था उससे संयुक्त राज्य भी प्रतिरक्षित नहीं था । ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस के लिए उसके परिणाम और अधिक बुरे थे क्योंकि उनकी अर्थ-व्यवस्था पर पुनः शस्त्रीकरण का अतिरिक्त भार उस समय डाला गया जब कि उन्हें बहुत विनियोजन की आवश्यकता थी और वे युद्ध के प्रभावों से अभी तक उबरे नहीं थे ।

तब मुद्रा संकुचन अव्यवहारिक और साथ साथ अवांछनीय भी था क्योंकि ऐसे समय जब कि सम्भावित उत्पादन के प्रत्येक आऊंस की तुरन्त आवश्यकता थी व्यापक बेरोजगारी को लागू करना हास्यास्पद होता । ऐसी दशा में केवल मुद्रा नियंत्रण और व्यापार का प्रत्यक्ष नियंत्रण ही ऐसे साधन बन जाते थे जिससे डालर की अत्यधिक मांग को पूरा किया जा सकता था । 1945 के उपरान्त जो परिस्थितियाँ विद्यमान थीं और जो बनी रहीं थीं उनके अन्तर्गत यह दोनों ही तरीकों को काम में लाना पड़ा और यह स्पष्ट हो गया कि घाटे के देशों में व्यापार नीतियों के उदारीकरण की ओर कोई बड़ा कदम उठाने से संकट उत्पन्न हो जाने की सम्भावना थी जिसका सामना केवल अधिक कठोर मुद्रा नियंत्रण के द्वारा ही किया जा सकता था । और यह भी स्पष्ट हो गया कि मुद्राओं की अधिक परिवर्तनशीलता की ओर यदि कोई कदम उठाया गया तो उससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि उनका सामना केवल कठोर आयात नियंत्रणों को लगा कर ही किया जा सकता था । अमेरिकन एक साथ व्यापार को मुक्त करने और मुद्राओं की स्वतंत्र परिवर्तनशीलता को एक साथ बढ़ाना चाहते थे, परन्तु यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि जब

तक मूलभूत असंतुलन बना रहेगा यह दोनों उद्देश्यों का एक साथ पीछा नहीं किया जा सकता और उनमें से एक का जितना ही अधिक होगा दूसरे का उतना ही कम हो सकेगा ।

उन परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष कोई प्रभावशाली कार्य नहीं कर सकता था । परन्तु अमेरिकन दोनों उद्देश्यों की असंगति को स्वीकार करने में बहुत अनिच्छुक थे और दोनों ही बिन्दुओं पर लगातार बल देते रहे । जब मार्शल सहायता दी जाने लगी तब उन्हें आशा थी कि जो बहुत बड़ी रकमें वे दे रहे थे वे केवल उस समय के लिए अन्तर्राष्ट्रीय खातों को ही संतुलित नहीं करेंगी वरन् सहायता प्राप्त देशों का यथेष्ट उत्पादन बढ़ा कर जिससे वे घाटे की स्थिति से बच सकें अपनी स्थिति को ठीक बनाने के योग्य बना दगी । इस आशावादी दृष्टिकोण में जो बात छोड़ दी गई थी वह यह थी कि योरोप में उत्पादन चाहे जितना बढ़ जावे फिर भी डालर की कमी तो तब तक बनी रहेगी जब तक उन वस्तुओं की जिनका उत्पादन योरोप के देश कर सकते थे अमेरिका की खरीददारी इतनी अधिक न बढ़ जाती कि जिससे उन देशों को यथेष्ट डालर प्राप्त हो जाते । इसमें संदेह नहीं कि अमेरिकनों का तर्क यह था कि योरोप के देश अपनी निर्माण की हुई वस्तुएं उन देशों को बेच कर जो मुख्य पैदावारें उत्पन्न करते हैं उनसे उन डालरों को प्राप्त कर सकते हैं जो उन्होंने संयुक्त राज्य को कच्चा माल बेच कर कमाए हैं । परन्तु केवल अल्प काल के लिए कोरिया संकट के छिड़ जाने से जो संचयन का जोरशोर हुआ उसको छोड़ कर इस प्रकार की अमेरिका की खरीददारी से जो डालर प्राप्त हुए वे पर्याप्त नहीं थे । जिन देशों ने उन्हें प्राप्त किया वे स्वयं ही उनका अधिकांश भाग अपने लिए डालर में खरीद पर व्यय करना चाहते थे । और जब खरीद ने अस्थायी रूप से उनको बहुत ऊंचा उठा दिया तो उसका प्रभाव यह हुआ कि कच्चे माल की कीमतें ऊंची हो गईं । इसमें वे भी शामिल थे जिनका मूल्य डालर में चुकाना पड़ता था । वे इतनी ऊंची हो गईं कि घाटे वाले देशों की अर्थ-व्यवस्था पर उसका बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ा और पहले की अपेक्षा और अधिक असंतुलन उत्पन्न हो गया । जब इसका अनुभव करके अमेरिकनों ने अपनी खरीददारी को कम किया और बहुत से कच्चे माल की कीमतें बहुत नीचे गिर गईं उस समय तत्कालीन परिस्थिति का सरलीकरण हुआ परन्तु मूलभूत असंतुलन बना रहा । जिन देशों को मार्शल सहायता से लाभ पहुंचा था उनमें से अधिकांश के—जैसे उनका उत्पादन बढ़ा—भुगतान के कुल शेषों में सुधार हुआ परन्तु डालरों की कमी बनी ही रही और उसका सामना लगातार दोनों प्रकार के नियंत्रणों अर्थात् विनिमयों तथा डालर-क्षेत्र से वस्तुओं के आयात पर नियंत्रणों के द्वारा ही किया जा सका । तथ्य तो यह था कि यह दूसरा नियंत्रण जो कि संकट काल में बहुत अधिक कठोर बना दिया गया था 1953 के अन्त तक 1951 के संकट के पूर्व की अपेक्षा बहुत अधिक कठोर बना रहा ।

सच तो यह है कि 1947 में ग्रेट-ब्रिटेन ने जो स्टर्लिंग को अबाध रूप से परिवर्तनशील बनाने का दुस्साहसी प्रयत्न किया उससे डालर की छिपी हुई मांग की शक्ति स्पष्ट प्रगट हो गई। अमेरिकनों ने ऋण देते समय जो शर्तें लगाई थीं उनके अनुसार जैसे ही स्टर्लिंग परिवर्तनशील बनाया गया उसी समय स्टर्लिंग को डालरों में बदलने के लिए भागदौड़ हुई। यह भागदौड़ उन लोगों की मांग से आरम्भ हुई जो कि डालर वस्तुएं खरीदना चाहते थे। शीघ्र ही उसको सटोरियों के द्वारा एक वेगवती धारा में बदल दिया गया जो ब्रिटिश मुद्रा के अवमूल्यन की आशा करते थे और शीघ्र ही ग्रेट-ब्रिटेन को परिवर्तनशीलता छोड़नी पड़ी और कठोर विनिमय नियंत्रण पर वापस लौटना पड़ा। इस संकट के बाद मार्शल सहायता का आरम्भ हुआ वह डालरों के एक बड़े अनुदान के रूप में दी गई जिसे यूरोप के देश अपने भुगतान संतुलन के घाटे के अनुपात में बांट लें। सहायता का प्रबंध करने तथा विभाजन की व्यवस्था करने के लिये दो निकायों की स्थापना की गई। पहली यूरोपीय सहकारिता प्रशासन (यूरोपियन कोऑपरेशन ऐडमिनिस्ट्रेशन) जो कि अमेरिकनों द्वारा स्थापित की गई थी और जो एकमात्र अमेरिका का ही कार्य था और दूसरी यूरोपियन आर्थिक सहकारिता के लिए संगठन (आरगैनीजेशन फॉर यूरोपियन इकनामिक कोऑपरेशन) थी जिसे उन राज्यों ने स्थापित किया था जो सहायता पाने वाले थे। इस दूसरी निकाय ने प्रथम 1948-49 और बाद को आने वाले वर्षों के लिए यूरोपीय देशों को आयातों की कितनी आवश्यकता होगी उसके आंकड़ों पर राजी होने से और उन निर्यातों के मूल्य का अनुमान लगाने से आरम्भ किया कि जो आयातों के लिए भुगतान करने के लिए उपलब्ध होंगे। घाटा—अर्थात् दोनों आंकड़ों के बीच का अन्तर—अमेरिका द्वारा प्रत्येक देश को उसकी भारी आवश्यकताओं के अनुसार दी गई सहायता से पूरा होना था। यूरोप में सहायता पाने वालों ने आज्ञा मांगी कि मिलने वाले डालरों में से कुछ का उपयोग यूरोप में खरीददारी करने के लिए करने दिया जाय जिससे कि वे अन्तर-यूरोपीय व्यापार में उत्पन्न हुए घाटे का सामना कर सकें। परन्तु अमेरिका के अधिनियम में इनके लिए आज्ञा नहीं थी। तथापि अन्तर-यूरोपीय व्यापार में वृद्धि की आवश्यकता को यूरोप के उत्पादन को अधिकतम करने और डालरों की आवश्यकता को कम करने के माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया। तदनुसार ओ०ई०ई०सी० ने एक भुगतान योजना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया जिसमें वे यूरोपीय देश जिनसे यह आज्ञा थी कि वे अन्य यूरोपीय देशों से जितना आयात करेंगे उससे अधिक निर्यात करेंगे। वे सम्भावित कर्जदारों को साख देते। इस योजना में स्टर्लिंग क्षेत्र जिनकी मुद्रा गमान थी उसको एक इकाई के रूप में प्रविष्ट होना था। उस समय यह प्रश्न उठा कि क्या यह साखें जा निकालने के अधिकार से प्रसिद्ध थीं एक यूरोपीय भाग लेने वाला दूसरे भाग लेने वाले देशको हस्तान्तरित कर सकता था। उदाहरण के लिए फ्रांस जो गवर्न

बड़ा सम्भावी अन्तर-यूरोपीय कर्जदार था यदि वह अपनी समस्त स्टर्लिंग साख का उपयोग ब्रिटिश माल को खरीदने में न करना चाहे तो क्या वह उसका कुछ भाग मान लो वैलजियम को हस्तान्तरित कर सकता था । ब्रिटिश सरकार को इस प्रस्ताव को अस्वीकार करना पड़ा क्योंकि उसका वैलजियम के साथ एक भुगतान का समझौता था उसके अन्तर्गत यदि वैलजियम की स्टर्लिंग की धारणें एक निश्चित अंक से अधिक हो जावें तो वैलजियम उस आधिव्य का भुगतान स्वर्ण में मांग सकता था । यदि अन्य देश अपने 'निकालने के अधिकार' वैलजियम को हस्तान्तरित कर देते तो ब्रिटेन को स्वर्ण के दावों का सामना करना पड़ सकता था जिनको वह पूरा नहीं कर सकता था । अमेरिकनों ने ब्रिटेन को इस हस्तान्तरण को स्वीकार कर लेने के लिए दबाव डाला परन्तु ग्रेट-ब्रिटेन का उत्तर यह था कि यदि इस पर जोर दिया गया तो ग्रेट-ब्रिटेन ने जो कुछ साख का अनुदान अन्य यूरोपीय देशों को देना स्वीकार किया है जिसकी राशि 28 करोड़ 20 लाख पाँड थी उसमें बहुत कमी करनी होगी । उस कमी के भय से अन्य यूरोपीय देशों ने हस्तान्तरण की मांग को वापस ले लिया और अक्टूबर 1948 में बिना इस प्रावधान के एक समस्त यूरोपीय भुगतान योजना प्रथम एक वर्ष के प्रयोग काल के लिए जारी की गई । कुछ निश्चित सीमाओं के अन्दर निकालने के अधिकार-वाद को हस्तान्तरणीय बना दिए गए । परन्तु केवल उन देशों के लिए ही जिनको घाटा था उस घाटे को पूरा करने के लिए उनको हस्तान्तरणीय बनाया गया । उन देशों के लिए नहीं जो योजना के अन्तर्गत शुद्ध लेनदार थे ।

इन प्रबंधों ने उन बहुसंख्यक द्विदेशीय मुद्रा समझौतों को जो इसके लागू होने से पूर्व ही यूरोपीय देशों के बीच हो चुके थे समाप्त नहीं कर दिया । उदाहरण के लिए 1950 में ग्रेट-ब्रिटेन ने तीन स्कैन्डिनेवियन देशों से भुगतान के उदारीकरण के लिए एक विशेष समझौता किया । यूरोपीय भुगतान योजना जो 1950 तक जारी रही—के अन्तर्गत प्रत्येक देश महीने के अन्त में जितनी रकम उसको दूसरे देशों से लेनी है अथवा दूसरों को उससे लेनी है उसका एक लेखा तैयार करता था और उस लेखे को अन्तर्राष्ट्रीय निवटारे* के लिए बैंक को देता था जो उस योजना को कार्यान्वित करता था । अन्तर्राष्ट्रीय निवटारा बैंक (बी०आई०एस०) उसके उपरान्त न केवल दो देशों के जोड़े के नामों के विरुद्ध जमा को काटने के लिए वरन जो बहुदेशीय क्षति पूर्ति कहलाती थी उसको भी समाप्त करने के लिए जो कुछ कर सकता था करता था । इसका अर्थ यह था—एक बहुत सरल उदाहरण ले लें—कि

*अन्तर्राष्ट्रीय निवटारा बैंक आरम्भ में (बी०आई०एस०) 1929 की यंग-योजना के अन्तर्गत जर्मनी से मिलने वाली क्षति पूर्ति की रकम को लेने और उसको हस्तान्तरित करने के लिए स्थापित किया गया था । वह ब्रिटेन-बुड्स में स्थापित नए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से सर्वथा भिन्न है ।

जहाँ देश 'अ' को 'ब' देश को कुछ रकम देनी है जिसे 'क' देश को देना है, जिसे 'अ' को देना है। यदि वे संतुलित हो जाते हों तो बिना वास्तव में भुगतान किए उनको समाप्त किया जा सकता था। इस क्रिया के पूरी हो जाने से जो ऋण बच जाते थे उनके सम्बन्ध में कार्यवाही—'निकालने के अधिकारों' का उपयोग करके जिन्हें प्रत्येक देश ने दूसरे देशों को देना स्वीकार किया था इस प्रावधान के साथ की जाती थी कि यदि किसी देश के पास किसी अन्य देश की मुद्रा की धारण उससे अधिक इकट्ठी हो जाती थी कि जितनी रखना उसने स्वीकार किया था तो वह अधिक का भुगतान स्वर्ण में मांग सकता था।

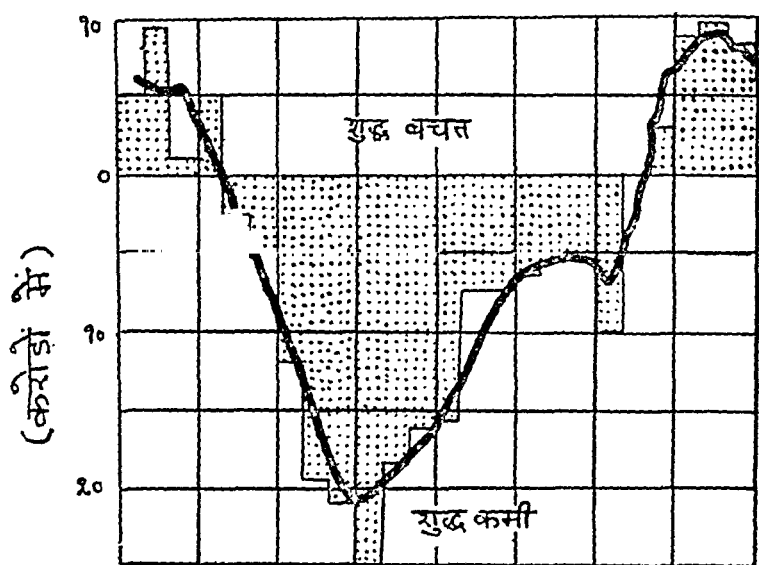
यह प्रणाली विस्तार में समय समय पर संशोधित होती हुई 1950 तक चलती रही। 1950 में उसको अधिक विकसित व्यवस्था योरोपीय भुगतान संघ के द्वारा समाप्त कर दिया गया जो आज तक कि जब मैं लिख रहा हूँ लागू है*। योरोपीय भुगतान-संघ पहले की जटिल समाशोधन प्रणाली को एक पूर्ण बहुदेशीय समाशोधन प्रणाली से जो संयुक्त-राज्य के द्वारा 35 करोड़ डालरों के प्रारम्भिक पूंजी कोष के प्रावधान से सम्भव हुई है प्रस्थापित करता है। योरोपीय-भुगतान-संघ के अन्तर्गत खाते की इकाइयाँ जो डालरों के बराबर हैं—में हिसाब रक्खा जाता है उसमें मासिक शोधन करना पड़ता है। किन्तु प्रत्येक देश के हिसाब की दूसरे देश से पृथक गणना करने के बजाय—योरोपीय-भुगतान-संघ उन्हें एक साथ जोड़ देता है जिससे कि प्रत्येक देश का या तो जमा शेष बचता है अथवा नाभे शेष बचता है जिसका भुगतान करना होता है। ब्रिटेन-बुइस योजना की भांति प्रत्येक सदस्य देश का उसके 1949 के व्यापार के आधार पर एक अम्यंश निश्चित कर दिया जाता है। कुल अम्यंशों का जोड़ 4 अरब 12 करोड़ 60 लाख डालर है जिसमें से यूनाइटेड किंगडम (जो सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है) का अम्यंश एक अरब 6 करोड़ डालर अर्थात् मौटे तीर पर कुल का एक चौथाई है। कोई भी देश जब से यह योजना

*1954-55 के लिए वह संशोधित आधार पर पुनः स्वीकृत की गई। संशोधित योजना के अन्तर्गत ग्रेट-ब्रिटेन ने ऋणी के रूप में अपने 17 करोड़ 50 लाख पाँड के सम्पूर्ण ऋण के चौथाई को लेनदार देशों को तुरन्त स्वर्ण में चुकाने का जिम्मा लिया और शेष को सात वर्षों के अन्दर किश्तों में चुकाने का जिम्मा लिया। अन्य ऋणी देश भी अपने लेनदारों को चुकाने की व्यवस्था कर रहे हैं और योरोपीय भुगतान संघ अपने निज़ के नावनों से 13 करोड़ 10 लाख डालरों को लेनदार देशों को चुका देने के लिए प्रदान कर रहा है। उसके उपरान्त जिन देशों को आवश्यकता होगी उनको नई साख दी जावेगी परन्तु भविष्य में कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रत्येक ऋणी देश को अपने आधे मासिक घाटे को सोने में चुकाना होगा और शेष आधी उसको योरोपीय भुगतान संघ से साख के रूप में मिलेगी।

आरम्भ हुई है तब से यदि उसके सम्पूर्ण योरोपीय भुगतान संघ के सौदों को हिसाब में ले तो यदि उसका जमा शेष है तो उसको उसके कुल अभ्यंश का 20 प्रतिशत तक योरोपीय भुगतान संघ में डिपॉजिट (जमा) के रूप में छोड़ना पड़ता है जो उस पर सूद देता है। यदि उसकी जमा 20 प्रतिशत से अधिक होती है तो आधिक्य का आधा योरोपीय भुगतान संघ में जमा के रूप में रहता है और शेष उसको स्वर्ण में चुका दिया जाता है। यदि आधिक्य-देश के अभ्यंश से 100 प्रतिशत से बढ़ जाता है तो उसका उपाय करने के लिए विशेष प्रबंध करना पड़ता है।

नामे शेष वाले देशों को आरम्भ में पूरी साख दी जाती थी जिस पर वे उनके अभ्यंश के 20 प्रतिशत तक पर सूद देते थे, परन्तु बाद को इस प्रकार जो रकम दी जाती थी उसको घटा कर दस प्रतिशत कर दिया गया। अपने अभ्यंश के दस प्रतिशत के ऊपर जो नामे शेष होता था उसको उस देश को जैसे जैसे ऋण बढ़ता था बढ़ते हुए पैमाने पर अंश में सोने या डालर में भुगतान करना पड़ता था। बीस प्रतिशत तक दस प्रतिशत के ऊपर आधिक्य का केवल एक पांचवा हिस्सा सोने में भुगतान करना पड़ता था। अभ्यंश के सौ प्रतिशत पर वह बढ़कर अन्तिम बीस प्रतिशत पर 7/10 हो जाता था अर्थात् कुल मिला कर स्वर्ण या डालर में 40 प्रतिशत का भुगतान करना पड़ता था। शेष 60 प्रतिशत का ऋण योरोपीय-भुगतान-संघ से उधार या साख के रूप में दे दिया जाता था। यहां जिन जमा और नामे का उल्लेख किया गया उनका सम्बंध सदस्य के एक मास के कारवार से नहीं है परन्तु जब से योरोपीय-भुगतान-संघ आरम्भ हुआ तब से उसकी इकट्ठी हुई ऋणी अथवा साहूकारी की स्थिति से है। क्योंकि विभिन्न देशों की सापेक्षिक स्थिति समय के अनुसार बहुत बदलती रहती है उसका अर्थ यह है कि स्वर्ण लगातार एक देश को स्थानान्तर होता रहता है। उदाहरण के लिए ग्रेट-ब्रिटेन उस काम में बड़ा साहूकार हो गया जब कि योरोपीय देश स्टर्लिंग क्षेत्र से ऊंची कीमतों पर बहुत बड़ी मात्रा में खरीददारी कर रहे थे, परन्तु जब कीमतें तेजी से नीचे गिरीं तो उसने जो सोना प्राप्त किया था उसे खो देना पड़ा। सबसे अधिक स्थिर साहूकार देश वैलजियम है जिसके लिए योजना को टूटने से बचाने के लिए विशेष प्रबंध करना पड़ा।

यद्यपि अमेरिकनों की परिवर्तनशीलता के सीमित प्रबंधों के प्रति अरुचि थी और उनकी पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली को पुनः वापस लाने की इच्छा थी फिर भी उनके द्वारा सहायता प्राप्त योरोपीय-भुगतान-संघ का प्रारम्भिक अवस्था में अन्तर-योरोपीय-वाजार व्यापार को उत्तेजित करने तथा साथ ही महाद्वीपीय योरोप तथा स्टर्लिंग क्षेत्र में परस्पर व्यापार बढ़ाने में यथेष्ट प्रभाव पड़ा। परन्तु यह डालर समस्या का कोई हल उपलब्ध नहीं करता। जिस सीमा तक यह मांग को डालर की वस्तुओं से हटाकर योरोप में उत्पादित वस्तुओं की ओर मोड़ता है उसको



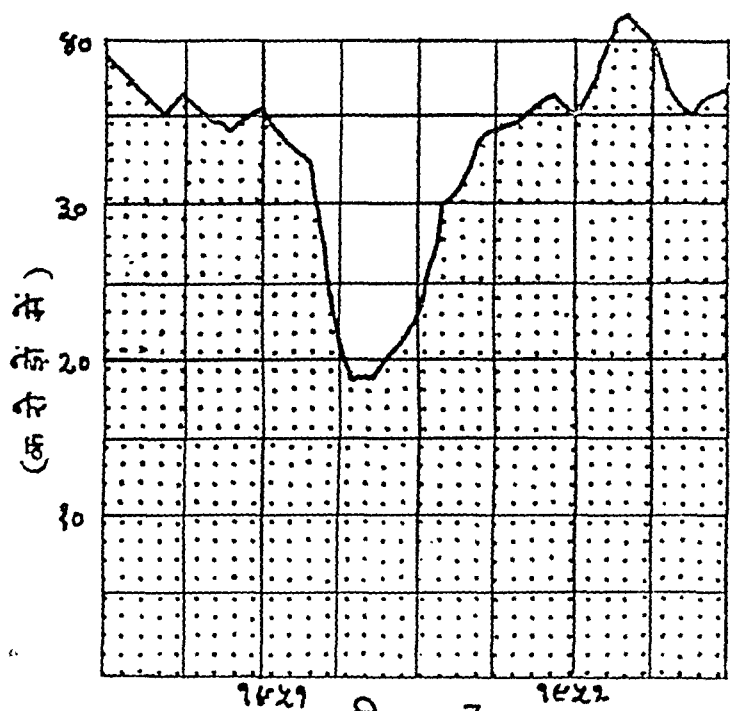
चित्र-२
 योरोपीय मुद्रातान संघ - सासिक स्थिति
 १९५९-५९
 स्टर्लिंग क्षेत्र

छोड़ कर यह डालरों को दुर्लभ होने से रोकने के लिए कुछ नहीं करता । निश्चय ही उसने इस प्रकार का विचलन करने में कुछ सफलता प्राप्त की परन्तु उससे डालरों की तीव्र कमी को अमेरिकन सहायता के बावजूद बनी रहने से रोका नहीं जा सका । ग्रेट-ब्रिटेन को शामिल करके योरोप के देशों को उन वस्तुओं का जिनका भुगतान स्वर्ण या डालरों में करना था—डालर क्षेत्र को निर्यात करके जितने का भुगतान किया जा सकता था उससे कहीं अधिक की उन्हें आवश्यकता थी । फिर भी अपने सीमित क्षेत्र में योरोपीय-भुगतान-संध निस्संदेह उपयोगी सिद्ध हुआ । तथापि वह 1951 के संकट में अधिकांश देशों को एक दूसरे से तथा संयुक्त-राज्य-अमेरिका से होने वाले आयात को कम करने से बचा नहीं सका क्योंकि उसमें उस व्यापार के घाटे को बने रहने देने की सामर्थ्य नहीं थी कि जिसका पर्वीप्त भाग उनको स्वर्ण या डालरों में चुकाना पड़ता । 1951 और 1952 के योरोपीय-भुगतान-संध में स्टलिंग क्षेत्र की स्थिति में जो परिवर्तन हुए और योरोपीय-भुगतान-संध के स्वर्ण और डालर के रक्षित कोषों पर जो प्रभाव पड़े उनका चित्रण इन पृष्ठों पर दिए गए चित्र करते हैं ।

अमेरिकन इस कारण योरोपीय-भुगतान-संध का समर्थन करने के लिए प्रेरित हुए थे क्योंकि उन्हें आशा थी कि वह केवल योरोप के उत्पादन और परस्पर व्यापार को ही प्रोत्साहन नहीं देगा वरन् वह योरोपीय मुद्राओं की डालर के साथ पूरी परिवर्तनशीलता के लिए एक कदम होगा । इस प्रकार उन्होंने उस समय स्टलिंग क्षेत्र का एक प्रादेशिक गुट के रूप में जो पूर्ण परिवर्तनशीलता के मार्ग में बाधक या विरोध करना छोड़ दिया और जो स्थिति थी उसको देखते हुए विदेशी विनिमयों को नियंत्रण से मुक्त किए जाने की अव्यवहारिकता को स्वीकार कर लिया । तथापि वे पूर्ण परिवर्तनशीलता को शीघ्र से शीघ्र स्थापित करने की आवश्यकता का आग्रह करते रहे और 1952 से इस कदम की व्यवहारिकता के बारे में बहुत प्रचार किया गया । उन समय तक अधिकांश अमेरिकनों को भी यह स्पष्ट दिखलाई देने लगा था कि जब तक संयुक्त-राज्य अमेरिका इस बात के लिए तैयार न हो कि वह उन देशों को जिन्हें अपनी मुद्रा सोने या डालरों में पूरी तरह परिवर्तित करने के लिए कहा जा रहा था बड़ी राशि में डालर साख उपलब्ध न कर दे तब तक पूर्ण परिवर्तनशीलता नहीं लाई जा सकती । किन्तु यदि संयुक्त-राज्य उतनी माख देने को तैयार भी होता—जो कि योरोप को और अधिक सहायता देने के विरुद्ध देश में बढ़ती हुई भावना को देखते हुए बहुत संदेहजनक था—तो इस प्रकार जो रकमें दी जातीं वे बहुत शीघ्र ही नमाम्त हो जाती यदि उनको प्राप्त करने वाले देश लगातार जितने डालर वे डालर देशों को वस्तुएं और सेवाएं निर्यात करके बसा सकते थे उससे अधिक व्यय करते रहते । माख की रकम चाहे जितनी बड़ी क्यों न हो वह आवर्तक घाटे के विरुद्ध अनिश्चित काल तक गड़ी नहीं रह सकती । सम्भावना इस बात की थी कि बड़ी राशि में माख देने का परिणाम 1946 में ग्रेट-ब्रिटेन को दिए गए अमेरिका के ऋण के फलस्वरूप जो हुआ उसकी पुनरावृत्ति हो ।

तथापि अमेरिकन दबाव का सामना करने के उद्देश्य से कुछ करने के लिए इवर उधर थोड़ा बहुत प्रयत्न किया गया। ग्रेट-ब्रिटेन ने राष्ट्र मंडल के देशों के सहयोग से 1952 में स्टर्लिंग को डालर में परिवर्तनशील बनाने की एक योजना तैयार की। 1953 के आरम्भ में ऐडिन और बटलर संयुक्त-राज्य अमेरिका के अधिकारियों के सामने उस योजना को जिसकी विशेष बातों को गुप्त रक्खा गया था रखने के लिए संयुक्त-राज्य-अमेरिका गए। ऐसा ज्ञात हुआ कि उन्होंने परिवर्तनशीलता को पुनर्स्थापित करने के लिए योजना के अनिवार्य अंग के रूप में इस बात पर बल दिया कि साहूकार देशों और सबसे अधिक संयुक्त-राज्य-अमेरिका को निर्मित वस्तुओं और कच्चे माल का अधिक आयात करने के लिए उचित कदम उठाना होगा। इसके साथ ही ऋणी राष्ट्रों को सम्भवतः मुद्रा संकुचन के द्वारा डालर वस्तुओं की मांग के दबाव को कम करने के लिए उचित कदम उठाने होंगे। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि परिवर्तनशीलता को इस प्रकार नहीं लाना चाहिए कि जिससे उन देशों को अपने आयातों पर और अधिक कठोर प्रतिबंध लगाने पर विवश करके अन्तः योरोपीय व्यापार अथवा योरोप तथा स्टर्लिंग के व्यापार का गला घोट दिया जावे। इसके अतिरिक्त उन्होंने योरोप के स्वर्ण रक्षित कोष को बढ़ाने के लिए विशेष उपाय करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया और उन्हें यह स्पष्ट सुझाव दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अधिक तेजस्वी बनाने के लिए नए वित्तीय साधन दिए जाने चाहिए जिससे कि वह उनमें हिस्सा लेने वाले देशों को पुनः साख दे सकें। इन प्रस्तावों का अमेरिकनों ने अत्यन्त निराशाजनक उत्तर दिया। जैसा कि हमने देखा 1954 में कांग्रेस के लिए रिपोर्ट तैयार हो जाने के उपरान्त तक अमेरिका की व्यापार नीति के सम्बंध में निर्णय करना स्थगित कर दिया गया। न इस सुझाव के अनुसार ही कार्य करने की अमेरिकनों की तैयारी थी कि संयुक्त-राज्य-अमेरिका को योरोप की मुद्राओं का अभिगोपन करने के लिए उनको बड़ी रकम देनी चाहिए। मार्च 1923 में जब श्री बटलर ने ओ०ई०ई०सी० को अपने अमेरिका भ्रमण की रिपोर्ट दी तो यह स्पष्ट कर दिया गया कि सम्पूर्ण योजना समाप्त हो गई।

इस असफलता के परिणाम स्वरूप तत्काल ब्रिटिश तथा योरोपियन नीति के झुकाव में परिवर्तन हो गया। 1952 का राष्ट्रमंडलीय सम्मेलन आयातों पर प्रतिबंधों को ढीला करके व्यापार को अधिक बढ़ावा देने की अपेक्षा स्टर्लिंग की परिवर्तनशीलता की समस्या को प्राथमिकता देता हुआ दिखाई दिया था। परन्तु जब अमेरिका राष्ट्र-मंडलीय प्रस्तावों के प्रति अनुकूल भावना प्रगट करने में असफल रहा तो परिवर्तनशीलता के विरुद्ध विशेष कर ई०पी०यू० क्षेत्र में व्यापार के विस्तार के उपायों को प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति प्रगट हुई। ग्रेट-ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा कुछ अन्य देशों ने कई आयात प्रतिबंधों को ढीला कर दिया, यद्यपि वे 1951 के संकट से पूर्व जिस विन्दु तक व्यापार पहुँच गया था उस तक पुनः उसे वापस लाने के लिए यथेष्ट नहीं थे !



चित्र - ३
 योरोपीय भुगतान संघ-स्वीकृत स्थिति
 युनाइटेड किंगडम - १९५१ - ५२

इसी बीच में जनवरी 1954 में विदेशी अर्थ नीति के सम्बन्ध में रैन्डाल आयोग जिसको अमेरिका के प्रेसीडेंट तथा कांग्रेस ने मिल कर पिछले वर्ष नियुक्त किया था उसने अपनी रिपोर्ट दे दी। उसने अपनी रिपोर्ट को—अमेरिकन अर्थ व्यवस्था की गतिशीलता, लचनशीलता, सृजनात्मकता की प्रशंसा की—प्रशस्ति से आरम्भ किया और उसने इस बात पर बल दिया कि अमेरिकन अर्थ व्यवस्था को कमियों के स्वतंत्र साहचर्य के द्वारा निजी साधनों के उपयोग में व्यक्तिगत प्रतिभा और नेतृत्व के विकास के लिए अधिकतम स्वतंत्र अवसर पर आधारित रहना चाहिये। रिपोर्ट में योरोपीय देशों द्वारा उत्पादन और व्यापार के उदारीकरण दोनों में पर्याप्त आधिक उन्नति का उल्लेख था परन्तु उसका मानना था कि यह उन्नति डालर समस्या को हल कर सकने के आस पास अभी तक नहीं आई है। उसने अमेरिका के उन भुगतानों के आकार पर बल दिया जो उस समय भी योरोपीय देशों के भुगतान दोषों के अन्तर को पूरा करने में सहायक थे तथा उस छिपे हुए डालर अन्तर की विद्यमानता को बतलाया जो उस सहायता को वापस लेते ही तुरन्त प्रगट हो जावेंगे। रिपोर्ट ने उस अन्तर को प्रति वर्ष दो महापद्म (विलियन) डालर स्वर्ण आयात को निकाल कर 2 से 3 महापद्म (विलियन) डालर का बतलाया। उसके उपरान्त उसने आर्थिक सहायता को बंद कर देने, किन्तु सैनिक सहायता तथा कांग्रेस द्वारा निर्धारित सीमाओं में तकनीकी सहायता इस शर्त पर चालू रखने, कि प्राप्त करने वाले देश न्यायपूर्ण व्यवहार करें, निजी विदेशी विनियोजन को प्रोत्साहन देने, (राज्य द्वारा ऋण दिए जाने को निरुत्साहित कर), संयुक्त-राज्य-अमेरिका की कृषि सम्बन्धी नीतियों में संशोधन करने, और सम्भव हो तो अन्तर्राष्ट्रीय गेहूं समझौते को भंग करने, अमेरिकन वस्तुएं खरीदो कानून का तथा अन्य कानूनों का जो अमेरिकन व्यापार को विशेष प्राथमिकता देते हैं संशोधन करने, आयात निर्यात कर की मूचियों तथा मूल्यांकन के तरीकों को सरल बनाने, राशि-पातन विरोधी कानून के प्रकाशन में पन्धितन करने, संयुक्त-राज्य-अमेरिका द्वारा व्यापार में विभेद का विरोध करते रहने, जी०ए० टी०टी० का पूर्ण बहुदेशीय की ओर संशोधन करने, प्रेसीडेंट के आयात निर्यात करों (टैरिफ) को परस्पर घटाने के बारे में बातचीत करने के वर्तमान अधिकार की अवधि को कम से कम तीन वर्ष के लिए और बढ़ा देने, और उन अधिकारों को वर्तमान सीमाओं से अधिक विस्तृत कर देने की सिफारिशें की। अन्त में रैन्डाल आयोग ने इन शब्दों में अपना मत व्यक्त किया कि विश्व व्यापी बहुदेशीय व्यापार की स्थिति को प्राप्त करने और सापेक्ष बन्धन-मुक्त-बाजार में संतुलित व्यापार को बनाये रखने के लिये परिवर्तनशील मुद्राएं अनिवार्य शर्त है। परन्तु साथ ही आयोग ने पूर्ण परिवर्तनशीलता के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को भी पहचान लिया और कहा कि वह व्यापार प्रतिबंधों के द्वारा केवल औपचारिक परिवर्तनशीलता के दिव्य खेद प्रगट करेगा। तदुपरान्त उसने अन्य देशों को परिवर्तनशीलता की ओर तीव्रता

से धक्का देने के विरुद्ध चेतावनी दी जब तक कि उन देशों के द्वारा परिवर्तनशीलता को बिना व्यापार तथा विदेशी-विनिमय पर नियंत्रण स्थापित किये जिनके बारे में रिपोर्ट निर्णय करने की आशा करती है—बनाए रखने की समुचित सम्भावना न हो।

यदि रैन्डाल रिपोर्ट को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाता तो भी डालरों की कमी को दूर नहीं किया जा सकता था अथवा संयुक्त-राज्य के आयातों का इतनी मात्रा में विस्तार नहीं किया जा सकता था कि साम्य अवस्था पुनर्स्थापित हो सकती। किन्तु वह परीक्षण नहीं किया गया। अमेरिका के एक निहित स्वार्थ वाले प्रभावशाली समूह ने—जो संरक्षण नीतियों में कमी करने तथा प्रेसीडेंट के आयात निर्यात कर सम्बन्धी सौदों की चर्चा करने के अधिकार में वृद्धि करने का विरोधी था—तुरन्त रिपोर्ट का कड़ा विरोध किया। रिपोर्ट के विरुद्ध रिपब्लिकन दल में बढ़ते हुए विरोध को देख कर प्रेसीडेंट ऐज़नहावर ने पहले यह घोषणा की कि रिपोर्ट की सिफारिशों पर 1954 तक कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती और बाद को उन्होंने परस्पर आयात निर्यात कर सम्बन्धी सौदों की बातचीत करने के अपने अधिकार को एक वर्ष के लिये भी बढ़वाने की आशा छोड़ दी।

यह सत्य है कि एप्रिल 1952 में ग्रेट-ब्रिटेन के स्वर्ण और डालर सुरक्षित कोष 59 करोड़ 40 लाख पाँड के नीचे बिन्दु तक गिर गए। एप्रिल 1954 में बहुत अधिक सुधार हुआ जिसके कारण संयुक्त-राज्य-अमेरिका से प्राप्त होने वाली सैनिक सहायता के कम हो जाने पर भी वे 100 करोड़ पाँड हो गए। 1953 और 1954 में स्टर्लिंग पुनः एक बार मजबूत मुद्रा बन गई और वह बिना बाहरी सहायता के अपनी स्थिति को कायम रख रही थी। स्वर्ण और डालर रक्षित कोष में वृद्धि का कुछ अंश निस्संदेह स्टर्लिंग की मजबूती के कारण था जिसने विदेशी पूँजी को लंदन की ओर आकर्षित किया, परन्तु उसका अधिक भाग स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों द्वारा सफलतापूर्वक व्यापार कर सकने के कारण था जिसमें प्रमुख उत्पादन क्षेत्रों के साथ ग्रेट-ब्रिटेन भी सम्मिलित था। यद्यपि यह वास्तविक था परन्तु इस सुधार पर बहुत अधिक भरोसा करना विवेकहीनता होगी। एप्रिल 1954 में भी स्वर्ण और डालर के कुल रक्षित कोष—जून 1951 में कोरिया संकट ने जब उन्हें उच्चतम बिन्दु पर पहुँचा दिया—उसके पूर्व 1950 के अन्त में जिस स्तर तक गए थे उससे कम थे—वे तब भी इतने अधिक पर्याप्त नहीं थे कि लम्बे समय तक दबाव को सहन कर सकते।

फिर भी 1954 के प्रारम्भिक महीनों में पुनः परिवर्तनशीलता को वापस लाने की बहुत अधिक चर्चा हुई। उसके लिए यूरोपीय-भुगतान-संघ (ई०पी०यू०) में जर्मन और बैलजियम बहुत अधिक दबाव डाल रहे थे। जब कि उस वर्ष की वसन्त ऋतु में वित्त मंत्री यूरोपीय-भुगतान-संघ का और अधिक विस्तार करने के सम्बंध में

वातचीत करने वीन गए तब इस बात की बहुत अधिक चर्चा थी कि ग्रेट-ब्रिटेन की पतभङ्ग तक स्टर्लिंग को डालर में परिवर्तनशील बनाने की इच्छा है। तथापि यह स्पष्ट है कि यदि श्री बटलर ने इस सम्बंध में कोई वचन दिया तो उनके मस्तिष्क में पूर्ण परिवर्तनशीलता—जिसकी अमेरिकन मांग कर रहे थे—से बहुत कम कोई बात रही होगी। जिसके व्यवहारिक होने की अधिक से अधिक सम्भावना है वह वह रियायत है जिसके द्वारा विदेशियों के स्वामित्व में जो स्टर्लिंग हैं और जिन्हें उन्होंने चालू कारबार में कमाया है—उनको परिवर्तित करने की आज्ञा स्टर्लिंग के ब्रिटिश स्वामियों को बिना विशेष आज्ञा प्राप्त किए परिवर्तन करने का अधिकार दिए बिना—दे दी जावे।

इस प्रकार की व्यवस्था में भी जमा हुए स्टर्लिंग बिना विशेष व्यवस्था किए अपरिवर्तित रह जावेंगे और स्टर्लिंग के ब्रिटिश स्वामियों को, उनको डालरों में बदल सकने की आज जो सुविधा है उससे अधिक की आज्ञा नहीं होगी। तथापि विदेशियों द्वारा चालू व्यापार से कमाए हुए स्टर्लिंगों का डालर की खरीद में उपयोग कर सकने का द्वार चौड़ा खुल जावेगा। स्टर्लिंग क्षेत्र के वित्तीय साधन क्या अभी भी इस भार को वहन करने के लिए यथेष्ट मजबूत हैं—में यह जानने का दावा नहीं करता। फिर भी मैं यह निश्चित रूप से अनुभव करता हूँ कि कोई भी व्यक्ति यथोचित रूप से यह भविष्य वाणी नहीं कर सकता कि यदि 1954 की परिस्थितियों में उक्त समय भार वहन किया जा सकता था तो उसको स्थायी रूप से वहन करने का कोई आश्वासन हो सकता है—फिर भविष्य में अमेरिकन अर्थ-व्यवस्था में चाहे जो परिवर्तन क्यों न हो। मैं तो इस सीमित रूप में भी परिवर्तनशीलता को कार्य रूप में परिणित कर सकने की आशा को गम्भीर आशंका से देखता हूँ और भविष्य में किसी समय यदि भार बहुत अधिक प्रतीत हो तो उसका किसी भी रूप में जिसमें उनको कायम रखने का वचन अन्तर्हित हो नितान्त विरोधी हूँ।

अस्तु 1954 में भी डालरों की समस्या बिना हल हुए बनी रही। घाटे वाले देशों द्वारा अपनी उत्पादन क्षमता बढ़ाने, परस्पर व्यापार का विकास करने, तथा डालरों के आयातों को कम करने में जो सफलता मिली उससे कठिनाई से वे अमेरिका की सहायता में हुई कमी को पूरा कर सके जिसे नैनिक सहायता के रूप में भी संयुक्त-राज्य-अमेरिका शीघ्रता से समाप्त कर देने की धमकी दे रहा था। न इन बात का कोई चिन्ह था कि अमेरिकन आयात निर्यात कर में उग्र परिवर्तन करके अथवा अमेरिका द्वारा विदेशों में विनियोजन को इतना बढ़ा कर कि जिनसे अन्य देशों की अमेरिका के सामान की खरीद करने की शक्ति में जो घाटा है वह पूरा हो सके इस अन्तर को पूरा करने की सम्भावना ही थी।

अब हम ब्रिटेन-बुइस समझौते के अन्तर्गत स्थापित दूसरी संस्था पुनर्निर्माण और विकास अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पर आते हैं जिसका मुख्य कार्यालय संयुक्त-राज्य-

अमेरिका में है और जो एक अमेरिकन प्रेसीडेंट के अधीन कार्य करता है। जैसा कि हम देख चुके हैं इस बैंक की स्थापना उन देशों में जिन्हें विदेशी पूंजी की आवश्यकता है विनियोग को प्रोत्साहन देने के लिए हुई थी। इसके लिए वह केवल स्वयं ही ऋण नहीं देता वरन् निजी विनियोजकों को आगे आने के लिए प्रेरित करता है। उसको उसके परिनियम स्पष्ट रूप से उस ऋण को देने से निषेध करते हैं जो अन्य किसी स्थान से उचित सूद पर मिल सकता हो। साधारण तौर पर वह ऋण लेने वालों को केवल विदेशों से खरीद के लिए जो द्रव्य राशि आवश्यक हो उसके लिए ही ऋण देता है। अपने ही देश में श्रम को तथा अन्य वस्तुओं की खरीद पर व्यय करने के लिए वह ऋण नहीं देता। मूलतः वह पूंजी गत वस्तुएं मशीन आदि को खरीदने के लिए विदेशी विनिमय देने वाला है। वह उन विकास योजनाओं के लिए वित्त का प्रबंध करने वाली संस्था नहीं है जिन्हें देश अपने निज के भौतिक साधनों से कार्यान्वित कर सकते हैं।

पुनर्निर्माण और विकास अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का कार्य 1946 में आरम्भ हुआ और उसने 1947 में अपना पहला ऋण दिया। आरम्भ में उसने मुख्यतः योरोप में उन देशों को ऋण दिया जिन्हें विदेशों—मुख्यतः संयुक्त-राज्य-अमेरिका से युद्ध के कारण ध्वस्त अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने के लिए उपकरण खरीदने की आवश्यकता थी। परन्तु जब 1948 के आरम्भ में मार्शल सहायता दी जाने लगी तब बैंक अधिकतर योरोप से हट गया और उसने अपने अधिकांश ऋण दक्षिणी अमेरिका, भारत और पाकिस्तान, आस्ट्रेलिया तथा योरोप के बाहर अन्य देशों को दिए। उसके अधिकांश ऋण—अवश्य ही सब नहीं—या तो सरकारों अथवा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं को दिए गए और उनका अधिक भाग लोकोपयोगी सेवाओं के विकास पर—विशेष कर विद्युत शक्ति तथा रेलवे निर्माण पर व्यय किया गया। ऋण स्वर्ण अथवा किसी एक मुद्रा में नहीं दिए जाते परन्तु ज्यादातर उन विशेष मुद्राओं में दिए जाते हैं जिनकी ऋण लेने वालों की पूंजीगत वस्तुओं को खरीदने के लिए जरूरत होती है। उनको ज्यादातर विशेष परियोजनाओं से जोड़ दिया जाता है और उससे होने वाले व्यय पर बैंक की देखरेख रहती है। अनेक मामलों में बैंक ने ऋण देने के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व उन देशों में जिन्होंने ऋण के लिए प्रार्थना की थी विशेषज्ञों के शिष्ट मंडलों को भेजा। शिष्ट मंडलों ने सम्बन्धित देशों की आर्थिक स्थिति और सम्भावनाओं के बारे में साधारण रिपोर्ट दी और उन देशों को उन विकास योजनाओं के बारे में परामर्श दिया जिनके बैंक द्वारा स्वीकृत होने की बहुत अधिक सम्भावनाएं थीं। इन शिष्ट मंडलों ने न केवल उन परियोजनाओं के बारे में ही रिपोर्ट दी है कि जिनकी वित्त व्यवस्था करने के लिए बैंक से कहा गया था वरन् विभिन्न देशों में निजी विनियोजन के लिए क्षेत्रों के बारे में और स्थानीय पूंजी बाजार के विकास के साधनों तथा स्थानीय उत्पन्न होने वाली सामग्री तथा उपकरणों के बारे

में भी रिपोर्ट दी। बहुधा उन्होंने अर्द्धविकसित देशों को उन महत्वाकांक्षी परियोजनाओं के विरुद्ध जो कि उन देशों की तुरन्त सामर्थ्य के बाहर थीं, अरुचिकार सलाह भी दी है। इस प्रकार के बैंक के शिष्ट मंडल ने 1953 में मंत्रिमंडल के पदच्युत होने और विधान के स्थगित होने के कुछ ही समय पूर्व ब्रिटिश गायना को रिपोर्ट दी थी।

पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक कोई परोपकारी संस्था नहीं है, वह एक व्यापारिक संस्था है। उसका उद्देश्य लाभ प्राप्त करना है जिसे कि वह हानियों के विरुद्ध एक रक्षित कोष में जमा करता है। अतएव वह ऊंची दर से सूद लेता है। 1953 में उसके ऋण देने की सूद की दर 4 $\frac{7}{8}$ प्रतिशत थी। यह सूद की दर सब प्रकार के कारवार के लिए समान है। यह उस दर पर आधारित है जिस पर स्वयं बैंक को खुले बाजार में ऋण मिल सकता है। उस दर में प्रशासन और सुरक्षित कोष में अंश दान का व्यय जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार देशों को उतावली में ऋण लेने से रोका जाता है। इसके अतिरिक्त बैंक भी अधिकतर ऋण देने में अत्यन्त सावधानी की नीति वरतता है। इसके सभी ऋणों की अदायगी की गारन्टी—ऋण लेने वाले देश की सरकार या उसके केन्द्रीय बैंक को देनी पड़ती है फिर चाहे ऋण सार्वजनिक संस्थाओं को दिया गया हो अथवा निजी संस्थाओं को दिया गया हो।

बैंक 54 सदस्य देशों द्वारा उनकी राष्ट्रीय आय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधारित अम्यंश प्रणाली के अनुसार अभिदत्त पूंजी से कारवार चलाता है। उसकी नाममात्र की पूंजी 9 अरब 3 करोड़ 60 लाख डालर है परन्तु उसकी चुकता पूंजी उसका केवल पांचवां हिस्सा ही है। शेष को तब तक मांगने का विचार नहीं है जब तक उन वास्तविक हानियों को जिनको बैंक के एकत्रित सुरक्षित कोष से पूरा नहीं किया जा सकता—पूरा करने के लिए उसकी आवश्यकता न पड़े। अस्तु उसकी निज की पूंजी अपेक्षाकृत साधारण है। किन्तु उसको खुले बाजार में ऋण लेने का अधिकार है और उसने केवल न्यूयार्क में ही नहीं वरन् स्विट्जरलैंड और लंदन में भी बैंक के वॉर्डों का निर्गमन किया है। उसके निज की पूंजी के उपयोग को नियंत्रित करने वाला एक विचित्र प्रावधान यह है कि जो रकम किसी सदस्य राष्ट्र ने दी है वह उस देश की सम्मति से उसी परियोजना में विनियोजित की जा सकती है जिसको वह स्वीकृत करे। अस्तु ग्रेट-ब्रिटेन ने अपने अम्यंश के एक भाग को आस्ट्रेलिया तथा अन्य राष्ट्र-मंडलीय देशों को विशेष विकास योजनाओं के लिए ऋण देने में उपयोग किए जाने की सम्मति दे दी है। सब मिलाकर 1952 के अन्त तक बैंक ने लगभग 1 अरब 52 करोड़ 40 लाख डालर के ऋण दिए हैं* जिनमें से केवल 17 करोड़ 70 लाख डालर

*1953 के अन्त में कुल ऋण का योग बढ़ कर 1 अरब 89 करोड़ 20 लाख डालर हो गया था।

निजी ऋण लेने वालों को दिए गए हैं। उनमें से 3 करोड़ 15 लाख डालर का सबसे बड़ा ऋण इंडियन आयरन स्टील कम्पनी को दिया गया है। तथापि कतिपय राज्यों के ऋण ग्रहण को वास्तव में निजी व्यापारिक संस्थाओं को सौंप दिया गया। 1947 में योरोपीय देशों को दिए गए 50 करोड़ डालर के पुनर्निर्माण ऋणों को छोड़ कर जो साधारण उद्देश्यों के लिए दिए गए थे, बैंक ने अधिकतर दक्षिण अमेरिका के देशों को 40 करोड़ डालर के ऋण विद्युत के विकास के लिए दिए। बैंक ने एशिया और अफ्रीका में यातायात के विकास मुख्यतः रेल निर्माण के लिए 20 करोड़ डालर तथा कृषि और वन उद्योग के विकास के लिए 15 करोड़ डालर दिए। अस्तु अन्य सब प्रकार के ऋणों के लिए 20 करोड़ डालर से कुछ अधिक शेष रहा। इसका अर्थ यह हुआ कि रेलवे तथा विद्युत के क्षेत्र के बाहर औद्योगिक विकास के लिए बहुत कम ऋण दिए गए। कुछ मामलों में बैंक ऋण देने में निजी विनियोजकों के साथ सम्मिलित हो गया और दूसरों में पहले स्वयं ऋण देकर उसने बीड़ों को निजी व्यापारिक संस्थाओं को आम तौर पर अपनी गारन्टी के साथ बेच दिया। अमेरिका के प्रबंध में बैंक निजी विदेशी विनियोजन को और विशेषकर अमेरिकन विनियोजकों द्वारा विदेशी विनियोजन को बढ़ाने की भरसक चेष्टा करता रहा है। परन्तु इस सम्बंध में उसको बहुत ही सीमित सफलता मिली जिससे वह संयुक्त-राज्य-अमेरिका और शेष पृथ्वी के बीच भुगतान शेष असंतुलन को ठीक करने में कोई अधिक सहायता नहीं पहुँचा सका।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक के विरुद्ध बहुधा यह दोषारोपण किया जाता है कि उसकी ऋण देने की नीति अत्यधिक सतर्कता की है और वह बहुत ऊँचा सूद लेता है। सचमुच उसने बहुत अधिक सुरक्षित कोष का निर्माण कर लिया है।* सम्भवतः यदि वह सूद की दर तनिक कम कर देता तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। उसके कार्य में रुकावट डालने वाला मुख्य कारण योजनाओं को स्वीकार करने में उसकी सतर्कता है जो कि बहुत कुछ उसके परिनियमों में लगाई गई शर्तों और ब्रैटेन-वुड्स सम्मेलन में स्वीकृत साधारण नीति का परिणाम थी। वह सदैव न केवल इस बात की सावधानी रखता रहा है कि उसको स्वयं हानि न हो वरन् वह ऐसी कोई बात न करने की भी सावधानी रखता रहा है कि जिसके कारण ऋण लेने वाले देश में मुद्रा स्फीति के परिणाम न आवें। जब कोई देश पूँजी वस्तुओं के विकास की परियोजना आरम्भ करता है तो अधिकतर उस देश की सीमा के अन्तर्गत उस कार्य को करने के लिए रखे श्रमिकों को, उन फर्मों को जो सामान देती हैं, तथा खेद के साथ कहना पड़ता है कि कभी कभी स्थानीय शासकों और अधिकारियों को, बहुत द्रव्य चुकाना पड़ता है। यह भुगतान देश में उपभोग को बढ़ा देते हैं और आयातों

* 1953 के अन्त में उसका कुल सुरक्षित कोष 12 करोड़ 90 लाख था।

की मांग को उत्तेजित करते हैं। इस प्रकार के व्यय के लिए बैंक वित्त देने से इन्कार करके ऋण लेने वाले देशों को उन कार्यों के लिए आवश्यक द्रव्य या तो करों के द्वारा अथवा अपने नागरिकों से ऋण ले कर प्राप्त करने के लिए विवश करता है। जिससे कि उपभोग शक्ति की स्फीति को रोका जा सके। इस नीति पर दृढ़ रहने का सम्भाव्य ऋण लेने वाले देशों पर कठोर निरुत्साह करने वाला प्रभाव पड़ा है। अतः-एव वे जो यह आशा करते थे कि बैंक का पिछड़े देशों का तेजी से आर्थिक विकास होने पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा, उन्हें निराशा हुई। इसमें कोई संदेह नहीं कि बैंक ने जितना वास्तव में किया वह विनियोग करने वाली जनता से अपने ऋण लेने के अधिकार का अधिक उपयोग करके उसके द्वारा दिए हुए ऋण पर गारन्टी दे कर उससे बहुत अधिक कर सकता था। परन्तु यदि यह करता तब उस पर तुरन्त निजी व्यापार से अनुचित प्रतिस्पर्धा करने, और अपने परिनियमों की शर्तों—जो उसे निजी विनियोजक से प्रतिस्पर्धा करने अथवा उन परियोजनाओं के लिए द्रव्य देने जिनके लिए अन्य कहीं से वित्त मिल सकता है मना करते हैं, उल्लंघन करने का दोषारोपण किया जाता। जब तक कि उसको इन सीमाओं के अन्तर्गत काम करना है वह विश्व के विकास के लिए कोई प्रमुख शक्ति नहीं बन सकता। विश्व का आर्थिक विकास मुख्यतः निजी अमेरिकन विनियोजकों की ऋण लेने वाले देशों को स्वीकृत शर्तों पर अपनी पूंजी विदेशों में लगाने की तैयारी पर निर्भर रहेगा। वर्तमान परिस्थितियों में उनके ऐसा यथेष्ट मात्रा में करने की सम्भावना नहीं है जिससे कि साधारण डालर की कमी पर कोई बड़ा प्रभाव पड़ सके। वर्तमान में विश्व के विकास की वास्तव में कोई बड़ी योजना जिसका उद्देश्य कम विकसित देशों के उत्पादन स्तर को ऊंचा उठाना हो, तभी सम्भव हो सकती है जब कि स्वयं संयुक्त-राज्य-अमेरिका की सरकार उसके लिए अविकांश द्रव्य देने के लिए और उस द्रव्य को अधिकतर अमेरिकन वस्तुएं न खरीदने परन्तु उन अधिक विकसित देशों से निर्यात हुई पूंजी वस्तुओं को खरीदने की आज्ञा देने के लिए तैयार न हो जिनके पास डालरों की कमी है।

जब जनवरी 1949 में प्रेसीडेंट ट्रुमन ने चार बिन्दुओं का अपना भाषण दिया था जिसमें उन्होंने योरोपीय देशों को दी गई मार्शल सहायता के पूरक के रूप में कम विकसित देशों को तकनीकी और आर्थिक सहायता देने के एक बृहद् अमेरिकन कार्यक्रम की आशा दिलाई थी, तब इस बात की बड़ी आशा जागृत हो गई थी कि उस प्रकार का कोई बड़ा कार्य किया जावेगा। किन्तु जो तकनीकी सहायता दी गई वह बहुत थोड़ी सावित हुई यद्यपि वह उपयोगी थी। वह पिछड़े देशों को अपनी तकनीक में सुधार करने में सहायता देने के लिये शिष्ट-मंडल (मिशन) भेजने और उस उद्देश्य को पूरा करने के लिये आवश्यक व्यवसायिक प्रशिक्षण में सहायता देने तथा थोड़ी मात्रा में उपकरण प्रदान करने तक ही

सीमित रही। प्रारम्भिक कदम के रूप में यह ठीक थी परन्तु यह आशा कि इसके पश्चात् आर्थिक विकास के लिये बड़ी मात्रा में पूंजी का अनुदान मिलेगा निराशा में परिणित हो गई। संयुक्त-राज्य कोलम्बो-योजना के लिये जो कि 1950 में दक्षिणी एशिया के विकास के लिये ऊंची आशाओं को लेकर आरम्भ की गई थी वित्त देने को, अथवा अन्य किसी महत्वाकांक्षी आर्थिक विकास की योजना का वित्तदाता बनने को तैयार नहीं था। पूंजी देने की उसकी रजामंदी अविकाधिक शीत युद्ध के प्रयत्नों से जुड़ती गई और वे परस्पर सुरक्षात्मक अनुदानों तक सीमित हो गई जो कि इस शर्त पर दी जाती थीं कि उनको प्राप्त करने वाले देश स्वयं अपने साधनों से शस्त्रीकरण पर अधिक व्यय करें और 1953 तक ऐसा दिखलाई देने लगा कि उन अनुदानों के भी यदि विलकुल समाप्त होने की नहीं तो तेजी से कम होने की सम्भावना है।

इस प्रकार अधिकतर कम विकसित देशों को अपनी उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिये आवश्यक पूंजी व्यय की वित्त व्यवस्था करने के लिए अपने निज के साधनों पर निर्भर रहने के लिये छोड़ दिया गया। और उनकी निज की भुगतान शेष की कठिनाइयों के कारण उनमें से अधिकांश को अपनी उन परियोजनाओं को काटना पड़ा जिनकी वे योजना कर रहे थे। विश्व-व्यापी अंभावों के विरुद्ध युद्ध जिसका लार्ड वायड-ओर ने जब कि वे खाद्य और कृषि संगठन के संचालक थे यह कह कर समर्थन किया था कि वह शान्ति और समृद्धि स्थापित करने का सर्वोत्तम उपाय है—लोगों की कल्पना से तिरोहित हो गया। और जब कि मार्शल सहायता भी समाप्त होने पर है अमेरिका से सहायता प्राप्त करने का एक मात्र निश्चित तरीका इस शर्त पर सैनिक अर्थ सहाय्य लेना है कि वह देश साम्यवाद के सब रूपों के विरुद्ध धर्म युद्ध में सम्मिलित होगा।

अध्याय १६

निष्कर्ष

1945 के उपरान्त समस्त घटनाचक्र का चिन्तन यह बलपूर्वक बतलाता है कि जो मौद्रिक और व्यापार सम्बन्धी नीतियां ब्रैटेन-वुड्स, हवाना, और जेनेवा में निर्धारित की गईं उनके पीछे जो मान्यताएं रहीं वे मूलरूप से गलत थीं। एकल और एकीकृत मुद्रा प्रणाली की धारणा ही जिसके अन्तर्गत मुद्राएं निर्धारित मूल्यों पर अबाधरूप में परिवर्तनशील हों, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सन्तुलन की ओर प्रवृत्ति की पूर्णकल्पना करती हैं—जोकि वास्तव में मौजूद नहीं है। यदि सोवियत संघ, सोवियत चीन, तथा अन्य देशों को जो उनके प्रभाव क्षेत्र में हैं छोड़ दें तो भी पश्चिमी दुनियां में ऐसी शक्तिशाली शक्तियां असंतुलन पैदा करती हैं जिनको चाहे जितनी मौद्रिक चालाकी क्यों न की जावे और व्यापार को चाहे कितना नियंत्रित क्यों न किया जावे समाप्त नहीं किया जा सकता। जहां तक योरोपीय देशों का सम्बन्ध है सबसे महत्वपूर्ण कारक है—प्रथम युद्ध और शस्त्रीकरण पर भारी व्यय का बोझ जो ऐसी अर्थव्यवस्थाओं पर लादा गया है जो कि अन्य कठिनाईयों के विरुद्ध संघर्ष कर रही हैं, और दूसरा—व्यापार की शर्तों में परिवर्तन होना जिसके कारण आयात वस्तुएं और न्यून सीमा में खाद्य-पदार्थों का निर्यात किए जाने वाली निर्मित वस्तुओं की तुलना में अधिक महंगा हो जाना। जहां तक अमेरिका का प्रश्न है उसकी सबसे बड़ी समस्या यह है कि संयुक्त-राज्य-अमेरिका के उद्योग धन्वों की योरोपियन उद्योगों की अपेक्षा उत्पादन क्षमता कहीं अधिक है और उसकी निर्यात करने की क्षमता उससे कहीं अधिक है जितने कि आयात अमेरिका के लोग सामान्यरूप से खरीदने को तैयार हैं। यह स्थिति अमेरिका के साहूकार राष्ट्र होने के कारण और अधिक गुरुतर हो जाती है। उसके लिए यह आवश्यक है कि अन्य देश संयुक्त-राज्य-अमेरिका से जितना खरीदने की क्षमता रखते हैं उससे कहीं अधिक निर्यात करें। यह सच है कि जब अमेरिकन खरीददारी की क्रीड़ा करते हैं जैसा कि उन्होंने 1951 में किया तो उसका परिणाम यह होता है वे बहुत अधिक राशि में डालर बाहर उड़ेलते हैं। परन्तु यह खरीददारी पश्चिमीय योरोप की कठिनाईयां कम करने के बजाय उल्टा उनको बढ़ा देती हैं। क्योंकि अमेरिकन मुख्यतः कच्चा माल खरीदते हैं। उनकी खरीददारी उन वस्तुओं की कीमतें ऊंचा कर देती हैं और योरोपीय देशों का भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जो देश उन वस्तुओं के मुख्य पूर्तिकर्ता होते हैं

उनको अस्थायी लाभ होता है। परन्तु इस प्रकार की अप्रत्याशित आय अधिक समय नहीं ठहरती और जो देश उसको प्राप्त करते हैं उनकी स्थिति को सरलता से इतना अधिक उलट पलट कर सकती है कि जब अमेरिकन अपनी खरीददारी को कम कर देते हैं और कीमतें यकायक अनर्थकारी ढंग से अपने पूर्व स्तर पर गिरती हैं तो उससे गंभीर संकट उपस्थित हो जाता है। यदि अमेरिकनों की मांग स्थिर हो तो शेष दुनियाँ की विश्व बाजार में प्रभुतापूर्ण स्थिति से अपना सामंजस्य बिठाने के लिए कुछ कर सकती है। परन्तु वास्तव में अमेरिका की मांग अधिक घटती बढ़ती रहती है। महायुद्ध के बाद व्यापारिक और यातायात के खाते में संयुक्त-राज्य-अमेरिका का भुगतान शेष 1940 में 10 अरब के आधिक्य से 1950 में 1 अरब 50 करोड़ आधिक्य के बीच बदलता रहा है। उसका वस्तुओं का आयात 1949 में 6 अरब 69 करोड़ 80 लाख डालर (यफ०ओ०वी०) से बढ़कर 1951 में 11 अरब 7 करोड़ डालर का हो गया और 1952 में किंचित घटकर 10 अरब 81 करोड़ 20 लाख डालर का रह गया। अभी तक युद्ध के पश्चात् अमेरिका के कुल आयात 1949 और 1952 को छोड़कर प्रत्येक वर्ष बढ़ते गए परन्तु यह इस कारण हुआ क्योंकि संयुक्त-राज्य-अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था निरन्तर फैलती जा रही थी। यदि इस विस्तार को निरन्तर बनाए रखना अभीष्ट हो तो योरोप के लिए उस विस्तार की दर की अनियमितता तथा स्टॉक संग्रह करने की नीति में घटा-बढ़ी मुख्य खतरा बनी रहेगी। वह योरोप के आयातों की कीमतों को नितान्त अप्रत्याशित बना देगी और भुगतान शेष में तीव्र घटा-बढ़ी पैदा कर देगी जिसका सामना करना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्था की शक्ति के भी बाहर होगा। इसके विपरीत संयुक्त-राज्य-अमेरिका को यदि निरन्तर व्यापारिक मंदी का सामना करना पड़े—चाहे फिर वह गंभीर अवपात से बहुत हल्की ही क्यों न हो—तो यद्यपि योरोप के देशों को सस्ते आयातों का लाभ मिलेगा परन्तु योरोप के निर्यातों पर इसका जो प्रभाव पड़ेगा वह लाभ से कहीं अधिक हानिकर होगा। न कि केवल योरोप की निर्मित वस्तुओं का अमेरिका में बाजार तेजी से संकुचित हो जावेगा इससे भी अधिक गम्भीर बात होगी अमेरिका की घटी हुई मांग के परिणामस्वरूप मुख्य उत्पादक देशों की क्रय-शक्ति में गिरावट आना। औद्योगिक देश अपने निर्यात बाजार को समाप्त हुआ पावेंगे और उन्हें विवश होकर अपने आयातों पर और अधिक कठोर प्रतिवन्ध लगाने होंगे। जैसाकि 1951 में हमने देखा योरोप के लिए अमेरिका की व्यापारिक अभिवृद्धि काफी बुरी है, किन्तु अमेरिका का व्यापारिक अवपात उससे कहीं अधिक बुरा होगा।

संयुक्त-राज्य-अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था में इस विनाशकारी उच्चावचन (घट-बढ़) का शेष पृथ्वी पर अनर्थकारी प्रभाव अधिकांश में इस बात का परिणाम है कि संयुक्त-राज्य-अमेरिका का विदेशी व्यापार यद्यपि वह बहुत अधिक है, फिर भी अमेरिका के उत्पादन और उपभोग की तुलना में उसका अनुपात बहुत कम है। केवल कुछ

अपवादों को छोड़ कर जोकि स्वयं में महत्वपूर्ण हैं, परन्तु इतने नहीं कि वे सामान्य-करण को अमान्य कर दें। अर्थात् विदेशी व्यापार अमेरिकन अर्थ-व्यवस्था के लिए सीमान्त है। अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था में कुल मिला कर किसी मात्रा में उतार-चढ़ाव अन्य देशों के साथ अमेरिका के व्यापार में उससे कहीं अधिक मात्रा में उतार-चढ़ाव उत्पन्न कर देता है। अमेरिका के उत्पादकों को जो संरक्षण दिया गया है उससे जब उनकी बिक्री कम होने लगती है उनके लिए यह सम्भव हो जाता है कि वे प्रतिस्पर्द्धी आयातों को न आने दें। भारी व्यापारिक मंदी की आशंका की पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि व्यापारी अपने माल के स्टॉक को घटने देते हैं जिससे कि आयात वस्तुओं की मांग उस दर से बहुत कम हो जाती है जिस दर से उन वस्तुओं का उपयोग हो रहा है। इस उतार चढ़ाव के विरुद्ध अन्य देश निस्सहाय हो जाते हैं। वे न तो अपनी वस्तुओं को अमेरिका के बाजार में बलपूर्वक भेज सकते हैं और न अपने सामान्य ग्राहकों की क्रय-शक्ति कम हो जाने के कारण उन्हें कहीं बेच सकते हैं। वे केवल यही कर सकते हैं कि आपस में परस्पर व्यवस्था करके अपनी अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले अमेरिका के आर्थिक उतार-चढ़ाव के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न करें। किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था जबकि संकट उपस्थित हो चुका हो तत्क्षण नहीं बिठाई जा सकती। यदि प्रभावशाली बनाना हो तो उस व्यवस्था को अर्द्ध-स्थायी आधार पर बहुत पहले से ही तैयार करने की आवश्यकता होगी। यह प्रश्न प्राथमिक वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले देशों और औद्योगिक देशों के बीच जितनी भी दृढ़ नींव पर सम्भव हो सके विकसित व्यापार की व्यवस्था में ऐसी शर्तों पर सम्मिलित होने का है जिससे कि यदि अमेरिका अपनी खरीददारी कम भी कर दे तो भी व्यापार जारी रह सके। और यह उन साधनों के बिना नहीं किया जा सकता जिनमें व्यापारिक भेदभाव और ऐसी मुद्रा-व्यवस्था शामिल है जिसमें स्टर्लिंग तथा अन्य योरोपीय मुद्राओं का डालर में अबाध परिवर्तन बहिष्कृत कर दिया जावेगा।

ऐसा विश्वास करना सुखद होगा कि मूल्य अस्थिरता, व्यापार में यकायक उतार-चढ़ाव, डालर की पुरानी कमी की यह परिस्थितियाँ केवल अस्थाई कष्ट हैं जिनमें से होकर युद्ध की विपत्ति से निकलकर उत्थान की ओर जाने में योरोप को गुजरना होगा। परन्तु जो भी साक्षी है वह सर्वथा उसके विपरीत है। खुले बाजार में अमेरिका की उत्पत्ति की मांग उस दशा में भी जबकि अमेरिका अत्यधिक खरीददारी करके अपने आयातों की कीमत बलपूर्वक बढ़ा देता है अन्य देशों की उत्पत्ति अमेरिका की मांग से कहीं अधिक होती है। परिणाम स्वरूप यदि अन्य मुद्राओं का बिना रोक के डालर में परिवर्तन होने लगेगा तो उनको बदलने के लिए ऐसी दौड़ होगी कि स्टर्लिंग क्षेत्र तथा अन्य योरोपीय देशों के स्वर्ण और डालर साधन स्रोत जोकि वैसे ही कम हैं तुरन्त समाप्त हो जावेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष या

विश्व बैंक जो भी कुछ कर सकता है वह सब कुछ भी उस संकट को टाल नहीं सकेगा । उसके प्रगट होते ही पहली दुर्घटना परिवर्तनशीलता स्वयं होगी ।*

यदि इसको स्वीकार कर लिया जाता है—यह अवश्यम्भावी है यही बतलाना इस पुस्तक का मुख्य विषय रहा है—तब क्या करना चाहिए ? स्पष्ट है कि यह नितान्त गलत होगा कि हमारी प्रतिक्रिया विरोधी चरम सीमा पर जाने की हो और हम यह तर्क दें कि क्योंकि पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीयता नहीं चल सकती तो उसके वजाय विश्व को आर्थिक राष्ट्रीयता की ओर वापस लौटना चाहिये । ग्रेट-ब्रिटेन के लिए यह नीति अनर्थकारी होगी जोकि अपने जीवन के साधनों के लिए भी विदेशी व्यापार पर अधिकतर निर्भर है । कोई भी देश जो आर्थिक राष्ट्रवाद का व्यवहार करता है उसको यह आशा करनी चाहिये कि अन्य देश भी वैसा ही करेंगे और ग्रेट-ब्रिटेन विशेषरूप से अपने ग्राहकों द्वारा प्रतिवन्धक नीतियों के अपनाए जाने का शिकार बन सकता है । पूर्ण अर्थ में संयुक्त-राज्य-अमेरिका के आर्थिक प्राबल्य से उत्पन्न परिस्थिति का कोई उपचार नहीं है । केवल ऐसे तरीके हैं कि जो उसकी सम्भाव्य अनर्थकारिता को कम कर दें । वे तरीके आर्थिक राष्ट्रवाद के तरीके नहीं हैं । उनमें स्टर्लिंग क्षेत्र तथा योरोपीय-भुगतान-संघ को बनाए रखने और उसका विकास करने तथा उनकी नींव पर अधिक निकटतर व्यापारिक तथा आयोजन की साभेदारी का निर्माण करने का प्रयत्न करने के लिए उनमें आवश्यक रूप से प्रादेशिक और अन्तर-प्रादेशिक सहयोग की अपेक्षा रहेगी और न तो स्वयं अकेला पश्चिमीय योरोप और न अकेला स्टर्लिंग क्षेत्र ही जीवन क्षम है । योरोप के उद्योग पूरक होने से कहीं अधिक परस्पर प्रतिस्पर्द्धी है और स्टर्लिंग क्षेत्र अपनी मुख्य पैदावारों को अथवा निर्माण की हुई वस्तुओं को अपनी सीमा के अन्तर्गत नहीं बेच सकता । पश्चिमीय योरोप और स्टर्लिंग क्षेत्र मिलकर आत्मनिर्भरता के निकट नहीं—जिसकी आवश्यकता नहीं है—वरन् इस अर्थ में जीव्यता के बहुत निकट पहुंच जाते हैं कि दोनों मिलकर पारस्परिक व्यापार का विस्तार कर सकते हैं और अमेरिकी अस्थिरता के विनाशकारी प्रभावों से अपनी रक्षा कर सकते हैं । इस प्रकार के क्षेत्र के लिए आवश्यक मौद्रिक आधार स्टर्लिंग संकोप और योरोपीय-भुगतान-संघ के रूप में विद्यमान है परन्तु आर्थिक आधार का अभी भी निर्माण करना है जोकि विना सामूहिक आयोजन की ओर बहुत अधिक विकास किए तथा अभी तक जितना प्रयत्न हुआ है उससे कहीं अधिक परस्पर वस्तुओं के विनिमय का दीर्घकालीन सौदा किए बिना नहीं हो सकता । स्पष्ट है कि इस प्रकार के परस्पर सहमति द्वारा आयोजन में राजनीतिक तथा आर्थिक कठिनाइयां बहुत अधिक हैं । तत्कालीन सबसे अधिक प्रबल

* इसका अर्थ पूर्ण परिवर्तनशीलता से है । यह उस सीमित परिवर्तनशीलता की दशा में लागू नहीं होगी कि जिसका उल्लेख मूल पुस्तक के पृष्ठ '421' पर किया गया है ।

कठिनाई यह है कि सम्बन्धित योरोपीय देश तब तक उनका सामना नहीं कर सकते जब तक कि वे युद्धों और शस्त्रीकरण के पीस डालने वाले भार से दबे हुए हैं। क्योंकि इन खर्चों के कारण उन देशों के लिए बड़ी मात्रा में विनियोजन कर सकना असम्भव हो जाता है जोकि योरोपीय और स्टर्लिंग क्षेत्र के उत्पादन के विकास के लिए आवश्यक है। इस कारण तथा अन्य कारणों से अमेरिका की सहायता से जो कि अब लगभग सम्पूर्ण रूप से अधिक सैनिक व्यय करने की शर्त पर ही मिलती है वचना जरूरी है। संयुक्त-राज्य-अमेरिका योरोप को बिना शस्त्रीकरण पर व्यय करने की शर्त के वित्तीय सहायता नहीं देता रहेगा जिससे कि सहायता वास्तव में अड़चन बन जाती है-सबसे बड़ी अड़चन यह होती है कि वह आर्थिक पुनर्स्थापन और विकास को रोकती है।

इतना होने पर भी योरोप पिछले वर्ष में अमेरिका के डालर उपहार पर इतना अधिक निर्भर हो गया है कि उनकी हानि से तुरन्त तो गम्भीर कठिनाइयाँ उपस्थित होना अनिवार्य हैं। यह कठिनाईयाँ ग्रेट-ब्रिटेन के लिए प्रत्यक्षरूप से अन्य अनेकों देशों की अपेक्षा कम भयंकर है। ग्रेट-ब्रिटेन को 1952 में मिलने वाली कुल अमेरिकी अनुदान और ऋण की राशि 15 करोड़ 40 लाख पाँड की थी। और 1955 में लगभग 10 करोड़ 50 लाख पाँड थी। जोकि ब्रिटिश आयात के कुल व्यय की पाँच प्रतिशत से भी कम थी। चालू सौदों के सम्बन्ध में (पूँजी के गमना-गमन और स्वर्ण तथा डालर रक्षित कोष में परिवर्तन को छोड़कर) ग्रेट-ब्रिटेन के कुल भुगतान शेष में 1952 में 25 करोड़ 50 लाख पाँड का आधिक्य था। अंशतः 1951 की भारी खरीददारी के बाद स्टॉक को बेचने के परिणाम स्वरूप और 1953 में लगभग 22 करोड़ 50 लाख का आधिक्य था। अमेरिकन सहायता की हानि शस्त्रीकरण के व्यय को घटाकर पूरा करने से वह बहुत भारी नहीं रहेगी। किन्तु यह ठीक है कि कुल भुगतान शेष ही सब कुछ नहीं है जो महत्वपूर्ण है। 1951 में डालर क्षेत्र के साथ ग्रेट-ब्रिटेन को भुगतान शेष में 17 करोड़ 20 लाख पाँड का घाटा था उसके शेष संसार के साथ उसका अनुकूल भुगतान शेष 43 करोड़ 60 लाख था। 1953 में डालर का घाटा अमेरिका की प्रतिरक्षा सहायता को कम करके करीब करीब समाप्त हो गया। अतएव जबसे डालर आयातों पर कड़े प्रतिबंध लगाए गए उसके पश्चात् ब्रिटेन की डालर की कमी का कोई बड़ा कारण नहीं रहा। परन्तु यह स्थिति तब की है जबकि डालर की खरीद को कठोरता से कम किया गया और यदि उसमें यथेष्ट ढील करदी जावे तो तुरन्त घाटा पुनः प्रगट हो जावेगा। दो देश जिन्हें डालरों से मुक्ति पाना सबसे कठिन होगा फ्रांस और इटली हैं। फ्रांस तब तक ऐसा नहीं कर सकता जब तक कि वह अपनी उपनिवेश समस्याओं को साथ-साथ पूर्णरूप से हल न कर ले। यदि वह ऐसा कर सके तो अपेक्षाकृत स्थिति सरल हो जावेगी। इटली की स्थिति उसकी गरीबी और उसकी मानवीय शक्ति की बेकारी के भयंकर बोझ से अधिक कठिन है। वही स्थिति ग्रीक की है। जो भी हो फ्रांस और इटली का उस प्रकार के दान पर लगाता

निर्भर रहना जो किसी भी क्षण रोक दिया जा सकता हो सुविधाजनक नहीं हो सकता । दोनों ही देश अनिश्चित निर्भरता से जितना लाभ प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं उससे कहीं अधिक लाभ उन्हें विकासक्षम योरोपीय अर्थ-व्यवस्था से होगा । कम से कम फ्रांस में काफी संख्या में दूरदर्शी लोग हैं जो इसको समझते हैं, इससे आशा का आधार बनता है कि ब्रिटिश पहल के प्रति उसका अनुकूल प्रत्युत्तर होगा ।

तथापि ग्रेट-ब्रिटेन उस समय तक आवश्यक नेतृत्व प्रदान नहीं कर सकता जब तक कि वह अमेरिका के दबाव से पिस रहा है । वर्तमान परिस्थिति में जबकि कनाडा अधिकतर अपना प्रभाव संयुक्त-राज्य-अमेरिका के पक्ष में डालता है और दक्षिण अफ्रीका भी स्टर्लिंग कोष के बाहर है वह शेष राष्ट्रमंडल से मिलकर समान नीति भी नहीं बना सकता । अमेरिका और कनाडा के दबाव में एक साथ और एक ही समय स्टर्लिंग को अबाधरूप से डालर में परिवर्तन करने की परियोजना बनाने और स्टर्लिंग क्षेत्र तथा पश्चिमीय योरोप के मध्य जितना सम्भव हो विस्तृत मौद्रिक और व्यापारिक-संध बनाने का खिलवाड़ करना अव्यवहारिक है । दो नीतियां मूलतः भिन्न हैं । एक से दूसरे तक जाने के लिए कोई व्यवहारिक पुल नहीं है ।

अभी भी ग्रेट-ब्रिटेन की योरोपीय-भुगतान-संध की सदस्यता पश्चिमीय योरोप के शेष स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ व्यापार का समावेश करती है । योरोपीय-भुगतान-संध की सीमा के अन्तर्गत योरोप के देश अपने स्टर्लिंगों का मुख्य वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों से वस्तुओं को खरीदने में उपयोग कर सकते हैं और इस प्रकार डालर आयातों की किफायत कर सकते हैं । इससे ग्रेट-ब्रिटेन उन देशों की अपने निज के निर्यातों से क्षतिपूर्ति करने के लिए बच जाता है और इस प्रकार वह बहुदेशीय व्यापार के लिए दृढ़ आधार प्रस्तुत करता है ।

आज अमेरिका के लोग स्टर्लिंग क्षेत्र का एकीकृत पश्चिमीय योरोप से अधिक नजदीक का कड़ी-बन्धन करने की योजना का विरोध नहीं करेंगे । वे उसको प्रोत्साहन भी दे सकते हैं ठीक जिस प्रकार उन्होंने योरोपीय-भुगतान-संध बनने में सहायता और प्रोत्साहन दिया । किन्तु सहायता देने में भी यदि उन्हें दृढ़तापूर्वक रोक नहीं गया तो वे उसको ध्वंस कर देंगे । प्रथम वे उसका उपयोग योरोप के पुनर्शास्त्रीकरण को अधिक तीव्र करने के साधन के रूप में करेंगे जबकि उसकी सफलता की सम्भावनाएं पुनर्शास्त्रीकरण के साधनों को आर्थिक विकास और पुनर्निर्माण की ओर मोड़ने पर निर्भर होंगी । दूसरे वे इस बात पर जहां तक वे दे सकेंगे बल देंगे कि उसको पूर्ण परिवर्तनशीलता और तनिक भी भेदभाव न रखने के मार्ग में संक्रमणकालीन उपाय के रूप में स्वीकार किया जावे । जबकि उसका सार तत्व यह है कि वह इन नीतियों का व्यवहारिक विकल्प है । अमेरिकनों के लिए यह स्वतः सिद्ध बात है कि अन्य मुद्राओं को डालर में बिना किसी रोक के परिवर्तनशील

होना चाहिए और परस्पर व्यापार में प्राथमिकता देने की व्यवस्था जितना शीघ्र हो समाप्त कर देनी चाहिए। वे डालर की कमी को अस्थायी रुकावट से कुछ अधिक मानने से इन्कार करते हैं। और उनका यह विश्वास है कि यदि शेष पृथ्वी सही पूँजीवादी तरीकों के अनुसार व्यवहार करेगी तो सब कुछ ठीक हो जावेगा। वे यह नहीं देख सकते कि जिस प्रकार कर्जदारों का पूरा दायित्व है उसी प्रकार लेनदारों का भी दायित्व है और उनकी अन्य देशों के आयातों को भुगतान स्वरूप स्वीकार करने में असहमति अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के सन्तुलन की पुनर्स्थापना के मार्ग में एक भयानक रुकावट है। जब यह स्थिति है और संयुक्त-राज्य-अमेरिका की कांग्रेस का दृष्टिकोण परिवर्तन के मार्ग में ऐसा रोड़ा है जो हटाया नहीं जा सकता तो अन्य देशों के पास ऐसा व्यवहार्य विकल्प नहीं रहता जिससे कि वे अपनी सम्मिलित अर्थ-व्यवस्थाओं को संयुक्त-राज्य-अमेरिका पर निर्भर रहने के विनाशकारी प्रभाव से अलग रखने के लिए जो भी वे कर सकते हैं करें।

हम कल्पना करें कि ग्रेट-ब्रिटेन आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए इस धर्मयुद्ध का नेतृत्व करने को तैयार हैं। उसके बाद क्या होगा? स्पष्ट है कि यदि कतिपय देश स्टर्लिंग योरोपीय-भुगतान-संघ समूह बनाने के लिए सम्मिलित कार्यवाही करना स्वीकार करें तो उनमें से प्रत्येक को सहकारी प्रयत्न करने की शर्त को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना होगा। उन सबको अपना यह दायित्व स्वीकार करना होगा कि वे दूसरे के व्यय पर अपना लाभ करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। उन सबों की जहाँ तक सम्भव हो पूर्ण रोजगार की नीतियों का अनुसरण करना होगा किन्तु उन्हें एक साथ मिलकर मुद्रा स्फीति की प्रवृत्तियों के विरुद्ध युद्ध करना होगा। उनमें से प्रत्येक को उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति को मांग के समान करने के लिए मांग को कम करना होगा। उन्हें अन्यो के साथ यथार्थिक विनिमय दरों को स्थापित करना होगा और उन्हें बनाए रखना होगा। उन्हें अपने उद्योगों का पुनर्उपकरण तथा विकास करने और कम विकसित क्षेत्रों की उत्पादक क्षमता को ऊँचा उठाने में आयोजित विनियोग द्वारा मदद करने के लिए विस्तृत सम्मिलित योजना में अपना हिस्सा लेना होगा। प्रत्येक देश में और अन्तर्राष्ट्रीय तौर पर ऐसे यथेष्ट दृढ़ नियन्त्रण होने चाहिए कि जो उन परियोजनाओं को जो कि नाम मात्र को विस्तार करने के लिए बनाई गई हों प्रतिबन्धक केन्द्रीयकरण के साधन के रूप में परिवर्तित किए जाने से रोक सकें। इसके ऊपर भी जो इन सहकारी परियोजनाओं को तैयार करें वे उन्हें कार्य रूप में परिणित करें उन्हें बराबर यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन सामने अमेरिका में गम्भीर अवसाद होने की अवस्था में अथवा केवल अमेरिका द्वारा यकायक सहायता बन्द कर देने पर कभी भी यह लालच उपस्थित हो सकता है। वे अपनी सम्मिलित योजनाओं को समाप्त कर दें और आर्थिक राष्ट्रवाद की ओर लौट जाएं जो अल्पकाल के लिए सरल और सुविधाजनक नीति होगी फिर वह च-

दीर्घकाल में कितनी ही अधिक विनाशकारी क्यों न हो । मैं यह फिर दोहराना चाहता हूँ कि पश्चिमीय योरोप अथवा स्टर्लिंग क्षेत्र जो भी कर सकते हैं क्यों न करें अमेरिका की आर्थिक मन्दी को यदि वह नए सम्मिलित क्षेत्र की आर्थिक सुरक्षा का निर्माण पूरा करने की लम्बी प्रक्रिया के पहले आई तो वे उसे योरोपीय अथवा स्टर्लिंग क्षेत्र की अर्थव्यवस्थाओं को गम्भीर रूप से अस्त-व्यस्त कर देने से नहीं रोक सकते ।

इस पुस्तक के कुछ पाठक सम्भवतः शिकायत करेंगे कि मैंने उसका बहुत अधिक भाग जो कुछ 1920 और 1930 में हुआ उसका विचार करने में जबकि मुद्रा संकुचन और बेरोजगारी—बड़ी बुराईयाँ थीं और उसके विरुद्ध संघर्ष करना जरूरी था और पुस्तक का बहुत कम भाग उसकी विरोधी बुराईयों—मुद्रास्फीति और मांग की अधिकता के उपयोगों के बारे में लगाया । मैंने यह इस कारण किया कि यह कोई नहीं जानता कि हमें युद्धों के अन्तर्वर्ती काल के इन शत्रुओं का कितने शीघ्र फिर सामना करना पड़े विशेषकर यदि हम आज जितने अमेरिका की अर्थ-प्रणाली के हेर-फेर से बंधे हैं उसी भांति आगे भी बंधे रहें । 1945 के पश्चात् मुद्रास्फीति की शक्तियों को नियंत्रण में रखना, औद्योगिक विनियोजन के लिए यथेष्ट साधनों को अलग निकलवा कर रखने के लिए विशेष उपाय करना, और आयातों को सीमित करके तथा व्यय की जा सकने वाली आय को कम करके उपभोग को कम रखना, अत्यन्त आवश्यक हो गया । किन्तु कल हम अपने को ऐसी शक्तियों के चंगुल में पा सकते हैं कि जो उपभोक्ता तथा विनियोग वस्तुओं दोनों की ही मांग को देश तथा विदेशों के बाजारों में कम कर देंगे । ऐसी परिस्थितियों में हमें 1930 में जो पद्धति उपयुक्त होती उसको पुनः लागू करने के लिए तैयार रहना चाहिए । किन्तु हमें ऐसा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन परिस्थितियों में करना होगा क्योंकि अब हम अपनी चर्ची पर अर्थात् अपने विदेशों के विनियोग को निकाल कर जीवित नहीं रह सकते । हमें अपने लोगों को काम पर लगाए रखने के लिए स्टर्लिंग तथा योरोप से बहुत अधिक मात्रा में आयात करना होगा और उन क्षेत्रों को हमारे यहां से बड़ी मात्रा में आयात करना होगा, और हमको अमेरिका से खरीददारी कम होने के फलस्वरूप जो आयातों की कीमतों में गिरावट आवेगी उसका पूरा लाभ उठाने के लालच को छोड़ना होगा, क्योंकि यदि हम ऐसा करेंगे तो हम केवल अपने बाजारों का ही नाश करेंगे और उस विनाश को दूर दूर तक फैलावेंगे । कीमतों को सर्वथा निश्चित कर देने के अर्थों में नहीं परन्तु उनके उतार चढ़ाव को यथेष्ट समय के अन्दर सीमित कर देने के अर्थों में कीमतों का स्थिरीकरण करना मुख्य वस्तुएं और निर्माण वस्तुएं उत्पन्न करने वाले देशों को सम्मिलित करके एक विकासक्षम इकाई का निर्माण करने के लिए अनिवार्य शर्त है । फिर भी यह स्पष्ट है कि इस नीति को कार्यान्वित करने में कठिनाई है ।

स्पष्ट है कि हमें एक विकासक्रम तीसरी अर्धव्यवस्था तक पहुंचने के लिए यथेष्ट मार्ग तय करना होगा और उसको अपने निज पैरों पर खड़े हो सकने के लिये यथेष्ट मजबूत बनाना होगा । किन्तु विकल्प क्या है ? क्या हम निष्क्रिय होकर उस विनाश की प्रतीक्षा करें जो हम पर अमेरिका की प्रथम गम्भीर आर्थिक मन्दी के साथ दूटने वाला है और उस बीच में अमेरिका के आदेश पर हम जितनी क्षमता रखते हैं उससे कहीं अधिक शस्त्रीकरण पर व्यय करके उत्पादन क्षमता में वृद्धि को असम्भव बना दें जो योरोप तथा कम विकसित देशों में जिनका भाग्य हमने जुड़ा हुआ है बिना अधिक विनियोग किए नहीं बढ़ाई जा सकती ।

पारिभाषिक शब्दावली

(हिंदी-अंग्रेजी)

अचली करण	Immobilised.
अन आयोजित	Unplanned.
अप लेखन	Written off.
अपवाद	Exception.
अवरुद्ध	Blocked.
अवमूल्यन	Devaluation.
अलाभकारी	Unremunerative
अल्पकालीन निधि	Short term funds.
अमौद्रिक	Non-monetary.
अयुक्तिक	Irrational
अवरुद्ध खाते	Blocked Accounts.
अल्प विनियोग	Under investment.
अवपात	Depression-Slump.
अशोधन	Default.
अहस्तक्षेप नीति	Laissez-Faire-Policy.
अप्रचलनोन्मुख	Obsolescent.
अप्रत्यक्ष	Indirect.
अप्रत्याश लाभ	Windfall Profit.
अर्थ व्यवस्था	Economic System, Economy.
अर्थ-शास्त्री	Economist.
अनंगीकार	Denial.
अन्तः पाशन	Inter-Locking.
अन्तराल	Gap.
अन्तर्राष्ट्रीय चलार्थ इकाई	International Currency Unit.
अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य	International Money.
अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यमान	International Monetary Standard
अन्तर्राष्ट्रीय निपटारा बैंक	Bank of International Settlement.
अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण	International Reconstruction.

अन्तर्राष्ट्रीय मान
 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ
 अन्तर्राष्ट्रीय विनियम
 अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग अभिकरण
 अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग बैंक
 अन्तर्राष्ट्रीय शेषों के भुगतान
 अन्तर्वर्ती
 अपरिहार्य
 अपसंचित
 अपस्फीति
 अपस्फीतिवाद
 अपस्फीतिकारी
 अबाध परिवर्तयता
 अभ्यंश
 अवरोधन
 अवसाद
 अग्रिम
 अति-आयात
 अति-उत्पादन
 अति-पूर्ण रोज़गार
 अतिप्रदाय
 अतिवचत
 अति-रोज़गार
 अति-विनियोग
 अविकोपण
 अविकार पत्र
 अधिकतम अनुग्रहीत राष्ट्र
 अधिनियम
 अधिमान
 अधिमान हिस्से
 अधिमूल्यन
 अधिवापिकी
 अधिविकर्ष

International Standard.
 International Monetary Fund.
 International Trade.
 International Trade Organisation.
 International Exchange.
 International Investment Agency.
 International Investment Bank.
 International Balance of Payment.
 Intermediate.
 Unavoidable.
 Hoarding.
 Deflation.
 Deflationism.
 Deflationary.
 Free Convertibility.
 Quota.
 Blocking.
 Depression or Slump.
 Advances.
 Over Importation.
 Over Production.
 Over-Full Employment.
 Glut.
 Over-Saving.
 Over-Employment.
 Over-Investment.
 Banking.
 Charter.
 Most Favoured Nation.
 Act.
 Preference.
 Preference Shares.
 Appreciation.
 Super annuation.
 Overdraft.

अनिधिवद्ध	Unfunded.
अन्तिम ऋणदाता	Lender in the last resort.
अभिकर्ता	Agent, Agency.
अभिगोपक	Underwriter.
अभिगोपन	Underwriting
अभिदत्त पूंजी	Paid-up Capital.
अभिदान	Subscription.
अभिकरण	Agency.
अभिपद	Syndicate.
अभिवृद्धि	Boom
अभिस्वीकृति	Acknowledge.
अविभेदी व्यापार	Non-Discriminating Trade.
आकलन शेष	Credit Balance.
आकस्मिक लाभ	Wind fall Profit.
आगम	Revenue
आगम वचत	Revenue Surplus.
आर्थिक अभिवृद्धि	Boom.
आर्थिक नियोजन	Economic Planning.
आर्थिक पुनुरुत्थान	Economic Recovery.
आर्थिक मंदी	Slump, Economic Depression
आर्थिक योजना	Economic Plan.
आर्थिक राष्ट्रवाद	Economic Nationalism.
आर्थिक लागत	Economic Cost.
आर्थिक विकास	Economic Development.
आर्थिक संकट	Economic Crisis.
आर्थिक साम्राज्यवाद	Economic Imperialism.
आदाता	Receiver.
आदिष्ट चैक	Order Cheque.
आधारभूत उद्योग	Basic Industry
आधार वर्ष	Base year
आनुपातिक	Proportional.
आपातिक	Emergency.
आनुपंगिक जमानत	Collateral Security.
आनुपंगिक प्रतिभूति	Collateral Security
आयात	Import

आयकर	Income Tax.
आयोजन	Planning.
आयंत्रण	Restriction.
आयंत्रक	Restrictive
आरक्षित	Reserve.
आरक्षित कोष	Reserve Fund.
आरक्षित निक्षेपागार	Reserve Repository.
आयात निर्यात बैंक	Import Export Bank.
आवर्तक	Recurring.
आस्थगित करना	Defer.
आवरण	Cover.
इच्छा	Grace.
उगाहियां	Levies
उत्पादक	Creative Producer.
उत्पादक साधन	Productive Resources.
उत्पादन	Production.
उत्पादन लागत	Cost of Production.
उत्पादन व्यय	Cost of Production.
उत्सारण	Drain.
उत्तर दिनांकित	Post-dated.
उदग्र रूप में	Vertically.
उदार साख	Liberal Credit
उदारीकरण	Liberalisation.
उद्धवन्धन	Pegging.
उद्यम	Industry.
उद्धर्मियों	Heretics.
उद्योग	Industry.
उधारपट्टा	Lend Lease.
उपकरण	Equipment.
उपक्रम	Under-taking.
उपज बाजार	Produce Market.
उपभोग	Consumption
उपभोक्ता वस्तुएं	Consumer goods.
उपभोक्ता	Consumer.
उपभोग की प्रवृत्ति	Propensity to consume.

उपरिकर	Surtax
उपरिमूल्यन	Over-valuation
उपनिवेश	Colony.
उपशुल्क	Rates.
उभय पक्षीय	Bilateral
उभय पार्श्वता	Bilateralism.
ऊष्ण द्रव्य	Hot Money.
एकक-न्यास	Unit Trust.
एकीकृत	Integrated.
एकाधिकार	Monopoly.
एकल	Single
औद्योगिक अवस्थापन	Industrial location.
औद्योगिक प्रतिष्ठान	Firm.
औद्योगिक प्रवृत्तियां	Industrial Techniques.
औद्योगिक वस्तियां	Industrial Estates.
अंक शास्त्री	Statistician.
अंकित मूल्य	Face value.
अंश दान	Contribution.
अंशदायी	Contributory.
ऋण	Loan.
ऋणी	Debtor.
ऋण पत्र	Debenture.
ऋण परिशोध	Debt Settlement.
कच्चा माल	Raw Material
कटैया-वाइन्डर	Reaper-builder.
कठोर मुद्रा	Hard Currency.
क्रय	Purchase.
क्रयकर	Purchase Tax.
क्रय शक्ति	Purchasing Power.
कर	Tax
करदाता	Tax Payer.
कर योग्य ग्रहा	Rateable value.
कराधान	Taxation.
कल्याणकारी राज्य	Welfare State.
कागजी मुद्रा	Paper Money.

कार्यकारिणी	Executive.
कार्य कुशलता	Efficiency.
कार्य दाता	Employer.
कार्यशील पूंजी	Working Capital.
कारवार	Business.
काला बाजार	Black Market.
क्रीमत	Price.
कुशल प्रबंध	Manipulation.
कोठा	Vault.
कोषागार निक्षेप प्राप्ति	Treasury Deposit Receipt.
कोषागार बंध	Treasury Bonds.
कोषागार विपत्र	Treasury Bill.
केंद्रित	Centralised.
केंद्रीय बैंक	Central Bank.
कृषि बंधक निगम	Agriculture Mortgage-Corporation.
खर्च जितना नकद	Till Money.
खजाना	Treasury.
खाता	Account.
खुले बाजार की क्रियाएं	Open Market Operations.
ख्याति	Goodwill.
गत प्रयोग	Obsolete.
गमता	Momentum.
गम्भीर अवपात	Serious Slump.
गतिशील	Dynamic.
गतिशीलता	Velocity.
गुणक प्रभाव	Multiplier effect.
गोपलेख	Policy (Insurance).
गौण	Tertiary.
घरेलू बाजार	Home Market.
घाटे द्वारा अर्थ प्रबंध करना	Deficit Financing.
धिसावट	Depreciation.
चलन	Circulation
चलार्थ	Currency.
चालू अन्तर्राष्ट्रीय सौदे	Current International Transactions.
चालू खाता	Current Account.

चालू भुगतान का अंतर	Current Balance of Payment.
चुकारा	Payment.
चुकारे का संतुलन	Balance of Payment.
चुकारे के साधन	Means of Payment.
चूक	Default.
जमा	Credit Deposit.
जमा खाता	Deposit account.
जाली	Counterfeit.
जीवन स्तर	Standard of living.
जोखिम	Risk.
टकसाल	Mint.
टकसाली आवश्यकताएं	Standard necessities.
टंकन लागत	Seigniorage.
ट्रेजरी जमा रसीदें	Treasury Deposit Receipts.
तकनीकी	Technical.
तटीय कर	Tariffs.
तरलता	Liquidity.
तरलता अधिमान	Liquidity Preference.
तिजोरी	Vaults.
तुलनात्मक लाभ	Comparative Advantage.
तेल शोधन	Oil refining.
तंत्र	Mechanism.
थोक व्यापारी	Wholesaler.
थोक मूल्य	Wholesale Price.
दीर्घकालीन करार	Long Term Contract.
दुष्प्राप्य मुद्रा	Scarce Currency.
दुर्लभ	Scarce.
देनदार	Debtor.
देनदारी	Liabilities.
देयता	Obligations.
देशनांक	Index Number.
देशाभ्यन्तर आगम खाते के आयुक्ता	Commissioner of Inland Revenue Account.
द्रव्य संबंधी पूर्ति	Monetary Supply.
द्रव्य का परिणाम सिद्धान्त	Quantity theory of Money.

द्रव्य बाजार	Money Market.
द्रव्य	Money.
द्रव्य की क्रमागत ह्रास सीमांत उपयोगिता	Diminishing Marginal Utility of Money.
द्रव्यिक	Monetary.
द्विपक्षीय	Bilateral.
द्विदेशीयवाद	Bilateralism.
द्विदेशीय व्यापारिक समझौते	Bilateral Trade Agreements.
धन	Wealth.
धनादेश	Cheque.
धारक	Possessor.
धारण	Holding.
नक़द उधार	Cash Credit.
नक़द, नक़द रोकड़	Cash.
नक़द रक्षित कोष	Cash Reserve.
नवीनीकरण	Renewals, Renovation.
न्यून-उपयोग	Under-Consumption.
न्यूनतम मजदूरी	Minimum Wage.
न्यून-विनियोग	Under-Investment.
न्यास	Trust.
न्यासी वचत बैंक	Trustee Savings Bank.
नकारात्मक सूद	Negative Interest.
नागरिक उड्डयन	Civil Aviation.
नाम निर्दिष्ट धारण	Nominal Holdings.
नाम मात्र की पूंजी	Nominal Capital.
निगम	Corporation.
निजी स्वामित्व	Private Ownership.
निधीयन	Funding.
निरसन	Repeal.
निर्गमन	Issue.
निर्गमित पूंजी	Issued Capital.
निजी निकायों	Private Bodies.
निधि	Funds.
निर्मित	Manufactured.
निर्मित उद्योग	Manufactures.

निर्याति	Export.
निर्यातकों	Exporters.
नियंत्रित मुद्रा	Controlled Currency.
नियोजित	Planned.
निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम	Fixed Fiduciary Issue.
निष्क्रम	Out let.
निष्क्रिय बना दिया	Sterilized.
निस्सारक उद्योगों	Extractive Industries.
निषेध	Veto.
निक्षेपों	Deposits
निहित स्वार्थ	Vested interest.
निजी उद्यम	Private enterprise.
निविदा	Tender.
निश्चित न्यास	Fixed Trust.
निर्धारण	Allocation.
निधीयन करना	Funding.
नियोजित	Planned.
निर्वर्त्य	Disposable.
नौवहन	Shipping.
पकने वाले	Maturing.
परम-प्रतिभूति	Gilt-edged Security.
पट्ट	Plate.
पर्यवेक्षक	Supervisor.
पाटना	Dump.
परिकल्पक	Speculator.
परिकल्पी	Speculative.
परिकल्पी अतिरेक	Speculative Excess.
परिकल्पी लाभ	Speculative gain.
परिचलन	Circulation.
परिपक्वता	Maturity.
परियोजनाओं	Projects.
परिवर्तन ऋण	Conversion Loan.
परिवर्त्यता	Convertibility.
परिवहन	Transport.
परिशोधन	Liquidation.

परिसंपत्त
 परिसमापन करना
 पुनः पूर्व-प्रापण
 पुनः प्रारंभण
 पुनर्मूल्यन
 पुनरुन्नयन
 पुनर्वासि
 पुनर्समायोजित
 पुनर्स्थापन
 पुनस्तथान
 पुनः पूर्व-प्रापण
 पुनः वितरण
 पूंजी
 पूंजी परिसम्पत्ति
 पूंजी बाजार
 पूंजीगत कर्मान्ति
 पूंजीगत हानि
 पूंजी वस्तुओं
 पूर्ण रोजगार
 पूर्ण प्रापण गृह
 पूर्ण समुत्थान
 प्लावी
 पृष्ठ पोषण
 पृष्ठांकन
 फुटकर व्यापारी
 वचत
 वचत की प्रवृत्ति
 वचत बैंक
 वट्टा
 वट्टा दर
 वट्टा गृह
 बहुपक्षीय
 बहुमुद्रा व्यवहारों
 बहुल
 विक्री

Assests.
 Mop up.
 Rediscounting.
 Reflotation.
 Revaluation.
 Revival.
 Rehabilitation.
 Readjust .
 Restoration.
 Recovery.
 Rediscount.
 Re-distribution.
 Capital.
 Capital Assests.
 Capital Market.
 Capital Works.
 Capital Loss.
 Capital Goods.
 Full Employment.
 Discount Houses.
 Full Recovery.
 Floating.
 Backing.
 Endorsement.
 Retail Saler.
 Savings.
 Propensity to Save.
 Savings Bank.
 Discount.
 Discount Rate.
 Discount Houses.
 Multilateral.
 Multiple Currency Practices.
 Plentiful.
 Sale.

बीमा	Insurance.
बॉन्ड धारियों	Bond Holders.
बंध	Bond.
बंधा	Tied.
वव्यकृत	Sterilized.
भार	Incidence.
भारण	Weighting.
भारित	Weighted.
भागीदार	Partner.
भारी उद्योग	Heavy Industry.
भुगतान	Payment.
भुगतान शेष	Balance of Payment.
भुनाया	Cashed.
भूमि अलोत्सरण	Land Drainage.
भेदात्मक	Discriminatory.
भौतिक संयन्त्र	Physical Plant.
मजदूर संघ	Trade Union.
मजदूरी	Wages.
मजदूरी प्रतिबंध, मजदूरी नियंत्रण	Wage restraint.
मजदूरी कोष सिद्धान्त	Wages Fund Theory.
महापद्म	Billion.
मांग	Demand.
मांग स्फीति	Demand Inflation.
महंगा	Dear.
मान	Standard.
मापदंड	Measuring Rod.
मात्रात्मक नियमन	Quantitative Regulation.
मितोपभोग	Austerity.
मितव्ययी	Thrifty.
मितव्यय गोष्ठियां	Thrift Clubs.
मित्र समितियां	Friendly Societies.
मिलन	Amalgamation.
मिश्र	Complex.
मिश्रित उद्यम	Mixed Enterprise.
मुद्रा	Currency.

मुद्रा स्फीति	Inflation.
मुद्रा संकोचन	Deflation
मुद्रा-प्रणालियां	Monetary Systems.
मुद्रा का सम मूल्य	Par value of Currency.
मुक्त व्यापार	Free Trade.
मुनाफा	Profit.
मूल	Text.
मूलभूत साम्य	Fundamental Equilibrium.
मूलभूत असंतुलन	Fundamental Disequilibrium.
मूल्य	Value, Price.
मूल्यांकन	Valuation.
मूल्यांतर	Margins.
मूल्य स्थिरता	Price Stability.
मूल्य ह्रास	Price depreciation.
मृत्युकर	Death duty.
यथा नियम	Formal
याचना पर द्रव्य	Money at call.
योजना	Plan
रकम	Denomination.
रसीद करना	Endorse.
रक्षा राशि	Cover.
राजकोष	Treasury.
राजकोपीय हुंडियां	Treasury Bills.
राजकीय वित्त	Government Finance.
राज साहाय्य	Public Subsidies.
राजलेख	Charter.
राष्ट्र मंडल	Commonwealth.
राशि	Amount.
राशियां	Sums.
राशिपातन	Dumping.
राष्ट्रीयकरण	Nationalisation.
राष्ट्रीय मुद्राओं	National Currencies.
राष्ट्रीय विनियोजन बोर्ड	National Investment Board.
राष्ट्रीय ऋण	Public Debit.
रक्षित कोष	Reserve Fund.

रेखण	Crossing.
रेज़गारी	Change.
रेखित	Crossed.
रोकड़ व्यवहार	Cash transactions.
लचन शीलता	Resilient.
लचीलापन	Elasticity.
लागत	Cost.
लाभ	Profit.
लाभांश	Dividend.
लेखा शोधन मुद्रा	Money of Accounts.
लेनदार	Creditor.
लेन-देन	Turn over, Transactions.
लेनी	Credits.
लोक निधि	Public Funds.
लोच	Elasticity.
लोह आवरण	Iron Curtain.
वज्र कक्ष	Vault.
वाणिज्य	Commerce.
वास्तविक आय	Real Income.
वाहक चैक	Bearer Cheque.
वाह्य मूल्य	External value.
वेतन	Salary.
विकल्प	Alternative.
विकलन	Debit.
विकलन शेष	Debit Balance.
विकर्ष	Withdrawal.
विक्रय	Sale.
विकर्ण	Diagonal.
वितरण	Distribution.
वित्त	Finance.
वित्तीय भार	Financial Burden.
वित्त व्यवस्थापकों	Financiers.
वित्तीय	Financial.
वित्तीय संस्थान	Financial Houses.
विदेशी मुद्रा	Foreign Currency.

विदेशी व्यापार	Foreign Trade.
विदेशी विनिमय	Foreign Exchange.
विदेशी विनिमय नियंत्रण	Foreign Exchange Control.
विवि संगत प्रशासी अधिकारिणी	Lawful Governing Authority.
विनिमय	Exchange.
विनिमय का साधन	Medium of Exchange.
विनिमय पत्र	Bill of Exchange.
विनिमय दर	Exchange Rate.
विनिमय नियंत्रण	Exchange Control.
विनिमय प्रतिबंध	Exchange Restriction.
विनियोजक	Investor.
विनिमय समकारी निधि	Exchange Equalization Fund.
विनिमय साध्य	Negotiable.
विनिमय स्थिरता	Exchange Stability.
विनियोग	Investment.
विनिमय विनियमन	Exchange Regulation.
विनियोजन-न्यास	Investment Trust.
विनिमय साम्य	Exchange Parity.
विनिमय समकारी कोष	Exchange-Equalization Fund.
विनिमय संतुलन कोष	Exchange-Equalization Fund.
विपत्र वाणिज्य	Bill broker.
विपस्थित वस्तुएं	Displaced goods.
विपर्यय	Vicissitudes.
विभेद	Discrimination.
विलोपित	Cancelled.
विलासिताएं	Luxuries.
विवरण पत्र	Prospectus.
विवरी	Tap.
विसंतुलन	Disequilibrium.
विस्फीत	Deflation.
विशेषीकरण	Specialisation.
विशिष्ट रेखण	Special Crossing.
विश्वासाश्रित सीमा	Fiduciary limit.
विश्वास हानि	Loss of Confidence.
विश्वव्यापी मंदी	Depression.

वैज्ञानिकन	Rationalisation.
व्यवसाय	Business.
व्यवसाई	Employer.
व्यापार	Trade.
व्यापार की शर्तें	Terms of Trade.
व्यापार चक्र	Trade Cycle.
व्यापार निगम	Commercial Corporation.
व्यापारावर्त	Turn-over.
व्यवस्थापक	Manager.
व्यापारिक बैंक	Commercial Bank.
व्यापार संतुलन	Balance of Trade.
व्यापार पत्र	Trade Bill.
व्यवस्थापन	Adaptation, Accomodation.
व्यापारिक बैंक	Commercial Bank.
समाशोधन गृह	Clearing House.
शस्त्रीकरण	Armament.
शक्तिगृह	Power House.
शेष	Balance.
शोधन	Clearing.
शोधन निधि	Sinking Fund.
शोध क्षमता	Solvency.
सट्टा	Speculation
सट्टा अभिवृद्धि	Speculative Boom.
सटोरिये	Speculators.
समाशोधन	Clearing.
समदर	Parity.
सत्यांकर राशि	Till Money.
समभाजन	Rationing.
समायोजित	Re-adjust.
समाजीकृत	Socialised.
समाशोध्य लेखा	Clearing Account.
समवाय	Company.
सम्मिश्रण	Amalgamation.
सम्मेलन	Amalgamate.
समनुगत	Coherent.

समाजवादी अर्थ व्यवस्था
 सम मूल्य
 समाज कल्याण
 समुत्थान
 समुच्चय
 समुद्र पार
 समृद्धि
 सर्वेक्षण
 सहाय्य
 सहाय समवाय
 सहकारी समिति
 साई
 साख
 साभेदार
 सार्थ
 सावारण हिस्सा
 सापेक्षिक मुद्रा मूल्यों
 सार्वजनिक उपक्रम (उद्योग)
 सार्वजनिक स्वामित्व
 सार्वजनिक व्यय
 सामाजिक सेवाएं
 साहूकार देश
 सिकराना
 सिक्का
 स्थिरता
 स्थिर न्यास
 सीमांत
 सुरक्षित निक्षेप
 सूद
 सूत्रवारी समवाय
 सेवाएं
 सेवा योजकों
 सेवा श्रेणी
 सौदों
 संकुल विनियोजन

Socialist Economy.
 Par value.
 Social Welfare.
 Recovery.
 Combine.
 Overseas.
 Prosperity.
 Survey.
 Subsidy.
 Subsidiary Company.
 Co-operative Society.
 Till Money.
 Credit,
 Partner.
 Firm.
 Equity.
 Relative Currency Values.
 Public Enterprise.
 Public Ownership.
 Public Expenditure.
 Public Services.
 Creditor Country.
 Honour Discount.
 Coin.
 Stability.
 Fixed Trust.
 Marginal.
 Reserve deposits.
 Interest.
 Holding Company.
 Services.
 Employers.
 Cadre.
 Transactions.
 Total investment.

संघीय	Federal.
संतुलन	Equilibrium.
संचित निधि	Reserve Fund.
संचालक	Director.
संचालक मंडल	Board of Directors.
संतुलित	Balanced.
संयुक्त अधिकोप	Joint Stock Bank.
संयुक्त राष्ट्र स्थायीकरण निधि	United Nations Stabilisation Fund.
संयुक्त राष्ट्र खाद्य और कृषि संगठन	United Nations Food and Agricultural Organisation.
संयुक्त राष्ट्र सहायता तथा पुनर्स्थापन प्रशासन	United Nations Relief and Rehabilitation Administration.
संयुक्त हिस्से वाली कम्पनी	Joint Stock Company.
संरक्षणवाद	Protectionism.
संस्फीतकारी	Reflationary.
सांकेतिक सिक्का	Token Coin.
सांकेतिक द्रव्य	Token Money.
सांकेतिक नोट	Token Note.
संग्राही समितियां	Collecting Societies.
संघीय संचिति मंडल	Federal Reserve Board.
संचयन	Stock.
संचित	Reserve.
संपत्ति	Assets.
संपदा	Estate.
संयोजन	Combination.
संविदा	Contract.
संयोग	Combine.
संयोगांग	Ingredients.
संस्फीतकारी	Reflationary.
स्कंध	Stock.
स्कंध बाजार	Stock Exchange.
स्कंध विपणि	Stock Exchange.
स्टर्लिंग ब्लॉक	Sterling Block.
स्टर्लिंग पावना	Sterling Balances.
स्थानीय प्राधिकार अधिकारी	Local Authority.

स्थानापन्न वस्तुएं
स्वीकृति गृह
स्वर्ण खनन
स्वर्ण मान
स्वर्य नियंत्रित स्वर्णमान
स्वर्ण संचिति
स्वर्ण ग्रहा
स्वर्ण कोष
स्वर्ण साम्य
स्वर्ण विन्दुओं
स्वर्य-क्रिय संबंध
स्वायत्त्वता
स्वतंत्र परिवर्त्यता
सृजनात्मकता
हवालगी
हस्तांतरित करना
हितकारी मालिक
हिस्सा
हिस्सेदार
ह्रास
श्रम
श्रम-विभाजन

Substitutes.
Acceptance Houses.
Gold Mining.
Gold Standard.
Self Regulating Gold Standard.
Gold Reserve.
Gold Value.
Gold Reserve.
Gold Parity, Gold Equivalent.
Gold Points.
Automatic Link.
Autonomy.
Free Convertibility.
Creativeness.
Advances.
Transfer.
Beneficiary Owner.
Share.
Share Holder.
Depreciation.
Labour.
Division of Labour.

भूल-शोधक पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
ख	१८	अन्तराष्ट्री	अन्तर्राष्ट्रीय
घ	१४	जावारों	वाजारों
घ	२६	हस्तांतरित	हस्तांतरित
च	२६	नीति	नीति
झ	११	अमरीकनों	अमेरिकनों
झ	१७	अमरीकनों	अमेरिकनों
झ	३१	आप से	आप में
ड	३३	अच्छा	अच्छा
११	६	वैकल्पिक	वैकल्पिक
१२	२	अकसर	अकसर
१४	२१	जएगा	जाएगा
१४	५	रखना	रिखना
१७	१८	रखना	रखनी
१७	५	पूति	पूति
१९	३० (फुटनोट)	आधिकार	अधिकार
१९	१४	किफायती	किफायती
३६	१८	उपलब्ध	उपलब्ध
३७	३०	अपनाना	अपनानी
३८	२३	कन्हीं	किन्हीं
४१	६	करना	कन्नी
४३	३१	की	का
४५	२	मसमं	मंसमं
४७	२७	भूटे	भूटे
५१	३०	का	की
५१	१५	वक	वैक
५१	२७	सोने	सोने
८	६	वक	वैक
७	१२	कमी	कभी

(ख)

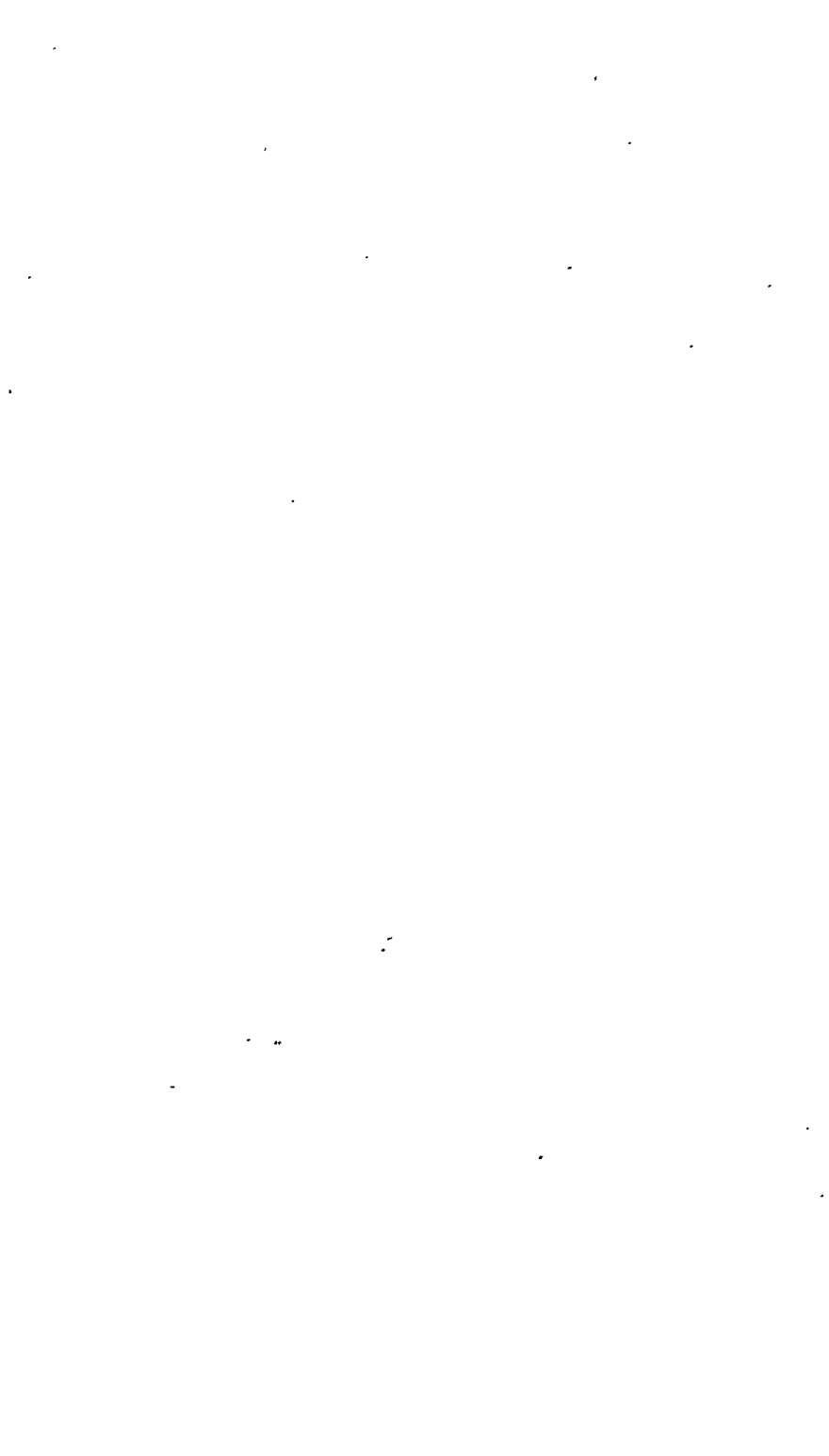
१२७		३	होगी	होगा
१३६		८	जएंगे	जाएंगे
१६७		२५	हावसन	होवसन
१७६		३३	दष्टि	दृष्टि
१८१		३४	युरूप	योरूप
१८५		२३	केनेड़ा	कनाड़ा
१९०		१६	कोइ	कोई
२००		३१	ओर	और
२०३		२२	स्टरलिंग	स्टर्लिंग
२०४	टिप्पणी	६	चलाउ	चलाऊ
२१३		८	आरं	आनं
२२३		१	कोइ	कोई
२२३		१२	लिते	लिये
२३४		१	प्रथक	पृथक
२३४		१४	प्रथक	पृथक
२३६		३०	इंग्लैंड	इंग्लैंड
२४२		२५	कोइ	कोई
२४४	तालिका	१९	नीका	नीका
२४८		१८	नितान	नितान
२५१		१	व्यापार	व्यापार
२५७		अन्तिम	1929	1928
२५५		१	मिश्रति	मिश्रित
२८७		३३	इनकार	इन्कार
२८८		२१	ना	न
२९६		३१	ग्रट.	ग्रेट
३०१		७	वैटन बुड्स	व्रैटन-बुड्स
३०३	टिप्पणी की पंक्ति	३	ओर	और
३०६		१	वैटन-बुड्स	व्रैटन-बुड्स
३०८		१५	वैटन-बुड्स	व्रैटन-बुड्स
३१२		३२	वैटन-बुड्स	व्रैटन-बुड्स
३४०		२९	दने	देने
३४२		७	हस्ताक्षेप	हस्तक्षेप
३५८		२	उठाना	उठानी
३५९		१६	अपेक्षाकृति	अपेक्षाकृत
३५९		५	वचन वन्व	वचनवद्ध
			चौथियाई	चौथाई

(ग)

३६२	५	अन्तयिद्रीय	अन्तराष्ट्रीय
३६३	१०	पुनर्स्थापित	पुनर्स्थापित
३६८	५	विद्युत्ति	विद्युत्
३६८	१८	वड़ी	वड़ी
३७६	६	जिससे	जिससे
३८०	२५	व्यापार	व्यापार
३९७	३०	किया	दिया
४००	२६	सबसे	सबसे
४१०	२७	था यह	यह था
४१२	१०	दगी	देगी
४१३	२६	प्रत्यन	प्रयत्न
४१८	७	वात	वात

टिप्पणी संबंधी भूल-शोधक पत्र

- पृ० 'ण' टिप्पणी में उल्लिखित पृष्ठ संख्या ३७४ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० ३६२ देखें ।
- पृ० ५३ पर टिप्पणी में उल्लिखित पृष्ठ संख्या ३६ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० १३ और १४ देखें ।
- पृ० ६४ पर टिप्पणी में उल्लिखित पृष्ठ संख्या ७५ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० ५५, तालिका ५ देखें ।
- पृ० ६७ पर टिप्पणी में उल्लिखित पृष्ठ संख्या २११ व २१५ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० २१० व २१५ देखें ।
- पृ० ७४ पर टिप्पणी में उल्लिखित पृष्ठ संख्या ३३२ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृष्ठ ३४७ देखें ।
- पृ० १५३ पर टिप्पणी में उल्लिखित पृष्ठ संख्या १४० के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० १३० देखें ।
- पृ० १७८ पर पृ० २२० (मूल पुस्तक) के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० २२० देखें ।
- पृ० १६४ पर पृ० २११ और २१५ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० २१० और २१५ देखें ।
- पृ० २१६ पर पृ० १६५ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० १६२ देखें ।
- पृ० २२५ पर पृ० २२० (मूल) के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० २२० और २२१ पर दी गयी तालिकाएं देखें ।
- पृ० २३२ पर पृ० ४३ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० १८ देखिए ।
- पृ० २५७ की अंतिम व २५८ की प्रथम दो पंक्तियों को टिप्पणी के रूप में पढ़ें ।
- पृ० ३०२ पर पृ० ४०१ के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० ४२० व ४२१ देखें ।
- पृ० ३३७ पर पृ० ४०० के स्थान पर इसी पुस्तक का पृ० ४१६ तथा पृ० ३३६ के स्थान पर ३५५ देखें ।
- पृ० ३४२ पर पृ० संख्या ४०२ के स्थान पर पृ० ४२२ देखें ।
- पृ० ४३० पर पृ० संख्या ४२१ के स्थान पर पृ० ४२० देखें ।



से कोई भी शर्त कहां तक पूरी हो सकने की सम्भावना है ? उचित सुरक्षा के लिए पहली शर्त राजनीतिक परिस्थिति को लें । एक निजी ऋण दाता जो किसी राज्य विशेष की सरकार को अथवा उस राज्य की सीमा के अन्तर्गत किसी व्यापारिक फर्म या कारपोरेशन को ऋण देता है जब तक कि उसको अपनी निज की सरकार गारंटी नहीं दे देती तब तक उसको उस देश में राजनीतिक अस्थिरता की जोखिम उठानी पड़ती है । चरम स्थिति में यदि उस देश में साम्यवादी क्रान्ति हो जाती है तो उसको अपने सम्पूर्ण विनियोग के ज्वत् कर लिए जाने की जोखिम उठाना पड़ती है । यदि क्रान्ति उतनी पूर्ण नहीं भी हुई तो भी व्यवहार में उसके परिणाम स्वरूप मुद्रा की गड़बड़ हो जाने अथवा उससे होने वाली सब आय के रोक दिए जाने से उसके विनियोग की हानि हो सकती है । अतएव विदेशी बॉन्ड-धारियों का किसी भी सरकार के जिसके संरक्षण में उन्होंने द्रव्य का ऋण दिया है स्थायित्व में दृढ़ स्थिर स्वार्थ होना स्वाभाविक है । चाहे फिर उन्होंने स्वयं सरकार को ही ऋण दिया हो अथवा किसी व्यापारिक संस्था को दिया हो जो उसके अधिकार क्षेत्र में हो । ऐसी दशा में जहां तक छोटे और पिछड़े हुए राज्यों का सम्बंध है स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो सकती है । उनकी सरकारें फिर चाहे वे कितनी ही अप्रतिनिधि क्यों न हों विदेशी विनियोग करने वाले स्वार्थ उनका पूरी शक्ति के साथ समर्थन करते हैं और उन्हें बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं । इसको छोड़ दें तो भी ऋण देने वालों को आकर्षित करने लिए राजनीतिक अस्थिरता की जोखिम की क्षतिपूर्ति ऋण पर दी जाने वाली सूद की दर में करनी होती है । जब कि दुनिया की स्थिति अस्थिर होती है अथवा वे वित्तदाता (फाइनेन्सियर) जो विदेशी ऋणों की व्यवस्था करते हैं ऐसा मानते हैं तो स्वभावतः ऋण लेने वालों से लिए जाने वाले सूद की दर को उस स्तर तक ऊंचा कर दिया जाता है जिस पर बहुत से सम्भावित पूंजी ऋण लाभ प्राप्त की दृष्टि से अत्यन्त खर्चीले हो जाते हैं । परिणाम यह होता है कि विनियोग की गति धीमी हो जाती है ।

आर्थिक जोखिमों को पूर्णतया राजनीतिक जोखिमों से अलहदा नहीं किया जा सकता । स्पष्टतः पूंजी को लाभ के साथ उपयोग करने की सम्भावनाएं उस देश कि जिसमें विनियोग किया जाने वाला है—की राजनीतिक स्थिति और साथ ही उस देश की आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक पात्रता से प्रभावित होती हैं । ऋण लेने वाले देश की सरकार जो नीति अनुसरण करती है वह उसकी सीमा के अन्दर क्रय शक्ति के स्तर और उसके वितरण को और साथ ही देश में उपभोक्ताओं की मांग को पूरा करने के लिए स्थापित उद्यमों में लाभों की सम्भावनाओं को भी प्रभावित करती है । बहुत से विनियोग सम्भावित लाभों की दृष्टि से तभी आकर्षक होते हैं जब और भी विनियोग किए जावें । उदाहरण के लिए एक रेलवे लाइन तभी लाभदायक होगी जबकि उस क्षेत्र का जिसमें से होकर वह निकलती है विकास

करने के लिए पूंजी लगाई जावे । एक शक्तिगृह तभी लाभदायक होगा जबकि उससे उत्पन्न शक्ति का उपयोग करने के लिए स्थानीय उद्योग हों इत्यादि । बहुत प्रकार के उद्यमों में विनियोग की सम्मिलित नीति प्रत्येक विनियोग विशेष के लाभ की सम्भावनाओं को बढ़ा सकती है ।

आज की परिस्थितियों में तीसरी शर्त का पूरा होना सबसे अधिक कठिन है जब तक विनियोग की प्रकृति ही ऐसी न हो कि उसको पूरा कर सके । यदि विदेशों में विनियोग को उन वस्तुओं के उत्पादन में लगाया जावे कि जिनको विनियोग करने वाला देश अधिकाधिक आयात करना चाहता है तो पूंजी पर सूद का भुगतान वस्तुओं के रूप में अर्थात् विनियोग करने वाले देश में उन वस्तुओं को बेच कर किया जा सकता है । ऐसा दिखलाई देता है कि यह समस्या का उत्तर है परन्तु इसमें ऋण लेने वाले देश को गहरी हानि होती है । उन्हें पूंजी प्राप्त करने के लिए इस बात के लिए विवश किया जाता है कि वे इस बात का वचन दें कि वे ऋण को उन विनियोगों पर व्यय नहीं करेंगे जिन्हें वे अपनी सामान्य जनता के हित में पसंद करते हैं परन्तु उस प्रकार के विनियोग पर व्यय करेंगे कि जो विनियोग करने वाले देश के पूंजीपतियों के अनुकूल हो । आमतौर पर खनिज का विकास, तेल निकालने का उद्योग, तथा कई प्रकार के वशीचा उद्योगों को ऋण लेने वाले देश के लिए आवश्यक वस्तुएं उत्पन्न करने वाले अथवा उत्पादन का सामान्य मान ऊंचा उठाने वाले विनियोगों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जावेगी । इन परिस्थितियों के अन्तर्गत होने वाला विनियोग आर्थिक साम्राज्यवाद की परम्पराओं को कायम रखेगा और उससे प्रभावित जनता के कल्याण की ओर बिना अधिक ध्यान दिए उसका अनुसरण किया जावेगा । यह भी बहुत सम्भव है कि उससे (जनता को) हानि हो । इस प्रकार विनियोगों को वर्तमान काल में बहुत से देशों में कड़े राष्ट्रीय विरोध का सामना करना होगा और यह उसकी राजनैतिक असुरक्षा को बढ़ा देगा ।

यह विचारणीय बिन्दु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों के लिए ऐसी विनियोग नीति के औचित्य की ओर संकेत करते हैं कि जो सूद की दरों को नीचा से नीचा रख सके और एक समन्वित आर्थिक विकास के कार्यक्रम को बढ़ावा दे सके जिसके अन्तर्गत प्रत्येक उद्यम दूसरे को उसके पैरों पर खड़ा होने में मदद दे । परन्तु ऐसे विनियोजकों को पा सकने की अधिक आशा नहीं है कि जो राजनीतिक और आर्थिक जोखिमों के होते हुए भी पिछड़े देशों को अत्यन्त विशेष परिस्थितियों को छोड़कर बिना सूद की वह दरें लिए जो कि बहुत लम्बे समय तक ऋण लेने वालों को दे सकना बहुत कठिन अथवा सच तो यह है कि असम्भव होंगी पूंजी उधार देने के लिए रजामंद हों । वे पिछड़े देश उन ऊंची सूद की दरों को और अधिक ऋण लेकर ही दे सकेंगे । विदेशी बाँडों में विनियोग करने वाले ऊंची सूद की दरों से बहुत सरलता